साधनो को प्राप्त करने के साधन के रूप मे कार्य करती है। दूसरे, इससे विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है जिससे उत्पादन के विदेशी साधन प्राप्त किये जा सकते है। विदेशी पूँजी घरेलू पूँजी को भी औद्योगिक विनियोजन के लिये प्रोत्साहित कर सकती है। घरेलू पूँजी उन उद्योगो मे लगाई जा सकती है जिनमे विदेशी सहयोग प्राप्त हो अथवा उनके सहायक अथवा पूरक उद्योगो मे भी लगाई जा सकती है। उदाहरण के लिये, भारतवर्ष मे अनेक नये उद्योगों मे विदेशी विनियोक्ताओं के साथ स्थानीय पूँजी का सहयोग हुआ है।

(द) तकनीकी सहायता. तकनीकी सहायता के रूप मे, तकनीकी व्यक्तियों का ऐसे देशो मे आवागमन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। औद्योगिक क्षेत्र मे, तकनीकी सहायता के दो स्वरूप पाये जाते है एक के अन्तर्गत अल्प-विकसित देशो को इजीनियर, टेक्नीशियन, तथा अन्य कुशल व्यक्तियो एव विशेषज्ञो को प्रदान करना है, तथा दूसरे, विकसित देशो मे उन व्यक्तियो को प्रशिक्षण प्रदान करना है जिन्हे अपने देश मे ऐसे प्रशिक्षण की सुविधा उपलब्ध न हो। औद्योगिक क्षेत्र मे, ऐसी सहायता की योजनाये इस प्रकार की है जिनसे विद्यमान उद्योगो की उत्पादकता मे वृद्धि हो, उत्पादन के ढग मे उन्नति हो, उनकी किस्म अच्छी हो तथा उत्पादन लागत एव उनका मूल्य कम से कम हो।

अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के कार्य अल्प-विकसित देशो के औद्योगीकरण मे अन्तर्राष्ट्रीय सगठन भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। ये इन्हे सीधे वित्तीय तथा तकनीकी सहायता प्रदान करते है, विचारो के आदान-प्रदान मे सहायता पहुँचाते है, ऐसे देशो के अनुभवो का, जो औद्योगीकरण कर रहे हो, प्रसार करते हैं तथा तुलनात्मक शोध के द्वारा भी इनकी सहायता करते है। विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम, अन्तर्राष्ट्रीय विकास एसोसियेशन, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष आदि की स्थापना इस क्षेत्र मे विशेष उल्लेखनीय है। विश्व बैंक के द्वारा तो कोई महत्वपूर्ण मात्रा मे ऋण नही दिया गया है क्योंकि इसके चार्टर मे यह सीमा लगा दी गई है कि उधार लेने वाले देश की सरकार द्वारा ऋण की गारटी दी जाय। बैंक ने यातायात, शक्ति तथा अन्य मूल सुविधाओ के विकास के लिये ऋण प्रदान किया है जिससे कि औद्योगीकरण के लिये आवश्यक आधार बन सके।

औद्योगिक विकास के लिये तकनीकी सहायता १९१९ से ही अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो द्वारा दी जा रही है जब से अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन की स्थापना हुई है। यह सगठन आरंभ से ही अनेक प्रकार की विशेष सलाह देने के लिये अपने विशेषज्ञो को ऐसे देशो को भेजती रही है। सयुक्त राष्ट्र भी १९४८ से उद्योगो की तकनीकी सहायता प्रदान कर रही है। परन्तु औद्योगिक विकास के लिये सीधे

तकनीकी सहायता बहुत कम ही पहुँच पाई है। तकनीकी सहायता से अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि सहायता प्राप्त करने वाला देश अपनी ऐसी आवश्यकताओ के प्रति जागरूक हो। साथ-ही-साथ वहाँ के अधिकारियों को सहायता देने वाले व्यक्तिओ तथा एजेन्सी को समुचित तथा पूर्ण सहयोग प्रदान करना चाहिये। समय-समय पर ऐसी सहायता के प्रभाव के विषय मे जानकारी प्राप्त कर उसमे आवश्यक परिवर्तन भी करते रहना चाहिये। सर्वेक्षण तथा विशेषज्ञो द्वारा सरकार को सलाह उपयोगी सिद्ध हो सकता है। कुछ दशाओ मे नयी सस्थाओ की स्थापना के हेतु आवश्यक सलाह अथवा निर्देशन की आवश्यकता भी होती है।

भारत में आधुनिक उद्योगों का विकास

भारतवर्ष मे आधुनिक औद्योगिक उपक्रमो का विकास १८५० के पश्चात् हुआ, यद्यपि श्री गणेश १८वी शताब्दी के अन्त मे ही हो गया था जब कि यूरोपियन ने नील का विनिर्माण आरम्भ किया था। नवीन औद्योगिक कार्य-कलाप दो रूप मे आरम्भ हुए . बागान, तथा फैक्ट्री उद्योग। भारतवर्ष मे सर्वप्रथम बागान उद्योग आरम्भ हुआ। आरम्भ से ही इसका स्वामित्व, प्रबन्ध तथा नियन्त्रण ईस्ट इडिया कम्पनी के पूर्व कर्मचारियो के पास था। यूरोप वालो ने नील, चाय तथा काफी के बागान मे रुचि लेना ही आरम्भ किया क्योंकि इनमे किये गये विनियोग पर उन्हे आसानी से और अत्यधिक लाभ प्राप्त होता था।

१९वी शताब्दी के मध्य तक यूरोपियनों ने भारत मे फैक्ट्री उद्योग मे कोई भी अभिरूचि नही दिखाई। सभवतया इसका कारण यह था कि अग्रेजो पर यह प्रतिबन्ध था कि वे स्थायी रूप से भारत मे भूमि नही प्राप्त कर सकते थे, या १८३३ तक व्यापार पर कम्पनी का एकाधिकार था या देश मे यातायात तथा सचार के साधनो का अभाव था परन्तु १९वी शताब्दी तक बडे पैमाने के उद्योगों की स्थापना के मार्ग मे आने वाली सभी बाधाये समाप्त सी हो रही थी।

फैक्ट्री उद्योग की वास्तविक तथा सतोषप्रद प्रगति १८७५ के पश्चात् हुई तथा अगले बीस वर्षो मे दो वस्त्र उद्योगो की—सूती एवं जूट—विशेष उन्नति हुई। इस अवधि मे उद्योगो की स्थिति का अध्ययन करने पर न्यायाधीश रानाडे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि १८७५ के लगभग इन उद्योगो की स्थिति अत्यन्त सोचनीय थी और उसके पश्चात् १८९० के आस-पास तक धीरे-धीरे विकास हुआ। नवी दशक के उत्तरार्द्ध मे सम्पूर्ण देश मे औद्योगिक प्रगति आरभ हुई, तथा बीसवी शताव्दी के प्रथम दशक मे खनिज पदार्थ उद्योग तथा कुछ छोटे-छोटे विविध उद्योगो की स्थापना हो चुकी थी। इन्ही अन्तिम वर्षों मे भारत मे छोटी-छोटी मशीनो तथा इजिन के प्रयोग का प्रसार हुआ तथा एक सामान्य प्रवृत्ति यह थी कि मशीन तथा उपकरणो का प्रयोग काफी बढ गया।"

भारतवर्ष मे प्रथम महायुद्ध तक औद्योगिक विकास मे सहायक विभिन्न घटकों का विश्लेषण निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है :

(१) देश मे शहरी तथा पूंजीवादी हस्तकला तथा ग्रामीण उद्योगो के विघटन से भारत एक आर्थिक इकाई के रूप मे परिवर्तित हो सका तथा साथ-ही-साथ भारतीय जनता एक राष्ट्रीय सूत्र मे बँध सकी। इससे सारी जनता मे विनिमय प्रणाली फैली। लोगो की अभिरुचि गाँव अथवा शहर तक ही सीमित न रह कर राष्ट्रीय हो गई।

(२) देश मे विभिन्न व्यापारिक केन्द्रो का विकास ब्रिटिश राज्य की देन के रूप मे उपलब्ध हुआ। इस क्षेत्र मे जब कि यूरोप के अन्य देश, पुर्तगाल, हालैण्ड, डेन्मार्क तथा फ्रास आदि असफल रहे, सफलता ब्रिटेन वालो को ही प्राप्त हुई। नगरो के विकास से देश के प्रमुख उद्योगो मे उन्नति को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। बम्बई तथा अहमदाबाद मे सूती वस्त्र की मिले, हुगली के किनारे जूट की मिले, कानपुर मे ऊनी वस्त्र तथा चमडा फैक्ट्री—इन सभी की महत्ता वहाँ के रेशा तथा तन्तुक उद्योगो के कारण बहुत कुछ रहा है।

(३) १८३५ मे अंग्रेजी भाषा का देश की शिक्षण प्रणाली मे आरम्भ होने से देशवासियो को, विशेषकर नवयुवको को, आधुनिक वैज्ञानिक विषयो के अध्ययन मे सहायता मिली। उसके द्वारा वे उन तकनीकी ज्ञान को प्राप्त कर सके जिसकी आवश्यकता देश मे उद्योगो के विकास के लिये तथा व्यापारिक सगठन के लिये थी। इस भाषा के अध्ययन से देश मे राष्ट्रीय भावना के विकास मे भी सहायता मिली। इसी राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर बीसवी शताब्दी के प्रथम दशक मे स्वदेशी आन्दोलन आरम्भ किया गया। इससे देश के औद्योगिक विकास को प्रचुर बल मिला। अंग्रेजी शिक्षा से देश मे मध्यम वर्ग भी पनपने लगा। इसी वर्ग मे थे—व्यापारी, उद्योगपति, बैकर, वकील, डाक्टर तथा अन्य व्यवसायी जिन्होने देश के औद्योगीकरण मे अत्यधिक सहयोग दिया।

(४) १८३३ मे ईस्ट इडिया कम्पनी के एकाधिकार के समाप्त होने पर ब्रिटिश व्यापारियो को ऐसा अवसर प्राप्त हुआ जिससे वे भारतवर्ष मे व्यापार एव उद्योग का विकास कर सके। विदेशी पूंजी तथा उद्यम देश के बागान उद्योग, तथा एकाधिकार उद्योग जैसे जूट तथा रेलवे मे प्रर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होने लगी। इस प्रकार बडे पैमाने के उद्योगो के विकास की नीव पड सकी।

(५) सामुद्रिक तथा आन्तरिक यातायात के विकास से भी देश मे मिलो की स्थापना को प्रोत्साहन मिला। इनके विकास के कारण विदेशो से मशीन तथा योग्य व्यक्तियो के मिलने की सुविधा प्राप्त हो गई। यद्यपि रेलवे का विकास अन्य उद्देश्यो से हुआ, जैसे देश के अन्तर्तम भागो मे व्यापार करना, अ[illegible]

समय खाद्यान्न को उन स्थानो पर पहुचाना तथा भारत मे ब्रिटिश सत्ता को और दृढ करना आदि, फिर भी इससे देश मे आधुनिक उद्योगो के विकास को भी बल मिला ।

(६) भारत तथा विदेशो मे राजनीतिक प्रगतियो का प्रभाव भी देश के औद्योगिक उपक्रमो के विकास पर पड़ा । उदाहरण के लिये, अमेरिका मे गृह-युद्ध से सूती वस्त्र उद्योग को, क्रीमियन युद्ध से जूट उद्योग को तथा प्रथम महायुद्ध से लोहा एवं इस्पात उद्योग को प्रोत्साहन मिला । बीसवी शताब्दी के आरम्भ मे उसी प्रकार से स्वदेशी आन्दोलन का भी इस पर प्रभाव पडा और देशवासियो को अपने औद्योगिक पिछड़ेपन का आभास हुआ ।

भारतवर्ष मे औद्योगिक विकास की गति धीमी ही नही रही अपितु यह सतुलित एव क्रमबद्ध भी नही रही । प्रथम युद्ध तक इसका परिणाम भी असतोष-जनक रहा । कच्चे माल की अत्यधिक पूर्ति होते हुए, लाभप्रद रोजगार की कमी मे अतिरिक्त जनसख्या प्राय. भूख से मरती हुई, सोने एव चाँदी का उतना गुप्त-सचय जितना विश्व मे और कही नही, उस ब्रिटिश मुद्रा बाजार तक पहुच होते हुए जो कि विश्व भर को बहुत बडी मात्रा मे पूँजी प्रदान कर रहा था, ब्रिटिश व्यापारिक नेताओ के होते हुए भी जो कि अपने देश तथा विदेश मे पूँजीवादी उद्योगो का विकास करने मे लगे थे, अपने ही देश मे उत्तम बाजार के रहते हुए भी, भारतवर्ष मे एक शताब्दी के उपरान्त भी फैक्ट्री उद्योगो मे इसकी जनसख्या के दो प्रतिशत व्यक्ति ही लग थे ।

प्रथम महायुद्ध तथा अन्तर्युद्ध काल

प्रथम महायुद्ध तथा द्वितीय महायुद्ध के मध्य अनेको ऐसी घटनाये घटित हुई जिनका देश मे औद्योगिक विकास पर समुचित प्रभाव पडा । प्रथम महायुद्ध १९१९-२० की तेजी, १९२१ का सकट, १९२१-२७ के मध्य तेजी से हो रहे विनिमय दरो मे परिवर्तन, १९३१ के पश्चात् विश्व मुद्रा मे सामजस्य की प्रवृत्ति, १९२९-३३ की विश्वव्यापी मन्दी, १९३४-३७ के मध्य पुनराप्ति (recovery) १९३५ मे नये सविधान का अपनाया जाना, तथा विभिन्न प्रान्तो मे पौपुलर मिनिस्ट्री का सगठन आदि ऐसी ही महत्वपूर्ण घटनाये घटी जिनके कारण औद्योगिक प्रगति को एक गति मिली । इसी काल मे आर्थिक क्षेत्र मे भी राष्ट्रीयता की भावना अत्यधिक जागृति हुई जैसा कि पहले कभी भी नही हुआ था । इसी अवधि मे अनेको समितियाँ तथा आयोग भी बैठाये गये । उनमे से उल्लेखनीय है: भारतीय औद्योगिक आयोग (१९१६-१८) जिसके अध्यक्ष

थे सर थामस हालैण्ड, प्रशुल्क आयोग (१९२१-२२) जिसके अध्यक्ष थे सर इब्राहीम रहमतुल्ला, विदेशी पूंजी कमेटी (१९२५), श्रम पर रायल हिव्टले आयोग (१९२९-३१), केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (१९३०) । इन आयोगो तथा समितियो ने अपने-अपने क्षेत्रो मे पूर्ण जाँच की तथा महत्वपूर्ण सिफारिशे दी ।

भारतीय उद्योगो मे १९२२ से १९३९ तक हुई प्रगति का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि इस्पात का उत्पादन १·३ लाख टन से बढकर १०·४२ लाख टन (८००% वृद्धि) हो गया, सूती वस्त्र का उत्पादन १७,१४० लाख गज से बढकर ४०,१९० लाख गज (२५०% वृद्धि) हो गया; दियासलाई उद्योग का उत्पादन १६० लाख ग्रास से बढकर २२० लाख ग्रास (३८% वृद्धि) हो गया, कागज उद्योग का उत्पादन २४,००० टन से बढ कर ६७,००० टन (१८०% वृद्धि) हो गया, चीनी उद्योग मे तो सर्वाधिक प्रगति हुई, इसका उत्पादन २४,००० टन से बढ कर ९,३१,००० टन १९३८ मे हो गया । इसी काल मे सीमेण्ट उद्योग की इतनी प्रगति हुई कि १९३५-३६ तक यह उद्योग देश की आवश्यकताओं का ९५% तक उत्पादन कर रहा था । शीशा, वनस्पति, साबुन, तथा अन्य इजीनियरिंग उद्योगों मे भी इस काल मे वृद्धि हुई । द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक विद्युत सम्बन्धी उपकरणों का भी उत्पादन देश मे प्रारंभ हो गया था । देश मे कुल फैक्ट्री की सख्या में भी वृद्धि हुई । १९१४ मे इनकी संख्या २,९३६ थी और १९३९ तक यह बढ कर ११,६१३ हो गई । उनसे रोजगार प्राप्त श्रमिकों की सख्या ९,५०,००० लाख से १७,५०,००० लाख हो गई ।

द्वितीय महायुद्ध काल

द्वितीय महायुद्ध से भारतवर्ष के उद्योगो के विकास को समुचित प्रोत्साहन मिला । औद्योगिक उत्पादनो की माँग मे वृद्धि हुई तथा उनके लिये आर्डर भारत सरकार द्वारा तथा ब्रिटेन सरकार एव सम्मित राष्ट्रों द्वारा भी प्राप्त होने लगे थे । युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये देश की आर्थिक व्यवस्था को उसी के अनुरूप ढाला जाने लगा । भारतवर्ष ने युद्ध के लिये केवल धन एव जन से ही सहायता नही की अपितु निकट-पूर्व तथा सुदूरपूर्व और बर्मा आदि सीमाओ के लिये इसे पूर्ति का अड्डा भी बनाया गया । भारत सरकार की ओर से सर ए० रामास्वामी मुदालियर ने यह आश्वासन दिया कि, यदि हम, किसी भी रूप मे, अपनी युद्ध सम्बन्धी आवश्यकताओ के लिये उद्योगो के विकास को प्रोत्साहित

करते है, तो उन उद्यमियो को जो कि राज्य की सहायता के लिये आते है, उन्ही के हाल पर नही छोड दिया जायगा।"

यद्यपि विभिन्न उद्योगो की उत्पादन क्षमता मे वृद्धि करने का प्रयास किया गया और कुछ महत्वपूर्ण उद्योगो को इस क्षेत्र मे सफलता भी मिली तथापि अधिकाश दशाओ मे उपकरणो तथा यन्त्रो की सीमित पूर्ति होने के कारण अधिक उन्नति न हो पाई। देश के ही साहसी व्यक्तियो ने देशी पूंजी के माध्यम से जब नये उद्योगो की स्थापना के लिये प्रयास किया तो उन्हे असफलता ही हाथ लगी क्योकि आवश्यक यन्त्र एव मशीनें उन्हे न प्राप्त हो सकी। अत वे हतोत्साहित रहे।

द्वितीय महायुद्ध का प्रभाव. द्वितीय महायुद्ध के प्रभाव से जो औद्योगिक विस्तार हुआ वह प्रत्येक उद्योग मे उसकी परिस्थितियो के अनुसार भिन्न-भिन्न रहा। जहा कही भी उचित अवसर उपलब्ध हुआ कुछ नये उद्योगो की स्थापना भी हुई। परन्तु अधिकाश विस्तार विद्यमान उद्योगो के विस्तार से ही हुआ। या तो उनमे अतिरिक्त मशीने लगाई गई या उनके उत्पादन-विधि मे परिवर्तन किया गया। कुछ उद्योगो ने उत्पादन बढाने के लिये अतिरिक्त पारी चलाया। कुछ उद्योगो मे सगठन सम्बन्धी तकनीकी विकास भी उत्पादन बढाने के उद्देश्य से किया गया। अतः यह ध्यान देने योग्य है कि उद्योगो मे समान ढग से विस्तार नही किया गया अपितु परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक उद्योग मे अलग-अलग ढग अपनाये ग । "उद्योगो ने, जो कि पहले से विद्यमान थे, अपनी पूर्ण क्षमता पर कार्य किया और प्राय. एक से अधिक पारी मे। कुछ दशाओ मे नयी मशीनो को लगाया गया और कुछ दशाओ मे कुछ अधारभूत उद्योगो की स्थापना हुई। देश भर मे छोटे पैमाने के उद्योगो के तीव्र विस्तार से पूर्ति के नये साधनो का सृजन हुआ।

भारतवर्ष मे द्वितीय महायुद्ध काल मे प्रमुख बडे पैमाने के उद्योगो मे उत्पादन की उपनति का अध्ययन निम्नलिखित सारिणी से किया जा सकता है—

औद्योगिक उत्पादन का अन्तरिम सामान्य निर्देशाक
(आधार : १९३७=१००)

१९३८	१०५ ४	१९४२	१११·२
१९३९	१०२ ७	११४३	११७ ०
१९४०	१०९ ९	१९४४	११७ ०
१९४१	११७·८	१९४५	१२०·०

द्वितीय महायुद्ध काल मे जिन प्रमुख नये उद्योगो की स्थापना हुई वे थे : (अ) फेरो-अलायज जैसे फेरो सिलीकान तथा फेरो मैंगनीज, (ब) आलौह धातु तथा धातु फैब्रिकेटिंग उद्योग जैसे ताँबा, ताँबा-पत्र, तार तथा केबिल, आदि, (स) यन्त्रीकृत उद्योग जैसे डीजल इंजिन, पम्प, बाइसिकल, सिलाई मशीन, मशीन के औजार तथा काटने वाले औजार, (र) वस्त्र, चाय तथा तेल निकालने की मशीन, एव (य) रसायन जैसे कास्टिक सोडा, क्लोरीन, सुपरफास्फेट्स आदि । उस समय ऐसी दशाये नही थी कि बडे पैमाने पर नये उपकरणो तथा यन्त्रो के उत्पादन के लिये नये उद्योगो की स्थापना की जा सके ।

१९४५ तक देश मे कम्पनी की सख्या बढकर १४,८५९ हो गई थी तथा उनकी प्रदत्त पूँजी ३८९ करोड रुपया हो गई जब कि १९३९ मे उनकी सख्या ११,११४ थी और उनमे प्रदत्त पूँजी २९० करोड रुपये थी। इस का तात्पर्य यह है कि कम्पनी की सख्या मे ·३,४७५ से वृद्धि हुई तथा प्रदत्त पूँजी मे लगभग १०० करोड रुपया से वृद्धि हुई। इसी काल मे कुछ नये उद्योगो को जो पहिले नही थे, आरभ किया गया, जैसे, हाड्रोजिनेटेड तेल, यातायात तथा विद्युत सम्बन्धी उपकरण, मशीन औजार, आधारभूत रसायन, अल्कोहल, नकली रेजिन तथा प्लास्टिक आदि ।

भारतवर्ष मे युद्ध काल मे कम्पनी की सख्या, प्रदत्त-पूँजी तथा अनेकता मे विकास होने के उपरान्त भी कुछ ऐसी शक्तियाँ उस समय कार्य कर रही थी जिसका बुरा प्रभाव भी इस काल मे औद्योगिक अर्थव्यवस्था पर पडा ।

(१) युद्ध से पूर्व स्थापित उद्योगो की मशीनो पर तथा अन्य पूँजीगत उपकरणों पर अधिक प्रयोग के कारण अधिक भार पडा। इस समय उनकी मरम्मत, नवीकरण अथवा प्रतिस्थापन की समस्या पर बिल्कुल भी विचार नही किया गया। कुछ उद्योगो मे, जहाँ अतिरिक्त पारी मे भी उत्पादन हुआ, उनके मशीनो तथा यन्त्रो का अत्यधिक ह्रास हुआ,। युद्ध की आवश्यकताओ की पूर्ति करने के कारण उत्पादन तो बढता रहा परन्तु मशीनो मे आवश्यक सुधार की ओर ध्यान नही दिया गया ।

(२) युद्धकाल मे औद्योगिक विकास प्रस्तुत मुद्रा-स्फीति तथा अभाव से प्रभावित रहा। परिणामस्वरुप, दीर्घकालीन स्थिति के विषय मे न ही समुचित विचार किया गया न ही विशेष ध्यान दिया गया, जैसे स्थानीयकरण, उत्पादन का पैमाना, बाजार का आकार, कच्चे माल की उपलब्धि तथा तकनीकी एव आर्थिक संगठनों की पर्याप्तता आदि। या यूँ कहिये कि इस बारे मे ध्यान नही दिया गया कि

प्रतिस्पर्द्धात्मक परिस्थितियो मे भी लाभप्रद सचालन किया जा सकेगा अथवा नही।

(३) यद्यपि भारतीय उद्योगो पर युद्ध द्वारा प्रदत्त बाह्य प्रोत्साहन तो उपलब्ध हुआ, तथापि उनकी सरचना या क्षेत्रीय सन्तुलन की ओर बिल्कुल भी ध्यान नही दिया गया। ऐसी दशाओ का परिणाम यह हुआ कि पूँजीगत वस्तुओ का विकास न हो पाया। किसी भी अवस्था मे सुनियोजित विकास अथवा वैज्ञानिक ढग पर उद्योगो के विकास को बल न मिला। युद्ध कालीन प्रयास अस्थायी अथवा कामचलाऊ प्रकार के थे। युद्ध-कालीन उत्पादन मे वृद्धि होने से, जिस पर अधिक लाभ भी प्राप्त हो रहा था, देश के सीमित साधनो को गतिशीलता तो मिली परन्तु इसके कारण देश मे मुद्रा-स्फीति भी बढा। उत्पादन के अधिक लागत से, अधिक मजदूरी से तथा अवैज्ञानिक ढगो को अपनाने से मुद्रा-स्फीति बढती ही गई जिसका प्रभाव भविष्य पर भी पडा।

(४) युद्ध काल मे व्यापारियो को आसानी से लाभ प्राप्त हो जाने के कारण तथा व्यापार मे तेजी होने के कारण कम्पनी की स्थापना तथा प्रबन्ध की ओर विशेष ध्यान नही दिया गया जिससे अनेको अव्यवस्थाये बढी। कोषो का बहुत बडे पैमाने पर अन्तर्ग्रथन (inter-locking) होने लगा तथा ऐसी ही अन्य दुर्व्यवस्थायें फैलने लगी। शक्तिशाली उद्योगपतियो ने, जिनका कम्पनी के बडे समूहो पर नियन्त्रण था, मूल्यो मे इस प्रकार से गडबडी की जिससे केवल समाज को ही अहित नही हुआ अपितु अशधारियो को भी उससे हानि हुई। इन्ही सब कारणो से यह माँग बढती गई कि सरकार उनकी स्थापना तथा उनके सचालन पर अधिक से अधिक नियन्त्रण रखे जिससे उनके प्रबन्ध मे ईमानदारी तथा कार्यक्षमता बढे।

(५) युद्ध-काल मे अभाव के कारण कुछ उद्योगो ने, जैसे सूती वस्त्र, कागज, जूट और कुछ सीमा तक चीनी ने, अत्यधिक लाभ कमाया। भारत सरकार की तथा सश्रित राष्ट्रो के माँग मे वृद्धि होने के कारण तेजी की स्थिति बढती ही गई तथा १९४२ तक भारतवर्ष "पूर्व का आयुधशाला" बन चुका था। लोहा एव इस्पात तथा सीमेण्ट को तो व्यावहारिक दृष्टिकोण से युद्ध के लिये सुरक्षित कर दिया गया था तथा सूती एव जूट के वस्त्रो के उत्पादन तथा वितरण पर साविधिक नियन्त्रण कर दिया गया था। चीनी पर भी पहले तो केवल वितरण पर ही परन्तु बाद मे उत्पादन पर भी नियन्त्रण लगा दिया गया था। इन साविधिक नियन्त्रणो के उपरान्त भी इन नियन्त्रित उद्योगो द्वारा उत्पादित वस्तुओ के मूल्य मे वर्ष-प्रतिवर्ष वृद्धि होती गई तथा इन उद्योगो ने अत्यधिक लाभ कमाया। सरकार ने इस प्रकार स्वय ही मुद्रा-स्फीति के माध्यम से युद्ध के लिये वित्त प्रदान करके

मूल्य तथा मजदूरियों मे वृद्धि को प्रोत्साहित किया। ऐसे कुछ उद्योगो मे तो यहाँ तक हुआ कि यद्यपि उनका उत्पादन तो गिरता गया अपितु उनके मूल्यो मे तेजी से वृद्धि होती गई।

(६) देश के सीमित साधनो को युद्ध तथा सुरक्षा मे लगा देने के कारण विभिन्न उपभोग सम्बन्धी वस्तुओ की तथा विनिर्माण के लिये कच्चे माल की पूर्ति में तीव्रता के साथ अभाव बढता ही गया। यह समस्या बडे पैमाने पर मुद्रा के प्रसार के कारण और भी उग्र होती गई। साथ-ही-साथ मूल्य मे इतनी वृद्धि होती गई कि समाज के निर्धन-वर्ग पर इसका अत्यधिक बोझ बढता गया। सरकार का यह कर्तव्य था कि वह मूल्य पर नियन्त्रण करे तथा अभावपूर्ण वस्तुओं के समुचित वितरण की व्यवस्था करे। सरकार ने नियन्त्रण तो लगा दिया परन्तु इन का व्यावहारिक परिणाम बहुत अच्छा न रहा क्योकि उनका प्रशासन सुदृढ न था तथा बडे पैमाने पर व्यभिचार तथा काला बाजारी फैली हुई थी। वस्त्र के उत्पादन तथा वितरण पर नियन्त्रण १९४३ तक रहा। जून, १९४५ मे वस्त्र उद्योग (उत्पादन एव नियन्त्रण) आज्ञा पारित किया गया जिस का उद्देश्य वस्त्र के उत्पादन का मानकीकरण करना था। परन्तु इसका परिणाम सन्तोषजनक न था। सरकार की बदलती हुई नीतियो के कारण नियन्त्रणो से जनता का कष्ट बढता ही गया। देश के व्यापारियो द्वारा गुप्त-सग्रह के कारण तथा मुनाफाखोरी के कारण जनता का सकट और भी बढता गया।

(७) अन्त मे, युद्ध-काल मे वास्तविक लाभ की मात्रा वास्तविक मजदूरी की अपेक्षाकृत अत्यधिक थी। परिणामस्वरुप श्रम की लागत पर पूँजी बढती ही गई। दूसरे शब्दो मे, अधिक लाभ तथा समृद्धि की स्थिति मे, श्रमिको को उनका उचित भाग अधिक मजदूरी के रुप मे नही दिया गया अपितु अधिकाश भाग को पूजीपतियो ने अपने पास ही रख लिया।

युद्धोत्तर संकट काल (१९४५-१९४७)

अगस्त १९४५ मे द्वितीय महायुद्ध के समाप्त हो जाने पर भारतीय अर्थ-व्यवस्था चिन्ता विमुक्त न हो सकी। औद्योगिक उपकरणो का इतना अधिक प्रयोग किया गया था कि उनके नष्ट होने की स्थिति आ गई थी। उद्योगों के पुनर्निर्माण की आवश्यकता थी परन्तु मशीनो आदि का आवश्यक आयात न हो पाने से वह टलता जा रहा था। देश की उत्पादन-क्षमता को युद्धकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु लगा देने से उपभोग सम्बन्धी वस्तुओ का अभाव बढ ही चुका था साथ ही-

साथ लोगो की क्रय शक्ति मे वृद्धि हो जाने से मुद्रा-स्फीति की दशा और भी सोचनीय होती गई ।

१९४६ मे, लोहा एव इस्पात, चीनी, सूती वस्त्र, सीमेण्ट तथा कागज आदि उद्योगो के उत्पादन मे कमी आ जाने के कारण मुद्रा-स्फीति और भी गहन हो गई। उत्पादन मे यह कमी पूँजीगत उपकरणो की कमी के कारण, योग्य एव प्रशिक्षित व्यक्तियो की कमी, काम के घण्टो मे कमी, देश-व्यापी हड़ताल तथा यातायात एव वितरण की समस्या के कारण आई थी।

सकट कालीन अधिनियमो के अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओ पर मूल्य नियत्रण चल ही रहा था। यहे मूल्य नियत्रण सूती एव ऊनी वस्त्र, कागज, पैट्रोल तथा पैट्रोल सम्बन्धी अन्य उत्पादन, मशीनो के पुर्जे, कोयला, लोहा एव इस्पात तथा अभ्रक आदि पर था।

युद्धोत्तर काल मे अनेको उद्योगो का उत्पादन युद्धकालीन औसत उत्पादन से कम था। यदि उत्पादन की तुलना युद्धकाल के अधिकतम उत्पादन से किया जाय तो यह और भी कम था। वैसे तो सभी उद्योगो के उत्पादन मे कमी आ गई थी परन्तु उनमे से सूती वस्त्र, सीमेण्ट, लोहा एव इस्पात, चीनी तथा कागज उद्योगों की स्थिति विशेषतया गभीर थी। वैसे इस समय अधिक उत्पादन की आवश्यकता थी परन्तु वस्तुस्थिति कुछ और ही थी।

विभाजन का प्रभाव

१९४७ में देश का विभाजन हुआ। यद्यपि यह विभाजन आर्थिक कारणो से नही किया गया था तथापि इसका निश्चित एव महत्वपूर्ण आर्थिक प्रभाव पडा। वैसे तो विकास के साथ-साथ आर्थिक शक्तियो का स्वयमेव समजन हो जाता है और यह सभव हो सकता है कि ऐसी नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जायँ कि नवीन आर्थिक प्रणाली आगे बढ सके। परन्तु यह सत्य है कि समाज को इसका अत्यधिक भार सहन करना पडा है और इस समजन के अत्यधिक लागत का भुगतान करना पडा है। विभाजन के प्रभावो का अध्ययन निम्नलिखित ढग से किया जा सकता है।

(१) औद्योगिक कार्यकलापो का विभाजन. भारत को अविभाजित देश के क्षेत्रफल का ७७ प्रतिशत मिला तथा जनसख्या का ८२ प्रतिशत, औद्योगिक सस्थानों का ९१ प्रतिशत तथा रोजगार प्राप्त कुल श्रमिको का ९३ प्रतिशत मिला। ऐसे उद्योग, जिनका विकास भारत मे हुआ था जो पाकिस्तान मे

बिल्कुल नही गए, जूट, लोहा एव इस्पात तथा कागज थे । पाकिस्तान के क्षेत्र मे सूती वस्त्र तथा चीनी उद्योग पहिले से थे परन्तु उसके आकार एव आवश्यकताओ के अनुपात मे न थे । सीमेण्ट, शीशा, चमडा, रसायन तथा दियासलाई आदि उद्योगो ने पाकिस्तान मे विशेष विकास नही किया था । परिणामस्वरुप, पाकिस्तान मे औद्योगिक रोजगार अत्यधिक सीमित था। भारत मे पाकिस्तान की अपेक्षाकृत अनेको प्रकार के उद्योग थे। पाकिस्तान के उद्योगो की दशा मे अपेक्षाकृत पिछडापन होने का आभास वहाँ के उद्योगो द्वारा दिये गये रोजगार का अध्ययन करके किया जा सकता है। पाकिस्तान में ऐसा कोई भी उद्योग नही था जिसमे एक लाख या उससे अधिक श्रमिको को रोजगार प्राप्त हो रहा हो, परन्तु भारत मे ऐसे ६ उद्योग थे, उदाहरण के लिये, सूती वस्त्र (कताई एव बुनाई), जूट, सामान्य इजीनियरिग, रेलवे वर्कशाप, आर्डनेंस फैक्ट्री तथा कपास का ओटना ।

(२) खनिज सम्पदा का वितरण विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान को प्राप्त होने वाले क्षेत्र को खनिज पदार्थ की दृष्टिकोण से कोई भी विशेष लाभ न हुआ। भारत को ही अधिकाश खनिज सम्बन्धी साधन उपलब्ध हुए, जैसे, कोयला, अभ्रक, मैगनीज, खनिज लोहा, तथा अन्य खनिज पदार्थ । भारतवर्ष को अविभाजित भारत के सम्पूर्ण खनिज साधनो के ३ प्रतिशत मूल्य के खनिज पदार्थों की ही हानि हुई। भारी रसायन उद्योग के लिये आवश्यक जिप्सम तथा चट्टानी नमक की ही विशेष हानि हुई । विद्युत-क्षमता की दृष्टिकोण से भी भारत को ही विशेष लाभ रहा था।

(३) कृषि सम्पदा का वितरण. विभाजन के परिणामस्वरुप देश के दो प्रमुख उद्योगो (सूती वस्त्र तथा जूट) पर अत्यधिक प्रभाव पडा। इनके लिये कच्चे माल की पूर्ति कम हो गई । अविभाजित भारत को कच्चे जूट के उत्पादन पर एकाधिकार प्राप्त था परन्तु विभाजन के परिणामस्वरुप उत्पादन का ८१% भाग पाकिस्तान को उपलब्ध हो गया । साथ-ही-साथ पाकिस्तान-क्षेत्र मे उत्पन्न होने वाला कच्चा जूट अच्छे किस्म का भी था। औसतन, भारत की मिलो को ६० लाख कच्चे जूट के गाँठों की आवश्यकता रहती थी और उसमे से ३० से ४० लाख जूट की गाँठे पूर्वी पाकिस्तान से उपलब्ध होती थी। भारतवर्ष मे, कच्चे जूट के उत्पादन बढाने का सतत् प्रयास किया जा रहा है ।

उसी प्रकार से लगभग सम्पूर्ण लम्बे तथा मध्यम आकार के रेशे के कपास की पूर्ति सिंध तथा पश्चिमी पजाब क्षेत्र से होता था। मिलो के दृष्टिकोण से, सूती वस्त्र की ३८० मिले तो भारत मे रही और केवल १४ मिले पाकिस्तान

को मिली। पाकिस्तान मे नये कपास की फसल का ४०% उत्पादन होता था जबकि अविभाजित भारत की ५ प्रतिशत मिले ही उस के पास थी। विभाजन के पश्चात् कपास की पूर्ति का समय-समय पर अभाव होने लगा। भारत सरकार ने भारतीय केन्द्रीय कपास समिति के माध्यम से अच्छे किस्म के कपास के उत्पादन के लिये निश्चित प्रयास किया परन्तु अधिक अन्न उपजाओ योजना के कारण इसमे बाधा आई। भारतवर्ष मे अधिकाश छोटे रेशेवाली कपास का उत्पादन ही होता है जो कि उत्तम कपडो के उत्पादन के लिये उययुक्त नही है। इसका परिणाम यह हुआ कि इसके लिये विदेशो पर निर्भर होना पडा जिससे कि विदेशी मुद्रा की समस्या मे भी वृद्धि हुई। उस समय कठिनाई यह उपस्थित हुई कि अधिक अन्न का उत्पादन किया जाय या कपास अथवा कच्चे जूट का उत्पादन बढाया जाय।

विभाजन के पश्चात्, भारत की स्थिति गभीर हो गई क्योंकि इसके उद्योगो के लिये कच्चे माल की पूर्ति के लिये ही पाकिस्तान पर नही निर्भर रहना पड़ा अपितु खाद्यान की पूर्ति मे भी कमी आई। पजाब एव सिंध से, जो कि देश का बहुत बड़ा अन्न का भडार था, बहुत बड़ी मात्रा मे खाद्यान उपलब्ध होता था। वैसे तो, विभाजन से पूर्व भी भारतवर्ष मे खाद्यान की पूर्ति का अभाव था। "अविभाजित भारत की जनसख्या का ८२ प्रतिशत होते हुए, देश मे चावल तथा गेहूँ का विभाजन से पूर्व कुल उत्पादन का क्रमश. केवल ६८ प्रतिशत तथा ६५ प्रतिशत ही उत्पादन होता था।"

(४) बाजार की हानि उस क्षेत्र मे जो पाकिस्तान के रूप मे बना, भारतीय उद्योगो द्वारा उत्पादित विभिन्न वस्तुओ की समुचित माँग रहती थी। पाकिस्तान मे सूती वस्त्र, शीशा, अल्युमूनियम, बनस्पति तेल, रबर, पीतल, ताँबा, जूते आदि की बहुत बडी मात्रा मे खपत होती थी। विभाजन से इन वस्तुओ के माग मे प्रचुर कमी आ गई। कुछ उद्योग जैसे, शीशा, सूती वस्त्र, ऊनी वस्त्र, होजरी तथा साबुन आदि, पर पाकिस्तान के बनने का बुरा प्रभाव पडा। परिणामस्वरूप, उसके स्थान पर नये बाजार को खोजने के लिये प्रयत्न करना पडा।

(५) कुशल श्रमिको का देशान्तरण विभाजन के परिणामस्वरूप भारतवर्ष से बहुत बडी मात्रा मे कुशल श्रमिक पाकिस्तान चले गये। ऐसा सीमावर्ती प्रान्तों मे अधिक हुआ। इसका प्रभाव यह हुआ कि होजरी उद्योग, ऊनी वस्त्र उद्योग, शीशा उद्योग, इजीनियरिंग सस्थाओ मे, धातु के कारखानों में मुसलमानो के देशान्तरण से कुशल श्रमिको की कमी हो गई।

(६) प्रबन्धकीय तथा साहसी योग्यता. देश के विभाजन से भारत को इस दिशा मे लाभ रहा कि साहसी व्यक्ति तथा कुशल प्रबन्धक तो पाकिस्तान से भारत आ गये जब कि बदले में पाकिस्तान को ग्रामीण कारीगर तथा श्रमिक ही मिले। भारत मे उद्योगो की विभिन्नता होने के कारण, उद्योगपतियो के अधिक सख्या मे आ जाने के कारण यहाँ के औद्योगीकरण के कार्यक्रम को सहायता मिली। ये उद्योगपति तथा प्रबन्धक अपने साथ साहस तथा प्रबन्ध-कुशलता लाये जिससे वे विभिन्न प्रकार के उद्योगो मे पूंजी तथा श्रम पर समुचित प्रबन्ध करने मे सफल रहे।

(७) औद्योगिक स्थानीयकरण पर प्रभाव. विभाजन से भारतवर्ष में उद्योगो के स्थानीयकरण के सम्बन्ध मे सरकार की नीति पर भी प्रभाव पड़ा। सरकार का उत्तरदायित्व भी इस दिशा मे बढा क्योंकि सीमावर्ती क्षेत्रो मे उद्योगो की स्थापना जोखिम से भरा था। विभाजन के पश्चात् आवश्यकता इस बात की हुई कि ऐसे उद्योगो को देश के भीतरी भागो की ओर ले जाया जाय। विभाजन से कलकत्ता भी असुरक्षित क्षेत्र मे आ गया। जिन उद्योगो की स्थापना सीमावर्ती प्रान्तो मे हुई थी और जो अपने स्थानीयकरण का लाभ उठा रहे थे उनके उत्पादन की क्षमता गिर गई तथा कच्चे माल या बाजार के पास होने का लाभ, यातायात अथवा वित्त सम्बन्धी सुविधाओ आदि का लाभ जो उन्हे प्राप्त था उन की कमी भी वे अनुभव करने लगे।

(८) पूंजी के स्रोत पर प्रभाव विभाजन के पश्चात् शीघ्र ही अनिश्चितता तथा सन्देहयुक्त वातावरण उपस्थित हो गया। विदेशियो का भारतीय अर्थ व्यवस्था पर जो विश्वास था वह क्षीण होने लगा, तथा देश मे विदेशी पूंजी के प्रवाह की आशाये भी कम होने लगी। दोनो देशो के मध्य तनावपूर्ण स्थिति विदेशी पूंजी की उपलब्धि मे और भी बाधा डालने लगी थी।

(९) यातायात तथा बन्दरगाह की सुविधाये विभाजन के कुछ समय बाद क रेलवे की स्थिति चिंताजनक रही जिससे काफी कठिनाई रही। अविभाजित भारत के सम्पूर्ण ४१,००० मील लम्बे रेल-मार्ग मे से भारतवर्ष को ३४,००० मील लम्बा रेल-मार्ग मिला जो कि कुल मार्ग का ८३ प्रतिशत था। रेल कर्म-चारियो की कठिनाई भी विभाजन के पश्चात् सामने आई क्योंकि उन्हे यह छूट दी गई थी कि वे देशान्तर कर सकते थे। पाकिस्तान से आने वाले हिन्दू कर्मचारी अधिकॉश लिपिक, टिकट कलेक्टर, गार्ड आदि थे जब कि पाकिस्तान जाने वाले अधिकाश ड्राइवर, फायरमेन, वर्कशाप टैक्नीशियन तथा लोहार आदि थे। इससे पाकिस्तान मे तो अतिरिक्त कर्मचारी पहुच गये परन्तु भारतबर्ष मे

योग्य कर्मचारियो का अभाव हो गया। रेलवे की अव्यवस्था के कारण कोयला उद्योग अत्यधिक प्रभावित रहा क्योकि सब काम धीमा हो रहा था। कोयले की खानो मे स्टाक इकट्ठा होता चला गया। कोयले की कमी के कारण विभिन्न उद्योगों की प्रगति भी रुक सी गई। इस यातायात सम्बन्धी विभिन्न कठिनाइयो के कारण देश मे मुद्रा-स्फीति फैली तथा सकट भी आया। विभाजन के कारण दोनो देशो के मध्य कच्चा माल तथा विनिर्मित माल के आने जाने मे भी असुविधा होने लगी। पूर्वी बगाल तथा आसाम मे जो माल उत्पादित किया जाता था उसका चिटगाग बदरगाह के माध्यम से निर्यात किया जाता था परन्तु विभाजन के पश्चात् माल को कलकत्ता की ओर से भेजने की आवश्यकता हुई और उसके लिये इसे पश्चिमी बगाल तथा आसाम से जोडने के लिये नई रेल लाईन बनाने की आवश्यकता हुई जिससे यातायात की लागत मे वृद्धि हुई।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रकृति ने भारतवर्ष तथा पाकिस्तान को एक दूसरे का पूरक बनाया है। दोनो देशो के मध्य आर्थिक सहयोग से निश्चय ही दोनो को लाभ होगा। पूंजी, कच्चा माल, जन-शक्ति तथा विदेशी मुद्रा आदि का इससे विशाखन (diversion) कम हो जायगा जो कि दोनो देश आत्म-निर्भर बनने के लिये कर रहे है। आपसी सहयोग का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। देश की सुरक्षा के लिये जो अपार धन व्यय किया जा रहा है उसे राष्ट्र निर्माण के लिये व्यय किया जा सकता है। भय, घृणा, सन्देह, अनिश्चितता के वातावरण को परिवर्तित करने की अवश्यकता है। ऐसे वातावरण ने दोनो देशों के सम्बन्धो के मध्य एक गहरी खाई खोद रखी है। दोनो देशो के राष्ट्रीय आय मे समुचित वृद्धि हो सकती है यदि दोनो ही सहयोग की भावना से, 'लेन-देन' तथा 'जियो एव जीने दो' की भावना के साथ मिलजुल कर कदम बढाएँ। उनके सामने रचनात्मक कार्य करने के लिये बहुत कुछ है और उन्हे अपने अन्तर को कम करके उसके लिये उचित प्रयास करना चाहिये।

पुनरूत्थान काल (१९४७-४८ से १९५०-५१)

१५ अगस्त १९४७ को भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ। परन्तु विभाजन से देश की राजनीतिक तथा आर्थिक एकता को धक्का लगा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् शीघ्र ही देश के अधिकाश भाग मे जातीय दगे आरभ हो गये। एक देश से दूसरे देश मे जनसख्या के एक बडे भाग के प्रवसन से प्रशासन तथा वित्त पर अत्यधिक भार पडा तथा उससे आर्थिक कार्य-कलापो के एक-दम बन्द हो जाने की सी स्थिति आ गई। सामान्य शान्ति काल आते-आते देश के उद्योग वित्तीय तथा मौद्रिक प्रणाली सन्देह पूर्ण स्थिति से गुजर रहे थे। औद्योगिक उत्पादन कम होने

लगा उसका कुछ कारण तो राजनीतिक तथा आर्थिक अनिश्चितता से उत्पन्न विश्वास तथा निश्चितता की कमी थी और कुछ मशीन तथा यन्त्रो के उपलब्ध न होने से, कच्चे माल के अभाव से, यातायात की कठिनाई, तथा श्रमिको एव पूँजी-पतियो के मध्य हो रहे झगडो के कारण था। दिसम्बर १९४७ मे त्रिदलीय औद्योगिक सम्मेलन (Tripartite Industries Conference) बुलाई गई जिसमे श्रम-पूँजी सह-सम्बन्धो के विषय मे विस्तार पूर्वक विचार किया गया । इस सम्मेलन मे एक प्रमुख प्रस्ताव पास किया गया जिसके अनुसार दोनो के मध्य तीन वर्ष तक शाति बनाये रखने का समझौता किया गया तथा एक विस्तृत मशीनरी बनाने का सुझाव दिया गया जो श्रमिको को उचित मजदूरी, उनके काम करने की दशा आदि के विषय मे उचित निर्धारण करे। उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिये सरकार ने अन्य प्रयास भी किये जैसे (१) १९४८-४९ के बजट मे उद्योगो को करो मे छूट दिया, (२) सस्ती मुद्रा नीति न अपनाने का आश्वासन दिया, (२) औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना के लिये बिल पारित किया।

१९४८ मे विभिन्न उद्योगो के उत्पादन मे पिछले वर्ष की अपेक्षाकृत वृद्धि हुई परन्तु इस्पात तथा कोयला उद्योग के उत्पादन मे कमी आ गई थी। इस अवधि मे औद्योगिक उत्पादन मे वृद्धि मे निम्नलिखित घटक सहायक थे · (१) श्रम की स्थिति मे सुधार हो गया था, (२) यातायात की कठिनाइयाँ कम हो गई थी, (३) विद्यमान क्षमता का अधिक उपयोग होने लगा था जैसे कि सूती वस्त्र उद्योग, (४) कुछ नई फैक्ट्रियो की स्थापना हुई जिन्होने उत्पादन आरभ कर दिया था, जैसे विद्युत मोटर, बैटरी, विद्युत पखे, डीजल इजिन तथा कास्टिक सोडा आदि । यद्यपि अधिकाश उद्योगो के उत्पादन मे वृद्धि हो रही थी, तथापि कुछ उद्योगो मे जैसे सूती वस्त्र, इस्पात एव सीमेण्ट मे विशेष रूप से, उत्पादन उनकी उत्पादन-क्षमता से कम ही हो रहा था। इसका प्रमुख कारण यह था कि उद्योगपतियो मे एक सामान्य उत्साह की कमी थी, श्रमिको ने कार्य धीरे-धीरे करो की नीति अपना ली थी, कच्चे माल तथा मशीनो आदि की कमी थी।

इन सब कठिनाइयो के उपरान्त भी कुछ ऐसी महत्वपूर्ण घटनाये घटित हो रही थी जो इन बाधाओ को दूर करने मे सहायक सिद्ध हो रही थी। त्रिदलीय औद्योगिक सम्मेलन जो १९४७ मे बुलाई गई थी और जिसके अन्तर्गत औद्योगिक शान्ति के लिये प्रस्ताव पारित किया गया था उसके अन्तर्गत किये गये प्रयासो के परिणामस्वरूप श्रम की स्थिति में निश्चित सुधार हो रहा था।

औद्योगिक विवादो के कारण होने वाले जन-दिन (man-days) की हानि १६४८-४६ मे ६१ लाख थी जब कि गत वर्ष १९४७-४८ मे १४७ लाख थी। सरकार ने श्रमिको के हित के लिये तथा उनकी दशा सुधारने के लिये अनेको उपाय किये। ६ अक्तूबर, १६४८ को कर्मचारी राज्य बीमा निगम का उद्घाटन किया गया। कोयला खान प्राविडेण्ट फण्ड तथा बोनस योजना अधिनियम, १६४८ मे पारित किये गये तथा बोनस का भुगतान आरभ हो गया। फैक्ट्री अधिनियम मे, जो १ अप्रैल १६४६ से कार्यान्वित किया गया, श्रमिको के स्वास्थ्य, सुरक्षा, तथा सामान्य हित के लिये न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये उपबन्ध रखे गये। ७ अप्रैल, १९४८ को औद्योगिक नीति पर भारतीय ससद मे प्रस्ताव अपनाया गया जिसके अन्तर्गत औद्योगिक विकास के लिये सरकार की नीति की घोषणा की गई तथा निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र की सीमा के विषय मे निश्चित किया गया। इस प्रस्ताव मे इस बात पर बल दिया गया कि पूँजीगत वस्तुओ का, आवश्यक उपभोक्ता सम्बन्धी वस्तुओ का तथा निर्यात सम्बन्धी वस्तुओ का उत्पादन बढाया जाय जिससे देश की आन्तरिक आर्थिक स्थिति मे सुधार हो सके तथा विदेशी विनिमय से प्राप्त आय मे वृद्धि हो सके।

विदेशी पूजी, उसका प्रत्यावर्तन तथा उस पर होने वाले लाभ को प्रेषित करने के विषय मे सरकार की नीति का एक विस्तृत विवरण भी ६ अप्रैल १६४६ को दिया गया। इस नीति के अन्तर्गत सरकार ने यह निश्चित किया कि वह विदेशी उद्योगो पर ऐसा कोई भी प्रतिबन्ध नही लगायेगी जो कि विदेशो मे भारतीय उपक्रमो पर नही लगाये गये है।

१६४८ मे उद्योगो के उत्पादन में जो वृद्धि दृष्टिगोचर हुई थी वह १६४६ में भी चालू रही। सूती वस्त्र तथा जूट उद्योग को छोड कर अधिकाश उद्योगो के उत्पादन मे वृद्धि रही। इसका प्रमुख कारण यातायात तथा श्रम सह-सम्बधो की स्थिति में निश्चित सुधार होना या रेल यातायात मे विकास होने से प्राथमिकताओ पर जो नियन्त्रण था वह हटा दिया गया। दिसम्बर १६४७ मे हुये औद्योगिक शान्ति के समझौते से श्रम-प्रबन्धको के मध्य सम्बन्धो मे सुधार हुआ। हडताल के कारण जन-दिनो की हानि १६४६ मे घटकर ६६ लाख ही रख गया जबकि १६४८ में ७८ लाख था और १६४७ मे तो १६६ लाख था। उत्पादन मे वृद्धि के अन्य कारण थे (१) अतिरिक्त उत्पादन इकाइयो की कुछ उद्योगो मे स्थापना, जैसे सीमेण्ट तथा सुपरफास्फेट्स; (२) कुछ विद्यमान इकाइयो मे, जैसे विद्युत मोटर, भारी इंजीनियरिंग, डीजल इजिन तथा सल्फ्यूरिक एसिड

आदि मे विस्तार; (३) ह्रास सम्बन्धी भत्ता मे और छूट, तथा (४) उत्पाद-कर से छूट जैसा कि चीनी उद्योग मे किया गया था।

उत्पादन-वृद्धि की गति १९५० मे भी रही और अधिकाश उद्योगों के उत्पादन में इस वर्ष वृद्धि हुई। फिर भी, सूती वस्त्र, जूट, चीनी, उद्योगों के उत्पादन मे कमी आई थी। सीमेण्ट, इस्पात, विद्युत वस्तुये, डीजल इजिन आदि उद्योगों में विशेषरूप से उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि रही। कोयले का उत्पादन ३२० लाख टन था जो कि उस समय तक का रिकार्ड उत्पादन था। अन्य उद्योगो के उत्पादन मे भी, जैसे कागज, रसायन, शक्ति अल्कोहल, शक्ति ट्रासफार्मर आदि में, वृद्धि रही। उत्पादन मे वृद्धि नई इकाइयो की स्थापना के कारण, विद्यमान इकाइयों मे विस्तार से, श्रम-सबन्ध ठीक रहने से, तथा यातायात में विकास होने के कारण हुई। सूती वस्त्र उद्योग में उत्पादन कम रहा उसका प्रमुख कारण यह था कि कच्चा माल अथवा कपास पर्याप्त मात्रा में नही मिल पा रहा था क्योकि पाकिस्तान से उसका आयात बन्द सा हो गया था। कच्चे माल के न प्राप्त होने के कारण कई मिलों को तो बन्द भी करना पडा था। सूती वस्त्रो के उत्पादन मे कमी होने का दूसरा प्रमुख कारण बबई के सूती मिलों के श्रमिकों द्वारा हडताल करना था। इसके कारण वस्त्र के उत्पादन मे २,००० लाख गज की कमी आ गई थी। उसी प्रकार से जूट उद्योग की दशा मे भी कच्चे माल की कमी के कारण मिलो मे काम के घण्टों को कम कर दिया गया था। गुड एवं खाडसारी से कच्चे माल में प्रतिस्पर्द्धा होने के कारण चीनी उद्योग को भी कच्चे माल की कमी का अनुभव हो रहा था। नवम्बर, १९५० मे भारत सरकार ने उद्योगो के लिए एक विकास समिति की नियुक्ति की। इसका उद्देश्य उद्योगो को उनके उत्पादन मे वृद्धि करने के लिये तरीको को ढूंढने मे सहायता करना तथा भविष्य मे उनके विकास के लिये योजना तैयार करना था। समिति की सिफारिश पर पैनेलो की स्थापना की गई। ये पैनेल भारी इजीनियरिंग, हल्के इजीनियरिंग, रसायन, औषधि तथा लौह धातु आदि के लिये बनाये गये। सरकार के द्वारा विदेशी पूँजी के प्रत्यावर्तन के लिये निश्चित किये गये सिद्धान्तो को भी घोषणा की गई।

औद्योगिक उत्पादन का सामान्य निर्देशाँक (आधार १९४६ = १००) बढ कर १९५१ मे ११७४% हो गया जब कि १९५० मे १०५ २ तथा १९४९ मे १०६ ३ ही था। युद्धोत्तरकाल की औद्योगिक उत्पादन मे वृद्धि की गति बनी रही। कोयला, इस्पात तथा सहायक मशीन उद्योग मे जैसे डीजल इंजिन, शक्ति ट्राँसफार्मर आदि मे समुचित वृद्धि रही। सूती वस्त्र के उत्पादन मे भी वृद्धि

हुई। इस वर्ष की विशेषता यह रही कि कुछ नये उद्योग स्थापित किये गये जैसे स्वचालित कर्घा निर्माण उद्योग तथा अल्युमीनियम पाउडर उद्योग। सूती वस्त्र तथा सूत के उत्पादन मे गत वर्ष की अपेक्षाकृत ११ प्रतिशत से वृद्धि हुई। परन्तु जूट का उत्पादन अपेक्षाकृत कम रहा। चीनी उद्योग के उत्पादन मे १४ ३ प्रतिशत से वृद्धि हुई या १९४९-५० मे ८·९ लाख टन से बढकर १९५०-५१ मे ११ २ लाख टन हो गया। अन्य उद्योगो मे, जिनके उत्पादन मे वृद्धि हुई, प्रमुख थे दियासलाई (१० ८%), कागज़ (२१ १%), विद्युत पखे (९ ९%), विद्युत लैम्प (८ ५%)। आधारभूत उद्योगो में कोयलें तथा इस्पात उद्योगो के उत्पादन मे वृद्धि की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही थी। परन्तु एक विशेष बात ध्यान देने योग्य यह है कि कुछ आधारभूत उद्योगो (जैसे इस्पात तथा सीमेण्ट) को, छोडकर अन्य उद्योगो मे जैसे कागज, विद्युत मोटर, समुचित अतिरिक्त उत्पादन क्षमता चालू रही। पूर्ण जन-दिन की १९५१ मे हानि ३६ लाख थी जब कि १९५० मे १२८ लाख थी। उत्पादन मे यह वृद्धि निम्नलिखित घटको के कारण थी : (१) कुछ उद्योगो मे नई इकाइयो की स्थापना तथा कुछ मे विस्तार, (२) आयात प्रतिबन्धो मे छूट देने के कारण आवश्यक कच्चे माल का अधिक उपलब्ध होना; (३) लोहा, इस्पात, सूती वस्त्र आदि की दशा मे मूल्य मे वृद्धि होना जिससे पुनर्स्थापिन तथा कच्चे माल के लागत मे वृद्धि की पूर्ति हो सकी, तथा (४) यातायात की सुविधाओ मे और अधिक वृद्धि होना, उदाहरण के लिये भारतीय रेलो द्वारा १२ प्रतिशत अधिक वैगन भरे गये। सरकार ने भी कच्चे माल की अधिक उपलब्धि के लिये प्रयास किये तथा साथ ही साथ उनका न्यायपूर्ण वितरण भी की। जुलाई, १९५१ मे उद्योगो तथा श्रमिको के लिए एक सम्मिलित सलाहकार परिषद की स्थापना विवेकीकरण तथा तत्सबन्धी समस्याओ के विषय मे तय करने के लिये की। सितम्बर, १९५१ मे राज्य वित्त निगम अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार राज्य सरकार छोटे तथा मध्यम उद्योगो को वित्त प्रदान करने के लिये राज्य वित्त निगमो की स्थापना कर सके। सितम्बर, १९५१ मे ससद ने टैरिफ आयोग अधिनियम को भी पारित किया। इसके अन्तर्गत एक साविधिक टैरिफ आयोग की स्थापना अधिक उद्योगो को सरक्षण देने हेतु विचार करने के लिये नियुक्त किया। अक्टूबर, १९५१ मे उद्योग (विकास तथा नियमन) अधिनियम पारित किया जिस के अन्तर्गत उद्योगो के नियोजित विकास के लिये उन के नियमन की व्यवस्था की गई।

अध्याय ४

योजनाओं के अन्तर्गत औद्योगिक विकास

प्रथम पचवर्षीय योजना के आरभ होने से पूर्व भारतवर्ष मे उपभोक्ता पदार्थो के उद्योगो के विकास पर ही प्रचुर बल दिया जाता था और आधारभूत पूँजीगत वस्तुओ के उद्योगो का समुचित विकास नही हो पाया था। पूँजीगत वस्तुओ के उद्योगो की तथा ऐसे उद्योगो की, जो माध्यमिक वस्तुओ का विनिर्माण करते थे, क्षमता अधिकाश दशाओ मे देश मे अपर्याप्त थी। देश के औद्योगीकरण के विकास की गति बढ नही सकती थी यदि लोहा एव इस्पात, अल्युमीनियम, फेरो-एलॉयज, कॉस्टिक सोडा, सोडा-ऐश, रसायनिक खाद तथा खनिज तैल आदि के उत्पादन मे प्रचुर वृद्धि नही की जाती। इन सब उद्योगो के विषय मे स्थिति यह थी कि उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओ की माँग पूर्ति की अपेक्षाकृत कही अधिक थी। यन्त्रो तथा मशीनो के विनिर्माण के सम्बन्ध मे यह दशा थी कि इनकी आवश्यकता प्रत्येक उद्योग मे बढती जा रही थी परन्तु इस दिशा मे केवल वस्त्र उद्योग के मशीनो का विनिर्माण ही आरभ हो पाया था। शक्ति-प्रजनन का विकास विदेशो से प्राप्त उपकरणों पर ही बहुत कुछ निर्भर था। औषधियो का, प्रतिजीवाणु पदार्थ (antibiotics), रगने के पदार्थ, कार्बनिक रसायन आदि का विनिर्माण देश मे केवल छोटे पैमाने पर ही आरभ हुआ था। ऐसी परिस्थितियो मे औद्योगिक योजना का प्रमुख उद्देश्य इन कमियो तथा दोषो को दूर करना था तथा विकास को इस प्रकार से आरभ करना था कि भविष्य मे इस क्षेत्र मे सचयी विस्तार होने का एक आधार बन सके।

प्रथम पचवर्षीय योजना

मार्च १९५० मे योजना आयोग की स्थापना की गई। आयोग को देश के प्राकृतिक, पूंजीगत तथा मानवीय साधनो के विषय मे अनुमान लगा कर उन साधनो का पता लगाना था जो कि राष्ट्र की आवश्यकता के अनुसार कम थे। इसे देश के साधनों का समुचित तथा संतुलित उपयोग करने के लिये योजना बनाने का भार सौंपा गया था। इस सम्बन्ध मे उसे प्राथमिकताओ का निर्धारण करना था तथा उन घटको की ओर इगित करना था जो आर्थिक विकास में बाधक बन रहे थे। जुलाई १९५१ मे, योजना आयोग ने अप्रैल १९५१ से मार्च १९५६ तक पाँच वर्षों के

विकास के लिये योजना की एक रुप-रेखा प्रस्तुत की। प्रथम पचवर्षीय योजना का अन्तिम सस्करण योजना आयोग द्वारा दिसम्बर १९५२ मे प्रकाशित किया गया।

मिश्रित अर्थव्यवस्था की स्वीकृति. आयोग ने अप्रैल, १९४८ मे घोषित औद्योगिक नीति प्रस्ताव मे अपने विश्वास को पुन. दुहराया। आयोग ने स्पष्ट किया कि "हमारा विश्वास है कि इस नीति के ढाँचे के अन्तर्गत ही औद्योगिक विकास के उस कार्यक्रम का बनाना सभव है जो देश की वर्तमान आवश्यकताओं को पूरी कर सकता है।" योजना आयोग का मिश्रित अर्थव्यवस्था पर दृष्टिकोण विचारणीय था। आयोग ने इस बात पर बल दिया कि निजी तथा सार्वजानिक क्षेत्र मे अन्तर का सम्बन्ध केवल सचालन की विधि से है न कि अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति से है। निजी उपक्रमो को भी देश की अर्थव्यवस्था के विकास मे महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है परन्तु उन्हे वैध लाभ की आशा ही रखनी चाहिए तथा प्राप्त साधनो का समुचित उपयोग करना होगा। देश के विकास का क्षेत्र और उसकी आवश्यकता इतनी अधिक है कि सार्वजनिक क्षेत्र मे उन्ही उद्योगो का विकास करना अच्छा होगा जिन्हे निजी उपक्रम स्थापित न करना चाहते हों या जिस मे जोखिम अधिक हो। इस प्रकार शेष क्षेत्रो को निजी उपक्रमो के लिये स्वतन्त्र छोड देना चाहिए।

निजी उपक्रमो के प्रति विचारधारा मे अब समुचित परिवर्तन हो गया है और अब यह दृष्टिकोण नही रह गया है कि वे केवल अनियन्त्रित लाभ के आधार पर ही कार्य करते है। निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रो मे सामजस्य की बात अब तेजी से सोची जा रही है। ऐसी दशा मे उन्हे अलग-अलग नही समझा जाना चाहिऐ। वास्तव मे उन्हे तो एक ही गाडी के दो पहियों के रूप में कार्य करना है।

औद्योगिक विकास के लिये प्राथमिकतायें. प्रथम पचवर्षीय योजना मे औद्योगिक विकास के लिये प्राथमिकताओ को बताते हुए तात्कालिक उद्देश्यो को, उपलब्ध साधनो को, तथा निजी एव सार्वजनिक क्षेत्रो से सम्बन्धित नीति को विशेष रूप से ध्यान मे रखा गया था। औद्योगिक क्षेत्र मे प्राथमिकताओ के लिये निम्नलिखित सामान्य क्रम निश्चित किया गया (१) उपभोक्ता पदार्थों का उत्पादन करने वाले उद्योगो जैसे सूती वस्त्र, चीनी, साबुन, वनस्पति, पेण्ट तथा वार्निश आदि की क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग किया जाय तथा उत्पादक पदार्थ के उद्योगों, जैसे जूट तथा प्लाईवुड, की क्षमता का भी पूर्ण उपयोग किया जाय; (२) आधारभूत उद्योगो की अथवा पूजी एव उत्पादक पदार्थ के उद्योगों की जैसे लोहा एवं इस्पात, अल्युमीनियम, सीमेण्ट, रसायनिक खाद, भारी

रसायन, मशीन यन्त्र आदि, वर्तमान उत्पादन-क्षमता में विस्तार किया जाय; (३) जिन औद्योगिक इकाइयों पर पूजी का विनियोग किया ज चुका हो उन्हे पूरा किया जाय; (४) ऐसे नये उद्योगों की स्थापना की ज जनसे देश के औद्योगिक विकास को बल मिले तथा उपलब्ध साधनों द्वारा जहाँ तक सभव हो औद्योगिक सरचना की कमियों को दूर किया जाय जैसे रेयन, गधक तथा लुग्दी आदि का निर्माण। औद्योगिक विकास के लिये दी गई उपर्युक्त प्राथमिकताये सामान्य प्रकार की थीं जिसके अनुसार योजना-काल मे विभिन्न विनियोगो को करना था। इस प्रकार यह क्रम अन्तिम न था।

वित्त का स्वरूप योजना आयोग ने प्रथम पचवर्षीय योजना मे निजी तथा सार्वजनिक दोनो क्षेत्रो के लिये वित्त के स्वरूप के विषय में यह निश्चित किया कि इसके लिये कुल ७०७ करोड़ रुपये की आवश्यकता थी। इस राशि की आवश्यकता विस्तार, आधुनिकीकरण, प्लाण्ट एव मशीनरी का पुनर्स्थापन, कार्यशील पूजी, तथा उस ह्रास की पूर्ति के लिये जो सामान्य आयकर की छूट से पूरा न हो आदि के लिये थी। योजना मे सम्मिलित प्रायोजनाओ के लिये केन्द्र तथा राज्य सरकार के क्षेत्र मे कुल ९४ करोड़ रुपया पाँच वर्ष के लिये था। इसमे से अधिकाश व्यय—लगभग ८३ करोड रुपये—केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत प्रायोजनाओं के लिये था। राज्य सरकारो के अन्तर्गत प्रायोजनाओं के लिये ११ करोड़ रुपया व्यय करना था जिसमे से ४ ८ करोड केन्द्रीय सरकार द्वारा इन्हें ऋण के रूप मे दिया जाना था। इस क्षेत्र मे सम्मिलित अधिकाश प्रायोजनाये पूजीगत वस्तुओं के तथा माध्यमिक वस्तुओ के विनिर्माण से सम्बधित थी जिससे केवल तत्कालीन आवश्यकताओं की ही पूर्ति नही होनी थी अपितु जो भविष्य मे आर्थिक विकास के लिये भी सहायक थी। उनके पूर्ण हो जाने पर यह सभावना थी कि औद्योगिक सरचना मे जो कमियाँ थी उन्हे कुछ सीमा तक दूर किया जा सकेगा। योजना में जिस प्रमुख नवीन प्रायोजना को सम्मिलित किया गया था, वह लोहा एव इस्पात का विनिर्माण था।

निजी क्षेत्र मे औद्योगिक विस्तार के कार्यक्रम मे २३३ करोड रुपया व्यय होने की आशा थी। इसके अतिरिक्त, पाँच वर्षों मे प्लाण्ट एव मशीन की पुनर्स्थापना पर, आधुनिकीकरण पर निजी क्षेत्र मे २३० करोड रुपया व्यय किये जाने का अनुमान था। यह ध्यान देने योग्य है कि सार्वजनिक क्षेत्र में तो अधिक बल आधारभूत उद्योगों पर ही विनियोग करना अथवा चल रहे प्रायोजनाओ को पूरा करना था अतः औद्योगिक क्षेत्र मे विस्तार का अधिकाश भार निजी क्षेत्र पर ही था। २३३ करोड़ रुपये का, जो पूर्ण व्यय उद्योगों के विस्तार के लिये किया

जाना था, लगभग ८० प्रतिशत व्यय पूँजीगत वस्तुओं तथा उत्पादक वस्तुओं के उद्योग पर ही किये जाने की आशा थी। इनमे से प्रमुख लोहा एव इस्पात (४३ करोड रुपये), पेट्रोलियम रिफाइनरीज (६४ करोड़ रुपये), सीमेण्ट (१५·४ करोड़ रुपये), अल्युमुनियम (९ करोड रुपये), रसायनिक खाद, भारी रसायन तथा शक्ति अल्कोहल (११ करोड रुपये), विद्युत शक्ति प्रजनन (१६ करोड़ रुपये)। उपभोक्ता पदार्थ उद्योगो के लिये मुख्य रूप से तो यही जोर दिया गया था कि इनके उत्पादन मे वृद्धि की जाय। इसके लिये उनकी क्षमता का पूरा उपयोग किया जाना था। कुछ नये क्षेत्रों मे अधिक विनियोग किये जाने का विचार किया गया जैसे रेयन (१५ १ करोड़ रुपये), कागज एव कागज बोर्ड (५ ३५ करोड़ रुपये), औषधि-निर्माण (३ ५ करोड़ रुपये)। वस्त्र उद्योग के कार्यक्रम मे सूती तथा ऊनी दोनो प्रकार के सूत की क्षमता मे थोड़ा सा विस्तार किया जाने का विचार था।

योजना आयोग ने यह स्वीकृत किया कि ऐसी अर्थव्यवस्था मे, जिसका पूर्णरूप से केन्द्रीयकरण न हुआ हो, सरकार विनियोग की दिशा को केवल प्रभावित कर सकती है परन्तु वास्तविक रूप से उसे निश्चित नही कर सकती है। विकास के लिये कार्यक्रम सर्वोत्तम निर्णय की प्रकृति के थे जो कि सभव तथा आवश्यक थे। निजी क्षेत्र मे इन कार्यक्रमो का पूर्ण होना आवश्यक वित्त की प्राप्ति पर निर्भर था। उत्पादन मे वृद्धि के अनुपात मे ही अतिरिक्त चालू पूँजी की आवश्यकता मे भी वृद्धि होने की सभावना थी जिसका अनुमान १५० करोड रुपया लगाया गया था।

सार्वजनिक क्षेत्र मे विनियोग, जो ९४ करोड रुपया था, की पूर्ति उसके निजी साधनो से की जाती थी साथ-ही-साथ विदेशी विनियोग तथा घरेलू निजी साधनों से भी सहायता प्राप्त होने की सभावना थी। सार्वजनिक क्षेत्र की औद्योगिक योजना के अन्तर्गत कुछ ऐसी प्रायोजनाये थी जिनमे निजी पूँजी का देशी तथा विदेशी, सहयोग भी लिया गया था। इस तरह से निजी पूँजी लगभग २० करोड रूपये लगनी थी। इस प्रकार ७०७ करोड रुपये के कुल व्यय का लगभग ७५ प्रतिशत निजी क्षेत्र द्वारा उपलब्ध होना था, सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा केवल १० प्रतिशत था और शेष को विदेशो से प्राप्त करना था। मोटे तौर पर उद्योगो मे विदेशी पूँजी के रूप मे लगभग १०० करोड रुपये का विनियोग किया जाना था। कम्पनी के अविभाजित लाभ से २०० करोड रुपये तथा नये निर्गमन से ६० करोड़ रुपये उपलब्ध होने की सभावना थी। सरकार द्वारा ५ करोड रुपये का तथा औद्योगिक वित्त निगम द्वारा २० करोड़ रुपये का ऋण प्राप्त होना था। ६० करोड़

रुपये अतिरिक्त लाभ कर की वापसी होनी थी। बैंक तथा अन्य साधनों से प्राप्त होने वाले अल्पकालीन वित्त का अनुमान १५८ करोड रुपया लगाया गया था।

प्रथम योजना के अन्तर्गत प्रगति

यदि केवल औद्योगिक उत्पादन के निर्देशाँक मे हुई वृद्धि को ही देखे तो प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत हुई प्रगति सतोषजनक थी। तत्कालिक वर्षों मे औद्योगिक उत्पादन मे वर्ष-प्रति-वर्ष वृद्धि हो रही थी। १९५१ से यह वृद्धि निश्चित तथा सतत थी। परन्तु यदि प्रगति को योजनाओ के अन्तर्गत दी हुई प्राथमिकताओ, उद्देश्यो तथा उत्पादन-क्षमता के स्तर की दृष्टिकोण से देखे तो यह बहुत सन्तोषजनक प्रतीत न होगा।

प्रथम योजना की सम्पूर्ण अवधि मे, उद्योगो पर सम्पूर्ण स्थायी विनियोग, निजी तथा सार्वजनिक, कुल मिला कर २९३ करोड रुपये हुआ जिसमे से २३३ करोड रूपये केवल निजी क्षेत्र मे ही हुआ। पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन मे ७० प्रतिशत से वृद्धि हुई। माध्यमिक वस्तुओ का, विशेषकर औद्योगिक कच्चे माल का, उत्पादन ३४ प्रतिशत से बढा। उसी प्रकार, उपभोक्ता पदार्थो का उत्पादन ३४ प्रतिशत से बढा। औद्योगिक उत्पादन के निर्देशाँक मे इन तीनो प्रकार के उद्योगो को दी गई महत्ता को ध्यान मे रखते हुए (पूँजीगत वस्तुएँ ७·४६, माध्यमिक वस्तुएँ ४३ ८१, उपभोक्ता वस्तुएं ४८ ७३) औद्योगिक उत्पादन मे कुल वृद्धि ३८ प्रतिशत रही। हालाँकि यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रथम योजना से पूर्व अनेक उद्योगो मे उत्पादन का स्तर अति निम्न था।

सार्वजनिक क्षेत्र उत्पादन तथा क्षमता मे विस्तार की प्रगति सिन्दरी रसायनिक खाद फैक्ट्री, हिन्दुस्तान ऐण्टीबॉयटिक्स, हिन्दुस्तान केबिल्स, चितरजन लोकोमोटिव, भारतीय टेलीफोन उद्योग मे सन्तोषजनक रहा। इन उद्योगो मे सन्तोषजनक विनियोग भी किया गया। परन्तु कुछ केन्द्रीय तथा राज्य के प्रायोजनाओ मे प्रगति लक्ष्य से कम रही जैसे हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, हिन्दुस्तान इन्सेक्टीसाइड्स, इटीगरल कोच फैक्ट्री, नेप मिल्स, तथा बिहार सुपरफास्फेट्स फैक्ट्री। लोहा एव इस्पात की दशा मे तो यह आशा थी कि एक नये प्लान्ट के द्वारा ३५०,००० टन कच्चे लोहे का उत्पादन १९५५-५६ तक होगा तथा मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स के विस्तार की योजना कार्यान्वित करके उसी वर्ष तक ६०,००० टन इस्पात का अतिरिक्त उत्पादन बढाना था। परन्तु इन लक्ष्यो की पूर्ति प्रथम योजना के अन्त तक न हो पाई। इस योजना के अन्त तक हालाकि तीन इस्पात की फैक्ट्री की स्थापना से सम्बन्धित सभी प्रारम्भिक कार्यवाहियाँ पूरी की जा चुकी थी। इस प्रकार लोहा एंव इस्पात

उद्योग की प्रगति के लिये दृढ आधार तैयार किया जा चुका था। भारी विद्युत प्लाण्ट मे, जिसका योजना के अन्तिम वर्ष मे कार्यान्वित करने के लिये सुझाव दिया गया था, समुचित विनियोग न किया जा सका और योजना के अन्त तक इसके बारे मे विचार-विमर्श ही होता रहा।

सार्वजनिक क्षेत्र मे औद्योगिक विकास के लिये कुल ९४ करोड रूपये के विनियोग करने के लिये निश्चित किया गया था परन्तु १९५१-५६ मे केवल ६० करोड रुपये ही विनियोजित किया गया। इस कमी का प्रमुख कारण यह था कि लोहा एव इस्पात प्रायोजना को कार्यान्वित करने मे देरी हुई, कुछ मे धीमी प्रगति रही जैसे हिन्दुस्तान शिपयार्ड, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स नेशनल इस्ट्रूमेन्टस तथा भारी मशीन प्रोजेक्ट, तथा समजन के अन्तर्गत लाई गई योजनाये जैसे मैसूर सरकार पोर्सीलेन फैक्ट्री का विस्तार।

निजी क्षेत्र निजी क्षेत्र मे निम्नलिखित उद्योगो के उत्पादन मे प्रथम योजना के अन्तर्गत वृद्धि हुई चीनी, कच्चे रेशे, सूती वस्त्र, बेजीन हेक्साक्लोराइड, कास्टिक सोडा, सल्फ्यूरिक एसिड, विद्युत ट्रासफार्मर, सिलाई की मशीन, वैगन्स, कताई का ढाचा, तथा कार्डिग इजिन आदि। ये वृद्धि या तो तात्कालिक क्षमता का गहन उपयोग करके या अतिरिक्त उत्पादन क्षमता को बढा कर किया गया था। उत्पादन-क्षमता मे महत्वपूर्ण वृद्धि सीमेण्ट, कागज, कताई का ढाँचा, बाइसिकल, सिलाई की मशीन, विद्युत ट्रासफार्मर, कास्टिक सोडा, रेयन आदि मे हुई। दूसरी ओर, उत्पादन मे कमी अल्युमूनियम, साबुन, अमोनियम सल्फेट मे, जो निजी क्षेत्र मे थे, रही। हल्के इजीनियरिग उद्योग के उत्पादन मे भी, जैसे डीजल इजिन, रेडियो, हरीकेन, लालटेन, विद्युत लैम्प आदि मे, कमी घरेलू माँग के अपर्याप्त होने के कारण रही। कुछ उद्योगो मे उत्पादन उनके लक्ष्य से कम रहा जो कि या तो उनकी विदेशो मे माँग मे कमी आ जाने के कारण से हुआ (जैसे जूट) या देश के उन उद्योगो द्वारा माँग मे कमी के कारण से हुआ जो कि निर्यात मे भाग लेते है जैसे चाय के चेस्ट के लिये प्लाईवुड।

प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक मशीनो तथा यन्त्रो के निर्माण में तथा पूँजीगत वस्तुओ के उत्पादन के सम्बन्ध मे बहुमूल्य अनुभव तथा योग्यता प्राप्त हुई। एक नया ब्लास्ट फर्नेस तथा सल्फ्यूरिक एसिड प्लाण्ट को पूर्ण रूप से भारतवर्ष मे ही डिजाइन किया गया तथा बनाया गया। पूँजीगत वस्तुओ के क्षेत्र मे विकास की प्रारभिक अवस्था से लेकर समुचित प्रगति हो चुकी थी जिससे कि इस अनुभव का पर्याप्त लाभ द्वितीय योजना काल मे उठाया

जा सका। कुछ बड़े फर्मों के द्वारा विदेशी फर्मों की तकनीकी सहायता से जटिलतर प्लाण्ट तथा मशीनो का निर्माण भी इस काल मे किया गया।

निजी क्षेत्र मे जो उद्योगो के विस्तार के कार्यक्रम के लिये २३३ करोड रुपये के व्यय करने की योजना थी वह लगभग लक्ष्य के अनुसार ही पूरा हुआ। कुछ उद्योगो की दशा मे तो, जैसे सूती वस्त्र, विद्युत शक्ति प्रजनन, कागज तथा कागज बोर्ड आदि मे, लक्ष्य से अधिक विनियोग हुआ। पेट्रोल रेयन तथा धातु-उद्योगो मे विनियोग लक्ष्य से कम रहा क्योंकि योजना के प्रथम दो वर्षों मे दशाये प्रतिकूल सी रही, काल्टेक्स रिफाइनरी के निर्माण मे तथा आकार-परिवर्तन के सम्बन्ध मे परिवर्तन हुआ, तथा अल्युमूनियम, रसायनिक, लुग्दी, जिप्सम-गधक आदि की योजना को कार्यान्वित करने मे देरी हुई। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि निजी क्षेत्र मे कमी उन्ही उद्योगो मे पाई गई जिनमे अधिक पूँजी के विनियोग की आवश्यकता थी और अपेक्षाकृत कम लाभ प्राप्त होने की आशा थी। नई इकाइयो मे तथा विस्तार की दिशा मे कुल वार्षिक अनुमानित विनियोग १९५१-५३ मे ५३ करोड रुपये १९५३-५४ में ४४ करोड रुपये, १९५४-५५ मे ५० करोड रुपये तथा १९५५-५६ मे ८५ करोड़ रुपये रहा। इससे यह दृष्टिगोचर होता है कि विनियोग का उत्साह योजना के अन्तिम वर्षों मे अधिक रहा।

निजी क्षेत्र के उद्योगों मे पुनर्स्थापन तथा आधुनिकीकरण के कार्यक्रम हेतु प्रथम योजना मे २३० करोड़ रुपये व्यय किये जाने थे पर वास्तव मे केवल १०५ करोड रुपये ही व्यय किये गये जो कि आवश्यकता से कही कम था। इस कमी का कारण इजीनियरिंग सस्थान, चीनी, सूती वस्त्र तथा जूट उद्योग मे तकनीकी उपकरणो की दशा मे अध्ययन करना रहा। यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रथम योजना के अन्तर्गत प्रतिस्थापन के लिये किया गया अनुमान निश्चित एव विस्तृत अध्ययन पर आधारित नही था अत. यह हो सकता है कि अनुमान आवश्यकता से अधिक लगा लिया गया हो।

द्वितीय पचवर्षीय योजना

द्वितीय पचवर्षीय योजना मे औद्योगीकरण को, और विशेष रूप से आधारभूत उद्योगो के विकास को, उच्च प्राथमिकता प्रदान की गई थी। सार्वजनिक उपक्रमो मे उद्योगों तथा खनिजपदार्थों के विकास के लिये बहुत बड़ी मात्रा मे विस्तार की योजना बनाई गई। औद्योगिक कार्यक्रमो को कार्यान्वित करने की दिशा में सार्वजनिक क्षेत्र को तो अत्यधिक महत्ता दी गई थी पर साथ

ही साथ निजी क्षेत्र की महत्ता को भी स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया गया था। "दोनो क्षेत्रो को मिला कर कार्य करना है तथा दोनो को एक ही यन्त्र के अगों के रूप मे देखना है। योजना को दोनो क्षेत्रो के सन्तुलित तथा समकालिक विकास के आधार पर ही चलाया जा सकता है।" योजना के बनाने वालो ने निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रो को एक दूसरे को अधिक सहयोगी के रूप मे माना है और दोनो को पृथक-पृथक नही माना है।

औद्योगिक प्राथमिकतायें औद्योगिक नीति प्रस्ताव १९५६ के अन्तर्गत ही योजना आयोग ने औद्योगिक क्षमता के विस्तार के लिये निम्नलिखित प्राथमिकताये प्रस्तुत की —

(१) लोहा एव इस्पात तथा भारी रसायन, रसायनिक खाद सहित, का अधिक उत्पादन तथा भारी इजीनियरिग एव मशीन उद्योग का विकास,

(२) अन्य विकासपूर्ण वस्तुये तथा उत्पादक पदार्थों की क्षमता मे विस्तार, जैसे, अल्युमूनियम, सीमेण्ट, रसायनिक लुग्दी, रँगाई के सामान, फास्फेटिक खाद, तथा महत्वपूर्ण औषधियॉ;

(३) प्रमुख राष्ट्रीय उद्योगो का, जो स्थापित हो चुके है जैसे जूट एव सूती वस्त्र तथा चीनी, आधुनिकीकरण;

(४) उन उद्योगो की स्थापित क्षमता का पूर्ण प्रयोग, जिनकी क्षमता एव उत्पादन मे अन्तर हो, तथा

(५) उपभोक्ता पदार्थों की क्षमता मे, सम्मिलित उत्पादन कार्यक्रम को तथा उद्योगो के विकेन्द्रित क्षेत्रो के उत्पादन-लक्ष्य को ध्यान मे रखते हुए विस्तार।

औद्योगिक विस्तार पर व्यय द्वितीय योजना मे आधारभूत उद्योगो पर अधिक बल देने के परिणामस्वरूप अर्थ व्यवस्था को सुदृढ बनाने के लिये लोहा एव इस्पात, मशीन निर्माण करने वाले, इजीनियरिंग, विद्युत उपकरण, तथा रसायनिक उद्योगो का विकास किया गया।

धातु सम्बन्धी उद्योगो पर विशेषकर लोहा एव इस्पात, अल्युमूनियम, लौह-मैगनीज पर, द्वितीय योजना काल मे कुल १०९४ करोड रुपये मे से ५०२ करोड़ रुपया (४५·९ प्रतिशत) विनियोजित करने का विचार था। धातु सम्बन्धी उद्योगों के पश्चात् भारी तथा हल्के इजीनियरिंग उद्योगो का नम्बर था जिन

पर १५० करोड रुपया विनियोजित किया जाना था जो कुल विनियोग का १३ ७ प्रतिशत था ।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत उद्योगो के विकास का अध्ययन तीन वर्गों मे मोटे तौर पर किया जा सकता है । इस आधार पर अनुमानित विनियोग द्वितीय योजना मे होने वाले औद्योगिक विकास के स्वरूप का उचित सूचक है । १९५६-६१ के लिये औद्योगिक विस्तार की योजना मे उत्पादक पदार्थ उद्योग को, जिस पर ७५९ करोड का विनियोग होना था, महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया था । इसके विरुद्ध मशीनरी तथा पूंजीगत वस्तुओ के उद्योग पर १५६ करोड रुपये का विनियोग होना था तथा उपभोक्ता वस्तुओ के उद्योग पर १७९ करोड रुपये का विनियोग होना था । इन तीनों वर्गों के उद्योगो पर कुल विनियोग १०९४ करोड रुपये होना था ।

सार्वजनिक क्षेत्र ने प्रत्यक्ष रूप से अथवा राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (N I D. C) के माध्यम से उद्योगो के विकास के लिये अधिक उत्तरदायित्व ले लिया था । उत्पादक पदार्थ के उद्योगो पर कुल किये जाने वाले ७५९ करोड के विनियोग मे से सार्वजनिक क्षेत्र का भाग ४६३ करोड रुपये (६१ प्रतिशत) था जब कि निजी क्षेत्र का भाग केवल २९६ करोड रुपये (३९ प्रतिशत) था । औद्योगिक मशीन तथा पूंजीगत वस्तुओ के उद्योग के सम्बन्ध मे सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा कुल १५६ करोड रुपये के विनियोग में से ८४ करोड रुपया (५४ प्रतिशत) विनियोजित किया जाना था तथा निजी क्षेत्र को ७२ करोड रुपये (४६ प्रतिशत) ही देना था । उपभोक्ता पदार्थ के उद्योगों के विकास के लिये, निजी क्षेत्र द्वारा १६७ करोड रुपये (९३ प्रतिशत) व्यय किये जाने की आशा थी जब कि सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा केवल १२ करोड रुपये (७ प्रतिशत) ही व्यय करना था । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उत्पादक तथा पूंजीगत वस्तुओ के उद्योगो के विकास के लिये सार्वजनिक क्षेत्र को ही अधिक उत्तरदायित्व सौंपा गया था तथा उपभोक्ता पदार्थ उद्योगो के विस्तार का मुख्य भार निजी क्षेत्र पर था । साथ ही साथ, सार्वजनिक क्षेत्र को अपने द्वारा विनियोजित किये जाने वाले कुल व्यय का ९८ प्रतिशत उत्पादक एव पूंजीगत वस्तुओ के उद्योगो पर करना था जब कि इन्ही उद्योगों पर निजी क्षेत्र द्वारा अपने द्वारा विनियोजित किये जाने वाले कुल व्यय का केवल ६८ प्रतिशत ही व्यय किया जाना था । उपभोक्ता पदार्थों के उद्योगों के लिये सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा अपने कुल विनियोग का २ प्रतिशत तथा निजी क्षेत्र द्वारा अपने कुल विनियोग का ३२ प्रतिशत व्यय किया जाना था । सार्वजनिक क्षेत्र मे औद्योगिक प्रायोजनाओं पर, राष्ट्रीय

औद्योगिक विकास निगम द्वारा किये जाने वाले विनियोग के अतिरिक्त, ५२४ करोड रुपये विनियोजित किये जाने थे। इस राशि मे से केन्द्रीय सरकार की प्रायोजनाओ पर नये विनियोग (राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम द्वारा प्रावधानो को छोडकर) ५०२ करोड रुपये की अनुमानित राशि से किया जाना था। तथा राज्य के क्षेत्र मे औद्योगिक प्रायोजनाओ पर २२ करोड रुपये विनियोजित किया जाना था।

द्वितीय पचवर्षीय योजना मे निजी क्षेत्र मे कुल विनियोग उद्योगो के विकास के लिये ६८५ करोड रुपये किया जाना था। इसमे से ५३५ करोड रुपये नये विनियोग के रूप मे थे। उसमे से १५० करोड रुपये पुनर्स्थापन के लिये थे। निजी क्षेत्र मे हालाकि आवश्यकता तो उतने ही रुपयें की थी परन्तु उन्हे लगभग ६२० करोड रुपये ही उपलब्ध थे।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत प्रगति

द्वितीय योजना काल मे उद्योगो के लिये कुल वित्तीय विनियोग १५७० करोड रुपया किया गया जब कि आरभ मे १०९४ करोड रुपये ही विनियोजित किये जाने का अनुमान था। उसमे से सार्वजनिक क्षेत्र मे ७२० करोड रुपये तथा निजी क्षेत्र मे ८५० करोड़ रुपये विनियोजित किया गया। इस प्रकार आरभिक अनुमान से ३० प्रतिशत अधिक ही व्यय किया गया।

इस अधिक व्यय का अधिकाश भाग (लगभग ५६ २ प्रतिशत) लोहा एव इस्पात के विस्तार कार्यक्रम पर ही व्यय हुआ था। कुछ अश तक यह अतिरिक्त व्यय मूल्यों मे हुई वृद्धि के कारण हुआ था। सार्वजनिक क्षेत्र मे तीनों इस्पात के कारखानों पर द्वितीय योजना मे ४२५ करोड़ रुपये व्यय किये जाने की आशा थी परन्तु उन पर अनुमानित व्यय ६२० करोड रुपये रहा। परन्तु सीमेण्ट तथा कागज उद्योग की दशा मे व्यय अनुमानित व्यय से कम रहा।

यद्यपि वित्तीय विनियोग के दृष्टिकोण से द्वितीय योजना मे उद्योगो पर अनुमानित राशि से ३० प्रतिशत अधिक व्यय हुआ परन्तु प्रस्तावित वस्तुगत (physical) क्षमता की दृष्टिकोण से द्वितीय योजना मे उपलब्धि केवल ८५ प्रतिशत ही रही अर्थात १५ प्रतिशत कम ही रही।

द्वितीय योजना मे सर्वाधिक प्रभावकारी उपलब्धि सार्वजनिक क्षेत्र मे तीन इस्पात के कारखानो की स्थापना है। ये भिलाई, राउरकेला तथा दुर्गापुर में स्थापित किये गये तथा प्रत्येक की क्षमता १० लाख टन इस्पात निर्माण करने की

थी । निजी क्षेत्र मे भी लोहा एव इस्पात के कारखानो के आधुनिकीकरण तथा विस्तार का कार्यक्रम पूर्ण रहा जिससे उन की उत्पादन क्षमता मे १५ लाख टन इस्पात से वृद्धि हुई। इस काल मे इस्पात बनाने की नयी क्षमता के समान उत्पादन का मूल्य २०० करोड रुपया प्रतिवर्ष होगा। इस्पात के उत्पादन मे इस बढी हुई क्षमता के कारण वृद्धि होते रहने से आने वाले वर्षो मे अर्थ-व्यवस्था के विकास को समुचित बल मिलने की आशा थी। केवल इस्पात कार्यक्रम पर विनियोग ही, जो कि १९५६-६१ मे ७५० करोड रुपये रहा, प्रथम योजना मे नवीन औद्योगिक क्षमता पर निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र मे मिलाकर किये गये विनियोग (लगभग २९० करोड रुपये) का २½ गुना था ।

उत्पादन की दिशा मे, कुछ महत्वपूर्ण दिशाओ मे हुई कमियो के होते हुए भी, उपलब्धि अच्छी ही रही। उदाहरण के लिए, देश मे पहली बार सीमेण्ट तथा कागज की मशीनो का उत्पादन आरभ किया गया, तथा इजीनियरिंग उत्पादन जैसे कम्प्रेसर, नये रसायनिक पदार्थ जैसे यूरिया, आमोनियम फॉस्फेट, सोडियम हाइड्रो सल्फाइट, औद्योगिक इक्सप्लोसिव, पोलीथीन तथा रगने के पदार्थ का भी उत्पादन आरभ हुआ। औद्योगिक उत्पादन का निर्देशाक (१९५०-५१=१००) १९६०-६१ मे बढकर १९४ हो गया जबकि प्रथम योजना के अन्त मे यह १३४ ही था ।

उद्योगो के विकेन्द्रीयकरण के क्षेत्र मे भी कुछ सफलता मिली। देश मे उद्योगो के नये केन्द्र उन स्थानो पर बने जहाँ पहले कुछ नही था, उदाहरण के लिये भिलाई, राउरकेला, दुर्गापुर, भोपाल, गौहाटी तथा बरौनी आदि ।

उत्पादन की दिशा मे लक्ष्य की प्राप्ति मे कमी लोहा एव इस्पात, रसायनिक खाद, अखबारी कागज, रसायनिक लुग्दी, सोडा ऐश, रँगने के पदार्थ, अल्युमूनियम तथा सीमेण्ट आदि मे रही । औद्योगिक मशीनो के उत्पादन का स्तर योजना के अनुसार नही रहा। लोहा एव इस्पात के उत्पादन मे कमी होने से तृतीय योजना के आरभ करने मे अर्थव्यवस्था को इससे जो लाभ होना था, वह न हो पाया। ये कमी उनकी स्थापना करने मे देरी होने से नही आयी थी अपितु उनकी नयी क्षमता का सतत तथा सुगम सचालन न हो पाने के कारण हुआ था। इस्पात तथा रसायनिक खाद की दशा मे विदेशी मुद्रा की कमी से भी कठिनाइयाँ आईं। भारी मशीनरी, खनिज सम्बन्धी मशीनरी तथा फाउण्ड्री फोर्ज प्रोजक्ट्स की दशा मे प्रत्येक प्रायोजना के क्षेत्र को तय करने मे ही अनेक कठिनाइयां आईं। रँगने के पदार्थ सम्बन्धी योजनाओ के लिये उचित व्यक्तियों की नियुक्ति मे ही कठिनाई हुई। खनिज तेल परिशोधन की दशा मे विदेशियो से सहयोग के लिये

सरकार द्वारा किये जाने वाले प्रयत्नो मे भी समय लगा क्योकि सरकार सर्वोत्तम शर्तों के लिये प्रयास कर रही थी। द्वितीय योजना मे निर्यात के लिये निर्धारित किया गया लक्ष्य भी पूरा न हो पाया तथा निर्यात सतोषजनक न रहा।

द्वितीय योजनाकाल मे निर्यात के सम्बन्ध मे प्राप्त अनुभवों का लाभ उठाना चाहिये तथा इस उद्देश्य से अपने उद्योगो की लागत सरचना के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। साथ-ही-साथ निर्यात-प्रोत्साहन के लिये पर्याप्त प्रयत्न किये जाने चाहिए और विदेशी बाजारो की विस्तृत जानकारी प्राप्त करके निर्यात के सम्बन्ध मे लक्ष्य को वास्तविक आधार पर ही तैयार किये जाने का प्रयत्न करना चाहिए।

द्वितीय योजना से यह भी अनुभव प्राप्त हुआ कि तीव्र औद्योगीकरण से अर्थव्यवस्था पर कितना भार पड़ता है तथा मशीनो के लिये, तकनीकी ज्ञान के लिये तथा उद्योगो के संचालन को चालू रखने के लिए आवश्यक कच्चे माल के लिये हमे विदेशी साधनों पर निर्भर रहने के लिये कितना विवश होना पडता है। इससे यह भी ज्ञात हुआ कि भारी औद्योगिक प्रायोजनाओं के निर्माण की अवधि (gestation period) अनुमानित अवधि से सामान्यतया अधिक ही रही। अत आवश्यकता इस बात की है कि योजना ढंग से तथा पहिले ही बनाई जानी चाहिए।

द्वितीय योजना मे प्राप्त उपलब्धियो तथा प्रगति को वास्तविक औद्योगिक क्रान्ति का आरभ बताया गया है जिसकी प्रमुख विशेषताये औद्योगिक आधार का विस्तृतीकरण है तथा आधुनिकतम योग्यता तथा टैक्नालाजी का प्रयोग है जैसा कि इस देश के इतिहास मे कभी भी नही पाया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना

उद्देश्य १९६१-६६ के लिये औद्योगिक योजना इस प्रमुख आवश्यकता को ध्यान मे रख कर बनाई गई कि अगले १५ वर्षो मे तीव्र औद्योगीकरण के लिये आधार प्रस्तुत करना था। यह अति आवश्यक था यदि राष्ट्रीय आय तथा रोजगारी जैसे दीर्घकालीन उद्देश्यो को पूरा करना था। यह आवश्यक समझा गया कि आधारभूत पूंजीगत उद्योग तथा उत्पादक पदार्थ के उद्योगो की स्थापना तेजी के साथ किया जाय तथा साथ-ही-साथ मशीन निर्माण करने वाले उद्योगों की स्थापना पर विशेष बल दिया जाय। यह भी आवश्यक था कि सम्बन्धित योग्यता, तकनीकी ज्ञान तथा डिजायन निर्माण की क्षमता प्राप्त कर ली जाय जिससे भावी योजना काल मे शक्ति, यातायात, उद्योग तथा खनिज

पदार्थों का उत्पादन इतना किया जा सके कि हम आत्म-निर्भर हो सकें और विदेशो पर निर्भरता कम से कम हो जाय। यद्यपि दीर्घकालीन उद्देश्यो की पूर्ति हेतु विशेष ध्यान पूँजीगत वस्तुओ के उद्योग पर ही तथा औद्योगिक कच्चे माल या अर्धनिर्मित माल के उत्पादन को बढाने पर देना था, तथापि तृतीय योजना मे यथासभव, अनेक विनिर्मित माल के उत्पादन की ओर भी ध्यान दिया गया जिससे कि भावी पाच वर्षों की माग की पूर्ति की जा सके। उपलब्ध साधनो का अधिकाश भाग हालाकि भावी विकास के लिए आधार प्रस्तुत करने मे प्रयोग करना था, फिर भी प्रत्येक दशा मे माँग की पूर्ति करना सभव न था। तृतीय योजना का उद्देश्य आवश्यक आवश्यकताओ की पूर्ण पूर्ति करना था, परन्तु फिर भी उपभोग पर कतिपय प्रतिबन्ध लगाना भी अति आवश्यक था, विशेषकर, विलासिता तथा अर्ध-विलासिता सम्बन्धी वस्तुओं के सम्बन्ध मे जिनका उत्पादन मॉग मे वृद्धि के अनुरूप किया जाना कठिन था।

नीति. तृतीय योजना काल मे उद्योगो के विस्तार की योजना औद्योगिक नीति-प्रस्ताव १९५६ से विशेषतया प्रभावित रही। जैसा कि द्वितीय योजना मे था, निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रो को अपनी-अपनी भूमिका एक दूसरे के सहायक तथा पूरक के रूप मे ही निभाना था। फिर भी, सरकार ने कुछ व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया और परिणामस्वरूप औद्योगिक नीति मे कुछ ऐसे परिवर्तन हुए जो निजी क्षेत्र के पक्ष मे थे। रसायनिक खाद का उत्पादन, जो सार्वजनिक क्षेत्र के लिए ही सुरक्षित रखा गया था, निजी क्षेत्र मे भी आरभ करने के लिये भी निश्चित किया गया। तृतीय योजना मे इसके द्वारा महत्वपूर्ण कार्य किये जाने की आशा थी। कच्चे लोहे की दशा मे भी, नीति के अन्तर्गत कुछ छूटे दी गई जिसके अनुसार निजी क्षेत्र मे १,००,००० टन प्रतिवर्ष अधिकतम क्षमता तक के प्लाण्ट की स्थापना की जा सकती है जबकि पहिले १५,००० टन तक की ही आज्ञा थी। उसी प्रकार, रँगने वाले पदार्थ, प्लास्टिक, औषधि आदि का निजी क्षेत्र मे विनिर्माण अधिकतर सार्वजनिक क्षेत्र मे माध्यमिक वस्तुओ के विनिर्माण के कार्यक्रम के पूरक के रूप मे ही करना था। साथ-ही-साथ, कुछ ही व्यक्तियो के हाथ मे उद्योगों का अनुचित केन्द्रीयकरण न हो जाय इसके लिये भी सावधानी रखी गई थी।

प्राथमिकतायें. तृतीय योजना मे औद्योगिक विकास के कार्यक्रम तथा प्रायोजनाओ के लिये निम्नलिखित प्राथमिकताये निर्धारित की गई थी:—

(१) उन प्रायोजनाओ को पूरा करना जो कि द्वितीय योजना के अन्तर्गत थे या जिनका १९५७-५८ में विदेशी मुद्रा की कठिनाइयो

के कारण कार्यान्वित किया जाना स्थगित कर दिया गया था;

(२) भारी इजीनियरिंग एव मशीन बनाने वाले उद्योगो की, एलॉय टूल तथा विशेष इस्पात, लोहा एव इस्पात तथा फेरो-एलॉयज की क्षमता का विस्तार तथा विभिन्नीकरण तथा रसायनिक खाद एव पेट्रोल के उत्पादन मे वृद्धि करना,

(३) प्रमुख तथा आधारभूत कच्चे माल तथा उत्पादक पदार्थ जैसे अल्युमूनियम, खनिज तेल, प्रमुख रसायनिक पदार्थ तथा माध्यमिक पदार्थो के उत्पादन मे वृद्धि करना,

(४) घरेलू उद्योगो द्वारा उन वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि करना जिनकी आवश्यकता प्रमुख औषधियो, कागज, वस्त्र, चीनी, वनस्पति तेल तथा मकान निर्माण सम्बन्धी वस्तुओ के लिये होती है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि मशीन-निर्माण-कार्यक्रम को तृतीय योजना मे एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया था जिससे कि औद्योगिक विकास स्वय-धारी (self-sustaining) हो सके। इस क्षेत्र मे तीव्र विकास के लिये डिजाइन सम्बन्धी सुविधा का विभिन्न सस्थानो मे विस्तृत प्रसार होना अति आवश्यक है तथा डिजाइन सगठनो की स्थापना विभिन्न उद्योगो के वर्गों के लिये होनी चाहिये। इन्हे उच्च प्राथमिकता दी गई। मशीन डिजाइन के लिये चार राष्ट्रीय सस्थाओ के विषय मे सरकार गभीरता से विचार कर रही थी। "इन चार राष्ट्रीय सस्थाओ द्वारा, जिसको प्रत्येक सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम के तथा प्रमुख निजी क्षेत्र के उपक्रम के डिजाइन के लिये सेल (cell) से सहायता मिलेगी, जिनमे आपस मे सामजस्य किया जायगा, पाच या दस वर्षो के पश्चात् हमे अपने युवक भारतीय कुशल इजीनियर उपलब्ध होगे जो विश्व के अन्य भाग के अपने समदेशियो से निम्नकोटि के न होगे।"

औद्योगिक कार्यक्रम के लिए निर्धारित व्यय. तृतीय योजना मे दोनों क्षेत्रों मे व्यय का अनुमान निम्नलिखित ढग से लगाया गया था

अनेक प्रायोजनाओ के लागत के अनुमान मे शुद्धता की मात्रा मे कमी थी क्योंकि क्षेत्र, सचालन, स्थानीयकरण तथा अन्य सम्बन्धित विवरणो के सम्बन्ध मे ये प्रायोजनाएँ निर्माण की आरभिक अवस्था मे ही थी। कुछ उद्योग तो ऐसे थे जिनके लिये देश मे कोई भी अनुभव नही था जिससे शुद्ध अनुमान लगाया जा सके। विदेशी विनिमय के सम्बन्ध मे अनुमान इस मान्यता पर आधारित था कि भुगतान नकद होगा तथा मशीन एव अन्य उपकरण सब से

तालिका १

(रुपया करोड मे)

	सार्वजनिक क्षेत्र		निजी क्षेत्र		दोनो क्षेत्र	
	कुल	विदेशी विनिमय	कुल	विदेशी विनिमय	कुल	विदेशी विनिमय
औद्योगिक विकास पर नया विनियोग	१,३३०	६६०	१,१२५	४५०	२,४५५	१,११०
प्रतिस्थापन	—	—	१५०	५०	१५०	५०
योग	१,३३०	६६०	१,२७५	५००	२,६०५	१,१६०

सस्ता उपलब्ध होगा। ये अनुमान गलत सिद्ध हो सकते थे यदि ये मान्यताएँ गलत हो जायँ। उदाहरण के लिये, इस अनुमान मे पर्याप्त वृद्धि हो सकती थी यदि, विभिन्न देशो से प्राप्त साख का उपयोग करने के लिये, अधिकाश उपकरण उन साधनो से प्राप्त हो जो सबसे सस्ते न हो।

सार्वजनिक क्षेत्र. सार्वजनिक क्षेत्र मे औद्योगिक प्रायोजनाओ के लिये कुल स्थायी विनियोग तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिये १३३० करोड रुपये तथा ६६० करोड रुपये क्रमश रखा गया था (तालिका १)। केन्द्रीय सरकार की प्रायोजनाओ को तीन वर्गों मे रखा गया था (१) प्रायोजनाये जो कार्यान्वित की जा रही हो तथा द्वितीय योजना से लाई गई हों, (२) नई प्रायोजनाये जिनके लिये अशत. या पूर्णत विदेशी साख प्राप्त होने का आश्वासन प्राप्त हो गया हो, तथा (३) नई प्रायोजनाये जिनके लिये विदेशी साख का प्रबन्ध अभी किया जाना हो। वर्ग (१) मे आने वाली प्रायोजनाओ को तृतीय योजना मे ही पूर्ण किया जाना था। यही बात वर्ग (२) मे आने वाली प्रायोजनाओ के लिये भी थी। परन्तु उनमे से कुछ जैसे प्रिसीजन इन्स्ट्रूमेण्ट प्रोजेक्ट तथा दो भारी रसायन प्रायोजनाये प्रारभिक अवस्थाओ मे ही थी और सभवत उन्हे चौथी योजना मे भी ले जाना पडे। सबसे अधिक अनिश्चितता उन प्रायोजनाओ के लिये थी जो वर्ग (३) मे थी यद्यपि उनमें से कुछ को तो उच्च प्राथमिकता प्रदान किया गया था जैसे एलॉय इस्पात प्लाण्ट और यह प्रस्तावित था कि इन्हे पूरा करने के लिये सभी सभव प्रयत्न किये जायेंगे।

तृतीय योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र में प्रमुख औद्योगिक प्रायोजनायें लोहा एव इस्पात, औद्योगिक मशीन, भारी विद्युत उपकरण, मशीन यन्त्र, उर्वरक,

आधारभूत रसायन तथा माध्यमिक पदार्थ, प्रमुख औषधियाँ तथा पेट्रोल शोधन आदि के क्षेत्र मे थी। सार्वजनिक क्षेत्र मे औद्योगिक प्रायोजनाओं के लिये आवश्यक कोष के अधिकाश भाग की पूर्ति सरकार को ही करनी थी यद्यपि कुछ सरकारी उपक्रमो द्वारा आन्तरिक साधनो से भी कुछ धनराशि प्राप्त होने की सभावना थी। यह अनुमान लगाया गया था कि उनके आन्तरिक साधनों से लगभग ३०० करोड़ रुपये औद्योगिक विनियोग के लिये प्राप्त हो सकेगा। इसमे से अधिकाश धन सार्वजनिक क्षेत्र के इस्पात तथा खाद के कारखानो से प्राप्त होना था। हिन्दुस्तान मशीन टूल्स के लिये यह प्रस्तावित था कि वह अपने आन्तरिक साधनों से विशेषतया रुपये मे व्यय की पूर्ति करके एक या दो नये मशीन टूल्स कारखानो की स्थापना करे।

जहाँ तक राज्य सरकारो द्वारा प्रमुख औद्योगिक प्रायोजनाओ के लिये सार्वजनिक क्षेत्र मे उपक्रमो के विकास करने की बात थी, उन मे से अधिकाश प्रायोजनाये द्वितीय योजना से लाई गई थी जैसे, मैसूर आयरन एन्ड स्टील वर्क्स तथा आन्ध्रा पेपर मिल्स का विस्तार करना, दुर्गापुर कोक ओवेन्स को दुगना करना तथा गैस के पाइप को दुर्गापुर से कलकत्ता तक लाना। राज्य सरकारो की प्रमुख औद्योगिक प्रायोजनाये थी FACT का तृतीय अवस्था तक विस्तार जिससे अमोनियम फास्फेट, अमोनियम सल्फेट तथा अमोनियम क्लोराइड का अतिरिक्त उत्पादन हो सके। साथ-ही-साथ ट्रावंकोर-कोचीन केमिकल्स तथा दुर्गापुर औद्योगिक परिषद की कार्बनिक रसायन प्रायोजनाओं का विकास करना था। राज्य सरकारों की योजनाओ के अन्तर्गत औद्योगिक विकास के लिये ही धन-राशि में से कुछ धन राज्य वित्तीय निगम को दिया गया था। इसका उद्देश्य औद्योगिक विकास क्षेत्र योजनाओं को वित्त प्रदान करना था जिससे उन क्षेत्रो का भी औद्योगिक विकास हो सके जो अपेक्षाकृत कम विकसित हों अथवा अविकसित हो।

निजी क्षेत्र. बडे स्तर पर सार्वजनिक विनियोग कर जो कार्यक्रम पहली दो योजनाओं मे कार्यान्वित किया गया उससे निजी क्षेत्र को प्रत्यक्ष एव परोक्ष दोनों रूप में लाभ हुआ। प्रत्यक्ष रूप मे आवश्यक उपरिव्यय की व्यवस्था हुई थी तथा परोक्ष रूप से माँग को प्रोत्साहित किया जा सका जिससे औद्योगिक विकास के लिये समुचित वातावरण तैयार हो सके। तृतीय योजना मे बड़े पैमाने पर सार्वजनिक विनियोग की जो योजना थी उससे निजी क्षेत्र के लिये वातावरण के और भी उपयुक्त हो जाने की सभावना थी। फिर भी, विदेशी विनिमय तथा शक्ति के अभाव से तृतीय योजना के सम्पूर्ण काल मे निजी क्षेत्र का स्वतन्त्र

विकास सीमित ही हो सकता था। तृतीय योजना मे क्षमता तथा उत्पादन के लक्ष्य को निर्धारित करने के लिये योजना आयोग ने विभिन्न उद्योगो के प्रतिनिधियो से विचार-विमर्श किया तथा विकास परिषद तथा अन्य सस्थाओ के विचारो पर विशिष्ट उद्योगो के लिये लक्ष्य निर्धारित करते समय ध्यान दिया।

तालिका २

निजी क्षेत्र के औद्योगिक तथा खनिज कार्यक्रम के लिये कोषो का साधन एव पूर्ति

(रुपया करोड मे)

साधन	द्वितीय योजना		तृतीय योजना
	लक्ष्य	अनुमान	अनुमान
सस्थागत एजेंसियाँ	४०	८०	१३०
सरकार द्वारा प्रत्यक्ष ऋण एव सहयोग	२०	२०	२०
नये निर्गमन	८०	१५०	२००
पूँजी मे विदेशी साख एव सहयोग	१००	२००	३००
आन्तरिक साधन	३८०	४००	६००
योग	६२०	८५०	१,२५०

योजना आयोग ने देश के प्रमुख औद्योगिक एव व्यापारिक सगठनो से विचार-विमर्श किया और यह पता लगाया कि तृतीय योजना मे निजी क्षेत्र मे विनियोग के लिये कितना साधन उपलब्ध हो सकेगा। निजी क्षेत्र मे सकल स्थायी सम्पत्ति निर्माण के लिये वित्त प्रदान का स्वरूप (पुनर्स्थापन तथा आधुनिकीकरण के कार्यक्रम पर १५० करोड़ रुपये के अनुमानित विनियोग को लेकर) जैसा तालिका २ मे दिखाया गया है निर्धारित किया गया था। ये उद्योग तथा खनिज पदार्थ के लिये १९६१-६६ के लिये था। तुलनात्मक अध्ययन के लिये द्वितीय योजना के तदनुरूपी आकडे भी दिये गये है। द्वितीय योजना के आकडो मे खनिज पदार्थ सम्मिलित नही है।

इन अनुमान के आधार पर निजी क्षेत्र मे कार्यक्रम के लिये आवश्यक धनराशि आवश्यकता से कम उपलब्ध हुई थी। वैसे कुल आवश्यकता १,३५० करोड़ रुपये (खनिज के लिये ६० करोड रुपये को लेकर) अनुमानित थी।

वित्तीय साधनो की कमी के साथ-साथ एक अन्य कठिन समस्या विदेशी विनिमय की थी जिसका अनुमान यह लगाया गया था कि ५३० करोड रुपये से कम की आवश्यकता न होगी ।

तृतीय योजना मे प्रगति

तृतीय योजना मे औद्योगिक उत्पादन के विकास की दर निम्नलिखित रही ।

१९६१-६२	७ ०%
१९६२-६३	७·७%
१९६३-६४	८·५%
१९६४-६५	७ ०%
१९६५-६६	४·०%

१९६५-६६ मे विकास की दर मे तेजी से कमी आई। वास्तव मे, तृतीय योजना मे औद्योगिक क्षेत्र में उपलब्ध प्रगति सामान्यतया असतोषजनक रही। ये प्रगति द्वितीय योजना की अपेक्षाकृत अधिक असमान रही। तालिका ३ मे औद्योगिक उत्पादन—नया तथा पुराना क्रम—के निर्देशाक दिये हुए है जिससे उपरोक्त कथन प्रमाणित होता है। औद्योगिक उत्पादन के निर्देशाक मे प्रतिशत परिवर्तन जैसा कि तालिका ४ मे दिखाया गया है यह सूचित करता है कि १९६३ से सतत कमी आ रही है।

तालिका ३

औद्योगिक उत्पादन का निर्देशाक

	आधार वर्ष १९५६ = १००	आधार वर्ष १९६० = १००
१९६०	१३० २	१०० ०
१९६१	१४१ ०	१०९·२
१९६२	१५२ ९	११९ ७
१९६३	१६७ ३	१२९ ७
१९६४	१७७·८	१४०·९
१९६५	१८७ ७	१५० ९
१९६६	१९२ ६	१५२·४
१९६७	१९५·३	१५१ १

तालिका ४

औद्योगिक उत्पादन के निर्देशाक मे प्रतिशत परिवर्तन

(आधार वर्ष १९५६=१००)

१९६१	८ ३
१९६२	८·४
१९६३	९ ४
१९६४	६ ३
१९६५	५·६
१९६६	२ ६
१९६७	१ ४

तृतीय योजना में निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र की विभिन्न योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये २,७२० करोड रुपये व्यय करना निर्धारित किया गया था। इसमे से, १,५२० करोड रुपये सार्वजनिक क्षेत्र में तथा १,२०० करोड रुपये निजी क्षेत्र मे व्यय किये जाने थे। वास्तव में सम्पूर्ण वित्तीय व्यय सगठित उद्योग एवं खनिज के लिये ३,००० करोड़ रुपये हुआ है—१,३०० करोड़ रुपये निजी क्षेत्र मे तथा १,७०० करोड़ रुपये सार्वजनिक क्षेत्र में। इस प्रकार यह ध्यान देने योग्य बात है कि वित्तीय व्यय मूल अनुमान से तो अधिक हुआ परन्तु वस्तुगत उत्पादन के लक्ष्य की पूर्ति के दृष्टिकोण से अधिक धन लगाने के उपरान्त भी उस मे वृद्धि नहीं हुई। उत्पादन मे केवल अधिक कमी ही नहीं आई अपितु स्थापित क्षमता मे भी महत्वपूर्ण कमी रही। परन्तु इन कमियो को यह ध्यान रखते हुए देखना है कि विभिन्न प्रायोजनाओ का, विशेषकर सार्वजनिक क्षेत्र मे, निर्माण-काल पर्याप्त दीर्घ रहा।

तृतीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक उत्पादन मे ११ प्रतिशत प्रतिवर्ष से वृद्धि की आशा थी और इस प्रकार पूर्ण वृद्धि १९६५-६६ मे १९६०-६१ से ७० प्रतिशत होने की आशा थी। परन्तु वास्तविक उपलब्धि उतनी न हुई और १९६०-६१ के स्तर से १९६५-६६ मे औद्योगिक उत्पादन के निर्देशाक मे ४१·८% की ही वृद्धि हुई। औसत वार्षिक वृद्धि का दर ६·८% ही रहा और इस प्रकार पर्याप्त कमी रही। वे वस्तुयें जिनमे ६०% या उससे अधिक कमी रही थी। एलॉय, टूल तथा स्टेनलेस स्टील, जिंक, खनिज मशीनें, कागज की मशीने, उर्वरक, सल्फ्यूरिक एसिड तथा अखबारी कागज। वे उत्पादन, जिनमे

कमी ३० प्रतिशत से ५० प्रतिशत तक रही, थे . इस्पात, व्यापारिक गाडियाँ, (vehicles), चीनी की मशीने, कृषि ट्रैक्टर, कास्टिक सोडा, ऊनी वस्त्र तथा कच्चा लोहा। इन कमियों से औद्योगिक उत्पादन प्रभावित हुआ क्योकि इसका प्रभाव उन वस्तुओ के उत्पादन पर भी पडा जो इनसे जुडे हुए या सम्बन्धित थे। यदि योजना किसी एक भाग मे भी गलत हो जाती है तो उसका प्रभाव अन्य भागो पर भी पडता है और इस प्रकार वह सपूर्ण औद्योगिक प्रणाली को प्रभावित करता है। और यदि उचित बाजार-प्रणाली उपलब्ध न हो तो इन कमियों द्वारा उत्पन्न आघात को सहन करने मे और भी कठिनाई होती है। इस प्रकार औद्योगिक प्रणाली का विशिष्ट अभाव तथा असतुलनो से उचित समंजन संभव नही हो पाता है।

वे महत्वपूर्ण घटक, जिनके कारण से औद्योगिक उत्पादन में कमी आई, थे : (१) विदेशी विनिमय की कमी, (२) लाइसेस का असमान वितरण, (३) चीन तथा पाकिस्तान से युद्ध, तथा (४) कृषि मे अद्वितीय सूखा का पडना तथा उसमे असफलता। कृषि के सकट से उद्योगो पर कई प्रकार से प्रभाव पडा। इससे प्रमुख कच्चे माल जैसे कपास, जूट, मक्का आदि की पूर्ति कम हो गई। दूसरी ओर सूखा पडने के कारण ग्रामीण जनता की क्रयशक्ति मे कमी आ गई जिससे उपभोक्ताओ की औद्योगिक उत्पादनों की माँग मे कमी आई। परिणामस्वरूप उनके पास स्टाक एकत्रित होने लगा। इजीनियरिंग उद्योग मे मन्दी आ गई, क्योकि माँग मे कमी हो जाने से पूँजीगत वस्तुओ के निर्माण करने वाले उद्योगो को आर्डर मिलने कम हो गये। तृतीय योजना के सपूर्ण काल मे पूँजी बाजार मे भी मन्दी रही। अनिश्चितता तथा बढते हुए मूल्यो की स्थिति मे नये निर्गमन पर जनता का सहयोग न मिल सका। निर्गमन नये निर्गमन पर जनता की अनुक्रिया असतोषजनक रही। परिणामस्वरूप, साहसी उद्योगपति हतोत्साहित रहे क्योकि उन्हे नये उद्यमो की स्थापना के लिये पर्याप्त पूँजी उपलब्ध नही हुई।

सम्पूर्ण औद्योगिक उत्पादन के विकास की गति धीमी होने के उपरान्त भी निम्नलिखित दिशाओ मे कुछ महत्वपूर्ण प्रगति हुई—(१) औद्योगिक उत्पादन का विभिन्नीकरण, (२) आयात का प्रतिस्थापन, तथा (३) अनेक उद्योगो मे क्षमता मे समुचित वृद्धि। अनेक उद्योगो के लिये आवश्यक मशीन के औजारों तथा अन्य यन्त्रो के विनिर्माण की क्षमता में अत्यधिक वृद्धि हुई। यह कोयला की खान सम्बन्धी मशीनो, इस्पात विनिर्माण के लिये, कागज, सीमेण्ट, तथा सूती वस्त्र की मशीनों तथा यन्त्रो की दशा में विशेष रूप से हुआ। व्यापारिक

स्तर पर कुछ नयी-नयी वस्तुओ का भी निर्माण आरभ हुआ जैसे, रोलर बेयरिंग, टैक्सी मीटर, माइक्रो-मीटर, ताँबा निकालने की हीरे की डाइ, एक स्पिंडिल की स्वचालित लेथ या खराद आदि । अनेक कच्चे माल का विनिर्माण भी, जिनका पहले आयात किया जाता था, बडे पैमाने पर आरभ हुआ, उदाहरण के लिये, कागज तथा रेयन बनाने की लुग्दी, मशीन टूल्स जैसे उद्योगो के लिये विभिन्न उपकरण, विद्युत मोटर, ट्रासफार्मर स्विचगियर, आटोमोबाइल्स आदि । विदेशी सहायता का तेजी के साथ उपयोग किये जाने से इस दिशा मे आगे बढने मे और भी सहायता मिली । व्यापारिक मोटर गाडी, जीप तथा यात्री-कार आदि जैसे उद्योगो के उत्पादन मे देशी वस्तुओ का प्रयोग अधिकाधिक होने लगा ।

औद्योगिक विकास की प्रगति को बिना गुणात्मक मूल्याकन किये नही देखा जा सकता। ऐसे मूल्याकन करने मे, यह और भी आवश्यक है कि वस्तुनिष्ठता (objectivity) पर ध्यान दिया जाय न कि केवल वस्तुओ के उत्पादन के आँकड़ो का ही विश्लेषण किया जाय। जब १९५१ मे भारतवर्ष मे योजनाबद्ध विकास आरभ हुआ, तब केवल अपर्याप्त औद्योगिक उपकरण ही नही था आपितु साथ-साथ सुस्ती (lethargy) एव जडता (inertia) भी बहुत बडी मात्रा मे पाई जाती थी । नियोजित अर्थव्यवस्था काल के अन्तर्गत भारतवर्ष मे औद्योगिक संरचना का बहुत बडी मात्रा मे विभिन्नीकरण हुआ । बहुत बडी संख्या मे नये उद्योगो की, जैसे पेट्रोल-शोधन, समुद्री जहाज-निर्माण, हवाई जहाज का विनिर्माण, रेल का इजिन तथा वैगन का विनिर्माण, विभिन्न इजीनियरिंग, औषधियाँ, रसायन, आटोमोबाइल्स, उर्वकर, पेट्रो-केमिकल्स, आदि की स्थापना हुई जिससे कि देश का औद्योगिक आधार दृढ हुआ। औद्योगिक उत्पादन जैसे औजार तथा विशेष इस्पात, स्टील कास्टिंग तथा फोर्जिग, कोयले की खान सम्बन्धी मशीनें, भारी मशीनें, अर्थ मूविंग उपकरण, सडक रोलर्स, ट्रैक्टर्स, सल्फा-ड्रग्ज, कृमिनाशी रसायन, कार्बनिक माध्यमिक पदार्थ, सश्लिष्ट रबर, अखबारी कागज, कच्चे रेशे आदि, का उत्पादन भी आरंभ हुआ। पहिले इनका उत्पादन देश मे नही होता था । औद्योगीकरण की गति को बढ़ाने के लिये, सरकार ने अपनी भूमिका निभाने के लिये अपने विचारो में नया मोड़ लिया। आरभ में, सरकार ने मध्यम मार्ग ही अपनाया था, परन्तु द्वितीय तथा तृतीय योजना मे देश के औद्योगीकरण के लिये सार्वजनिक क्षेत्र ने सर्वप्रमुख तथा उल्लेखनीय भूमिका अपनायी।

भारतवर्ष मे मशीनो के विनिर्माण की प्रगति की दर स्थिर सी बनी रही । कृषि एव उद्योग जैसे वस्त्र, जूट, सीमेण्ट, चाय तथा चीनी आदि के लिये मशीन का निर्माण देश मे हो रहा है । सरकार की औद्योगिक नीति का झुकाव मशीन-निर्माण

उद्योग के विकास की ओर हो रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र मे अनेक प्रायोजनाये ऐसी कार्यान्वित की गईं जो विभिन्न प्रकार की मशीनो तथा उपकरणो का विनिर्माण करती है। मशीन-निर्माण के क्षेत्र मे उल्लेखनीय विकास सरकारी स्वामित्व मे भारी इजीनियरिंग निगम की स्थापना है जो विभिन्न मशीन-निर्माण करने वाली प्रायोजनाओ का प्रशासन करता है, जैसे, भारी मशीन-निर्माण प्लाण्ट, राची, कोयले की मशीन का प्लाण्ट, दुर्गापुर (इन दोनो के लिये रूस से सहायता प्राप्त हुई है), फाउण्ड्री फोर्ज प्लाण्ट, राँची (इसके लिये चैकोस्लोवाकिया से सहायता मिली है), भारी विद्युत प्लाण्ट, रानीपुर, भारी शक्ति उपकरण प्लाण्ट त्रिचुरापल्ली की स्थापना की दिशा मे समुचित प्रगति हो चुकी थी । अब देश मे २०० करोड रुपये के मूल्य की औद्योगिक मशीनो का उत्पादन होता है। इस्पात तथा अन्य मूल कच्चे माल की पूर्ति मे वृद्धि हो जाने से मशीन निर्माण करने के उद्योगो के उत्पादन की गति तीव्र होती जा रही है ।

औद्योगिक विकास के सम्बन्ध मे वर्तमान स्थिति के विषय मे अन्य महत्वपूर्ण बात एक और भी है जिसका उल्लेख न तो औद्योगिक आकडे और न ही औद्योगिक उत्पादनो की सूची कर सकते है। अनेक उपक्रमो ने एकदम नवीन वस्तुओ का उत्पादन आरभ कर दिया है जो कि रुढिवादी उत्पादन की परम्परा से बिल्कुल अलग ही है । परिणामस्वरूप, ऐसी बहुत सी नवीन वस्तुओ का उत्पादन होने लगा है । जिसका उत्पादन देश मे पहिले नही होता था । तृतीय योजना मे जो नवीन वस्तुओ का उत्पादन आरभ हुआ है उनमे से उल्लेखनीय हैं: हाइड्रोलिक प्रेस, गियर काटने की मशीन, रेडियो वाल्व, कम्प्रेसर्ज, कैमरा, पोटैशियम परमैगनेट, ट्राजिस्टर, तथा डायोड्स, स्थायी चुबक, माइक्रोस्कोप स्लाइड, टायर कार्ड यार्न, भारी पानी तथा अनेक प्रकार के नये रसायन पदार्थ आदि । विकास की इस उपनति से देश की अर्थव्यवस्था मे तेजी से महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे है और यह एक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था से बदल कर आधुनिकतम तथा टैक्नोलाजी की दृष्टिकोण से प्रगतिपूर्ण अर्थव्यवस्था होती जा रही है ।

पूंजी तथा टैक्निकल सहयोग के लिये अद्वितीय मात्रा मे समझौते हो रहे हैं । सहयोगियों मे ब्रिटेन, अमेरिका, पश्चिमी जर्मन, इटली, स्वीडेन, नार्वे, फ्रांस तथा जापान की सस्थाये सम्मिलित है। सम्मिलित भारत-ब्रिटेन के प्रमुख औद्योगिक उपक्रमों द्वारा इजीनियरिंग उपकरण, विद्युत तार तथा केबिल, स्वास्थ्य सम्बन्धी सामान सुरक्षा के लिये फ्यूज तथा विस्फोटक पदार्थों का उत्पादन किया जा रहा है । अमेरिका के सहयोग मे चल रहे उपक्रमों द्वारा औषधि तथा रसायन पदार्थ, संश्लिष्ट रबर तथा कार्बन ब्लेक आदि का उत्पा-

दन किया जा रहा है। पश्चिमी जर्मनी के उपक्रमो द्वारा रेफैक्टरीज, केबिल तथा विद्युत मीटर आदि के उत्पादन के लिये सहयोग दिया गया है। जापान से शीशा, रेयन तथा हार्डबोर्ड आदि के उत्पादन के लिये सहयोग किया गया है।

प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि भारतीय श्रमिको को पश्चिमी देशो के श्रमिको की अपेक्षाकृत कम मजदूरी दी जाती है, परन्तु वास्तव मे वे व्यय-पूर्ण होते है क्योकि उनकी उत्पादकता अपेक्षाकृत कम होती है। यह उन उद्योगों के लिये सत्य हो सकता है जिनकी स्थापना बहुत वर्षों पूर्व किया गया था जबकि श्रमिको के सस्ते होने के कारण उनकी सख्या महत्वपूर्ण नही थी, विशेषकर उन उद्योगों मे जिनमे पाश्चात्य देशो की तरह आधुनिक तथा स्वचालित मशीनो का प्रयोग नही किया जाता था। परन्तु वस्तुस्थिति का आभास पाने के लिये हाल ही मे स्थापित उपक्रमों की दशाओ का अध्ययन करना अति-आवश्यक है। हिन्दुस्तान मशीन टूल्स मे उनके मासिक श्रम क्षमता के विवरण को देखने से यह ज्ञात होता है कि जहा सितम्बर १९५५ मे एक स्विस के बराबर ४·२ भारतीय श्रमिको की क्षमता थी, अगस्त, १९५९ मे वही घट कर १ ५७ के बराबर ही रह गई। अत यह स्पष्ट है कि यदि भारतीय श्रमिको को भी वही प्रशिक्षण, काम करने की दशाये तथा सुविधाये दी जायँ जैसा कि पाश्चात्य देशों मे दिया जाता है तो भारतीय श्रमिको की क्षमता भी विश्व के किसी भी देश के श्रमिको की क्षमता से कदापि कम न होगी।

अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि देश मे केवल भारी औद्योगिक आधार बनाने के लिये ही प्रयास नही किया गया है अपितु लघु तथा कुटीर उद्योग धन्धों का विस्तार भी हुआ है। पिछले कुछ वर्षों मे भारतीय सरकार ने वास्तव में ऐसे उद्योगो में लगे व्यक्तियो की सहायता के लिये विशेष ध्यान दिया है। तकनीकी सलाह, वित्तीय सहायता, मशीनो को किराया-क्रय पर खरीदने के लिये तथा चालू पूंजी के लिये, प्रदान करने के लिये समुचित प्रबन्ध किये गये हैं। लघुस्तरीय उद्योग सगठन द्वारा किये गये सर्वेक्षणो से यह विदित हुआ है कि इस क्षेत्र मे भी उत्पादन मे विशेष वृद्धि हुई है और साथ-साथ इनके उत्पादन-कार्यक्रम मे विभिन्नीकरण भी पाया गया है। अनेक प्रकार के नवीन वस्तुओ का, जैसे, घडियाँ, शल्य-उपकरण, रगने के पदार्थ, कीटाणु-नाशक पदार्थ आदि, विनिर्माण भी छोटे लघुस्तरीय उद्योगो द्वारा आरंभ किया जा चुका है। औद्योगिक बस्तियो (Industrial Estates) की स्थापना की गई है जहाँ आवश्यक डिजाइन के भवन तथा अन्य सुविधाओ को प्रदान किया गया

है। यहाँ निम्नलिखित वर्कशाप उपकरण की सुविधा भी दी गई है। लघु उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओ के लिये बाजार की व्यवस्था करने की दिशा मे भी सरकार ने सक्रिय कदम उठाये है।

विकासयुक्त कार्यक्रमो मे निरतर वृद्धि होते रहने से, पूँजीगत वस्तुओ की माँग मे प्रचुर मात्रा मे वृद्धि हुई है। हालांकि, विनिमय की कठिनाई के कारण पर्याप्त आयात करने मे अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड रहा है। विभिन्न देशों के साथ टैक्निकल तथा आर्थिक सहयोग के कार्यक्रम तथा समझौता के कारण, सरकार नये उद्योगों की स्थापना हेतु तथा पुराने उद्योगो के विस्तार हेतु पूंजीगत वस्तुओ, मशीन तथा उपकरण का लाइसेस दे पाई है। परन्तु कच्चे माल मशीन के पुर्जे, तथा उत्पादक पदार्थ आदि के आयात के सम्बन्ध मे स्थिति अत्यन्त असन्तोषजनक है। विदेशो से प्राप्त साख के अर्न्तगत प्राय कच्चे माल तथा पुर्जों के आयात का व्यय सम्मिलित नही होता है। इसका एकमात्र उपाय विनिर्माण करने वाले उद्योगो द्वारा निर्यात का बढाना है।

पिछले कई वर्षों सें निरन्तर विदेशी विनिमय की उपलब्धि मे कमी आती रही है और प्राय विदेशी मुद्रा के सकट का सामना देश को करना पडा है। इस सकट से निवृत्ति पाने के लिये अस्थायी तथा सकटकालीन उपाय अपनाये गये है जिससे अर्थव्यवस्था की स्थिति और भी गभीर होती रही है। इस सकट को दूर करने के लिये प्रशासन को चाहिये कि वह कोई स्थायी उपाय सोचे तथा विदेशी विनिमय का चालू तथा भावी बजट बना कर स्थिति पर सतत दृष्टि रखे और देश को इस क्षेत्र मे सकटग्रस्त होने से बचाये।

औद्योगीकरण के उस काल को कम करने का प्रयास करने से, जो कि पाश्चात्य देशो मे पचास या उससे अधिक वर्ष रहा है, भारतीय अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक भार पडा है। औद्योगीकरण के गति को बढाने के परिणामस्वरूप जो सबसे बडी कठिनाइयाँ सामने आई है वे टैक्नालाजिकल तथा प्रबन्ध करने वाले व्यक्तियो का कम उपलब्ध होना रहा है। कुशल तथा अनुभवी व्यक्तियो की माँग उनकी पूर्ति की अपेक्षाकृत कही अधिक हो गई है। सही प्रशिक्षण प्राप्त एव अनुभवी व्यक्ति उच्च स्तर पर ही कम नही है अपितु निम्न श्रेणी मे पर्यवेक्षणीय स्तर पर भी कम है।

कुछ ही वर्षों मे अपने सतत प्रयत्नो द्वारा भारतवर्ष अपने आप को कृषि-बहुल अर्थव्यवस्था की श्रृंखला से मुक्त करके आधुनिक औद्योगिक प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होगा। पिछली तीन योजनाओ के अनुभव से यह ज्ञात होता है कि देश

मे ऐसे प्रयास के लिये पर्याप्त क्षमता है। औद्योगिक वर्ग तथा सरकार के मध्य उद्देश्य की एकता होना इसके लिये आवश्यक है। निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र की क्या भूमिका होनी चाहिये इस सारहीन प्रश्न की उलझन मे अपने समय तथा सामर्थ्य को नष्ट नही करना चाहिये। देश की अर्थव्यवस्था की वर्तमान स्थिति मे उद्योग के कुछ निश्चित क्षेत्रो मे सार्वजनिक क्षेत्र की जहाँ स्पष्ट आवश्यकता है वहाँ निजी उपक्रमो के लिये भी बहुत विस्तृत क्षेत्र है।

अपनी सुरक्षा तथा देश की एकता के सरक्षण के लिये देश को औद्योगिक सरचना को अभी बहुत सुदृढ करना है अभी तो देश मे औद्योगिक उत्पादन मे ५ या ६ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हो रही है। यदि देश की अर्थव्यवस्था को इतना सुदृढ करना है कि वह ऐसे आघातो को सहन कर सके जैसा कि अक्टूबर, १९६२ तथा अक्टूबर १९६५ मे सामने आये थे, तो औद्योगीकरण की गति को और भी तीव्र करना होगा। न्यूनतम आवश्यकता इस बात की है कि औद्योगिक उत्पादन मे वृद्धि कम से कम १० प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से हो।

औद्योगिक पश्चायन एवं समुत्थान

प्रस्तुत विश्लेषण मे उन उद्योगो को लिया गया है जो कि औद्योगिक उत्पादन के निर्देशाक (१९६०=१००) के अन्तर्गत आते है और जिनके सम्बन्ध मे केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन (C S O) के द्वारा आँकडे एकत्रित किये जाते है। ये आँकडे उनके उत्पादन, क्षमता तथा स्टाक आदि के विषय मे होते है। उद्योगो को चार प्रमुख वर्गो मे विभाजित किया जाता है, यथा, प्रमुख उद्योग (जैसे सीमेण्ट, लोहा, इस्पात, कोयला, विद्युत शक्ति आदि), पूँजीगत पदार्थो के उद्योग (जैसे मोटर, डीजल इजिन, ताबे तथा अल्युमुनियम के कडक्टर आदि), माध्यमिक पदार्थों के उद्योग (जैसे सूती धागे, बैटरी, मशीन टूल्स, टायर, पेट्रोल शोधन पदार्थ आदि); तथा उपभोक्ता पदार्थ के उद्योग (जैसे सूती वस्त्र, चाय, चीनी, वनस्पति, सिलाई करने की मशीन, साइकिल आदि)।

१९६१ से १९६९ तक की अवधि के लिये औद्योगिक उत्पादन के औसत निर्देशांक (१९६०=१००) को देखने से ज्ञात होता है (तालिका १) कि १९६६ और १९६७ में औद्योगिक उत्पादन मे जो पश्चायन (recession) की प्रवृत्ति थी वह १९६८ में कुछ सुधर गई थी। १९६८ मे औद्योगिक उत्पादन मे वृद्धि होना आरंभ हो गया। १९६७ की अपेक्षाकृत इस वर्ष उत्पादन मे ६ ३ प्रतिशत से वृद्धि हुई। अन्त मे, १९६९ के प्रथम आठ माह मे उत्पादन मे १९६८ की इसी अवधि की अपेक्षाकृत ७ ५ प्रतिशत अधिक वृद्धि हुई। यह बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि चतुर्थ योजना (१९६९-७४) मे औद्योगिक उत्पादन मे ९ प्रतिशत वार्षिक दर से विकास का लक्ष्य रखा गया है। १९६९-७० की वार्षिक योजना मे यह लक्ष्य ८ प्रतिशत रखा गया है। इस बात की पूरी सभावना है कि यह लक्ष्य पूरा हो जायगा।

१९६९ में गत वर्ष की अपेक्षा औद्योगिक क्षमता के उपयोग में भी पर्याप्त उन्नति हुई। औद्योगिक उत्पादन के निर्देशाक का यदि परीक्षण किया जाय (तालिका २) तो यह ज्ञात होता है कि १९६१-६५ की अवधि में तो औद्योगिक उत्पादन की दर में ८ और १० प्रतिशत के मध्य वृद्धि हो रही थी, परन्तु यह १९६६ में

तालिका १

औद्योगिक उत्पादन का निर्देशाक

(१९६०=१००)

वर्ष		सम्पूर्ण उद्योग
१९६१	—	१०९·२
		(९·२)
१९६२	—	११९ ७
		(९ ६)
१९६३	—	१२९·७
		(८·४)
१९६४	—	१४०·९
		(८·६)
१९६५	—	१५३·७
		(९·१)
१९६६	—	१५२ ४
		(—० ९)
१९६७	—	१५१·४
		(—०·७)
१९६८	—	१६०·९
		(६·३)
जनवरी-अगस्त १९६९		१७१·२
		(७·५)

नोट—कोष्ठ मे दिये हुए अक गत-वर्ष से प्रतिशत वृद्धि इगित कर रहे हैं।

लगभग १ प्रतिशत से कम हो गया और १९६७ मे पुन १ प्रतिशत से कम हो गया। १९६८ मे औद्योगिक उत्पादन मे ६ प्रतिशत से वृद्धि हुई यद्यपि यह १९६७ के न्यून आधार पर ही आधारित था। १९६९ के प्रथम आठ माह में ७ ५ प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई।

तालिका २

औद्योगिक उत्पादन मे विकास की वार्षिक दर

(१९६० = १००)

वर्ष	सम्पूर्ण उद्योग भार: १०० =	प्रमुख उद्योग (२५ ११)	पूंजीगत पदार्थों के उद्योग (११ ७६)	माध्यमिक पदार्थों के उद्योग (२५ ८८)	उपभोक्ता पदार्थों के उद्योग (३७.२५)
१९६१	९ २	१२ ७	१८ ०	५ ८	६ ६
१९६२	९ ६	१३ ८	१९.७	७.४	१ ३
१९६३	८.४	१४ ३	११.१	८.२	२ २
१९६४	८ ६	३ ८	२१ २	७ ६	७ ४
१९६५	९ १	८ ०	१८.५	६.०	७ ५
१९६६	(—०.९)	५ २	(—१४ ०)	(—२.४)	३ ०
१९६७	(—०.७)	२ ०	२ ३	२.१	(—४ ३)
१९६८	६.३	९.९	२ ८	६ २	५ ०
१९६९ (जन०-अगस्त)	७ ५	...	..	...	...

प्रमुख उद्योगो मे उत्पादन के विकास के दर मे जो १९६३ मे १३ से १४ प्रतिशत था, पर्याप्त कमी आई और १९६४ मे यह लगभग ४ प्रतिशत था। १९६५ मे वृद्धि होने के पश्चात् यह पुन घट कर १९६६ मे ५ प्रतिशत और १९६७ मे २ प्रतिशत था। १९६८ मे प्रमुख उद्योगों के विकास मे उल्लेखनीय प्रगति लगभग १० प्रतिशत रही।

उद्योगो के चारो वर्गों मे से १९६१-६५ की अवधि मे वार्षिक विकास दर पूंजीगत पदार्थों के उद्योगों के लिये (१९६३ को छोड कर) सर्वाधिक था। इसी अवधि मे १९६२ मे यह ३० प्रतिशत था जो कि सर्वाधिक था और १९६३ मे न्यूनतम था जो कि ११ प्रतिशत था। १९६६ मे पश्चायन का प्रभाव इस वर्ग के उद्योगो पर इतना अधिक पड़ा कि गत वर्ष की अपेक्षाकृत इनका उत्पादन १४ प्रतिशत कम हो गया। १९६७ में पुनः उत्पादन २ प्रतिशत से कम हो गया। १९६८ मे यद्यपि विकास की दर बढ़ कर लगभग ३ प्रतिशत हो गई फिर भी यह १९६५ के स्तर से १४ प्रतिशत कम था।

माध्यमिक पदार्थ के उद्योगो के उत्पादन के विकास का दर पहिले तो १९६१ मे लगभग ६ प्रनिशत से बढ कर १९६३ मे लगभग ८ प्रतिशत हो गया था, १९६४ से फिर घटने लगा। १९६६ मे उत्पादन गत वर्ष की अपेक्षाकृत लगभग २ प्रतिशत कम था। १९६७ मे यह लगभग २ प्रतिशत से बढ गया था परन्तु १९६८ मे यह दर बढ कर ६ प्रतिशत हो गया। १९६९ के प्रारभ के ७ माह के उत्पादन की स्थिति को देखते हुए, ऐसी आशा की जाती है कि १९६८ की अपेक्षाकृत १९६९ मे इस वर्ग के उद्योगो मे उत्पादन अधिक होगा।

उपभोक्ता पदार्थ के उद्योगों के उत्पादन के विकास का दर १९६५ मे तो लगभग ७ प्रतिशत था १९६६ मे घट कर ३ प्रतिशत हो गया। १९६७ मे उत्पादन का स्तर गत वर्ष के स्तर की अपेक्षाकृत ४ प्रतिशत से घट गया। १९६८ मे इन उद्योगों का उत्पादन ५ प्रतिशत से बढ़ गया।

विभिन्न उद्योगो पर पश्चायन का प्रभाव प्रकृति एव गहनता के दृष्टिकोण से अलग-अलग पडा। उसी प्रकार समुत्थान की प्रक्रिया भी विभिन्न उद्योगों में अलग-अलग रही। पश्चायन से सम्बन्धित इन मामलो का विश्लेषण कुछ चुने हुए उद्योग विशेष मे उत्पादन के वार्षिक दर मे प्रवृत्ति के आधार पर किया जा सकता है। प्रमुख उद्योगो की दशा में, पश्चायन का प्रभाव कुछ इजीनियरिंग उद्योगो पर, जैसे इस्पात, भारी स्ट्रक्चरल, इस्पात कास्टिग एवं फोर्जिग आदि, पडा था। वैसे १९६७ मे सम्पूर्ण इजीनियरिंग उद्योगो पर इसका प्रभाव पडा था। १९६८ मे अधिकाश इजीनियरिंग उद्योगो मे समुत्थान हुआ परन्तु भारी स्ट्रक्चरल, इस्पात कास्टिग एवं फोर्जिग के उत्पादन मे कमी आई थी। १९६९ के प्रथम साथ माह के आँकणो को देखने से यह ज्ञात होता है कि इस्पात कास्टिग एव फोर्जिग निर्माण करने वाले उद्योगो के उत्पादन मे पुन: ५ प्रतिशत की कमी आई थी परन्तु अन्य उद्योगों के उत्पादन मे वृद्धि हुई थी। देश मे औद्योगिक विकास की गति को बढाने मे पूँजीगत पदार्थ के उद्योगो ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। १९६५ के अन्त तक शक्ति ताँबा तथा अल्युमूनियम कडक्टर का निर्माण करने वाले उद्योगो ने पश्चायन का अनुभव किया था। १९६६ मे रेलवे वैगन, मोटर गाड़ी, ट्रेलर आदि के उत्पादन मे कमी आई थी। विद्युत मोटर की दशा मे उत्पादन के विकास का दर १९६५ मे अत्यधिक था जब कि यह २९ प्रतिशत था परन्तु १९६६ मे यह घट कर १७ प्रतिशत और १९६७ मे पुन घट कर ४ प्रतिशत रह गया। इस उद्योगो का उत्पादन १९६८ मे ८ प्रतिशत से घट गया और यह कमी १९६९ मे भी रही। उसी प्राकार शक्ति ट्रासफार्मर के उत्पादन मे भी १९६५ से कमी चली आ रही थी और १९६८ तथा १९६९ मे भी यह कम ही रहा। इजिन बनाने वाले उद्योगों का

उत्पादन भी १९६५ के आसपास सतोषजनक नही था और १९६७ मे तो यह २० प्रतिशत से घट गया और १९६८ मे भी स्थिर रहा और १९६९ के प्रथम सात माह मे यह फिर ३५ प्रतिशत से घट गया।

माध्यमिक पदार्थ के उद्योगो की दशा मे सूती धागा, ऊनी कपड़ा, पेण्ट तथा वार्निश आदि का उत्पादन १९६५ मे विभिन्न मात्रा मे कम रहा। १९६६ मे सूखे सेल, मशीन टूल्स तथा रिफ्रैक्टरीज को छोड कर इस वर्ग के सभी उद्योग पश्चायन से पूर्णतया प्रभावित हो चुके थे। १९६७ मे यद्यपि इनमे से अधिकाश उद्योगो मे समुत्थान हो रहा था, मशीन टूल्स की दशा मे फिर भी ८ प्रतिशत से उत्पादन गिर गया था। मशीन टूल उद्योग मे पश्चायन १९६८ मे भी चालू रहा जब कि उत्पादन पुन. १९ प्रतिशत से कम हो गया। १९६९ के प्रथम सात माह के आँकड़ो से यह ज्ञात होता है कि उत्पादन मे ९ प्रतिशत से वृद्धि रही है।

उपभोक्ता पदार्थ के उद्योगो पर पश्चायन का अत्यधिक प्रभाव पडा था। १९६७ मे, कुछ दशाओ को छोड कर, जैसे रेडियो रिसीवर, मोटर साइकिल, रेयन, चाय आदि, अनेक दशाओ मे पश्चायन पाया गया। १९६८ मे, मोटर सायकिल, स्कूटर, विद्युत लैम्प के उत्पादन मे उल्लेखनीय वृद्धि हुई थी।

उद्योगो मे उत्पादन की उपनति के सम्बन्ध मे उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि १९६६ और १९६७ मे प्रायः सभी सगठित उद्योग पश्चायन से ग्रसित थे। या तो उनके उत्पादन मे कमी आई थी या उनके विकास का दर पर्याप्त मात्रा से घट गया था। वैसे कुछ उद्योगो के उत्पादन मे इस अवधि मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई, जैसे, मोटर साइकिल, स्कूटर, विद्युत लैम्प, रेडियो रिसीवर, मोटर टायर, तथा पेट्रौल आदि।

विविधि कारणो से क्षमता का पूर्ण उपयोग न हो पाया था या अल्प उपयोग हुआ था। उदाहरण के लिये माँग मे कमी, कच्चे माल का अभाव, श्रम अशाति आदि अनेक कारण थे। पश्चायन के काल में क्षमता के उपयोग मे और भी कमी आई। क्षमता के उपयोग को औद्योगिक क्षमता तथा उत्पादन के प्रतिशत अनुपात के माध्यम से नापा गया है (तालिका ३)।

माध्यमिक एव उपभोक्ता पदार्थ के उद्योगो मे मोटे तौर पर, क्षमता के अधिक उपयोग के कारण उत्पादन के स्तर मे वृद्धि हुई। जब कि दूसरी ओर, प्रमुख पूंजीगत पदार्थ के उद्योगो मे समुत्थान होने के उपरान्त भी इस वर्ग मे अनेक उद्योगो की क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग नही हो पाया था। अधिकाश उद्योगो मे क्षमता के उपयोग के स्तर मे कमी ही होती रही।

तालिका ३

कुछ उद्योगो मे क्षमता का उपयोग

(प्रतिशत)

उद्योग	१९६७	१९६८
इस्पात	६६	६६
अल्युमूनियम (शीट एव चक्र)	७३	५७
ताँबा एव पीतल शीट एव चक्र	२१	३०
नाइट्रोजन युक्त खाद	५२	५७
भारी स्ट्रक्चरल्स	२३	१५
इस्पात पाइप एव ट्यूब	५४	६१
इस्पात कास्टिंग	४१	३७
रेलवे वैगन	४४	—

पश्चायन का दूसरा सूचक निर्मित माल के स्टाक का अधिक मात्रा में एकत्रित होना है। कुछ उद्योगों के लिए स्टाक का उत्पादन से प्रतिशत की गणना की गई है। उदाहरण के लिये, १९६७ मे अधिकाश इजीनियरिंग उद्योगों मे यह प्रतिशत अधिक रहा था, जैसे, इस्पात, रेलवे वैगन, शक्ति ट्रासफार्मर, विद्युत मोटर, डीजल इजिन, रेडियो रिसीवर बायसकिल आदि। इसका कारण यह था कि इंजीनियरिंग उद्योग मे पश्चायन मुख्यतया माँग मे कमी के कारण था। विद्युत मोटर को छोड़ कर अन्य सभी इजीनियरिंग उद्योगो मे १९६८ के अन्त तक स्टाक से पर्याप्त छुटकारा मिल चुका था। गैर-इजीनियरिंग उद्योग मे कच्चा लोहा, जूट वस्त्र, फास्फेटयुक्त खाद तथा कास्टिक सोडा की दशा मे उत्पादन से स्टाक का अनुपात बढ़ता हुआ पाया गया। फास्फेटयुक्त खाद तथा जूट-वस्त्र को छोड कर अन्य सभी उद्योगो मे १९६८ के अन्त तक स्टाक की सामान्य सी स्थिति हो गई थी।

कृषि पर आधारित उद्योगों को अधिक मात्रा मे कच्चा माल उपलब्ध होने के कारण, कृषि-क्षेत्र मे आय अधिक होने के कारण, उपभोक्ता पदार्थों की माँग मे वृद्धि होने के कारण कुछ इजीनियरिंग वस्तुओ की निर्यात के लिये तेजी से माग बढने के कारण तथा बैंक एवं अन्य वित्तीय सस्थाओ से उदारतापूर्ण साख उपलब्ध होने के कारण औद्योगिक उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई। उत्पादन के बढ़ने के साथ ही कुछ औद्योगिक उत्पादनो, जैसे कोयला, इस्पात तथा सीमेण्ट, के मूल्य में भी वृद्धि हुई।

प्राथमिकता प्राप्त उद्योगो के पक्ष मे निर्यात सम्बन्धी उद्योग सहित आयात सम्वन्धी उदारता होने के कारण तथा कच्चे माल, कल पुर्जों के लिये भी छूट होने के कारण इन उद्योगो मे उत्पादन काफी ऊँचे स्तर पर रहा।

१९६६ मे उद्योगो पर से लाइसेस हटाने की नीति उन उद्योगो के लिये चालू रखी गई जिनकी निर्धारित क्षमता आवश्यकता के अनुरूप अपर्याप्त थी। परन्तु ऐसी नीति अपनाते समय यह ध्यान रखा गया कि उन उद्योगो के लिये यह छूट नही दी जायेगी जिनमे वैदेशिक विनिमय की आवश्यकता हो अथवा जिनका लघु-स्तरीय उद्योगो पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। १९६८-६९ तक लगभग ५० उद्योगो पर से लाइसेस हटा दिया गया। लोहा एव इस्पात कास्टिंग तथा फोर्जिंग, स्ट्रक्चरल, ५० हार्स पावर तक के विद्युत मोटर, वायसकिल तथा उसके पुर्जे, इस्पात इनगॉट तथा बिलेट्स (विद्युत भट्टियो द्वारा), शक्ति चालित पम्प, सीने की मशीन तथा उसके पुर्जे, सीमेण्ट, कागज, कृषि के लिये ट्रैक्टर तथा पावर टिलर, शीशा, वनस्पति, ५० हार्स पावर तक का आन्तरिक दहन इजिन प्रमुख उद्योग थे जिन पर से लायसेंस हटा दिया गया।

औद्योगिक समुत्थान (recovery) की प्रक्रिया को तेजी से प्रोत्साहित करने के लिये रेलवे तथा बोकारो प्रोजेक्ट के द्वारा अग्रिम आर्डर दिये गये। भारतीय औद्योगिक विकास बैंक ने इसी उद्देश्य से पुन बट्टे पर भुनाने की योजना के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो को भी सुविधा प्रदान की। पूँजीगत तथा इजीनियरिंग वस्तुओ के भारतीय निर्यात करने वालो के लिये इस बैंक ने प्रत्यक्ष दीर्घकालीन वित्त प्रदान करने की और गारण्टी देने की योजना ४½ प्रतिशत की रियायती दर पर आरभ की। औद्योगिक समुत्थान की दिशा मे उदारपूर्ण निर्यात साख सुविधा ने तथा अन्य व्यापारिक एव प्राशुल्किक नीतियो मे अनुकूल परिवर्तनो ने अत्यधिक सहायता प्रदान की, जिससे निर्यात की वृद्धि हो सके विशेष रूप से नवीन वस्तुओ के निर्माण को इनसे प्रोत्साहन मिला।

जब निर्माणकर्ताओ ने यह देखा कि उत्पादन की मात्रा गिर रही है, स्टाक बढ रहा है, तथा क्षमता का पूर्ण उपयोग नही हो रहा है तो उन्होने विदेशी बाजारो की ओर ध्यान देना आरभ कर दिया। १९६५-६६ एव १९६८-६९ के मध्य इजीनियरिंग पदार्थों का (लोहा एवं इस्पात सहित) निर्यात ४६ करोड रुपये से बढ कर १६३ करोड रुपये हो गया अथवा उसमे २५४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। लोहा एवं इस्पात की वस्तुओं का निर्यात ३९४ प्रतिशत से बढ गया, यातायात के उपकरणों का ३२२ प्रतिशत से, गैर-विद्युत मशीनो का १३३ प्रतिशत से तथा विद्युत मशीनो का १६० प्रतिशत से बढ़ा। वैसे उद्योगो मे क्षमता के अल्प-उपयोग होने की मात्रा में

तथा उनके निर्यात सम्बन्धी प्रयास तथा प्राप्त सफलता मे प्रत्यक्ष सह-सम्बन्ध पाया गया।

पश्चायन का प्रभाव इजीनियरिग वस्तुश्रो के आयात पर भी काफी पडा। घरेलू मॉग मे कमी आने के कारण तथा अनेक उद्योगो मे क्षमता का पूर्ण उपयोग न होने के कारण उनमे विस्तार के लिये योजना को कार्यान्वित करने से रोक दिया गया। परिणामस्वरूप, पूंजीगत वस्तुओ तथा मशीनो के आयात मे प्रर्याप्त मात्रा मे कमी हो गई। मशीन तथा यातायात सम्बन्धी उपकरणो का आयात १९६५-६६ मे ७७७ करोड़ रुपये से घट कर १९६८-६९ मे ५१६ करोड़ रुपये हो गया। परन्तु रसायनिक पदार्थो तथा औषधियो के आयात पर पश्चायन का प्रभाव नही पडा था। खाद का आयात भी मॉग मे वृद्धि के कारण अधिक किया गया। घरेलू मॉग मे पुन वृद्धि होने कारण यह आशा की जाती थी कि प्रमुख एव पूंजीगत वस्तुओ के आयात मे वृद्धि होगी परन्तु ऐसा नही हुआ। १९६९-७० के प्रथम छः माह मे प्रमुख एव पूंजीगत वस्तुओ का जैसे लोहा एव इस्पात, गैर-लौह धातु, मशीन तथा यातायात सम्बन्धी उपकरणो, आयात मे पर्याप्त कमी श्राई। यह इस तथ्य का द्योतक है कि उद्योगो मे अभी भी विनियोग मे प्रचुर मात्रा मे वृद्धि नही हुई है। यह भी सत्य है कि पश्चायन-काल मे, जो आयात-प्रतिस्थापन की प्रक्रिया आरभ हुई थी, उसके कारण उद्योगो मे विस्तार विना पूंजीगत वस्तुओ के आयात के भी सभव हो सका है। वैसे यह इस बात पर निर्भर करता है कि आवश्यक पूंजीगत वस्तुओं मे से किन-किन वस्तुओ का हम अब अपने ही देश मे निर्माण करने लगे है।

पूंजीगत वस्तुओ के आयात मे तो कमी हुई है परन्तु उसकी अपेक्षाकृत कच्चे माल के आयात मे, जैसे कच्चा रबर, लुग्दी तथा रद्दी कागज, वनस्पति तेल, धातु, कच्ची धातु एव क्षेप्य, १९६९-७० के प्रथम छ. माह मे वृद्धि हुई है। इससे यह ज्ञात होता है कि निर्माणकर्ता बढती हुई घरेलू माँग की पूर्ति हेतु अपनी क्षमता का पूर्ण उपयोग करने मे लगे हुए है। इससे इस तथ्य का भी पता लगता है कि समुत्थान विनियोग की अपेक्षाकृत उत्पादन मे ही अधिक हुआ है।

प२चायन के कारण

औद्योगिक उत्पादन मे कमी की व्याख्या केवल माँग के सामान्य स्तर मे कमी के श्राधार पर ही नही किया जा सकता है। पूर्ति पक्ष पर प्रतिकूल प्रभाव आयात कर के वस्तुओ को प्राप्त करने मे तथा देशी कृषि सम्बन्धी वस्तुओं मे कमी भी इसका महत्वपूर्ण कारण रहा है। पूर्ति की प्रतिकूल दशाये केवल वस्तुओ के अभाव के कारण ही नही थी अपितु कच्चे माल के मूल्य मे वृद्धि होने के कारण भी

रही है। १९६५-६६ मे औद्योगिक कच्चे माल के औसत मूल्य स्तर मे १६% से और १९६६-६७ मे २१% से वृद्धि रही थी।

कृषि पर आधारित उद्योग तो अधिकॉश स्थानीय वस्तुओ पर निर्भर थे परन्तु अनेक रसायनिक तथा इजीनियरिग उद्योग बहुत कुछ आयात किये हुए माल या उपकरणो पर निर्भर थे। वैदेशिक विनिमय कम प्राप्त होने के कारण इन वस्तुओं की पूर्ति १९६५-६६ मे अत्यन्त कम हो गई थी और उससे भी अधिक १९६६-६७ मे रही। यद्यपि कच्चे माल, कल-पुर्जे एव उपकरणों के आयात के सम्बन्ध में १९६६ के अन्त तक उदारपूर्ण नीति अपनाई जा चुकी थी परन्तु उसका वास्तविक परिणाम तो काफी समय के पश्चात् ही प्राप्त हो सका।

कृषि-फसल के असफल हो जाने के कारण औद्योगिक वस्तुओं की पूर्ति मे ही अभाव नही रहा था अपितु परिणामस्वरूप क्रय-शक्ति मे कमी हो जाने के कारण विनिर्मित वस्तुओ का बाजार भी सकुचित हो गया। वस्तुओ के उत्पादन मे कमी आ जाने से परिवहन सेवाओ की माँग भी कम हो गई और इसका प्रभाव रेलवे वैगन, ट्रैक्टर, टायर तथा ट्यूब उद्योग पर प्रचुर मात्रा मे पड़ा। पूँजी निर्माण की प्रक्रिया की सामान्य गति धीमी होने के कारण यातायात सम्बन्धी उपकरणो के उत्पादन मे भी कमी आई थी।

सार्वजनिक क्षेत्र मे विनियोग के सम्बन्ध मे, जो कि कुल राष्ट्रीय विनियोग का ६९% था, द्वितीय योजना तथा तृतीय योजना के प्रारभिक वर्षों मे जो विस्तार की गति थी उसे चालू न रखा जा सका। साथ ही, सतत् सूखा पड जाने के कारण बजट सम्बन्धी असन्तुलन भी हो गया और परिणामस्वरूप सरकारी व्यय मे भी कमी आ गई। १९६६-६७ मे Directorate General of Supplies and Disposals के द्वारा विभिन्न सरकारी विभागो के लिये जो पूँजीगत वस्तुओ का क्रय किया जाता था उसमे भी ८% से कमी आ गई थी। सरकारी व्यय कम हो जाने के कारण निजी क्षेत्र मे विभिन्न उद्योगो के लिये बाजार और सकीर्ण हो गया।

निजी विनियोग का स्तर भी कम हो गया था। आयात किये गये उपकरण की रुपये मे लागत अधिक होने के कारण, भावी वर्षों में माँग की अनिश्चितता होने के कारण तथा प्रोजेक्ट-सहायता कम उपलब्ध होने के कारण, निजी क्षेत्र मे सभाव्य विनियोक्ताओं मे विश्वास कम हो गया। अनेक संस्थाओं मे लाभ की दर कम हो गई जिससे भावी विनियोग के लिये उपलब्ध धनराशि कम हो गई और नवीन विनियोग के सम्बन्ध मे निर्णय लिये जाने में भी लोग हतोत्साहित रहे।

जून १९६६ मे रुपये के अवमूल्यन होने से पूर्व अनेक सस्थाओं में लाभ की दर पर्याप्त ऊँचे स्तर पर थी यद्यपि पूर्ण क्षमता का उपयोग वे नही कर पा रहे थे। अवमूल्यन के पश्चात् लाभ की मात्रा मे भी कमी आ गई। औद्योगिक वस्तुओ के अधिकाधिक आयात की व्यवस्था होने के कारण उत्पादन मे विस्तार के लिये आधार बनाया गया था और लाभ की दर बढने की भी सभावना थी परन्तु इसका लाभ अनेक उद्योग इस कारण से नही उठा पाये कि माँग मे कमी आ गई थी।

जब कि अर्थव्यवस्था मे विनियोग की राशि मे कमी आई, पूँजीगत वस्तुओ के निर्माण की औद्योगिक क्षमता बढती ही गई ,क्योकि १९६० मे जो प्रायोजनाये आरभ की गई थी उनमे उत्पादन आरभ होने लगा था। इनमे से अधिकाँश योजनाये इस मान्यता पर आधारित थी कि तेजी से विस्तार होने के कारण पूँजीगत वस्तुओ की माँग बढेगी, परन्तु इन प्रायोजनाओ को तभी पूरा किया जा सका जब कि पूँजी-निर्माण अल्प था, और उनके सम्मुख विपणन की समस्या थी।

सार्वजनिक एवं निजी विनियोग में कमी आने के कारण अनेक इजीनियरिंग वस्तुओ के माँग में पर्याप्त मात्रा में कमी आ गई। परन्तु कृषि सम्बन्धी मशीन तथा अन्य सम्बन्धित वस्तुओ के सम्बन्ध में ऐसा नही था। ट्रैक्टर, डीजल इजिन, शक्ति चालित पम्प, तथा उर्वरक आदि उद्योगो मे तृतीय योजना के पश्चात् दो वर्षों मे विकास की दर ऊँची रही। यह इस कारण भी था कि सरकारी प्रायोजनाओं में कृषि को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गई थी।

कुछ सीमा तक पश्चायन उन नीतियो का परिणाम था जिन्हे सरकार तथा व्यापार ने १९५८-६२ की तेजी अथवा व्यापार-उत्कर्ष के काल मे अपनाया था। लोग जब सुखी होते है तो अधिक आशुविश्वासी होते है। उसी प्रकार तेजी के काल मे अधिकता के साथ कार्य करने की भावना प्रबल होती है हम चाहे कितनी ही सावधानी के साथ अपनी योजना क्यो न बनाये। सरकार ने विभिन्न वस्तुओं एव सेवाओं के लिये अर्थव्यवस्था की आवश्यकता से कही अधिक अनुमान लगाया। उद्योगो ने उन अनुमानों का सावधानी के साथ मूल्यांकन नही किया और उन प्रायोजनाओं को उसी प्रकार कार्यान्वित करना आरभ कर दिया। माँग के ऐसे अनुमान को स्वीकृत करने के कारण अनेक उद्योगो मे अतिरिक्त क्षमता स्थापित हो गई। सार्वजनिक तथा निजी तथा दोनो ही क्षेत्रों में अति-

विनियोग तथा अति-क्षमता होने के कारण अर्थव्यवस्था मे अनेक प्रकार से असन्तुलन आ गया।

१९६५-६६ मे राष्ट्रीय आय मे कमी आ जाने से और दो बार सूखा पड़ जाने के कारण उपभोक्ता वस्तुओ के माँग मे भी कमी आ गई। यातायात सचालन के आय पर तो अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव पडा। यातायात के लिये वस्तु की मात्रा मे कमी हो जाने के कारण, रेलवे की आय भी कम हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि आवश्यक वस्तुओ के लिये रेलवे का आर्डर कम होने लगा। ३०,००० वैगन की अपेक्षाकृत उसके आधे वैगन के लिये ही रेलवे ने आर्डर दिये उसी प्रकार ट्रक की मॉग भी ४०,००० से घट कर २०,००० ही रह गई। एक क्षेत्र मे मॉग की कमी आ जाने से श्रखलित अभिक्रिया हुई। इस प्रकार कास्टिग, फोजिग तथा अनेक प्रकार के उपकरणो की मॉग मे कमी आ गई और धीरे-धीरे पश्चायन सम्पूर्ण इजीनियरिंग उद्योग पर छा गया।

पिछले दो शतक मे सुरक्षित बाजार होने के कारण, अनेक सस्थाओ में अतिरिक्त स्टाफ नियुक्त करने की, अधिक स्टाक रखने की, उपभोक्ताओ की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति आ गई थी। उद्योग सरकार की ओर विक्रेताओ का बाजार बनाये रखने के लिये देख रहा था। साथ ही, बहुत बडे तथा सुरक्षित बाजार होने के कारण, उद्योगपति निर्यात की ओर ध्यान ही नही दे रहे थे।

औद्योगिक समुत्थान के लिये नीति

पश्चायन का सामना करने के लिये सरकार ने अपनी नीति को विभिन्न उद्योगो मे विकास की दर का पता लगाने के पश्चात् ही बनाया। कुछ दशाओ में पूर्ति सम्बन्धी कठिनाइयाँ थी, कुछ दशाओ मे निर्मित माल के माँग की कमी थी और साथ ही निर्माण के लिये आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति भी नही हो रही थी। सरकार की नीति की प्रमुख बाते निम्नलिखित थी : (अ) प्राशुल्किक एव मौद्रिक उपायो के माध्यम से सम्पूर्ण प्रभावकारी मॉग पर सतत नियन्त्रण रखना; (ब) सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा निजी क्षेत्र के फर्मो के पास अग्रिम मे आर्डर देना, (स) उच्च प्राथमिकता वाले इजीनियरिग वस्तुओ के घरेलू मॉग को प्रोत्साहित करने के लिये कुछ साख सम्बन्धी उपायो को अपनाना; (द) उद्योगो पर नियन्त्रण को कम करना जिससे कि वे अपने उत्पादनो को बाजार की स्थिति के अनुरूप समजित कर सके, तथा (इ) निर्यात-प्रोत्साहन के लिये पुन बल देना जिससे कुछ वस्तुओ की घरेलू मॉग की पूर्ति की जा सके।

कुछ निश्चित वर्गो के मशीन तथा उपकरणो की घरेलू माँग को बढाने के लिये अथवा प्रोत्साहित करने के लिये कुछ निर्दिष्ट साख सम्बन्धी उपायो के माध्यम से प्रयत्न किया गया। औद्योगिक विकास बैंक ने पूँजीगत उपकरणो की बिक्री के लिये आस्थगित भुगतान की योजना के सम्बन्ध मे उदारपूर्ण नीति अपनाई। इस सम्बन्ध मे सहायता को और विस्तृत करने के लिये कृषि सम्बन्धी औजारो की दशा मे व्यवहार की न्यूनतम राशि की शर्त को समाप्त कर दिया और अन्य दशाओ मे उसे कम कर दिया। जूट, वस्त्र, चीनी, सीमेण्ट तथा कागज उद्योग के लिये मशीन एव सयत्र की बिक्री के सम्बन्ध मे अधिकतम समय, जिसके लिये पुनर्वित्त प्रदान किया जा सकता था, को बढा कर सात वर्ष कर दिया गया। इस बैंक ने ऋण के पुनर्वित्त के लिये एक और योजना आरभ की जिसके अन्तर्गत यह सुविधा मोटर गाडी के निर्माणकर्ताओ अथवा स्वीकृति प्राप्त किराया क्रय कम्पनियों को मोटर गाडी के विक्रय के लिये प्रदान किया जिससे कि व्यावसायिक मोटर गाडी की माँग बढ सके।

उद्योग (विकास एव नियमन) अधिनियम के अन्तर्गत प्रतिबन्धो मे मई १९६५ मे और पुन. अक्तूबर १९६६ मे छूट दिया जिससे कि फर्म अपने उत्पादन का विभिन्नीकरण कर सकें। इस नीति को दिसम्बर १९६७ मे और अधिक उदारपूर्ण बनाया गया और इस प्रकार विभिन्नीकरण के लिये स्वीकृति दी गई चाहे उसके लिये कच्चे माल का अतिरिक्त आयात ही क्यो न करना पडे, यदि नवीन पदार्थ मई १९६६ मे तैयार की गई प्राथमिकता की सूची मे सम्मिलित हो।

सरकार की नीति का एक प्रमुख अंग यह भी था कि उन उद्योगो को निर्यात के लिये प्रोत्साहित किया जाय जिनकी वस्तुओ की घरेलू माँग तो कम थी परन्तु पूर्ति अधिक थी। यह उस उद्देश्य से किया गया कि अतिरिक्त क्षमता की अस्थायी समस्या समाप्त हो सके और साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो मे भी भारतीय वस्तुओ को उचित स्थान प्राप्त हो सके। निर्यात-प्रोत्साहन के लिये अनेक उपाय किये गये, जैसे साख सम्बन्धी सुविधा प्रदान करना, नकद रुपये के रूप मे सहायता की दर तथा क्षेत्र का समजन करना तथा अन्य प्रवर्तन सम्बन्धी उपाय।

आयात के लिये उदारपूर्ण नीति को, जो कि जून १९६६ मे रुपये के अव-मूल्यन के पश्चात् अपनाई गई थी, अगले दो वर्षों में भी अपनाई गई। इसका प्रमुख उद्देश्य निर्यात के क्षेत्र मे तथा अन्य प्रमुख उद्योगो मे उत्पादन के स्तर को ऊँचा रखने के लिये कच्चे माल, उपकरण तथा कल-पुर्जों के आयात की

सुविधा प्रदान करना था। १९६७-६८ की आयात नीति के अन्तर्गत प्राथमिक उद्योगों को लाइसेस प्रदान करने की प्रणाली को और सरल बनाया गया तथा उन इकाइयो को जब और जैसे लाइसेस की आवश्यकता हो उसे प्रदान कर निश्चितता का तत्व प्रदान किया गया। दिसम्बर १९६७ मे सरकार ने उत्पादन के विभिन्नीकरण की शर्तो मे और छूट देकर इसे उत्पादन के २५% तक कर दिया। नवीन इकाइयो को लाइसेस सम्बन्धी प्रावधानो से ही मुक्त नही किया गया अपितु उन्हे प्राथमिकता के आधार पर कच्चा माल तथा सतुलन सम्बन्धी उपकरणो के आयात के लिये अतिरिक्त सुविधा भी प्रदान की गई। उद्योग अपने उत्पादनों का विभिन्नीकरण नवीन वस्तुओ का निर्माण करके कर सकते थे और इसके लिये लाइसेस की आवश्यकता न थी यदि वह वस्तु प्राथमिक वर्ग मे हो और उसके लिये सामान्यतया अतिरिक्त मशीन एवं सयत्र की स्थापना की आवश्यकता न हो और साथ ही विभिन्नीकृत उत्पादन कुल उत्पादन के २५% से अधिक न हो। यदि निर्दिष्ट सीमा से अधिक के लिये विभिन्नीकरण करना हो तो उसके लिये सरकार से पूर्व-स्वीकृत प्राप्त करना आवश्यक था।

सरकार ने पश्चायन की समस्या को दूर करने के लिये रेलवे वैगन के लिये अग्रिम आर्डर दिये और साख के सम्बन्ध मे कुछ छूटे भी दी। निजी उद्योगपतियो के साथ मिल कर सरकार ने विदेश मे राजधानियो मे विक्रय एजेंसी की स्थापना करने का निर्णय लिया जिससे कि पश्चायन का सामना करने के लिये निर्यात को प्रोत्साहित किया जा सके। भारतीय मशीनो तथा अन्य वस्तुओ को रखने के लिये विदेशो मे गोदाम की व्यवस्था करने के लिये प्रस्ताव रखा गया जिससे कि सभाव्य क्रेता अपने ही देश मे उनका निरीक्षण कर सके।

अनेक उद्योगो के लिये सरकार ने मूल्य मे वृद्धि करने की अनुमति भी प्रदान की। सूती वस्त्र, कोयला, चीनी, लोहा एव इस्पात, मोटर, ट्रक तथा कागज उद्योगो द्वारा निर्मित वस्तुओ के मूल्य मे वृद्धि करना सरकार ने मान लिया। मई १९६७ से, इस्पात पर मूल्य एव वितरण सम्बन्धी सभी नियत्रण को हटा दिया गया। जुलाई १९६७ मे विभिन्न प्रकार के कोयले पर मूल्य एवं वितरण सम्बन्धी नियत्रण को हटा लिया गया। १९६७-६८ के लिये कपास पर से साविधिक नियत्रण को हटा लिया गया। चीनी के सम्बन्ध मे उस गन्ने के न्यूनतम मूल्य को २ १२ रुपये प्रति मन से बढा कर २ ७५ रुपये कर दिया गया जिस पर ९ ४ % या कम रस की प्राप्ति थी। साथ ही चीनी फैक्टरी

पर से उत्पादन कर को कम कर दिया गया । नवम्बर १९६७ से चीनी पर आंशिक नियन्त्रण ही रखा गया । ४०% चीनी पर से नियन्त्रण उस समय हटा लिया गया था (१९६८-६९ के लिये सितम्बर १९६८ मे घटा कर ३०% कर दिया गया था)

औद्योगिक लाइसेंसिंग की विधि मे परिवर्तन के सम्बन्ध मे सिफारिश देने के लिये एक पैनेल की नियुक्ति की गई। विदेशी सहयोग के सम्बन्ध मे भी विधि मे परिवर्तन किया जा रहा है तथा विदेशी विनियोक्ताओ की आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु एक सगठन भी स्थापित किया जा रहा है।

औद्योगिक समुत्थान के लिये अपनाये गये उपाय सक्षेप मे निम्नलिखित है —

(१) उद्योगों के लाइसेंसिंग के लिये जो उदारपूर्ण नीति मई १९६६ मे अपनाई गई थी उसे १९६७-६८ तथा १९६८-६९ मे भी चालू रखा गया। १९६८-६९ तक लगभग ५० उद्योगो पर से लाइसेंस हटा लिया गया। उनमे से प्रमुख है लोहा एव इस्पात कास्टिग तथा फोर्जिग, इस्पात पिड तथा बिलेट, विद्युत मोटर (५० हार्सपावर तक), सायकिल तथा उसके उपकरण, शक्ति-चालित पम्प, सीमेण्ट, कागज, वनस्पति, शीशा, कृषि सम्बन्धी ट्रैक्टर तथा टिलर्स ।

(२) दिसम्बर १९६७ मे, उत्पादन के विभिन्नीकरण के लिये शर्तों में छूट दी गई चाहे उसके लिये वैदेशिक विनिमय की आवश्यकता हो । इस प्रकार उद्योगो के लिये कच्चे माल की आयात की व्यवस्था की गई।

(३) जुलाई १९६७ मे, विभिन्न प्रकार के कोयले पर से मूल्य एवं वितरण सम्बन्धी नियन्त्रण हटा लिये गये।

(४) सभी प्रकार के व्यावसायिक मोटर-गाड़ियो (३ टन और उससे अधिक तथा जीप पर से मूल्य एव वितरण सम्बन्धी नियन्त्रण हटा लिया गया।

(५) मई २, १९६८ से, सूती वस्त्र के उत्पादन के विनियन्त्रित भाग को ६०% से बढा कर ७५% कर दिया गया। साथ ही, नियन्त्रित वर्ग मे आने वाले वस्त्रों के मूल्य पर सरकार ने २% से वृद्धि की।

(६) मई ६, १९६८ से सभी प्रकार के कागज पर से मूल्य नियन्त्रण सरकार ने हटा लिया। परन्तु सीमेण्ट के मूल्य एव वितरण पर नियन्त्रण जूलाई १,१९६८ से फिर लगा दिया गया।

(७) पूजीगत वस्तुओं के तथा इजीनियरिंग उद्योग मे माँग को प्रोत्साहित करने के लिये निजी फर्म पर सार्वजनिक क्षेत्र के द्वारा अग्रिम आर्डर दिये गये और साथ ही बैंक के ऊपर ऋण के सम्बन्ध मे जो नियंत्रण थे उन पर भी छूट दी गई यदि ऋण इजीनियरिंग उद्योग की वस्तुओ की प्रतिभूति पर दिया गया हो।

(८) औद्योगिक समुत्थान की प्रक्रिया को सहायता पहुंचाने के लिये रेलवे तथा बोकारो प्रोजेक्ट के द्वारा अग्रिम आर्डर दिये गये।

(९) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक ने पूँजीगत तथा इंजीनियरिंग वस्तुओ का निर्यात करने वालो के लिये नई योजना चलाई। इसके अन्तर्गत यह अन्य बैंको के साथ प्रत्यक्ष दीर्घकालीन वित्त तथा गारण्टी की सुविधा ४½ प्रतिशत की रियायती दर से देना आरभ किया।

समुत्थान का मूल्याकन

पश्चायन की प्रवृत्ति से समुन्थान अभी तक आशिक ही रहा और अभी भी अनेक उद्योग अपनी क्षमता से नीचे काम कर रहे है। सितम्बर १९६८ मे, औद्योगिक वित्त निगम के अध्यक्ष ने औद्योगिक क्षेत्र की स्थिति का और भी निराशाजनक चित्र प्रस्तुत किया। उन्होने उल्लेख किया कि अब भी औद्योगिक उद्यमी न तो नवीन प्रायोजनाओ की स्थापना के लिये तत्पर है और न ही विद्यमान क्षमता का विस्तार करने के इच्छुक है और इसके कारण ये है कि अनेक उपक्रमो मे अभी भी पूरी क्षमता का उपयोग नही हो पा रहा है और माँग के स्तर मे भी कमी आई है। विशेषकर पूंजीगत वस्तुओ की माँग मे और साथ ही मजदूरी एव लागत मे भी वृद्धि हुई है। स्थिति की गभीरता के आभास इससे भी होता है कि ऋण के पुनर्भुगतान तथा ब्याज के भुगतान की अदायगी न करने करने वालो की सख्या बढती ही जा रही है। साथ ही केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो ने भुगतान न होने पर जो गारण्टी दी थी उसे भी वे पूरा नही कर रहे है। इन सब तथ्यो से यही ज्ञात होता है कि उद्योगो को इन कठिनाइयो को दूर करने मे अभी और समय लगेगा। १९६८ के आरभ मे अश-बाजार मे तेजी आई थी परन्तु उसके कारण भी विनियोक्ताओ से नवीन निर्गमन के लिये पर्याप्त पूजी नही प्राप्त हो पाई और परिणामस्वरूप कम्पनियो को ऋण पूंजी पर ही अधिकाधिक निर्भर रहना पडा। इसके लिये ऋणपत्र निर्गमित करना पड़ा और स्थिर ब्याज सहित अश निर्गमित करना पड़। जिनपर वित्तीय सस्थाओ का समर्थन प्राप्त था।

विकास प्रक्रिया की प्रगति मूल्य सम्बन्धी स्थिरता तथा घरेलू बचत एव विनियोग की दर मे वृद्धि पर बहुत कुछ निर्भर है। उपलब्ध साधनो का सचरण तथा विनियोग हेतु उपलब्ध कोष का वितरण सभी क्षेत्रो मे उचित ढग से तभी सभव हो सकता है जब कि बैंकिग तथा वित्तीय सस्थाओ की कार्य प्रणाली मे आवश्यक समजन किया जाय।

हमारी अर्थ व्यवस्था निकट भविष्य मे वर्तमान सकट से मुक्त हो पायेगी, इसमे अभी पर्याप्त सदेह है। १९६८-६९ की कृषि दशा ने और भी अनिश्चितता उपस्थित कर दी है। साथ ही उन राज्यों मे सूखा पडा जो कि सामान्यतया अतिरिक्त उत्पादन करते है। कुछ राज्यो मे बाढ के कारण भी उत्पादन मे कमी आई है। इस बात का भी भय है कि मानसून के असफल हो जाने के कारण कुछ औद्योगिक क्षेत्रो में शक्ति भी उपलब्ध न हो पायेगी। भावी कृषि फसल के सम्बन्ध मे यदि जो भय है यदि वैसा ही रहा तो उसका गभीर परिणाम औद्योगिक उत्पादन तथा निर्यात पर पडेगा।

गत वर्षों मे तेजी या व्यापार-उत्कर्ष के काल में उद्योगो ने जो अनियमितायें की उनका निवारण अब हो जाना आवश्यक है। अतिरिक्त कर्म-चारियो को नियुक्त करना, उत्पादन को अक्षमता के साथ करना, स्टाक पर अपर्याप्त नियत्रण होना, अनुपयुक्त विपणि एव विक्रय नीतियो का पालन करना ऐसी ही कुछ अनियमिततायें रही है। यह अति आवश्यक है कि लागत को कम करने के लिये उद्योगो की गभीरता के साथ प्रयत्न करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे सरकार को भी सक्रिय सहयोग देना चाहिए। गत वर्षों में, बाजार के सम्बन्ध मे भावी स्थिति की जानकारी के लिये सरकार तथा योजना आयोग पर उद्योग अत्यधिक निर्भर रहा है और उसका परिणाम भी उन्हे हाल मे ज्ञात हो गया है। उन्हे चाहिये कि घरेलू बाजार की स्थिति एव प्रवृत्तियो का वैज्ञानिक अध्ययन वे स्वय करे और उसके अनुरूप ही अपनी विक्रय नीतियो को तैयार करे। निर्यात के सम्बन्ध मे भी सुचारु योजना आरभ से ही तैयार कर लेनी चाहिये। अस्थायी तौर पर माल के न बिकने पर निर्यात करने की ओर ध्यान देना असगत है। साथ ही, ग्रामीण क्षेत्रो बाजार का विकास करना अत्यधिक हितकर होगा। इसके लिये उचित सर्वेक्षण की आवश्यकता है और प्रारभ कम-मूल्य परन्तु लोकप्रिय वस्तुओ से करना चाहिये। केवल शहरों का विकास करना चाहिये जब कि इतना बडा ग्रामीण क्षेत्र पिछडा हुआ हो न्याय सगत नही लगता है। अन्त मे यह भी आवश्यक है कि व्यापार-जगत मे विश्वास को और भी प्रबल

बनाया जाय इसके लिये राजनीतिक स्थिरता, उदारपूर्ण प्राशुल्किक एव मौद्रिक नीतियो का अपनाया जाना तथा व्यापार एव सरकार के मध्य आवश्यक एव पारस्परिक सहयोग एव विश्वास का बढाना अति आवश्यक है।

आर्थिक सर्वेक्षण (१९६९-७०). इस सर्वेक्षण के अनुसार १९६९-७० मे औद्योगिक उत्पादन मे ७·५ प्रतिशत से वृद्धि होने की आशा है। इसमे कुछ निर्दिष्ट क्षेत्रो मे औद्योगिक क्षमता मे विस्तार करने की अति आवश्यकता थी और विशेष बल दिया गया है जिससे कि तेजी से बढती हुई माँग की अपेक्षाकृत पूर्ति अधिक हो सके। इन निर्दिष्ट क्षेत्रो मे विस्तार की आवश्यकता होगी यद्यपि उद्योगों मे अति-रिक्त क्षमता है। इस सर्वेक्षण मे इस बात पर बल दिया गया है कि प्रमुख वस्तुओ का, जैसे इस्पात, कच्चे रेशे तथा अल्युमूनियम, अभाव तेजी से बढता जा रहा है। इस बात का सुझाव दिया गया है कि इस सम्बन्ध मे सामयिक कार्यवाही करना आवश्यक है जिससे की उपभोक्ता पदार्थ उद्योगो मे इस प्रकार का अभाव न हो सके इसीलिये निकट भविष्य मे इनकी क्षमता को बढाना आवश्यक है। खाद उद्योग के सम्बन्ध मे क्षमता के विस्तार को उच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिये और अस्थायी अधिक्य होने के कारण इसे स्थगित करके निश्चित नही होना चाहिये।

विनियोग-वातावरण मे पर्याप्त उन्नति हुई है। कम्पनियो की कार्य सम्बन्धी रिपोर्ट उत्साहजनक रही है और स्टाक बाजार मे तेजी की प्रवृत्ति पाई गई है। परन्तु १९६९-७० मे पूँजी निर्गमन तथा पूँजी को प्राप्त करने के बारे मे स्वीकृति के आँकडे इस बात को सूचित नही करते है कि विनियोग मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। सर्वेक्षण मे इसे विरोधाभासी परिस्थिति के रूप मे माना गया है। इसका कारण यह हो सकता है कि पश्चायन से जो उद्यमियो के विश्वास को आघात पहुँचा था वह अभी दूर नही हुआ है। विनियोग मे इस अन्तर का दूसरा सभाव्य कारण यह बताया गया कि वैदेशिक विनिमय वित्त के लिये आवश्यक व्यवस्था करने मे कठिनाई रही है क्योकि पर्याप्त प्रोजेक्ट सहायता नही मिल पाई है।

औद्योगिक उत्पादन मे अनुकूल परिवर्तन होना इस बात का द्योतक है कि विनि-योग वातावरण मे भी उन्नति हो रही है। औद्योगिक उत्पादन मे समुत्थान की प्रक्रिया, १९६६ और १९६७ मे पश्चायन से, १९६८ मे प्रारभ हुई। १९६९ में अनेक उद्योगो मे और भी प्रगति हुई। कुछ उद्योगो मे (जैसे इस्पात) उत्पादन मे विस्तार क्षमता सम्बधी अवरोध के कारण सभव नही हो पाया। इस्पात का अभाव ऐसे समय मे हुआ जब कि भारत ने निर्यात बजार मे अपने कदम ही रखे थे। यद्यपि लोहा एव इस्पात केन्द्र उत्पादन मे वृद्धि हुई है, फिर भी बार तथा विलेट का अभाव

रहा है। ऐसा इसलिए अनुभव हुआ क्योकि इनकी माँग बढ गई थी और लघु-स्तरीय क्षेत्र मे निर्माण का कार्य पर्याप्त मात्रा मे हो रहा है ।

१९६९–७० मे किये गये आयात के आँकड़ो को देखने से यह ज्ञात होता है कि कच्चे माल तथा उपकरणों के स्टाक का पर्याप्त मात्रा मे उपयोग हो चुका है और यदि औद्योगिक उन्नति की गति को बनाये रखना है तो उनकी पूर्ति करना आवश्यक है। ऐसी आशा की जाती है कि उपकरण, पुर्जे तथा कच्चे माल के लिए आयात की लायसेंसिग मे जो वृद्धि हुई उससे इस सम्बन्ध मे सहायता मिल सकेगी।

१९७०–७१ के लिये नियत कार्य की रूपरेखा बताते हुए सर्वेक्षण मे यह बताया गया है कि नवीन क्षमता का आवश्यक सृजन किया जाना चाहिए जिससे अभाव को दूर किया जा सके। इसके लिए चुने हुए उद्योगो की औद्योगिक क्षमता मे विस्तार किया जाना चाहिए। विशेष रूप से इस्पात एव रसायनिक खाद के उद्योगो का विस्तार किया जाना चाहिए। यद्यपि अनेको उद्योगो मे अतिरिक्त क्षमता विद्यमान है और उनमे विभिन्नीकरण भी हो चुका है, फिर भी औद्योगिक क्षमता मे विस्तार करना आवश्यक है जिससे माँग की अपेक्षाकृत पूर्ति अधिक हो सके।

अध्याय ६

औद्योगिक विकास एवं चतुर्थ योजना.

चतुर्थ पचवर्षीय योजना को १९६६-६७ से आरभ किया जाना था परन्तु देश की आर्थिक स्थिति मे सामान्य अवनति होने के कारण उसे कार्यान्वित किया जाना स्थगित कर दिया गया। यह तय किया गया कि चतुर्थ योजना अप्रैल १९६९ से कार्यान्वित की जायेगी।

मई १९६८ मे, योजना आयोग ने Approach to the Fourth Five Year Plan प्रकाशित किया। इसमे इस बात पर बल दिया गया कि चतुर्थ योजना का प्रमुख उद्देश्य स्थिरता सहित विकास करना होगा। तीन वार्षिक योजनाओ के पश्चात् चतुर्थ योजना का तैयार किया जाना निर्धारित किया गया। चतुर्थ योजना का एक प्रमुख उद्देश्य यथासभव तेजी के साथ आत्म-निर्भरता लाना है। इस योजना मे यह विचार प्रकट किया गया है कि औद्योगिक क्षेत्र का विकास ८-१०% प्रतिवर्ष की दर से किया जा सकता है क्योकि गत तीन वर्षों मे अपेक्षाकृत धीमी प्रगति रही है और अब औद्योगिक सरचना मे गत वर्षों की अपेक्षाकृत अधिक विभिन्नीकरण हो चुका है। ८-१०% प्रतिवर्ष की दर से यह वृद्धि, जैसा कि गत वर्षों मे हुआ है, पूर्ण व्यावहारिक है।

चतुर्थ योजना के अन्तर्गत औद्योगिक विकास की प्रमुख नीति औद्योगिक नीति प्रस्ताव १९५६ से ही प्रभावित होगी। चतुर्थ योजना का उद्देश्य होगा . (१) उन परिस्थितयों को लाना जिससे कि अब तक प्राप्त क्षमता का अधिकतम उपयोग हो सके; (२) यह देखना कि नवीन विनियोग योजना के अन्तर्गत निर्धारित प्राथमिकताओं के अनुरूप ही हो रहा है और उसके लिये निर्माण-काल के सम्बन्ध मे पर्याप्त व्यवस्था कर ली गई है, विशेष रूप से, उस ओर हो रहा है जिससे निर्यात बढ़ने की और आयात पर निर्भरता कम होने की सभावना हो; (३) उद्योगो के स्वामित्व एव नियत्रण को अधिकाधिक विसरित करा तथा विस्तृत क्षेत्र पर उद्यम-क्षमता को प्रोत्साहित करना; तथा (४) इन सभी लक्ष्यो को न्यूनतम नियत्रण से उपलब्ध करना।

चतुर्थ योजना काल मे औद्योगिक विकास के लिये कार्य-योजना ऐसी होनी चाहिए कि औद्योगिक विकास मे आत्म-निर्भरता के लिये आवश्यक औद्योगिक एव

तकनीकी क्षमता एव योग्यता बढ सके, निर्यात बढाने के लिये तथा आयात सीमित करने की दिशा मे क्षमता को सतत बढाया जा सके, तथा पूँजीगत एव व्यक्तिगत साधनो को इस प्रकार से सगठित किया जा सके कि देश मे औद्योगीकरण यथा-सभव विसरित हो सके ।

प्रथम दो उद्देश्यो की पूर्ति के हेतु, निजी एव सार्वजनिक क्षेत्र के लिये कार्यक्रम तैयार किये जॉयगे। नवीन प्रयोजनाओ को विस्तृत अध्ययन के पश्चात् तैयार किया जायगा तथा उनके लिये वित्त, पूर्ति एव अन्य सुविधाओ की पूर्ण व्यवस्था की जायेगी। इस वर्ग मे सम्मिलित उद्योगो के लिये योजना के अन्तर्गत लक्ष्य को विस्तारपूर्वक निर्धारित किया जायगा। सार्वजनिक क्षेत्र के सभी उपक्रमो के लिये विस्तारपूर्वक लक्ष्य, वार्षिट बजट, वित्तीय एव भौतिक, तैयार किया जायगा।

शेष उद्योगों के लिये, उद्योग से परामर्श करके केवल निर्देशात्मक लक्ष्य तैयार किये जायेगे। निजी क्षेत्र मे औद्योगिक कार्यक्रम को नीति के सामान्य ढाचे के अन्तर्गत विकास करने के लिये छोड दिया जायगा।

अब तक सार्वजनिक क्षेत्र मे अधिकाश विनियोग इस्पात, कोयला, लिग्नाइट, तेल, भारी विद्युत उपकरण सहित भारी इजीनियरिग तथा उर्वरक आदि जैसे उद्योगो के विकास के लिये ही किया गया है। चतुर्थ योजना मे उन क्षेत्रो मे विनियोग के अन्तर्गत चालू कार्यक्रमो पर व्यय, स्वीकृत योजनाओं पर व्यय, उर्वरक तथा अन्य कृषि सम्बन्धी वस्तुओ के क्षेत्र मे कमी को दूर करने के लिये व्यय करना तथा पचम योजना के लिये अग्रिम कार्य के लिये व्यय करना आदि आयेगा।

बडे सार्वजनिक क्षेत्र के प्रायोजनाओं की क्षमता का अधिकाधिक उपयोग करना जिससे कि उनसे उचित प्रतिफल मिल सके ऐसी समस्या है जिस पर समुचित ध्यान दिया जाना अति आवश्यक है। इसके लिये बाजार सम्बन्धी ज्ञान का बढाना तथा बाजार का विस्तार करना सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के लिये अति आवश्यक है। आस्थगित भुगतान के लिये वित्त प्रदान करने की समस्या का परीक्षण करना आवश्यक है क्योकि उन्नतिशील देशो को हमारे निर्यात को लेने के लिये साख सबन्धी सुविधा की आवश्यकता हो सकती है।

सार्वजनिक तथा निजी दोनो ही क्षेत्रो के उपक्रमो की उत्पादकता तथा लाभ कमाने की क्षमता पर विचार किया जाना अति आवश्यक है। सार्वजनिक क्षेत्र मे इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु प्रमुख आवश्यकता इस बात की है कि प्रबन्धको को पर्याप्त स्वतत्रता प्रदान की जाय जिससे कि सरकार की ओर से इन उपक्रमों के संचालन के हेतु दिन-प्रति-दिन हस्तक्षेप न किया जा सके ।

सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो की नियुक्ति, पदोन्नति तथा अन्य कर्मचारियो एव अधिकारियो से सम्बन्धित नीतियो पर भी सावधानी से विचार किया जाना चाहिए। उच्च स्तर के प्रबन्धको के चुनाव के सम्बन्ध मे विशेष ध्यान रखना चाहिए। उच्च स्तर पर सरकारी अधिकारियो को अल्प-काल के लिये प्रतिनियुक्त करने की तथा शीघ्र ही हस्तान्तरण करने की जो नीति अपनाई जाती है इससे प्रबन्ध नीति का सुसगत अथवा अविरोध होना रुक सा जाता है और परिणाम यह होता है कि उच्च-स्तर के प्रबन्धक अपने उत्तरदायित्व को ग्रहण नही करते है जो कि इन उपक्रमो की सफलता के लिये अति आवश्यक है। सरकार को इस समस्या पर सक्रिय रूप से विचार करना चाहिए और इसके निवारण के लिये प्रयत्न करना चाहिए।

कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो मे रोजगारी बढाने के लिये यह आवश्यक है कि देश के विभिन्न भागो मे उन उद्योगों की स्थापना की जाय जो अपेक्षाकृत लघु स्तर के हो और जिनमे माध्यमिक टैक्नॉलाजी का प्रयोग सभव हो। पहले के ग्रामीण उद्योगो के अतिरिक्त, अनेक प्रकार के उपभोक्ता पदार्थ के उद्योग तथा उनके सहायक उद्योग है जिन्हे प्राशुल्कीय, साख तथा टैक्नॉलाजिकल सहायता देकर देश के विभिन्न भागो मे स्थापित किया जा सकता है। सक्षम (Viable) लघुस्तरीय उद्योगो की स्थापना के लिये ही प्रयास किया जाना चाहिए तथा साथ ही धीरे-धीरे उन की टैक्नॉलाजिकल उन्नति के लिये भी प्रयत्न करना चाहिए।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था अनेक वर्षो की कठिनाइयो तथा क्लान्ति के पश्चात् अब उन्नति के लिये तथा सन्तुलन के लिये समजन की प्रक्रिया मे लगी हुई है। १९६७-६८ के अन्त मे मूल्य-स्तर मे १९६६-६७ की अपेक्षाकृत ६ कमी हुई थी। पूँजी बाजार की स्थिति मे सुधार हुआ था और भुगतान के शेष मे भी गत वर्षो की अपेक्षाकृत कुछ सुधार हुआ था आर्थिक वातावरण मे इस प्रकार से अनुकूल परिवर्नन होने से आशा जागृत हुई और इसके परिणामस्वरूप आर्थिक विकास का तेजी से बढ़ने की अधिक सभावना दिखाई दी। भारतीय किसानो ने भी नये-नये उपकरणो, साधनो तथा निवेशो के प्रयोग करने मे अपनी तत्परता दिखाई है। साथ ही कृषि की नवीन तकनीक को भी अपनाया है। सरकार ने भी इन साधनो को उचित मात्रा मे उन तक पहुचाने के लिये पर्याप्त प्रयास किये है। यदि इन निवेशो तथा आवश्यक वस्तुओ की पूर्ति जारी रहे, तकनीकी विधियो को अपनाने का जोश बना रहे, तथा कृषि उत्पादन मे होने वाले उतार-चढाव

का सामना करने के लिये उचित स्टाक बनाये रखने की नीति को अपनाया जाता रहे, तो नि सन्देह कृषि-क्षेत्र मे सन्तोषजनक प्रगति हो सकती है।

औद्योगिक उत्पादन की गति मे अभी भी तेजी लाना है। पश्चायन की प्रवृत्ति से समुत्थान अभी भी पूरा नही हुआ है और अनेक उद्योगो मे अभी भी क्षमता से कम ही उत्पादन हो रहा है। इस क्षेत्र मे शीघ्रता के साथ उन्नति तभी हो सकती है। जब कि वास्तविक आय मे वृद्धि हो, सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र मे विनियोग तेजी के साथ बढे, कच्चा माल तथा आवश्यक उपकरण देश मे ही और आयात से प्राप्त हो सके और साथ ही निर्यात मे और वृद्धि हो सके। बल इस बात पर दिया जाना चाहिए कि विकास स्थिरता के साथ हो। ये दोनो ही उद्देश्य अन्तर्सम्बन्धित हैं अत दोनो पर ही बराबर-बराबर बल दिया जाना चाहिए और दोनो ही उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिये साथ-साथ प्रयास करना चाहिए। लागत तथा मूल्यों मे और अधिक वृद्धि की अनुमति नही दी जानी चाहिए। उत्पादकता मे वृद्धि लाने की अत्यधिक आवश्यकता है और मूल्यो मे कमी करके अथवा उत्पादन तथा सेवाओ की किस्म मे उन्नति करके इस बढी हुई उत्पादकता से लाभ का कुछ भाग उपभोक्ताओं तक भी पहुचाना चाहिये। प्रयत्न यह किया जाना चाहिए कि मजदूरी-लागत मे वृद्धि के द्वारा मुद्रा-स्फीति को बढने से रोका जाय। स्थिरता के साथ विकास इस बात पर भी विशेष रूप से निर्भर है कि सार्वजनिक अधिकारियो तथा निजी विनियोक्ताओ दोनो की बचत के सचरण करने की क्या क्षमता है।

औद्योगिक क्षेत्र मे क्षमता का पर्याप्त उपयोग नही हो पा रहा है और इस तरह से अनुपयुक्त क्षमता का प्रयोग करके उत्पादन को बिना अतिरिक्त पूंजी विनियोग के ही बढाया जा सकता है। हाल मे ही नेशनल काउन्सिल आँव अप्लाइड इकॉनामिक रिसर्च ने एक अध्ययन के माध्यम से इस बात की सीमा को बताया है कि बहुत बडी मात्रा मे क्षमता अनुपयुक्त है। इसने २६ उद्योगों के सम्बन्ध मे अध्ययन किया था उसमे से २५ उद्योगो मे अल्प-उपयोग की मात्रा न्यूनतम ३०% से अधिकतम ६०% तक पाया गया। मशीन (विद्युत के अतिरिक्त) के वर्ग मे १५ में से १२ उद्योगों मे अल्प-उपयोग की मात्रा २०% से ८०% तक पाई गई। विद्युत मशीन तथा उपकरण के वर्ग मे अल्प-उपयोग की मात्रा ३०% से ४०% तक पाई गई और मोटर उद्योग मे यह ५०% थी रसायनिक पदार्थ के वर्ग मे यह लगभग ५०% से ६०% तक था।

अतिरिक्त साधन के सचरण के लिये तथा विनियोग योग्य कोष का विभिन्न क्षेत्रों मे क्षमता के साथ विभाजन के लिये बैंकिंग तथा वित्तीय संस्थाओ के कार्य-सचालन में कुछ समायोजन किया जाना आवश्यक है। बैंकिंग सरचना मे आवश्-

यक परिवर्तन किया जाना चाहिए। प्रमुख बैंको का राष्ट्रीयकरण हो चुका है और यह आशा की जाती है कि अधिकतम मात्रा मे बचत का सचरण किया जा सकेगा और उसका अधिकतम उपयोग विकास के लिये हो सकेगा।

रिजर्व बैंक ने बैंक दर को मार्च १९६८ मे ६ प्रतिशत से घटा कर ५ प्रतिशत कर दिया है और साथ ही सस्ते दर पर अधिक साख प्राथमिक क्षेत्र वाले उद्योगो को, जैसे लघुस्तरीय उद्योग तथा निर्यात मे लगे उद्योग, दिलाने की व्यवस्था की है। साथ ही साख सम्बन्धी नीति मे निर्यात को प्रमुख स्थान देना निर्धारित किया है।

अर्थव्यवस्था मे इस समय विनियोग राष्ट्रीय आय का लगभग ११% है। घरेलू बचत ८% है और शेष ३% विदेशी सहायता से प्राप्त किया जाता है। निकट-भविष्य मे ऋण, विदेशो से लिये ऋण के पुनर्भुगतान तथा उन पर देय व्याज की मात्रा मे प्रचुर वृद्धि होने की सभावना है और उसके कारण कठिन समस्या उपस्थित हो सकती है। अगले पॉच वर्षों मे यह दायित्व लगभग ३०,००० लाख डालर होगा ऐसी सभावना है। इस प्रकार से भुगतान देश की सीमित वित्तीय साधनो पर एक बहुत बडा भार ही है। देश मे अब वह स्थिति आ गई है जब कि विदेशो से प्राप्त ऋण का लगभग एक-तिहाई भाग ऋण के पुनर्भुगतान तथा व्याज के भुगतान मे ही समाप्त हो जाता है। इसके कारण विदेशी पूंजी का प्रवाह भी रुक सा जायगा। यदि निर्यात को बढाने के लिये अथक प्रयास न किया जायगा और साथ ही आयात को कम करने की व्यवस्था न की जायगी तो स्थिति मे सुधार की सभावना नही है। सभी प्रयत्नो के उपरान्त भी भुगतान के शेष मे १९६७-६८ मे केवल थोडा सा ही सुधार हो पाया। जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था उन्नति की ओर अग्रसर करेगी आयात की भी आवश्यकता बढती जायगी। अत इसकी सभावना कम ही है कि भुगतान के शेष के सम्बन्ध मे स्थिति मे पर्याप्त सुधार हो सकेगा। इसका तात्पर्य यह है कि कुल विदेशी सहायता की मात्रा मे और भी अधिक वृद्धि होनी चाहिए।

कितनी विदेशी सहायता प्राप्त होगी उसका अनुमान लगाना प्रायः उतना ही अनिश्चित है जितना कि देश मे मानसून के बारे मे अनुमान लगाना है। वर्तमान समय मे विदेशी सहायता सम्बन्धी आसार बहुत अच्छे नही है। यदि विदेशी सहायता की मात्रा मे पर्याप्त कमी हो गई तो चतुर्थ योजना के स्तर तथा सरचना मे पर्याप्त समायोजन करना अति आवश्यक हो जायगा। प्रत्येक दशा मे प्रयत्न यह होना चाहिए कि घरेलू बचत का अधिकाधिक सचरण हो सके और साथ ही निर्यात मे भी प्रचुर मात्रा में वृद्धि हो।

अध्याय ७

औद्योगिक लाइसेंसिंग

उद्योगो के नियमन हेतु बनाई गई नीति को कार्यान्वित करने के लिये तथा औद्योगिक विकास को गति प्रदान करने के लिये ससद मे मार्च १९४९ मे एक विधेयक प्रस्तुत किया गया। इसे अक्टूबर १९५१ मे (उद्योग विकास एव नियमन) अधिनियम के रूप मे स्वीकृत कर लिया गया। यह अधिनियम ६ मई, १९५२ से चालू हुआ। इस अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य उद्योगो के नियोजित विकास एव नियमन सम्बन्धी सरकारी नीतियो को सुचारु रूप से कार्यान्वित करना है। सरकार के पास यह ऐसे प्रमुख शस्त्र के रूप मे है जिसके अनुसार यह पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत निर्देशित दिशाओ की ओर निजी क्षेत्र मे उद्योगो के विकास को सफलता के साथ मोड दे सकती है।

अधिनियम के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित है —

(१) निजी औद्योगिक उपक्रमो की स्थापना, विस्तार, तथा स्थानीयकरण पर सरकार का नियन्त्रण प्रदान करना जिससे विनियोग इच्छित दिशाओं मे ही हो सके, सन्तुलित क्षेत्रीय विकास हो सके, लघु एवं कुटीर उद्योग धन्धो को संरक्षण मिल सके तथा स्वामित्व एवं नियन्त्रण का केन्द्रीयकरण रोका जा सके जिससे जनता को हानि न हो;

(२) उन उपक्रमो के प्रबन्ध को ले लेना अथवा हस्तान्तरित करना जिनका संचालन उद्योग अथवा जनहित के विरुद्ध किया जा रहा हो, तथा

(३) विकास परिषद की स्थापना करना जो कि एक प्रकार के औद्योगिक नियोजन अथवा विकास संगठन के रूप मे कार्य कर सके।

अनुसूचित उद्योगो के विकास एव नियमन के सम्बन्ध मे सरकार को सलाह देने के लिये अधिनियम मे केन्द्रीय सलाहकार परिषद—अपनी उपसमितियो तथा स्थायी समितियो सहित—की स्थापना करने का प्रावधान है। इस परिषद मे स्वामी, कर्मचारी, तथा अन्य वर्ग, प्राथमिक उत्पादकताओ सहित, का प्रतिनिधित्व रहेगा। साथ ही इस अधिनियम के अन्तर्गत सरकार को एक अथवा कई उद्योगो के लिये

विकास परिषदो की स्थापना का तथा लाइसेसिग समिति की स्थापना का अधिकार है।

केन्द्रीय सलाहकार परिषद, जिसमे उद्योग, श्रमिक तथा उपभोक्ता आदि, का प्रतिनिधित्व है, की स्थापना मई, १९५२ मे की गई। यह सरकार को अनुसूचित उद्योगो के विकास एव नियमन के सम्बन्ध मे सलाह देती है। इसकी सलाह अधिनियम के अन्तर्गत नियमावली बनाने के सम्बन्ध मे भी ली जाती है। जब केन्द्रीय सरकार किसी भी उद्योग को कोई निर्देश निर्गमित करने का अथवा उस के प्रबन्ध को लेने का अधिकार प्रयोग करना चाहती है तो भी इसकी सलाह ली जाती है। लाइसेसिग समिति द्वारा किये हुए कार्यों की समय-समय पर जॉच करने के लिये यह परिषद अपनी उप-समितियो तथा स्थायी समितियो के माध्यम से कार्य करती है।

विकास परिषदो की इस अधिनियम के अन्तर्गत स्थापना एक महत्वपूर्ण प्रयास है जिसके द्वारा निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र के मध्य सम्पर्क स्थापित होता है। इसी के माध्यम से इस बात की भी सुरक्षा होती है कि निजी उद्योग अधिकाधिक योजनाबद्ध विकास के अनुरूप ही प्रगति कर रहे है या नही। ऐसी आशा की जाती है कि वे 'निजी उपक्रमो की उपचारिका' के रूप मे कार्य करेगे। उद्योगो का विकास एव नियमन केवल इस बात तक ही सीमित नही है कि सरकार अपने निश्चित अधिकारों का प्रयोग इसके लिये किस प्रकार करे अपितु एक ऐसे साधन का भी निर्माण करना है जो कि प्रत्येक उद्योग के अन्दर से ही कार्य कर सके और उत्पादकता, किस्म तथा प्रबन्ध के स्तर मे स्थायी उन्नति लाने के लिये उचित सहायता प्रदान कर सके। ऐसे ही साधन अथवा सगठन द्वारा यह आशा की जाती है कि एक ऐसा सतत अवसर उपलब्ध होता रहेगा जब कि उद्योगो की समस्याओ का विस्तृत अध्ययन सभव हो सकेगा। साथ-ही-साथ उद्योगो को उपलब्ध साधनों के अनुरूप उनके विकास का एक कार्यक्रम बन सकेगा जो कि पंचवर्षीय योजनाओ मे निर्धारित स्वरूप के अनुसार होगा।

ऐसा भय था कि ये विकास परिषदे औद्योगिक संस्था विशेष के भीतर से निकली हुई सजातीय सस्थाए नही बन पाएगी और इस प्रकार वे इच्छित विकास लाने मे सफल न हो पायेंगी। ये भी भय था कि वे उन निजी उपक्रमो के सक्षम सचालन मे हस्तक्षेप ही करेगी जिन्हे अपने दिन-प्रतिदिन के कार्य सचालन में स्वतत्रता रहनी चाहिए परन्तु ऐसे भय निराधार ही सिद्ध हुए है।

लाइसेसिंग समिति की स्थापना भी इस अधिनियम के अन्तर्गत की गई। इसमे विभिन्न मन्त्रालयो तथा योजना आयोग के प्रतिनिधि है। पचवर्षीय योजनाओ

मे निर्धारित प्राथमिकताओ एव उद्देश्यो के अनुरूप औद्योगिक विकास के नियमन के लिए यह समिति उपयोगी सिद्ध हुई है ।

लाइसेंसिंग नीति का परीक्षण. ससद मे सरकार की औद्योगिक लाइसेस की नीति की टीका टिप्पणी समय-समय पर की गई है। औद्योगिक लाइसेस की प्रथा के विषय मे विस्तृत विवरण भी इस उद्देश्य से दिया भी जा चुका है कि यह दोषारोपण उचित नही है कि बडे व्यापारिक दलो के लाइसेस के निर्गमन के सबध मे विशेष रुप से पक्ष लिया गया है। क्षेत्रीय विभाजन, निर्यात की सभावनाओ, एकाधिकार की प्रवृत्ति, क्षमता का केन्द्रीयकरण तथा विदेशी विनियम की मितव्ययिता आदि के सम्बन्ध मे विशेष ध्यान सदैव रखा गया है।

अप्रैल १९६६ मे श्री एस० जी० बर्वे ने टाइम्स आफ इडिया मे औद्योगिक विकास पर कई लेख निकाले जिसमे उन्होने लाइसेसिग प्रथा पर महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए थे। उन्होने इस तथ्य पर बल दिया कि नए उपक्रमो की स्थापना तथा स्थापित उद्योगो के विस्तार के लिए लाइसेंसिंग प्रथा के अन्तर्गत विकास एव नियमन की नीति की सम्पूर्ण जाँच किया जाना अति आवश्यक है।

योजना आयोग द्वारा १९६६ मे प्रो० आर० के० हजारी को उद्योग (विकास एव नियमन) अधिनियम के अन्तर्गत दिये गये लाइसेस के विषय मे अध्ययन करने के लिये अवैतनिक परामर्शदाता के रूप मे नियुक्त किया गया। इस अध्ययन के उद्देश्य थे : (१) लाइसेसिग के सचालन की जाँच करना; तथा (२) लाइसेंसिंग नीति मे किस दिशा मे और कब परिवर्तन किया जाना चाहिए इसके विषय मे विचार करना तथा सुझाव देना। लाइसेंसिंग नीति के सम्बन्ध मे सुझाव देने के लिये उन्होने आँकडो का अथक विश्लेषण करने के पश्चात् १९६७ मे अपनी रिपोर्ट दी। उन्होने यह व्यक्त किया कि आँकडे अपूर्ण, अविश्वसनीय तथा आँशिक थे क्योकि लाइसेस के लिये दिये गये प्रार्थनापत्रो मे दी सूचना प्रारभिक एव अस्थायी थे। परन्तु अपने महत्वपूर्ण अवलोकनो को प्रस्तुत करते समय वे उतने विचारशील न थे जैसा कि इन आँकडो की दशा मे सभव भी था।

लाइसेंसिंग की कमियों का विश्लेषण. डा० हजारी ने लाइसेंसिंग की असफलताओं एव कामियो का सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित प्रकार से दिया है :—

(१) एक निजी उद्यमी के लिये लाइसेस प्राप्त करना अनेक बाधाओं में से केवल प्रथम बाधा ही है जिसका सामना उसे औद्योगिक इकाई की स्थापना

करते समय करना पडता है । लाइसेंस प्राप्त कर लेने से ही अन्य बाधाये स्वयमेव दूर नही हो जाती ।

(२) लाइसेस के निर्गमन से औद्योगिक क्षमता की वास्तविक स्थिति ज्ञात होने की अपेक्षाकृत एक बढी-चढी स्थिति का आभास होता है । परिणामस्वरूप, वास्तविक उद्यमी उससे भयभीत हो जाते है । इससे प्रभावकारी दलो को इस बात का प्रोत्साहन भी मिलता है कि वे लाइसेस प्राप्त क्षमता को पहिले ही बन्द कर देते है और वे कार्यान्वित न किये गये लाइसेस को अपने वश मे रखते है ।

(३) लाइसेस.से उपलब्ध विदेशी विनिमय पर अतिरिक्त तथा अत्यधिक दबाव पड़ता है ।

(४) विभिन्न स्तरो पर प्रार्थनापत्रो के बारे मे विचार तथा पुर्नविचार किये जाने की प्रक्रिया से प्राय. देरी होती है तथा साथ ही लागत मे भी वृद्धि होती है ।

(५) लाइसेस देने के पश्चात् उसके अनुपरीक्षण की कोई भी व्यवस्था नही है जिससे यह ज्ञात हो सके कि स्वीकृत प्रायोजनाओ को सन्तोषजनक ढग से कार्यान्वित किया जा रहा है अथवा नही ।

(६) उद्यमी अपनी व्यावहारिकता रिपोर्ट को विस्तारपूर्वक बनाये इसके लिये न तो सरकार की ओर से ही कोई दबाव था और न ही बाजार की अवस्था ही उन्हे इसके लिये बाध्य करती थी । इसके लिये योजना आयोग ने कोई मार्ग-निर्देशन भी नही दिया है । लाइसेसिंग की गति का सामजस्य क्षमता की वास्तविक उपनति तथा बढती हुई माँग के अनुरूप उत्पादन के मध्य स्थापित नही किया गया । योजना आयोग ने प्राथमिक उद्योगो की अथवा प्रायोजनाओ की ऐसी कोई भी सूची नही बनाई है जिन्हे विदेशी विनिमय के वितरण के समय प्राथमिकता दी जाय ।

(७) विभिन्न लक्ष्यो की पूर्ति मे जो अभाव या अन्तर है उनका उद्योगो के अन्तर्सम्बन्धित क्षेत्रो मे अतिरिक्त क्षमता अथवा उत्पादन की आवश्यकता पर क्या प्रभाव पडता है इस सम्बन्ध मे भी कोई सूचना नही है ।

(८) विदेशी सहयोगियो पर अधिक निर्भरता रहने के कारण देशी साहसियो का अभाव रहा है । घरेलू साहसी लक्ष्य-क्षमता को यथासंभव पूर्व से ही बन्द कर देना चाहता था तथा उसकी रुचि इसमे न थी कि व्यावहारिकता के अध्ययन की तैयारी ढग से करे ।

(९) लाइसेंसिग ने विभिन्न प्रायोजनाओ अथवा/एव उत्पादनो की सापेक्ष महत्ता पर ध्यान नही दिया। लाइसेंसिग अधिकारी के पास हजारो प्रस्ताव आते थे परन्तु उनके मूल्याकन के लिये उनके पास कोई भी स्पष्ट एव निश्चित कसौटी न थी। तीन सूचियो का—अस्वीकरण, गुणोचित, तथा स्वतन्त्र—निर्माण ऐतिहासिक घटनाओ पर आधारित था। अधिक मात्रा मे लाइसेंस के निर्गमित हो जाने पर लाइसेस की यह उपादेयता भी समाप्त-प्राय हो गई कि इसके द्वारा दुर्लभ साधनो का उपयोग प्राथमिकता प्राप्त उद्योगो द्वारा ही किया जा सके।

दत्त समिति के जॉच-परिणाम एवं उसकी सिफारिशे

औद्योगिक लाइसेंसिग नीति जॉच समिति की नियुक्ति जुलाई १९६७ मे श्री एस० दत्त की अध्यक्षता मे की गई थी। इस समिति को लाइसेंसिग प्रणाली के सचालन के सम्बन्ध मे प्रमुख प्रश्नो पर विचार करना था। इस समिति को निम्नलिखित तथ्यो की जॉच करनी थी (अ) औद्योगिक लाइसेंसिग प्रणाली की कार्यप्रणाली की जॉच इस उद्देश्य से करना कि क्या बडे-बडे औद्योगिक गृहों को अन्य प्रार्थियो की अपेक्षाकृत वास्तव मे अनुचित लाभ प्राप्त होता रहा है और यदि ऐसा हुआ है तो वह कहाँ तक न्यायसगत था; (ब) इस दोषारोपण की जाँच करना कि बडे-बडे औद्योगिक गृहो को निर्गमित किये गये लाइसेस को कार्यान्वित नही किया गया तथा उनके कार्यान्वित न किये जाने के कारण क्षमता का पूर्व-क्रय हुआ; (स) यह पता लगाना कि लाइसेंसिग नीति को क्या इस प्रकार से कार्यान्वित किया जा रहा है कि औद्योगिक नीति प्रस्ताव (१९५६) के उद्देश्यों की, विशेष रूप से उद्योगो का क्षेत्रीय विभाजन तथा लघु तथा मध्यम स्तरीय उद्योगो का विकास पूर्ति हो रही है, (द) यह पता लगाना कि सार्वजनिक वित्तीय सस्थाओ द्वारा अपनाई गई नीतियो के परिणामस्वरूप बडे-बडे औद्योगिक गृहो को अनुचित अधिमान प्राप्त हुआ।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि दत्त समिति की नियुक्ति औद्योगिक लाइसेंसिग प्रणाली की कार्यवाही की जाँच कर उसके दोषो का पता लगाना था और यह जॉच करनी थी कि बडे-बडे औद्योगिक गृहों को अन्य प्रार्थियो की अपेक्षाकृत अनुचित लाभ तो नही प्राप्त होता रहा है। इस अनुसधान का उद्देश्य औद्योगिक नीति प्रस्ताव के कार्यान्विन का लाइसेंसिग के संदर्भ में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रकार से मूल्याकन करना था तथा यह भी निश्चित करना था कि

वित्तीय सस्थाये सरकार की सामान्य नीतियो के अनुरूप ही कार्य कर रही है।

इस जॉच के सम्बन्ध मे समिति ने अत्यधिक आँकडे एकत्र किये परन्तु सभी आँकडो का उपयोग करके विश्लेषण नही किया गया। समिति के मूल्याकन एव निष्कर्ष एकत्रित आँकडो के कुछ भाग पर ही आधारित है अतः उनका पूर्ण-रुपेण विश्वसनीय होना सदेहयुक्त है। इसने बडे औद्योगिक गृहो की जो परिभाषा दी है तथा किसी गृह विशेष के अन्तर्गत किसी सस्था को सम्मिलित करने के लिये जो कसौटी अपनाई है उनके प्रति सन्देह व्यक्त किया गया है।

प्रमुख जाँच-परिणाम दत्त समिति ने यह जॉच की कि औद्योगिक लाइसेस के निर्गमन के सम्बन्ध मे क्या बडे औद्योगिक गृहो को अन्य प्रार्थियों की अपेक्षाकृत अनुचित लाभ प्राप्त हुआ था। समिति ने यह पता लगाया कि ७३ बडे औद्योगिक गृहो मे से, जिनकी जॉच समिति ने विस्तार पूर्वक किया था, २० गृहो ने लाइसेस के लिये अपने प्रार्थना-पत्र मे जितने विनियोग का प्रस्ताव किया था उसका प्रतिशत कम्पनियों की प्रदत्त पूँजी मे उनके भाग की अपेक्षाकृत कही अधिक था। २६,८९५ कम्पनियो मे से (सार्वजनिक तथा निजी दोनो) २१९७ कम्पनियाँ बडे औद्योगिक गृहों की ही थी। इन २१९७ कम्पनियो का निजी क्षेत्र मे १९६६ मे कुल लाइसेस का ३८% भाग प्राप्त था। उसकी अपेक्षा-कृत अन्य २४,६९८ कम्पनियो का भाग ६२% था।

उत्पादनो के लिये निर्गमित लाइसेस के सम्बन्ध मे बडे औद्योगिक क्षेत्र का परीक्षण करते हुए, समिति ने यह पता लगाया कि ५१ वस्तुओं की दशा में बडे गृहो का ५० % या उससे अधिक लाइसेस पर नियत्रण था। कम्पनियों द्वारा यह आनुपातिक नियन्त्रण निर्गमित लाइसेस के मूल्य से कही अधिक था। २८ वस्तुओ की दशा में अनुपातहीन भाग की सीमा के सम्बन्ध मे समिति ने विस्तार-पूर्वक विचार किया। उदाहरण के लिये, पोलियस्टर अक्रिलिक फाइबर के उत्पादन के लिये लगभग सभी लाइसेंस बडे औद्योगिक क्षेत्र को ही निर्गमित किये गये थे। इसमें से अधिक महत्वपूर्ण थे बिडला (२१%), टाटा (२०%), साराभाई (१५ ५%), आई० सी० आई० (१५ ५%), मफतलाल (२०%), जे० के० (१०%)। सोडा ऐश उद्योग मे सभी बडे औद्योगिक गृह मिलकर स्वीकृत क्षमता के ८१% पर नियत्रण रख रहे थे। एस्बेस्टस सीमेण्ट की दशा मे, १९५६-६६ की अवधि मे दिये गये लाइसेस क्षमता का ६०% केवल बिड़ला ही के पास था। मोटर टायर तीन विदेशियो द्वारा नियन्त्रित इकाइयो—डनलप, फायरस्टोन

तथा गुडइयर—और टाटा की द्वितीय-श्रेणी की कम्पनी सीयट (CEAT) के पास मिलाकर १९५६-६६ की १० साल की अवधि मे निर्गमित लाइसेस का ८०% था। रेयन ग्रेड पल्प, नायलॉन, कॉस्टिक सोडा तथा रेडियो रिसीवर के सम्बन्ध मे ही विषम अनुपात पाया गया। कुछ थोडे से बडे औद्योगिक गृह छल कपट के द्वारा सभी बातों को अपने पक्ष मे कर लेने मे समर्थ थे। समिति ने यह अवलोकन किया कि "कुछ ऐसे मामले है जिनके लिये बडे औद्योगिक गृहो के भाग के लिये कोई आपत्ति नही की जा सकती, परन्तु वे ढग जिनसे कुछ प्रभावशाली गृहो ने उस भाग को प्राप्त किया, पर्याप्त न्यायसगत नही है।" यह सब इसीलिये सभव हो पाया क्योकि लाइसेसिग प्रणाली मे ही कुछ कमियाँ थी और इसका कारण अधिकारियों तथा मत्रियो का इसके लिये पर्याप्त सहयोग प्राप्त होना भी है।

समिति ने यह पता लगाया कि बडे औद्योगिक गृहो ने दिल्ली मे सम्पर्क-अधिकारी नियुक्त कर रखे है और वे सरकारी अधिकारियों को अपने पक्ष मे मोडने और प्रभावित करने का प्रयत्न करते रहते है। कुछ दशाओं मे समिति को यह विश्वास करने के लिये पर्याप्त कारण थे कि कुछ सस्थाओ को यह पूर्व-सूचना दी गई कि निश्चित तथा अमुक समय पर कुछ प्रकार के प्रार्थनापत्र पर विचार किया जाना है, या कि लाइसेंसिग की सभा मे उस विषय पर विचार किये जाने से थोडा पहले प्रार्थना पत्र लिया गया, या कि कुछ दशाओ मे भावी प्रार्थियों और सरकार के प्रतिनिधियो के मध्य पहले ही बातचीत हो गई और प्रार्थी को यह सुझाव दिया गया कि वह उसके लिये औपचारिक प्रार्थना पत्र दे दे। इस प्रकार के अनेक उदाहरण समिति के सम्मुख आये जिससे यह विश्वास हो गया कि बडे औद्योगिक गृहो को अनुचित लाभ प्राप्त हुआ और उसके लिये उन्होंने अनुचित ढगों को अपनाया।

लाइसेस को कार्यान्वित न करने और क्षमता के पूर्व-क्रय के दोषारोपण के सम्बन्ध मे समिति का विचार यह था कि इस दिशा मे बडे औद्योगिक क्षेत्र की उपलब्धि कही अधिक होती यदि तीन बड़े औद्योगिक गृहों ने इस दिशा मे पर्याप्त प्रयास किया होता। रिपोर्ट मे यह उल्लेख किया गया कि "कार्यान्विन की कमी से ही पूर्व-क्रय सिद्ध नही होता। केवल कुछ दशाओ मे ही हमे पूर्व-क्रय का साक्ष्य प्राप्त हुआ—थोडे लाइसेस, अन्य लोगों को लाइसेस न दिया जाना तथा अपर्याप्त कार्यान्विन।" लाइसेसिग नीति के कार्यान्विन तथा आर्थिक केन्द्रीयकरण पर इसके प्रभाव के सम्बन्ध मे समिति का विचार था कि आँकड़ों से यह ज्ञात होता है कि औद्योगिक गृहों का निर्गमित लाइसेंस मे भाग कही अधिक था।

समिति का विचार था कि लाइसेसिग अधिकारियो के पास अत्यधिक विवेकाधिकार है और बडे औद्योगिक गृह उन्हे प्रभावित करने मे समर्थ थे।

सरकार की उद्योगो के क्षेत्रीय विस्तार, लघु तथा मध्यमस्तरीय उद्योगों के विकास तथा आयात प्रतिस्थापन की नीतियो के अनुरूप औद्योगिक लाइसेंसिग प्रणाली के कार्य-सचालन के सम्बन्ध मे समिति ने यह उल्लेख किया कि उसे प्राप्त समय एव साधन के अन्तर्गत इस सम्बन्ध मे सम्पूर्ण जॉच करना सभव नही है। इसका निष्कर्ष यह था कि कुछ दशाओ मे औद्योगिक नीति प्रस्ताव के भावो के विरुद्ध इस नीति को कार्यान्वित किया गया। उद्योगो के क्षेत्रीय विभाजन के सम्बन्ध मे समिति का विचार था कि अभी तक पिछडे क्षेत्रो के बारे मे पूर्ण निर्णय नही लिया गया है अत औद्योगिक लाइसेंसिग की भूमिका इन पिछड़े क्षेत्रो मे औद्योगीकरण के लिये अनिश्चित सी है। जिन क्षेत्रो मे लघु, मध्यम तथा बडे उद्योगो की भूमिका के सम्बन्ध मे सरकार की नीति स्पष्ट है वहाँ पर लाइसेंसिग प्रणाली ने लघु उद्योगो के विकास को प्रोत्साहित किया है। आयात-प्रतिस्थापन तथा विदेशी सहयोग के सम्बन्ध यह नीति सफल नही रही है।

सबसे अधिक अकार्यान्वित लाइसेस बिडला के लिये पाये गये (१३३ और ३३ द्वितीय-श्रेणी की सस्थाओ के लिये), उसके बाद टाटा का नम्बर आता है (४३ और ४ द्वितीय श्रेणी की सस्थाओ के लिये) अन्य दो गृह, जिनके पास २५ से अधिक अकार्यान्वित लाइसेस थे, सूरजमल नागरमल (३९) और जे० के० (३५) थे। कुछ औद्योगिक गृहो ने तो अत्यधिक सख्या मे लाइसेस ले रखे थे तथा उनमे से केवल थोडो को कार्यान्वित किया था और बाद मे फिर उन्ही उत्पादनों के लिये लाइसेस प्राप्त कर लिया यद्यपि पूर्व-प्राप्त लाइसेस को कार्यान्वित नही किया था। साथ ही अधिकृत क्षमता से अधिक प्रतिस्थापित किया और अधिकृत क्षमता से अधिक उत्पादन भी किया। इन सब से पूर्व-क्रय का उन्हे अवसर प्राप्त हुआ। समिति ने पाया कि १९५६-६६ के मध्य निर्गमित लाइसेस मे से अधिकाश (लगभग ३२%) अकार्यान्वित थे। समिति ने न तो यही बताया कि निर्गमित लाइसेस का क्या मूल्य था और न यही कि अकार्यान्वित लाइसेंस कितने मूल्य का था।

औद्योगिक लाइसेंसिग प्रणाली के कार्य सचालन के विषय मे समिति का विचार था कि गत वर्षो मे असफलताये रही है और उसका कारण कुछ तो कार्य-विधि के कारण था और कुछ प्रशासन पर थोडे से लोगो के प्रभाव

के कारण था। इस प्रणाली को और अधिक उपयोगी और सक्षम बनाने के लिये इसने सगठन तथा कार्य-विधि मे परिवर्तन के लिये सुझाव देने का प्रयत्न किया।

सिफारिशें दत्त समिति ने औद्योगिक लाइसेंसिंग के प्रयोग का व्यावहारिक एव निषेधात्मक दोनो ही दृष्टिकोण से विचार किया। इसने सिफारिश की कि नीति के व्यावहारिक प्रयोग उन उद्योगो तक सीमित रखा जाय जो कि प्रमुख, सामरिक क्षेत्रो के अन्तर्गत आते हो और उनके लिये विस्तृत औद्योगिक योजना तैयार की जानी चाहिये। निषेधात्मक रूप मे इसके प्रयोग के लिये समिति की सिफारिश को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा गया क्योकि इसने यह सुझाव दिया कि मध्य क्षेत्र केवल उन उद्यमियो द्वारा विकास के लिये आरक्षित कर दिया जाना चाहिए जो कि बड़े औद्योगिक गृहो तथा विदेशी सस्थाओ से सम्बद्ध न हो। इसने सिफारिश की इस क्षेत्र मे लाइसेस केवल उन प्रार्थियो को दिया जाना चाहिए जो कि बडे औद्योगिक गृहो के न हो।

समिति ने लाइसेंसिग के तीन-श्रेणी वाले स्वरूप के लिये सुझाव दिया जिसके अन्तर्गत उद्योगो को कोर क्षेत्र (core sector), माध्यमिक क्षेत्र (middle sector) तथा उस क्षेत्र मे विभाजित किया गया जो केवल लघु उद्योगो के लिये था या जहाँ प्रवेश पर पूर्ण प्रतिबन्ध था। कोर उद्योग के सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट विचार नही प्रकट किया गया और अनेक स्थलो पर उसे प्राथमिक उद्योगो के पर्यायवाची के रूप मे प्रयोग किया गया। कोर क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले उद्योगो का विकास सरकार के लिये आरक्षित था। इस क्षेत्र के लिये लाइसेंसिग के सम्बन्ध मे समिति की सिफारिश केवल निर्देशात्मक ही थी जिसके अन्तर्गत प्रमुख तथा सामरिक महत्व के उद्योग जैसे प्रमुख उत्पादन, भारी मशीन तथा भारी रसायन उद्योग आते थे। समिति ने सिफारिश की कि बडे औद्योगिक गृह तथा विदेशी फर्मे इस क्षेत्र मे आ सकते है। माध्यमिक क्षेत्र को स्वतन्त्र छोड़ देने की सिफारिश की। यह समझना कठिन है कि कैसे समिति ने अपने जाँच के परिणामो के आधार पर यह सिफारिश दी क्योकि यह उसके स्वय के प्रमुख दृष्टिकोण के विरुद्ध है। क्योकि इसने यह सुझाव दिया था कि इस क्षेत्र मे औद्योगिक लाइसेंसिग को चालू रखा जाय जिससे कि बड़े औद्योगिक गृहो को हतोत्साहित करने का सीमित उद्देश्य पूरा हो सके। वास्तव मे यह माध्यमिक क्षेत्र मे बड़े औद्योगिक गृहों तथा विदेशी फर्मे के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा देना हानिकर सिद्ध हो सकता है, विशेषकर उनके लिये जो कि निर्यात मे अपना योगदान दे रहे है अथवा आवश्यक प्रमुख वस्तुओ का निर्माण कर रहे हैं और

कोर क्षेत्र के उद्योगो के लिये वस्तुओ का निर्माण कर रहे है। इस सम्बन्ध मे सभी पक्षो की जॉच करना अति आवश्यक या विशेषकर, इजीनियरिंग, रसायन तथा खाद्य उद्योग जिनकी दशा मे विकास अधिकाशतया विभिन्नीकृत तथा तकनीकी परिवर्तनो द्वारा होता है।

समिति ने लघुस्तरीय उद्योगो के विकास के लिये आरक्षित क्षेत्र की सिफारिश की। परन्तु आरक्षण के लिये नीति का सुझाव देते समय समिति ने इस बात पर ध्यान नही दिया कि बृहत, मध्यम तथा लघुस्तरीय उद्योग आपस मे पूरक भी है और दूसरी बात यह है कि केवल क्षेत्र को आरक्षित कर देने से ही उन उद्योगो का विकास नही हो जायेगा। उनके विकास के लिये वित्तीय सहायता देते समय उन्हे प्राथमिकता दी जानी चाहिए, कच्चे माल की पूर्ति की व्यवस्था की जानी चाहिए, सरकार की क्रय नीति के अन्तर्गत उन्हे रियायते दी जानी चाहिए तथा उन पर कर के भार के सम्बन्ध मे भी ध्यान दिया जाना चाहिए। वैसे इन उद्योगो को प्रोत्साहित करने के लिये मूल्य सम्बन्धी नीति मे उचित परिवर्तन उनके पक्ष मे करना चाहिए परन्तु यह भी ध्यान मे रखा जाना चाहिए कि ऐसा करने से वे लागत को कम करने पर ध्यान देना न बन्द कर दे और उनकी कार्य क्षमता मे कमी न आ जाय।

समिति ने सयुक्त क्षेत्र की भी सिफारिश की तथा यह सिफारिश की कि वित्तीय सस्थाओ को उन सस्थाओ के अश पूँजी मे भाग लेना चाहिये जिन्हे उन्होने अधिक मात्रा मे ऋण दे रखा हो तथा साथ ही उनके परिषदो मे प्रतिनिधित्व भी उनका होना चाहिए। परन्तु ऋण को अश पूँजी मे परिवर्तित करने मे अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं।

दत्त समिति रिपोर्ट का मूल्यांकन दत्त समिति के जाँच-परिणामों की तथा उसके सिफारिशो की तीव्र आलोचना की गई है। कुछ प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित है -

(१) दत्त समिति द्वारा उद्योगो का नवीन विभाजन जाति प्रथा के समान है। समिति बहुत कुछ आर्थिक केन्द्रीयकरण से प्रभावित है।

(२) बडे औद्योगिक गृहो के सम्बन्ध मे जो विचार है उनमे प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के समापन हो जाने के सदर्भ मे परिवर्तन लाना आवश्यक होगा। समिति की सिफारिश अप्रचलित हो गई है क्योकि प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली अप्रैल ३, १९७० से समाप्त हो जायगी। साथ ही एकाधिकार अधिनियम

पारित किया जा चुका है और प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण भी किया जा चुका है।

(३) बडे औद्योगिक गृहो को एकाधिकारी कहना अवैज्ञानिक है जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि वे समाज-विरोधी हैं।

(४) सिफारिशो ने बडे स्तर के उद्योगो के विकास पर प्रतिबन्ध लगा दिया है क्योंकि इनका विकास बडे औद्योगिक गृहो के द्वारा ही किया जा सकता है।

(५) उद्योगो द्वारा निर्यात के लिये जो प्रयास किये जा रहे है उसमे भी रुकावट आयेगी यदि अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रो मे औद्योगिक गृहो को भाग लेने से रोक दिया जायगा।

(६) सरकार को लाइसेंसिग नियन्त्रण की अपेक्षाकृत ऐच्छिक ढगो पर अधिक विश्वास रखना चाहिए जिसके द्वारा बडे औद्योगिक गृहो को उन नवीन क्षेत्रो की ओर मोडा जा सके जिसमे उच्च तकनीक की तथा अधिक मात्रा मे पूँजी के विनियोग की आवश्यकता हो।

(७) गत २० वर्षों का अनुभव यह बताता है कि प्रतिबध लगाने वाली नीतियो के माध्यम से उद्देश्यो की प्राप्ति मे विशेष सफलता नही मिली है। दूसरी ओर इनके कारण भ्रष्टाचार तथा कुनबापरस्ती के बढने मे सहायता ही मिली है। अब वह समय आ गया है जब कि ऐसे आवश्यक व्यवहारो को न्यूनतम करने का प्रयत्न किया जाय। सहायता तथा प्रोत्साहन देने के लिए व्यावहारिक योजनाओ को अपनाया जाना चाहिए इससे निर्यात के बढने मे प्रोत्साहन मिलेगा तथा आयात प्रतिस्थापन सम्बधी कार्यक्रम को कार्यान्वित करने मे ये सहायक होगें। इससे क्षमता के उपयोग न किये जाने का, एकाधिकारी मूल्य वसूल करने का, कमजोर वर्ग के लोगो को दबाने का तथा लाइसेस के पूर्व-क्रय की सभावना कम हो जायेगी। इसका परिणाम यह भी हो सकता है कि राजनीतिज्ञो द्वारा अनुचित व्यवहार करना कम हो जायगा और आर्थिक क्षेत्र मे स्वस्थ जनतात्रिक परिपाटी का सृजन होगा।

वित्तीय संस्थाओं के कार्य दत्त समिति ने १९५६–६६ के दशक मे वित्तीय सस्थाओ के कार्य सचालन के विषय मे भी विस्तृत विश्लेषण किया है। समिति का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह रहा कि सार्वजनिक वित्तीय सस्थाओ द्वारा जो ऋण दिया गया उससे अधिकाशतया बड़े व्यापारिक सस्थाओं को ही सहायता पहुँची है। २० बडे गृहो को मिला ऋण तो बहुत अधिक है। विभिन्न वित्तीय संस्थाओ द्वारा दी गई वित्तीय सहायता के आकडो का विश्लेषण करने से यह ज्ञात हुआ कि

कुल सहायता का ⅘ भाग बडे औद्योगिक क्षेत्र को प्राप्त हुआ। १९५६-६६ के मध्य ८०८ करोड रूपये की सहायता के लिए निजी क्षेत्र को दी गई स्वीकृति मे से ५४५ करोड रूपये (६७%) ऋण के रुप मे था, १५५ करोड़ रुपये (१९%) अशो एव ऋणपत्रो के अभिगोपन के रुप मे था, ३० करोड रुपये (४%) अशो एव ऋणपत्रों मे प्रत्यक्ष विनियोग के रूप मे था और ७९ करोड़ रूपये (१०%) गारन्टी के रूप मे था। पूर्ण स्वीकृत सहायता का ५३% बडे औद्योगिक क्षेत्र को उपलब्ध हुआ और ४४% ७३ बडे गृहो को तथा उनके द्वितीय शृ खला के सस्थाओ को प्राप्त हुआ और लगभग उसका आधा २० अन्य बडे गृहो को प्राप्त हुआ।

समिति ने बताया कि अभिगोपन सम्बधी सहायता का आधा से अधिक बड़े औद्योगिक क्षेत्र को प्राप्त हुआ। विभिन्न वित्तीय सस्थाओं द्वारा विभिन्न रुप में कुल स्वीकृत सहायता ८०८ करोड रूपये मे से, ३४१ करोड़ रूपया ७३ बड़े औद्योगिक गृहो को प्राप्त हुआ जिसमे से १८३ करोड रूपया (कुल का २३%) तथा बडे औद्योगिक गृहो के भाग का लगभग आधा बडे गृहो को मिला। ऋण तथा ऋणपत्र के रूप मे इनसे बडे गृहो को प्राप्त सहायता को देखने से भी यही ज्ञात होता है कि बडे क्षेत्र के सस्थाओ को अनुचित प्राथमिकताऐ प्रदान की गई। समिति ने रिपोर्ट मे बताया कि १९५६-६६ की अवधि मे कुल ९७१ प्रार्थना पत्रो को इन सस्थाओ द्वारा अस्वीकृत किया गया। राज्य वित्तीय निगमो द्वारा अस्वीकृत प्रार्थना पत्रो की सख्या सबसे अधिक थी (६९६), भारतीय औद्योगिक विकास बैंक द्वारा १५०, भारतीय औद्योगिक वित्त निगम द्वारा ५५ तथा भारतीय औद्योगिक साख विनियोग निगम के द्वारा ४५ प्रार्थना पत्र अस्वीकृत किए गए। इन वित्तीय सस्थाओ द्वारा प्रार्थना पत्रो को अस्वीकृत करने के लिए जो कारण दिए गए उससे भी बड़े गृहो के प्रति पक्षपात ज्ञात होता है।

सिफारिशें. समिति ने यह सुझाव दिया कि विभिन्न संस्थाओं के मध्य उचित समन्वय न होने के कारण इनके कार्यों मे पर्याप्त आवृत्ति पाई जाती है और इसे दूर करने के लिये समिति ने निम्नलिखित विकल्प का सुझाव दिया है.

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम को भारतीय औद्योगिक विकास निगम में सम्मिलित कर लेना चाहिए। या विकल्प मे, भारतीय औद्योगिक वित्त निगम के कार्य-क्षेत्र को कुछ निश्चित आकार तक ही सीमित कर देना चाहिए। भारतीय औद्योगिक विकास बैक को विभिन्न वित्तीय सस्थाओ का निर्देशन तथा उनकी नीतियो मे सम वय का कार्य चालू रखना चाहिए। साथ ही इसे राज्य स्तर के सस्थाओ के कार्य कलापो को भी पुनर्वित्त के माध्यम से प्रभावित करने की क्षमता

होनी चाहिए जैसे कि राज्य वित्त निगम तथा राज्य औद्योगिक विकास निगम। समिति ने यह अवलोकन किया कि वित्तीय सस्थाओ के पास ऋण प्रदान करते समय प्राथमिकता प्रदान करने के सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट निर्देशन नही है। ऐसा ज्ञात होता है कि औद्योगिक लाइसेस का कम्पनी के पास होना ऋण देने की प्रथम कसौटी है। दूसरी बात जिस पर समिति ने बल दिया वह व्याज के निर्धारण के सम्बन्ध मे है। इन वित्तीय सस्थाओ के प्रबन्ध मे या तो निर्वाचित सचालक है या सरकार के द्वारा मनोनीत है। यह आश्चर्यजनक है कि सरकार ने ऐसे मनोनीत व्यक्तियो को रखने की आज्ञा दी। ऐसे मनोनीत व्यक्ति केवल अपने ही व्यापार मे अधिक रुचि रखते है। समिति ने सुझाव दिया कि औद्योगिक विकास के लिये प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित मत्रियो को किसी न किसी प्रकार इन सस्थाओ के नीति-निर्माण तथा निर्देशन से सम्बद्ध होना चाहिए। परन्तु इससे उन सस्थाओं की स्वतन्त्र प्रकृति को आघात पहुँच सकता है और साथ ही नौकरशाही तरीके भी बढ सकते हैं।

नवीन औद्योगिक लाइसेसिग नीति (१९७०)

फरवरी १९७० मे केन्द्रीय मत्रिमडल ने दत्त समिति की अधिकाश सिफारिशो को स्वीकृत कर लिया। नवीन लाइसेंसिग नीति के अन्तर्गत एक कोर क्षेत्र, एक सम्मिलित क्षेत्र तथा एक माध्यमिक क्षेत्र निर्धारित किया गया है और साथ ही लघुस्तरीय क्षेत्र के लिये (जिसमे मशीन तथा उपकरण पर ७.५ लाख रूपये तक विनियोजित हुआ हो) कुछ उद्योगों को आरक्षित कर दिया गया है। लाइसेंसिग के लिये छूट की सीमा को २५ लाख रूपयें से बढा कर १ करोड रूपये कर दिया गया है। उद्योगों के अनुसार लाइसेस समाप्त करने की प्रथा को समाप्त कर दिया गया है। नई नीति ने सार्वजनिक क्षेत्र के कार्य-क्षेत्र को अत्यधिक विस्तृत कर दिया है। औद्योगिक नीति प्रस्ताव की अनुसूची 'अ' मे दिये गये उद्योगो को सार्वजनिक क्षेत्र के लिए ही आरक्षित रखा गया है और साथ ही यह कोर एव भारी विनियोग क्षेत्र के अन्य सभी उद्योगो मे प्रवेश कर सकता है। योजना आयोग के परामर्श से कोर क्षेत्र के उद्योगो की एक सूची तैयार की गई है। इसके अन्तर्गत वे उद्योग हैं जिनमे चतुर्थ योजना मे उत्पादन मे कुछ कमी की सभावना है। उद्योगो के अन्तर्गत नाइट्रोजन एव फास्फेट युक्त खाद, कृमिनाशक, ट्रैक्टर तथा शक्ति चालित टिलर्स, कच्चा लोहा, लोहा एव इस्पात, एलॉय तथा विशिष्ट इस्पात, अलौह धातु, तैल अनुसधान एवं उत्पादन, पेट्रोल शोधन, कुछ पैट्रो-रसायन, सश्लिष्ट रबर, कोयला, भारी औद्योगिक मशीन, समुद्री जहाज निर्माण, इलेक्ट्रानिक्स के कुछ उपकरण,

नियत्रण के लिए उपकरण तथा बेतार का तार आदि है। ये सूची देश की प्रमुख एव सामरिक महत्व के उद्योगो की है। इन उद्योगो के लिये एक विस्तृत योजना तैयार की जायगी तथा उन्हे आवश्यक वस्तुएँ प्राथमिकता के आधार पर प्रदान करने की व्यवस्था की जायगी। इस सूची के उन उद्योगो को, जो कि औद्योगिक नीति प्रस्ताव की अनुसूची 'अ' के अन्तर्गत सम्मिलित है, सार्वजनिक क्षेत्र के लिए ही आरक्षित रखा जायगा।

कोर क्षेत्र के अतिरिक्त, ५ करोड रुपये से अधिक के लिए किसी भी नवीन विनियोग के प्रस्ताव को भारी विनियोग क्षेत्र के अन्तर्गत माना जायगा। सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योगो को छोड कर, कोर तथा विदेशी सस्थाये भाग ले सकती है और उद्योगो की स्थापना कर सकती है इस प्रकार अन्य क्षेत्रो के विकास का अवसर अन्य उद्यमियो पर छोडा गया है।

सम्मिलित क्षेत्र के विचार को, जैसा कि दत्त समिति ने सुझाव दिया, सिद्धान्ततः स्वीकृत कर लिया गया है। सरकार का यह प्रयत्न होगा कि इस विचार को उन प्रमुख प्रायोजनाओ के लिये लागू करे जिनको निजी उद्यमियों ने कोर तथा भारी विनियोग के क्षेत्र मे स्थापना करने के लिये सोचा हो।

माध्यमिक क्षेत्र मे, जिनमे १ करोड रुपये से लेकर ५ करोड रुपये का विनियोग हुआ हो, उन प्रार्थियो के प्रार्थनापत्र पर विशेष ध्यान दिया जायगा जो कि बडे औद्योगिक गृहो के अन्तर्गत न आते हो। उन्हे लाइसेस दिया जायगा परन्तु यदि वैदेशिक विनिमय के कारण आवश्यक जॉच की आवश्यकता हुई तो उस जाच के पश्चात ही लाइसेस प्रदान किया जायगा। बडे औद्योगिक गृहो तथा विदेशी संस्थाओं की सामान्य विस्तार के लिये लाइसेस के प्रार्थनापत्रो पर भी विचार किया जायगा यदि ऐसे विस्तार से लागत मे कमी आने की सभावना हो। सरकार ने दत्त समिति द्वारा बडे औद्योगिक गृहो के उपक्रमो का वर्गीकरण करने के लिये बताई गई कसौटियो को स्वीकृत कर लिया है। परन्तु यह भी माना गया है कि समय-समय पर इस प्रकार के वर्गीकरण को परिवर्तित भी किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली जब अप्रैल ३, १९७० से समाप्त हो जायगी तो उनके स्वामित्व एव नियत्रण वाले बडे औद्योगिक गृहो की सूची मे परिवर्तन आवश्यक हो सकता है। ऐसा परिवर्तन कम्पनी मामलों के विभाग के द्वारा किया जायगा। सूची मे वृद्धि करने के लिये सरकार के द्वारा बताई गई कसौटियो के आधार पर उचित विधि को अपनाया जायगा।

सरकार ने दत्त समिति की इस सिफारिश को नही माना कि माध्यमिक क्षेत्र में बड़े औद्योगिक गृहो को प्रवेश न करने दिया जाय। इस नवीन नीति के अन्तर्गत

वे माध्यमिक क्षेत्र मे प्रवेश करने के लिये स्वतन्त्र है। साथ ही, इस क्षेत्र के लिये नवीन उद्यमियो को, जो कि बड़े औद्योगिक गृहो से सम्बद्ध न हो, विशेष प्राथमिकता दी जायगी ।

सरकार ने लघुस्तरीय क्षेत्र के विकास के लिये आरक्षित उद्योगों की सूची मे भी वृद्धि की है अब इसके अन्तर्गत इस्पात का फर्नीचर, साइकिल टायर तथा ट्यूब, यान्त्रिक खिलौने, अल्युमूनियम के बर्तन, फाउण्टेन पेन तथा बॉल पेन, विद्युत भोपू, तथा दन्त मंजन आदि को भी सम्मिलित कर लिया गया है । इस आरक्षण के क्षेत्र को मॉग मे वृद्धि के अनुरूप बढाया जायगा ।

कृषि-उद्योग के लिये, विशेष रूप से वे उपक्रम जो गन्ने की, जूट तथा अन्य कृषि-पदार्थों की प्रोसेसिंग मे लगे हैं उन प्रार्थियों को लाइसेस दिया जायगा जो कि सहकारी क्षेत्र मे हो ।

सरकार ने योजना आयोग के इस सुझाव को अस्वीकृत कर दिया कि लाइसेसिंग के लिये छूट की सीमा को बढा कर ५ करोड रुपये कर दिया जाय । १ करोड रुपये तक की छूट मे भी अनेक परिवर्तन किये जा सकते है । १ करोड़ रुपये के विनियोग की गणना करने के लिये किसी भी नवीन उपक्रम के सम्बन्ध में भूमि, भवन तथा मशीन मे स्थायी सम्पत्ति को सम्मिलित किया जायगा ।

लाइसेस का प्रतिबन्ध बडे औद्योगिक गृहो के लिये तथा उन उपक्रमो के लिये जिनकी सम्पत्तिया ५ करोड रुपये से अधिक हो तथा वे जिन्हे एकाधिकार अधिनियम के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है, नही हटाया जायगा । ऐसे सभी उपक्रमो को विस्तार करने के लिये लाइसेस लेना पडेगा चाहे उसमे विनियोग १ करोड रुपये से कम का ही क्यो न हो । यह प्रतिबन्ध उनके लिये भी नही हटाया जायगा जिन्हें १० लाख रुपये या १०% से अधिक वैदेशिक विनिमय की आवश्यकता मशीन तथा उपकरण का या कच्चे माल का आयात करने के लिये हो ।

सार्वजनिक क्षेत्र के कार्य-क्षेत्र मे अत्यधिक वृद्धि करने का प्रस्ताव रखा गया है और यह औद्योगिक नीति प्रस्ताव १९५६ के अन्तर्गत सम्मिलित क्षेत्रो के अतिरिक्त होगा । विभिन्न मत्रालय शीघ्र समाप्त होने वाले और शीघ्र प्रतिफल देने वाले प्रायोजनाओ की स्थापना की संभावना पर विचार करेंगी जिससे कि अगले कुछ वर्षों मे विभिन्न औद्योगिक क्षेत्र मे उत्पादन की कमी को पूरा किया जा सके । साधन सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु, सिद्धान्ततः यह निश्चित किया गया है कि सार्वजनिक वित्तीय सस्थाये सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा दी गई प्रार्थना पत्रों पर उसी प्रकार से विचार करेंगी जैसे कि निजी क्षेत्र के प्रार्थनापत्रो पर करती है ।

सम्मिलित क्षेत्र के विचार को सिद्धान्तरूप से अपनाने के साथ ही यह आशा की जाती है कि उन प्रमुख प्रायोजनाओ के प्रबन्ध मे, विशेष रूप से नीति निर्माण के स्तर पर, जिन्हे सार्वजनिक वित्तीय सस्थाओं से अधिक मात्रा मे सहायता प्राप्त हुई हो, अधिकाधिक भाग लिया जायगा। सार्वजनिक वित्तीय सस्थाओ को भी छूट है कि वे ऋण तथा ऋणपत्रो को पूर्णतया या आशिक रूप से अंश-पूँजी मे निश्चित समय तक परिवर्तित कर ले। गतवर्षो मे दिये गये ऋण पत्रो को अंश पूंजी मे परिवर्तित करने के लिये वे बातचीत कर सकती है जब कि ऋण का भुगतान न हो पाया हो।

मूल्यांकन नवीन लाइसेंसिग नीति का मिला-जुला स्वागत हुआ है। कटु आलोचना न होने का एक कारण यह है कि यह नीति दत्त समिति की अपेक्षाकृत बडे औद्योगिक गृहो के लिये कम कठोर रही है। माध्यमिक क्षेत्रो मे बडे औद्योगिक क्षेत्रो को प्रवेश देकर व्यावहारिकता का दिग्दर्शन किया गया है। इसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि बड़े औद्योगिक गृहो को प्राथमिकता के आधार पर वैदेशिक विनिमय प्रदान किया जायगा यदि वे कोर तथा भावी विनियोग के क्षेत्र मे नवीन इकाइयो की स्थापना करेगे। इसी सदर्भ मे सम्मिलित क्षेत्र के विचार की भी प्रशसा की गई है। यह निर्णय भी, कि वित्तीय सस्थाओ को छूट है कि वे एक निश्चित समय तक अपने ऋणो को अशपूँजी मे बदल सकती है, दत्त समिति के प्रस्ताव से अधिक उपयुक्त एव उचित है। उद्योगपतियों ने लाइसेस से छूट की सीमा को २५ लाख रुपये से बढाकर १ करोड रुपये तक कर देने का भी स्वागत किया है।

लघुस्तरीय उद्योगो के समर्थको ने भी सरकार के इस निर्णय की प्रशसा की है। लघु उद्योग की परिभाषा मे कोई भी परिवर्तन नही किया गया है। इसके मापदण्ड के लिये विनियोग की जो वर्तमान सीमा ७ ५ लाख रुपये थी वही इस नीति के अन्तर्गत भी स्वीकार कर लिया गया है। फिर भी, आरक्षित सूची मे केवल ८ वस्तुओ को बढ़ाने के निर्णय का बहुत स्वागत नही किया गया है क्योकि ऐसी आशा की जाती थी कि लघु क्षेत्र के लिये अधिक सख्या मे उपभोक्ता वस्तुओ को जोडा जायगा।

सरकार की लाइसेंसिग नीति ने, ऐसा लगता है, चक्र को पूर्णतया परिवर्तित कर दिया है। द्वितीय महायुद्ध काल मे और उसके उपरान्त कुछ वर्षों तक जो कठोर नीति अपनाई गई थी उसके पश्चात् सरकार ने उदारपूर्ण नीति अपनाई थी और साथ ही साथ अनेक उद्योगो को लाइसेंस के प्रतिबन्धो से मुक्त भी करती रही थी। परन्तु पुन सरकार ने अपनी नीति बदल दी और लाइसेंसिग प्रणाली

को, जिसका स्वागत अधिकाशनया नही किया जाता, पूर्ण रूप से अपना लिया है। गत वर्षो मे लगभग ४० उद्योगो पर से लाइसेंसिग के प्रतिवन्ध को हटा लिया गया था परन्तु उन्हे फिर उसके अन्तर्गत ले लिया गया है । इस सूची मे विभिन्न प्रकार के उपभोक्ता तथा माध्यमिक पदार्थो को सम्मिलित कर लिया गया है जैसे बाइ-सिकल, सीने की मशीन, विद्युत मोटर तथा कागज आदि । इन सब उद्योगो पर लाइसेंस हटा लेने के पश्चात् उनमे पर्याप्त प्रगति हुई थी । उनमे से कुछ का निर्यात तो २ से ४ गुना तक नढ गया था । फिर से लाइसेंसिग का प्रतिबन्ध लगा देने से उनके उत्पादन तथा निर्यात पर बुरा प्रभाव पड सकता है । यदि इसके माध्यम से सरकार एकाधिकार का तथा धन एव शक्ति के केन्द्रीयकरण को समाप्त करना चाहती है तो इन उद्देश्यो की पूर्ति लाइसेंसिंग प्रणाली के माध्यम से तो नही हो सकती है। जनता की स्मरण शक्ति अल्प-कालीन होती है और इस तथ्य के कारण कि लाइसेंसिग प्रणाली ने आरभ मे अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित की थी। वास्ताविक या काल्पनिक—तथा जिसके कारण भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, पक्षपात, आर्थिक एव सामाजिक भ्रष्टाचार का वातावरण फैला था, वे पुन उत्पन्न होगी। यह तथ्य है कि लाइसेंसिग मे अनियमिततायें रही है, पर उसके लिये केवल प्रणाली को ही दोष नही दिया जा सकता वरन् प्रशासन भी दोष का पात्र है जो कि इस प्रणाली को कार्यान्वित करता है । लासेंसिग प्रणाली के दोषो को दत्त समिति ने बताया है फिर भी और अधिक कठोरता के साथ इस नीति को अपनाया गया है। इस विरोधाभास के लिये कोई भी उचित स्पष्टीकरण नीति मे नही मिलता है।

नवीन औद्योगिक लाइसेंसिग नीति की कुछ आलोचनाये निम्नलिखित है —

(१) सार्वजानिक क्षेत्रो के कार्य-क्षेत्र को अत्यधिक विस्तृत कर दिया गया है। इसे कोर क्षेत्र से भी आगे बढा दिया गया है जब कि इसे उसी क्षेत्र तक सीमित रखा जाना चाहिए था ।

(२) नवीन नीति पर्याप्त रूप से टैक्नालाजी-अभिमुख नही है और उस सीमा तक यह विवेकपूर्ण नही है।

(३) यह निर्णय, कि वित्तीय सस्थाये ऋण को अश-पूंजी मे परिवर्तित कर सकते हैं, कम्पनी की पूंजी सरचना को विघटित कर सकता है ।

(४) इस नीति की सबसे बडी कमी यह है कि उन तथाकथित बड़े औद्योगिक गृहो के विरुद्ध विभेदात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है जिन्हो ने देश

की अर्थव्यवस्था का विस्तार करने तथा उसमे विभिन्नीकरण के लिये पर्याप्त उत्साह तथा पहल का प्रदर्शन गत वर्षो मे किया है ।

(५) इस बात पर भी खेद प्रकट किया गया है कि सरकार ने योजना आयोग द्वारा सुझाये गये उदारपूर्ण लाइसेसिग नीति के अपनाने के स्थान पर, इसके विपरीत नीति को अपनाया और इस सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण परिवर्तन उद्योगपतियो के सगठन उनके प्रशासक, राज्य सरकार तथा ससद् से परामर्श लिये बिना ही किया है ।

(६) लाइसेस, कोटा तथा परमिट प्रदान करने के कार्य अर्ध-न्यायिक तथा गैर-राजनीतिक आयोग को प्रदान किया जाना चाहिए जिससे कि राजनीतिक गड़बड़ियाँ न हो सकें और विभिन्न वर्गो को न्याय प्रदान किया जा सके । नवीन नीति ने सरकार को यह अवसर प्रदान किया है कि वह सभी उद्योगपतियो को अपने वश मे रख सके तथा वे सभी लाइसेस लेने के लिये लाइन मे खडे रहे ।

(७) बडे औद्योगिक गृहो एव प्रबल उपक्रमो को कोर क्षेत्रो के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो मे लाने के निषेधात्मक उद्देश्य कि पूर्ति एकाधिकार अधिनियम के माध्यम से भी किया जा सकता है । उसके अन्तर्गत इन दो प्रकार के उपक्रमो का विस्तार एव विभिन्नीकरण करने के लिये पूर्व-जाँच एव पूर्व-स्वीकृत की आवश्यकता होगी । इस प्रकार लाइसेसिग के द्वारा भी इसे रोकना व्यर्थ ही है ।

(८) यह आश्चर्यजनक ही है कि जिन उद्योगो पर से हाल के वर्षो मे लगभग ४१ पर से लाइसेस का प्रतिबन्ध आत्म-निर्भरता तथा सामान्य स्थिति के होने के कारण हटा लिया गया था उनको फिर से लाइसेंसिग के अन्तर्गत ले लिया गया है । ऐसे उद्योग है कागज, सीमेण्ट, शीशा, ट्रैक्टर आदि । इस प्रकार से पुनः कदम उठाने के कारण यह हो सकता है कि उनका विकास रुक सा जाय ।

अध्याय ८

औद्योगिक नीति

३० अप्रैल, १६५६ को भारत सरकार ने एक औद्योगिक नीति प्रस्ताव को स्वीकृत किया जिसने १६४८ के प्रस्ताव को प्रतिस्थापित किया। औद्योगिक नीति के बारे मे नवीन घोषणा अति आवश्यक हो गई थी क्योंकि गत आठ वर्षों मे महत्व-पूर्ण परिवर्तन एव विकास हो चुके थे। (१) भारत का सविधान पारित हुआ था जिसके अन्तर्गत कुछ आधारभूत अधिकारों की गारण्टी प्रदान की गई थी तथा राज्य नीति के कुछ निदेशी सिद्धान्त अपनाये गये थे। (२) योजना सगठित आधार पर आरभ हो चली थी और प्रथम पचवर्षीय योजना समाप्त हो चुकी थी। (३) संसद ने सामाजिक एव आर्थिक नीति के उद्देश्य के रूप मे समाजवादी समाज को स्वीकृत कर लिया था। (४) देश के सम्मुख द्वितीय पंचवर्षीय योजना को प्रस्तुत करना था। इन्ही कारणो से नवीन औद्योगिक नीति की आवश्यकता हुई।

नीति के उद्देश्य प्रस्ताव मे अनेक उद्देश्यों का उल्लेख किया गया है जिन्हें औद्योगिक नीति के अन्तर्गत प्राप्त करना है। ये उद्देश्य निम्नलिखित हैं:–

(१) आर्थिक विकास के दर में वृद्धि करना तथा औद्योगीकरण की गति को बढाना,

(२) भारी उद्योगो तथा मशीन निर्माण करने वाली उद्योगो की उन्नति करना;

(३) सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करना,

(४) बड़े तथा बढते हुए सहकारी क्षेत्र का निर्माण करना,

(५) आय तथा धन मे असमानता को कम करना, तथा

(६) विभिन्न क्षेत्रो मे थोड़े से व्यक्तियो के हाथ मे आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण तथा निजी एकाधिकार को रोकना।

इन उद्देश्यो की पूर्ति होने से अधिक रोजगारी का अवसर उपलब्ध होगा, लोगो के रहन-सहन के स्तर मे वृद्धि होगी, तथा लोगों की कार्य करने की दशाओं में भी उन्नति होगी। नये औद्योगिक उपक्रमो की स्थापना मे तथा यातायात

सम्बन्धी सुविधा प्रदान करने की दिशा मे सरकार प्रत्यक्ष परन्तु प्रमुख उत्तरदायित्व को धीरे-धीरे अधिक से अधिक अपनायेगी। बढते हुए पैमाने पर यह राज्य-व्यापार भी करेगी। प्रस्ताव मे निजी क्षेत्र को भी नियोजित राष्ट्रीय विकास के लिये तथा उन्नति एव विस्तार के लिये एक एजेसी के रूप मे लिया गया है। इसमे निजी क्षेत्र मे कार्य-कलापो के लिये सहकारिता के सिद्धान्त को अपनाने के लिये विशेष बल दिया गया है।

उद्योगो का वर्गीकरण. भारत सरकार ने योजना आयोग से परामर्श करके उद्योगो को तीन वर्गों मे विभाजित किया है। सरकार को प्रत्येक वर्ग मे क्या भूमिका अदा करनी होगी, इस बात को ध्यान मे रख कर विभाजन, किया गया है। ये वर्ग कुछ सीमा तक परस्पर व्यापी है और ये अनुचित नही है क्योकि इस दिशा मे यदि अधिक दृढता दिखाई जाय तो परिणाम यह हो सकता है कि उद्देश्यो की पूर्ति न हो सके। परन्तु आधारभूत सिद्धान्तो को तथा उद्देश्यों को सदैव ध्यान मे रखना अति आवश्यक है। प्रस्ताव के अनुसूची 'अ' [१] मे दिये हुए प्रथम वर्ग मे १७ उद्योग है। इस वर्ग के १७ उद्योगो मे नये उपक्रमो की स्थापना का सम्पूर्ण भार सरकार ने ले रखा है। परन्तु इसके अन्तर्गत भी पहिले मे निजी उपक्रमो मे विस्तार किया जा सकता है तथा यदि सरकार चाहे तो राष्ट्रीय हित मे यह निजी उपक्रमो की सहायता नये उपक्रमो की स्थापना मे भी ले सकती है। फिर भी रेलवे, वायु यातायात शस्त्र एव युद्धोपकरण तथा आणुविक शक्ति के विकास पर केन्द्रीय सरकार का एकाधिकार होगा। जब कभी भी निजी उपक्रमो से सहयोग की आवश्यकता होगी, सरकार पूँजी मे अधिक भाग अथवा अन्य माध्यमो के द्वारा ऐसा करे जिससे कि इसके पास इतनी शक्ति रहे कि वह उपक्रम का सचालन एवं नियन्त्रण कर सके तथा नीति निर्धारित कर सके।

[१] प्रस्ताव की अनुसूची 'अ' मे निम्नलिखित १७ उद्योग है (१) शस्त्र एव युद्धोपकरण, (२) आणुविक शक्ति, (३) लोहा एव इस्पात, (४) लोहा एव इस्पात का भारी कास्टिग तथा फोर्जिग, (५) भारी प्लाण्ट एव मशीन, (६) भारी विद्युत प्लाण्ट, (७) कोयला एव लिग्नाइट, (८) खनिज तेल, (९) कच्चा लोहा, कच्चा मैंगनीज, कच्चा क्रोम, जिप्सम, गधक, सोना एव हीरा का खान से निकालना, (१०) ताँबा, शीशा, जस्ता, टिन आदि का खान से निकालना (११) आणविक शक्ति के उत्पादन एव प्रयोग से सम्बन्धित खनिज पदार्थ, (१२) वायुयान, (१३) वायु यातायात, (१४) रेल यातायात, (१५) समुद्री जहाज का निर्माण, (१६) टेलीफोन तथा टेलीफोन केबिल्स, तार एव तार सम्बन्धी उपकरण (रेडियो रिसीविंग सेट को छोड़ कर), (१७) विद्युत का उत्पादन एव वितरण।

दूसरे वर्ग मे १२ उद्योग है जो अनुसूची 'ब'[१] मे दिये हुए है। इस वर्ग के उद्योगो मे भी धीरे-धीरे सरकार का स्वामित्व बढेगा तथा नये उपक्रमो की स्थापना मे सामान्यता सरकार पहल करेगी। साथ ही, निजी क्षेत्र को भी विकास करने का अवसर उपलब्ध होगा। निजी क्षेत्र या तो स्वय या सरकार के सहयोग से उद्योगो की स्थापना करेगी। इस प्रकार यह मिश्रित क्षेत्र है जिसमे सरकार तथा निजी क्षेत्र दोनो मिलकर या अलग-अलग उद्योगो की स्थापना करेगी।

अन्य सभी उद्योग तृतीय वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इन उद्योगो के विकास का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व निजी क्षेत्र के ऊपर है। वैसे, सरकार को यह अधिकार है कि इस वर्ग मे भा वह किसी उद्योग की स्थापना कर सकती है। सरकार ने पचवर्षीय योजनाओ मे निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार निजी क्षेत्र मे इन उद्योगो के विकास के लिये सभी प्रोत्साहन तथा सुविधायें देने का विचार किया है। इसके लिये सरकार उचित प्रशुल्क तथा अन्य उपायों द्वारा यातायात, शक्ति तथा अन्य सेवाओ की उन्नति करने का प्रयास करेगी। इन्हे वित्तीय सहायता की सुविधा प्रदान करने के किये विशेष सस्थाओ की स्थापना करने का निश्चय किया है। विशेष सहायता उन निजी उपक्रमो को देने का विचार है जो सहकारिता के आधार पर अपना सचालन करेगी तथा जो कृषि के लिये स्थापित किये गये हो।

क्षेत्रीय अन्योन्याश्रय (sectoral inter-dependence). सरकार ने किसी भी प्रकार के औद्योगिक उत्पादन का विस्तृत अधिकार ले रखा है। उद्योगों का विभिन्न वर्गों मे वर्गीकरण कर देने का यह तात्पर्य नही है कि वे एक दूसरे क्षेत्र के लिए अभद्य हैं। इस नीति द्वारा अनेक उद्योगो में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र मे पर-पर सहयोग की सभावना है। अनुसूची 'अ' मे निर्दिष्ट उद्योगो द्वारा उत्पादित पदार्थों का उत्पादन भी निजी उपक्रम कर सकते है। जिससे कि वे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकते है, उदाहरण के लिये, स्थानीय आवश्यकता की पूर्ति के लिये शक्ति का उत्पादन, अथवा छोटे पैमाने पर खनिज पदार्थों का निकालना।

[१] अनुसूची 'ब' मे निम्नलिखित १२ उद्योग है (१) खनिज-पदार्थ, (खनिज पदार्थ कन्सेशन्स नियमावली १९४९ की धारा ३ मे वर्णित लघु खनिज पदार्थों को छोड कर), (२) अल्युम्नियम तथा अन्य आलोह धातु जो अनुसूची 'अ' मे सम्मिलित नही है, (३) मशीन टूल्स, (४) फेरो-अॅलायज तथा टूल इस्पात, (५) रसायन उद्योगो के लिये आवश्यक आधारभूत तथा माध्यमिक पदार्थ जैसे औषधि, रगने का पदार्थ तथा प्लास्टिक का उत्पादन, (६) कीटाणुनाशी तथा अन्य आवश्यक औषधियाँ, (७) रसायन खाद (८) सश्लिष्ट रबर, (९) कोयले का कार्बनाइजेशन, (१०) रसायनिक लुग्दी (११) सड़क यातायात, (१२) समुद्री यातायात।

साथ ही, सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत भारी उद्योग अपने लिये आवश्यक हल्के उपकरणो की पूर्ति निजी क्षेत्र से कर सकते है । निजी क्षेत्र भी अपनी बहुत सी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये सार्वजनिक क्षेत्र पर निर्भर रह सकता है। प्रस्ताव मे बडे पैमाने के उद्योगो तथा छोटे पैमाने के उद्योगो के सम्बध मे भी ऐसे ही सिद्धान्त को अपनाया है।

निजी क्षेत्र को सहायता तथा उसका नियमन सरकार निजी क्षेत्र को वित्तीय सहायता भी प्रदान करेगी विशेषकर जब अत्यधिक धनराशि की आवश्यकता हो। ये सहायता सामान्यतया उनके सामान्य अशपूंजी मे भाग लेकर किया जायगा पर कभी-कभी ऋणपत्र पूंजी के रूप मे भी भाग लिया जायगा। निजी क्षेत्र के औद्योगिक उपक्रमो के लिये यह आवश्यक है कि वे सरकार द्वारा निर्धारित आर्थिक एव सामाजिक ढाँचे के अनुरूप ही अपने को बनाये। उद्योग (विकास एव नियमन) अधिनियम तथा अन्य सम्बन्धित अधिनियमों के अन्तर्गत सरकार द्वारा उनका नियन्त्रण एव नियमन भी होगा। सामान्यतया, सरकार ऐसे उपक्रमो के विकास के लिये उतनी स्वतन्त्रता प्रदान करेगी जितनी कि राष्ट्रीय योजना के लक्ष्य एव उद्देश्य के अन्तर्गत सम्भव होगी। किसी विशेष उद्योग मे जब निजी तथा सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्रों के उपक्रम होगे उस दशा मे सरकार की यही नीति रहेगी कि वह दोनो के सम्बन्ध मे उचित तथा अविभेदात्मक नीति अपनायेगी।

कुटीर, ग्रामीण एव लघुस्तरीय उद्योगों की भूमिका इस प्रस्ताव मे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के हेतु ऐसे उद्योगो की भूमिका को भी स्वीकृत कर लिया गया है। क्योकि ये उद्योग बडे पैमाने पर तात्कालिक रोजगार प्रदान करते हैं, राष्ट्रीय आय के न्यायपूर्ण विभाजन मे सहायता करते हैं, ऐसी पूंजी एव योग्यता का प्रभावपूर्ण विदोहन करने मे सहायता देते है जिनका अन्यथा उपयोग सभव न हो।

ये प्रस्ताव इस नीति का समर्थन करती है कि बडे पैमाने के उद्योगो के उत्पादन की मात्रा पर नियन्त्रण लगाकर या प्रत्यक्ष अनुदान देकर ऐसे उद्योगो की सहायता की जाय। सरकार की नीति इस प्रकार की होनी चाहिये कि ऐसे उद्योगो का विकास इस प्रकार से किया जाय कि वे आत्म-निर्भर हो सके तथा उनका विकास बडे पैमाने के उद्योगो के साथ हो सके। सरकार के लिये यह आवश्यक है कि वह ऐसे उपायो की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करे जिनसे लघु-स्तरीय उत्पादको की प्रतिस्पर्द्धात्मक क्षमता दृढ हो सके तथा उनके उत्पादन की तकनीक आधुनिकतम हो तथा उसमे पर्याप्त सुधार हो सके। प्रस्ताव ने औद्योगिक बस्तियो की तथा ग्रामीण सामुदायिक वर्कशाप की स्थापना का समर्थन किया है

जिससे उनके अभावों की पूर्ति हो सके तथा यह आशा की जाती है कि ग्रामीण विद्युतकरण से तथा सस्ती शक्ति की उपलब्धि से इन्हें विशेष सहायता मिलेगी। इस क्षेत्र मे औद्योगिक सहकारिता के सगठन की भी सराहना की गई है तथा ऐसे उद्योगो के विकास के लिये सरकार सतत ध्यान दे, इस बात पर भी बल दिया गया है।

क्षेत्रीय असमानताओ को कम करना प्रस्ताव मे इस बात पर बल दिया गया है कि विभिन्न क्षेत्रो मे विकास-स्तर की असमानताओं को कम किया जाना चाहिये। इससे औद्योगीकरण द्वारा देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था लाभान्वित होगी। इसमे यह सुझाव दिया गया है कि राष्ट्रीय योजना का यह एक प्रमुख उद्देश्य होना चाहिये कि शक्ति तथा यातायात की सुविधाये उन क्षेत्रो को उपलब्ध होनी चाहिये जो कि औद्योगिक दृष्टिकोण से पिछडे हुए हो अथवा जहाँ रोजगार के अवसर को प्रदान करने की अत्यधिक आवश्यकता हो यदि वह स्थान अन्यथा उचित हो। प्रस्ताव मे इस विचार का दृढता से समर्थन किया गया है कि प्रत्येक क्षेत्र मे उच्चतर रहन-सहन के स्तर को लाने के लिये औद्योगिक एव कृषि अर्थ-व्यवस्था का सतुलित एव समन्वित विकास होना चाहिये।

तकनीकी एव प्रबन्धकीय कार्मिक. इस प्रस्ताव मे तकनीकी प्रबन्ध कुशल व्यक्तियो की सार्वजनिक सेवाओ मे सुविधा प्रदान करने के लिये भी बल दिया गया है जिससे कि सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के लिये तथा ग्रामीण एव लघु-स्तरीय उद्योगो के विकास के लिये तेजी से बढती हुई आवश्यकता की पूर्ति हो सके। इसमे, पर्यवेक्षण स्तर पर कमी को दूर करने के लिये, सार्वजनिक तथा निजी उपक्रमो दोनो मे बडे पैमाने पर प्रशिक्षण की योजना का सगठन करने के लिये तथा विश्वविद्यालयो तथा अन्य सस्थाओ मे व्यापार प्रबन्ध सम्बन्धी प्रशि-क्षण की सुविधा प्रदान करने के लिये किये गये उपायो को भी स्वीकृत किया गया है।

श्रमिकों के लिये सुविधायें तथा प्रोत्साहन. इस प्रस्ताव मे उद्योग मे लगे सभी व्यक्तियो को उचित एव अधिक प्रोत्साहन प्रदान करने की आव-श्यकता को भी मान्यता दी है। इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि श्रमिको के स्तर तथा क्षमता मे वृद्धि के लिये उनके काम करने की दशाओ मे तथा उनके रहन-सहन की दशाओं मे पर्याप्त सुधार अति आवश्यक है। प्रस्ताव मे पुन यह स्वीकृत किया गया है कि औद्योगिक शाति बनाई रखी जानी चाहिये क्योकि औद्योगिक विकास के लिये यह परमावश्यक है। श्रमिको के लिये

भी यह आवश्यक है कि वे समुचित उत्साह के साथ विकास के कार्यक्रम मे भाग ले । प्रबन्धको तथा श्रमिको दोनो के उत्तरदायित्व को ध्यान मे रखते हुये औद्योगिक सहसबन्धो के हेतु कुछ अधिनियम पारित किये गये है तथा इस सम्बन्ध मे कुछ सामान्य नीति एव दृष्टिकोण भी अपनाया जा चुका है । सम्मिलित परामर्श तथा प्रबन्ध मे श्रमिको एव टैक्नीशियन के सहभागिता, की भी सिफारिश की गई है । सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो से यह कहा गया है कि वे इस दिशा मे प्रयास कर के उचित उदाहरण प्रस्तुत करे ।

सरकारी औद्योगिक उपक्रमों का प्रबन्ध प्रस्ताव मे इस बात को स्वीकार किया गया है कि सरकार का उद्योग एव व्यापार मे भाग बढने के कारण इनके प्रबन्ध की महत्ता भी बढती जा रही है । तीव्र निर्णय तथा उत्तरदायित्व को स्वीकार करने की इच्छा अत्यधिक महत्वपूर्ण है इसीलिये इसमे यह सिफारिश की गई है कि सरकारी उपक्रमो के प्रबन्ध एव अधिकार का विकेन्द्रीयकरण व्यापारिक रीतियो के आधार पर ही होना चाहिये । इस प्रस्ताव मे यह आशा व्यक्त की गई है कि सार्वजनिक उपक्रम सरकार की आय मे वृद्धि करेगी और साथ ही नये क्षेत्रो मे विकास के लिये भी साधन प्रदान करेगी । ऐसे उपक्रमो से हानि होने की भी सभावना है परन्तु इनके विषय मे निर्णय इनके द्वारा किये गये सम्पूर्ण कार्योको ध्यान मे रख कर करना चाहिये और इनके कार्य कलापो के लिये इन्हे अधिकतम स्वतन्त्रता प्रदान की जानी चाहिये ।

अन्त मे, प्रस्ताव मे यह आशा व्यक्त की गई है कि यह औद्योगिक नीति जनता के समस्त वर्गों का समर्थन प्राप्त करेगी तथा देश के औद्योगीकरण को तेजी से बढायेगी ।

१९५६ के प्रस्ताव का समालोचनात्मक मूल्याकन

१९५६ की औद्योगिक नीति के प्रस्ताव के प्रति जनता की प्रतिक्रियाएँ विभिन्न प्रकार की थी परन्तु अधिकाश व्यक्ति इसके पक्ष मे थे । इस प्रस्ताव के विरुद्ध जो आलोचनाएँ की गईं उनका उल्लेख सक्षेप मे निम्नलिखित है

(१) इस प्रस्ताव से निजी उद्योगो का क्षेत्र कम हो गया । "व्यापारिक समुदाय से इस औद्योगिक नीति को महाधिकार पत्र के रूप मे स्वागत करने के लिये कहा गया और वे ऐसा ही करते यदि उस विवरण मे साथ ही यह न कहा गया होता कि सरकार का किसी भी औद्योगिक उपक्रम को लेने का अन्तर्निहित अधिकार सदैव बना रहेगा" ।

(२) इस प्रस्ताव मे लोच पर्याप्त था परन्तु यह विशेषकर सार्वजनिक क्षेत्र के पक्ष मे अधिक था क्योकि सरकार किसी भी उद्योग या व्यापार मे, जिसे वह चुने, भाग ले सकती है । 'अनुसूची ब' मे सूचित उद्योगों मे निजी उपक्रमों द्वारा केवल सहायक भूमिका अदा करने की आशा की जाती थी और उद्योगो के उस वर्ग मे भी, जिनमे विकास सामान्यतया निजी उपक्रमों के पहल से किया जाना था, सरकार किसी भी उद्योग को चला सकती है । इस प्रकार कोई भी क्षेत्र ऐसा नही है जहाँ सरकार द्वारा हस्तक्षेप सभव न हो ।

(२) इस औद्योगिक नीति ने सरकारी उपक्रमो पर विशेष बल दिया है । यद्यपि ऐसी दशाये देश मे है जहाँ उद्योगो के विकास के लिये सरकार का प्रयास अति आवश्यक है अपितु इस बल को बदला भी जा सकता था और सामान्यतया उद्योगो का विकास निजी उपक्रमो के लिये छोड दिया जाता और तब सरकार उन क्षेत्रो तक अपना कार्य सीमित रखती जहाँ उसकी आवश्यकता अधिक होती ।

(४) इस नीति को यदि दृढता के साथ कार्यान्वित किया जाय तो इसका अतिरिक्त भार सार्वजनिक क्षेत्र के वित्तीय एव प्रसाशनीय साधनों पर पडेगा । उन पर यह भार पहले से ही अधिक है । परिणामस्वरूप, यह हो सकता है कि अति महत्वपूर्ण क्षेत्रो मे विकास की दर कम हो जाय ।

(५) सरकार उद्योगो की स्थापना एव सचालन क्षमता के साथ कर सकेगी, इस पर भी निजी क्षेत्र का पक्ष लेने वालो को सन्देह था । इसका कारण यह था, कि जब सरकार किसी उद्योग को आरभ करती है तो वह एक अव्यक्तिगत मामला हो जाता है ।

(६) यह नीति आर्थिक पुनरुत्थान की हमारी योजना मे राज्य-पूँजीवाद के योगदान के सम्बन्ध मे देश के नेताओ के अवास्तविक विचार को सामने लाई । इस प्रस्ताव ने सरकार के लिये आरक्षित विषयों की सूची को बढाया ही नही अपितु औद्योगिक क्षेत्र मे सरकार की शक्ति और उसके कार्यों को भी बढा दिया । इस नीति का उल्लेख तो केवल आरभ है और संभवतया अन्त यह हो सकता है कि निजी उपक्रम को समाप्त ही कर दिया जाय ।

(७) यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि भावी सहकारिता आन्दोलन, सभी व्यावहारिक दृष्टिकोण से, सामूहिकवाद से भिन्न न होगा क्योकि इस आन्दोलन का निर्देशन निर्वाचित सदस्यों के द्वारा न हो कर सरकार के द्वारा होगा । इस प्रकार की सहकारी समितियाँ उन्ही क्षेत्रो में सचालित की जायेगी जो कि निजी क्षेत्र के लिये निर्धारित की गई है । चीनी एव सूती वस्त्र उद्योग मे इस दिशा में

आरभ हो ही चुका है। इसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि अपने सभी दोषो सहित राज्य पूँजीवाद की स्थापना होगी।

(८) निजी क्षेत्र को प्रमुख महत्ता न प्रदान करना उचित न था यदि हम भूतकाल मे इसके कार्य-कलापो पर दृष्टिपात करे जो कि सफल तथा हितकर रहा है, तथा प्रतिकूल राजनीतिक वातावरण, वित्तीय कठिनाइयाँ, भविष्य के लिये इसकी सिद्ध योग्यता आदि को भी ध्यान मे रखे। इस प्रकार यह ज्ञात होगा कि सरकार का औद्योगीकरण के प्रति दृष्टिकोण व्यावहारिकता से नही अपितु सिद्धान्त से अधिक प्रभावित था।

उपर्युक्त आलोचनाओ मे से कुछ तो इसलिये दी गईं क्योकि नियोजित अर्थव्यवस्था मे सरकार का भूमिका के प्रति पूरी जानकारी न थी। नियोजित अर्थव्यवस्था मे सार्वजनिक क्षेत्र का विकास तेजी से किया जाना अति आवश्यक है। इस क्षेत्र के विस्तार का तात्पर्य यह नही है कि सरकार देश की अर्थव्यवस्था के सम्पूर्ण महत्वपूर्ण क्षेत्रो को अपने अन्तर्गत ले लेगी। वैसे भी, देश के औद्योगिक विकास के कार्यक्रम मे निजी क्षेत्र को पर्याप्त भाग प्रदान किया गया है। यह सत्य है कि औद्योगिक उपक्रमो के विकास के लिये सार्वजनिक क्षेत्र का उत्तर-दायित्व अधिक बढा दिया गया है परन्तु साथ ही औद्योगिक प्रायोजनाओ का समुचित विभाजन निजी क्षेत्र के लिये भी किया गया है। इस प्रस्ताव मे निजी क्षेत्र को एक अवसर प्रदान किया गया है कि वह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के लिये अपने प्रयासो का प्रदर्शन कर सके। निजी क्षेत्र का भविष्य उसके अपने व्यवहारो पर ही निर्भर है। इसका भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल है यदि यह अवसर का सदुपयोग करे, लाभ के स्थान पर सेवा की भावना को ही प्रमुखता प्रदान करे, अपने कर्मचारियो को सतुष्ट एव सुखी रखे तथा उचित व्यापारिक व्यवहारो का पालन करे। देश के औद्योगिक इतिहास के किसी काल-विशेष के लिये लाभ की धारणा न्यायोचित रही होगी परन्तु अब पर्याप्त परिवर्तन हो चुका है और वर्तमान समाज नवीन दृष्टिकोण, व्यवहार तथा तकनीक समाहित हो चुका है। अब तो उचित यही है कि वर्तमान राजनीतिक तथा आर्थिक ढाँचे मे 'समाजवादी समाज' तथा 'कल्याणकारी समाज' के विचारो को महत्ता प्रदान की जाय।

१९५६ की औद्योगिक नीति के प्रस्ताव ने एक नई दिशा दिखाई है जिसके अनुसार निजी क्षेत्र को उसके विकास के लिये समुचित स्वतत्रता प्रदान की गई है परन्तु साथ ही पर्याप्त नियत्रण की भी व्यवस्था है जिससे कि धन एव आर्थिक

सत्ता का अनुचित केन्द्रीयकरण न हो सके। कुछ लोगों ने तो इस प्रस्ताव को, भारत के सविधान की ही तरह, 'आर्थिक सविधान' के रूप मे माना है। न्याय, स्वतन्त्रता, समानता, तथा भाई चारे का पुन उल्लेख करके तथा 'राजकीय नीति के निदेशी सिद्धान्त' से उद्धरण प्रस्तुत कर इसने सविधान से अपना सम्बन्ध जोड़ा है। इस प्रकार निजी क्षेत्र को एक नवीन अवसर प्रदान किया गया है कि वह समाजवादी राज्य मे अपनी स्थिति को न्यायसगत सिद्ध करे। "अब तो यह उद्योग-पतियो के ऊपर है कि वे अपने व्यवहारो से सिद्ध करे कि सरकार द्वारा निजी क्षेत्र के मूल्यो का मूल्याकन अनुचित नही है।" भारत के समाजवादी राज्य मे निजी उद्योगो का भविष्य इस पर निर्भर है कि उनकी क्षमता, उत्साह तथा व्यवहार आगत वर्षो मे कितना उचित रहेगा।

तृतीय योजना की तरह चतुर्थ योजना मे भी उद्योगो का विस्तार १९५६ की औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अन्तर्गत ही किया जाना है। निजी तथा सार्वजनिक दोनो क्षेत्रो के एक दूसरे के सहायक एव पूरक के रूप मे कार्य करना है। उदाहरण के लिये, रसायनिक खाद की दशा मे, जहाँ कि सार्वजनिक क्षेत्र मे पर्याप्त प्रगति हो चुकी है, यह प्रस्ताव रखा गया था कि तृतीय योजना मे इस क्षेत्र मे निजी क्षेत्र भी विगत वर्षों की अपेक्षाकृत बडे पैमाने पर आगे आयेगा और सार्वजनिक क्षेत्र का हाथ बँटायेगा। निजी क्षेत्र मे रँगने के पदार्थ, प्लास्टिक तथा औषधि के निर्माण का कार्यक्रम सार्वजनिक क्षेत्र मे कार्यक्रम के पूरक के रूप मे ही होगा।

उद्योग मन्त्री ने दृढता के साथ यह घोषित किया कि १९५६ की औद्योगिक नीति के प्रस्ताव का ही पालन किया जायगा। उन्होंने सरकार की नीति को छ स्तभीय 'औद्योगिक नीति के षडभुज' के रूप मे बताया (१) सार्वजनिक क्षेत्र की महत्वपूर्ण भूमिका; (२) एकाधिकार के विकास को इस प्रकार रोकना कि कोई भी एक वर्ग अथवा कई वर्ग राष्ट्रीय उत्पादन के महत्वपूर्ण भाग पर अपना अधिकार न स्थापित कर सके, (३) उन्नत उद्योगों में औद्योगिक बडेपन को रोकना, (४) नये उद्यमियो को प्राथमिकता देना; (५) लघुस्तरीय, सहायक तथा मध्यमस्तरीय उद्योगो की गहन उन्नति, तथा (६) कठिनतर उपक्रमों के लिये उच्चतर कुशल तथा अनुभवी व्यक्तियों का प्रबन्ध करना।

स्वतन्त्रता के उपरान्त यदि कोई भी अधिनियम अथवा नीति ऐसी रहा हो जो लोगों के दृढ भावनाओ को प्रेरित होने से रोक न पाया हो तो वह औद्योगिक नीति का प्रस्ताव रहा है। प्रस्ताव के सिद्धान्त के प्रति विवाद तो निरन्तर चलता

रहा। विगत वर्षो मे सरकार इस नीति के समर्थन मे तर्क प्रस्तुत करती आई है। परन्तु इसे सदैव इस ढग से किया है जिससे व्यावहारिकता के स्थान पर अपराध की भावना अत्यधिक दृष्टिगोचर हुई है। इस दृष्टिकोण के कारण ही औद्योगिक क्षेत्र मे अधिक कठिनाइयाँ आती रही है।

यद्यपि प्रस्ताव के प्रति यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि इसमे 'अन्तर्निमित लोच' है तथापि आज इस प्रस्ताव मे परिवर्तन की आवश्यकता है। वास्तव मे यह प्रस्ताव अब असामयिक हो चुका है। इसके दीर्घकालीन उद्देश्य प्रशसनीय होगे परन्तु अपने वर्तमान रूप मे यह तीव्र औद्योगीकरण मे सहायक होने की अपेक्षाकृत बाधक है। जब कभी कोई ऐसा प्रस्ताव आता है जो कि नीति की अनुसूची मे दिये उद्योगो के बाहर होता है तो इसके दृढ स्वरूप के कारण लोग इसका घोर विरोध करने मे समर्थ हो पाते है।

वास्तव मे अनुसूची से हट कर भी उद्योगो की स्थापना की गई है फिर भी ऐसे अपवादों का कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नही पड पाया है। द्वितीय तथा तृतीय पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत जो औद्योगिक विकास का स्तर तथा स्वरूप सम्मुख आया है उसके परिणामस्वरूप ये अनुसूचियाँ अर्थहीन हो गई है। इन निषेधो से योजना के प्रमुख उद्देश्यो की पूर्ति होने की दिशा मे लाभ होने के अपेक्षाकृत हानि ही अधिक हुई है। योजना के प्रमुख उद्देश्यो की पूर्ति होने की दिशा मे तमाम उद्योगो को लाइसेंसिग तथा नियत्रण के भार से मुक्त कर दिया जाना चाहिये।

निजी क्षेत्र को केवल सहन कर लेने की बात नही है अपितु उसे तो समुचित प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। मूल्य-प्रक्रिया तथा लाभ की धारणा का सचालन, कच्चा माल तथा बाजार के लिये समान दशाओ पर प्रतिस्पर्द्धा, प्रशुल्क सम्बन्धी अधिनियमो के अन्तर्गत समान व्यवहार, विदेशी विनिमय के लिये समान पहुंच आदि की समुचित सुरक्षा इन्हे प्रदान की जानी चाहिए। साथ ही, यह नही भुलाया जा सकता कि सार्वजनिक क्षेत्र की महत्ता भी भारतीय अर्थव्यवस्था मे अब अत्यधिक बढ चुकी है। केंन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगो पर लगभग ३,००० करोड रुपये विनियोजित किये जा चुके है। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का अच्छी तरह से चलना देश के हित मे अति आवश्यक है।

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, १९५६ की समीक्षा औद्योगिक नीति प्रस्ताव मे समुचित परिवर्तन करने के विषय मे सरकार ने विचार किया था जिससे उसके दोषो को दूर कर उसे इस प्रकार बनाया जा सके कि वर्तमान आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके। ये विचार विशेष रूप से प्रस्ताव के सचालन की व्यापक समीक्षा

करते समय, तथा इसके आधार पर कुछ मामलो मे निर्णय लेने मे प्रशासन सम्बन्धी कठिनाइयो का सामना करते समय सामने आया। इस समीक्षा की रिपोर्ट औद्योगिक विकास मत्रालय द्वारा तैयार की गई थी।

प्रस्ताव मे परिवर्तन के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे :—

(१) प्रस्ताव मे बताये गये उद्देश्य आत्म-विरोधी है तथा वास्तव मे उन के आधार पर प्रशासन उचित निर्णय नही ले पाती जिससे कि देश का औद्योगिक विकास तीव्रतर हो सके। यह सुझाव दिया गया था कि ऐसे मामले मत्रिमडल के सामने ले जाये जायें जो कि आवश्यकतानुसार देश की औद्योगिक एव आर्थिक उन्नति के हित मे प्रस्ताव से हट कर भी निर्णय ले सके।

(२) विदेशी निजी विनियोग पर नीति का कोई निश्चित विवरण नही दिया गया था। सरकार द्वारा घोषित नीति मे बहुत सी बाते बिना स्पष्ट किये हुए ही छोड़ दी गई थी। यह सुझाव दिया गया कि विदेशी विनियोग से सम्बन्धित उद्देश्यो एव निर्देशनो का प्रस्ताव मे स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए। विदेशी विनियोग से सम्बन्धित वर्तमान नीति प्रमुखतया वही चली आ रही है जिसकी घोषणा पूर्व प्रधानमत्री नेहरू जी ने अप्रैल १९४९ मे की थी। तब से अब तक अनेक परिवर्तन हो चुके है। अत अब यह आवश्यक है कि विदेशी विनियोग से सम्बन्धित नीति को वर्तमान परिवेश के अनुरूप ही परिवर्तित करके प्रस्ताव मे सम्मिलित किया जाय।

(३) प्रस्ताव मे लघुस्तरीय उद्योगो तथा सहकारी उद्योगो को सरक्षण दिये जाने के सम्बन्ध मे दी गई गारण्टी मे भी विरोधाभास परिलक्षित होता है। जब कि लघुस्तरीय क्षेत्र के लिये अनेक उद्योगो को आरक्षित किया जा रहा है, उन्ही वस्तुओ के उत्पादन के लिये साथ ही बडे पैमाने के उद्योग भी चल रहे हैं। ऐसी परिस्थिति मे लघु उद्योगो को बडे पैमाने के उद्योगो के साथ प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पडता है। इससे विश्व के बाजार मे विशेष रूप से अनेक कठिन परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। अत. इस सम्बन्ध मे एक निश्चित निर्णय की भी आवश्यकता हुई कि देश मे लघुस्तरीय उद्योगो को ही प्रोत्साहन दिया जाय। परन्तु इसका परिणाम यह होगा कि बडे पैमाने के उद्योगो से प्राप्त होने वाले लाभ उपलब्ध न हो पायेगे और इससे भारतवर्ष को विश्व के बाजार मे हानि होने की सभावना है।

(४) १९५६ के प्रस्ताव का एक उद्देश्य जनसख्या के अल्प वर्ग मे धन एव सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोकना था। इस सम्बन्ध मे बडे व्यापारिक गृहों का

उदाहरण प्रस्तुत किया गया कि वे विभिन्न प्रकार के औद्योगिक कार्य-कलापो पर नियत्रण रखते है। यदि ऐसी नीति अपनाई गई कि इन बडे व्यापारिक गृहो को नए लाइसेस न प्रदान किये जायँ और उन्हे विस्तार करने से रोका जाय जिससे कि एकाधिकारी प्रवृत्ति न बढ सके तो इससे लाभ को सस्था मे विनियोजित करने (ploughing back) की समस्या उत्पन्न होगी। इस समस्या का समाधान तो करना ही होगा।

(५) प्रस्ताव का एक उद्देश्य क्षेत्रीय असमानताओ को दूर करना भी था परन्तु इस दिशा मे विरोधाभास परिलक्षित होता है। प्रस्ताव मे इस बात पर बल दिया गया कि सरकार की यह धारणा थी कि औद्योगीकरण से देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को लाभ होना चाहिए और साथ ही यथासभव देश मे विभिन्न क्षेत्रो मे विकास के स्तर की असमानताओ को भी कम से कम किया जाना चाहिए। परन्तु विगत अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह किसी भी प्रोजेक्ट के स्थानीयकरण के लिये जिन आर्थिक घटको पर ध्यान देना आवश्यक है उनके विरुद्ध हो सकता है।

औद्योगिक नीति प्रस्ताव १९५६ मे जिन विरोधी तत्वो का वर्णन ऊपर किया गया है उनको दृष्टिकोण मे रख कर ही सरकार को इस विवरण का परीक्षण करना होगा कि प्रस्ताव लोच पूर्ण है और इसमे परिवर्तन की आवश्यकता नही है। समय-समय पर इस प्रस्ताव मे परिवर्तन की आवश्यकता के विषय मे विचार प्रस्तुत किये जा चुके है। मई १९६८ मे योजना आयोग ने *Approach to the Fourth Plan* मे यह विचार व्यक्त किया है कि चतुर्थ योजना मे औद्योगिक विकास इसी नीति के अनुसार ही किया जायगा। परन्तु अब वह समय आ गया है कि उपर्युक्त विरोधी तत्वो को ध्यान मे रख कर इस प्रस्ताव के विषय मे पुनः विचार किया जाय।

नवीन औद्योगिक लाइसेंसिग नीति का, जिसे केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने फरवरी १९७० मे स्वीकृत किया है, औद्योगिक नीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ेगा। इस नीति के समालोचनात्मक मूल्याकन के लिये "औद्योगिक लाइसेंसिग" नामक अध्याय का अवलोकन करे।

अध्याय ९

टैरिफ नीति

देश की प्राशुल्किक नीति के लिये 'स्वतन्त्र व्यापार' तथा 'सरक्षण' मे से किसको प्राथमिकता दी जाय यह विवाद समाप्त सा हो गया है। अब तो सरक्षण की नीति के विषय मे निर्णय इस आधार पर लिया जाता है कि इसका देश के आर्थिक विकास पर क्या प्रभाव पडेगा। सरक्षण को केवल इसी दृष्टिकोण से नही देखा जाता कि इससे किसी विशेष उद्योग को प्रोत्साहन मिले अपितु उसके स्थान पर 'विकासात्मक सरक्षण' को महत्ता दी जा रही है जिससे जनाकिकीय एवं औद्योगिक सरचना मे ऐसा परिवर्तन हो सके कि आर्थिक वातावरण बदल जाय और सम्पूर्ण देश मे उत्पादन के स्तर मे वृद्धि हो सके। इस प्रकार, सरक्षण को राष्ट्रीय योजना के महत्वपूर्ण अग के रूप मे स्वीकार करना चाहिए तथा इसकी सफलता के विषय मे निर्णय इस आधार पर नही लेना चाहिए कि इससे किसी उद्योग विशेष की कितनी उन्नति हुई अपितु यह देखना चाहिए कि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का इससे कितना विकास हुआ।

अल्प-विकसित देशो के औद्योगीकरण के लिये टैरिफ प्रयोग 'नवजात उद्योग' के तर्क पर ही नही अपितु 'नवजात देश' के तर्क पर भी प्रमुख रूप से आवश्यक है। अल्प-विकसित देशों के लिये टैरिफ की आवश्यकता विकास की प्रक्रिया के कारण ही तीव्रतर होती है। तीव्र गति के विकास के कारण विदेशी विनिमय की समस्या सामने आती है और ऐसी दशा मे "यह सर्वाधिक प्राथमिकता की बात है कि उन उद्योगो को प्रोत्साहन दिया जाय जो विदेशी विनिमय का उपार्जन करती हैं (निर्गत उद्योग) अथवा जो विदेशी विनिमय का बचत करती है (आयात का स्थानापन्न)।"

संरक्षण की सीमायें यद्यपि अल्प-विकसित देशो मे औद्योगीकरण के हेतु सरक्षण एक महत्वपूर्ण साधन है तथापि केवल यही एक साधन नही है। यह एक ऐसा साधन है जिस पर अनेक सरकारे अत्यधिक विश्वास करती रही है। साथ ही उन्होंने इसकी कमियों या सीमाओ पर विशेष ध्यान न देकर अन्य उपयुक्त नीतियों का यथावश्यक प्रयोग नही किया है। वास्तव मे, यदि सरकार औद्योगीकरण की

गति को बढाने के लिये तत्पर है तो उसे अधिक रचनात्मक कार्यक्रमों को बना कर उन्हे कार्यान्वित करना चाहिए। सरक्षण के माध्यम से विदेशी वस्तुओ के लिये एक ऊँची टैरिफ दीवाल की सरचना करने से ही उद्देश्य की पूर्ति नही हो सकती। उसे यातायात तथा सचार की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए, शक्ति के प्रजनन को बढाना चाहिए, सामान्य तथा तकनीकी शिक्षा का प्रचार करना चाहिए, तथा वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार को प्रोत्साहित करना चाहिये। टैरिफ से तो आयात की गई वस्तुओ तथा देशी वस्तुओ के मूल्य मे जो अन्तर होता है वह या तो कम हो जाता है या समाप्त हो जाता है परन्तु इसी उद्देश्य की पूर्ति देशी वस्तुओ के उत्पादन लागत को कम कर उनके मूल्य मे कमी करके भी की जा सकती है। साथ ही, सरकार ऐसे विशिष्ट उपायो को भी अपना सकती है जिससे उद्योग विशेष को सरक्षण उपलब्ध हो, जैसे साख-सुविधा की व्यवस्था, कर मे कमी अथवा छूट, प्रत्यक्ष वित्तीय सहायता आदि। "कोई भी ऐसा प्रमाण नही है जिससे विभिन्न देशों मे विनिर्मित वस्तुओ पर सरक्षणीय आयात टैरिफ तथा उनके विनिर्माण उद्योग के मध्य व्यावहारिक साहचर्य सिद्ध हो सके।" इस प्रकार के प्रमाण के उपलब्ध न होने का यह तात्पर्य नही है कि टैरिफ से औद्योगिक विकास में वृद्धि नहीं होती है। पर दूसरी ओर, यह ध्यान देना चाहिए कि टैरिफ के साथ ही अन्य व्यावहारिक उपायों को प्रयोग मे लाना चाहिए।

पर्याप्त टैरिफ प्रदान कर देना ही अपने मे पर्याप्त नही है कि अल्प-विकसित देशों मे पर्याप्त औद्योगिक वातावरण उत्पन्न हो सके। वास्तव मे नवजात उद्योगो का, जिन्हे सरक्षण प्रदान किया जाय, समुचित विकास तभी हो सकता है जब सरक्षण के साथ-साथ उनके लिये आवश्यक साधनो को भी जुटाने की व्यवस्था की जाय। साधनो की कमी की समस्या का निवारण केवल सरक्षणीय टैरिफ के द्वारा ही नही किया जा सकता है। यदि साधन उपलब्ध हों, तो इससे उन साधनों के प्रवाह को उद्योग विशेष की ओर मोड़ने के लिये प्रोत्साहित किया जा सकता है जब कि टैरिफ के बिना साधन इच्छित उद्योगो को उपलब्ध न हो रहे हों। इस प्रकार टैरिफ किसी भी उत्पादन के साधन को उत्पन्न नही करते हैं परन्तु उन साधनों को निर्देशित कर सकता है जो उद्योगो मे या तो बिल्कुल भी न लगे हों या कम लगे हों या कम उत्पादन-क्षमता के साथ लगे हों, विशेषकर उन उद्योगों के लिये जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव से श्रमिको की औसत उत्पादकता बढाने मे, अर्थ-व्यवस्था मे विभिन्नता लाने मे तथा भविष्य मे औद्योगिक विकास के लिये आधार प्रस्तुत करने मे सफल होते है। यदि यह उपलब्ध हो जाता है तो टैरिफ का भार

हल्का हो जाता है, जब कि उद्योग अपनी उत्पादन-क्षमता मे इतनी वृद्धि करे कि स्पर्द्धात्मक स्तर तक उसे ले आये तथा सहायक उद्योगो पर एव सामान्तया आर्थिक वातावरण पर सम्पूर्ण विकासात्मक प्रभाव पड चुका हो।

सरक्षण तो साध्य का एक साधन मात्र है और साध्य राष्ट्रीय कल्याण है। इस प्रकार यह सिद्धात तो स्वय सिद्ध है परन्तु कभी-कभी इस पर मे ध्यान हट जाता है और परिणाम स्वरुप साध्य के जोश मे ऐसा दिखाई पडता है कि साधन ही अधिक महत्वपूर्ण है। दूसरी ओर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सरक्षण की सामाजिक लागत और अधिकतम सामाजिक हित के मध्य समुचित सतुलन भी होना चाहिए। उपभोक्ताओ पर सरक्षण के भार की अवधि को न्यूनतम रखने का ही प्रयत्न करना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सरक्षण प्रदान करने के लिये उद्योगो का चुनाव बुद्धिमता के साथ करना अति आवश्यक है। सरक्षण का परिणाम यह नही होना चाहिए की अनार्थिक, क्षमताहीन एव अनुचित उद्योग आगे बढे जिससे कि जनसमुदाय को हानि पहुचे। सरक्षण की योजना मे इससे होने वाली कुछ हानियो को तथा इससे अन्तर्निहित कुछ खतरो के विरूद्ध सुरक्षा का प्रबन्ध अवश्य करना चाहिये। ये खतरे है उत्पादन की क्षमताहीन प्रणालियो को प्रोत्साहन देने का भय राजनीतिक भ्रष्टाचार के बढने का भय तथा उद्योगपतियों का आपस मे संयोग कर जाने का भय, आदि। यदि उचित सावधानी के बिना अनेक वस्तुओ को टैरिफ द्वारा सरक्षण प्रदान किया जाता है तो यह सभव है कि घरेलू सामान्य मूल्य मे वृद्धि हो और परिणाम स्वरुप उसका निर्यात पर उल्टा प्रभाव पडे। यह भी सभव है कि इसके कारण अनार्थिक उद्योगो की स्थापना हो जाय जो कि भविष्य मे औद्योगिक विकास मे बाधक बने।

प्रशुल्क आयोग (१९४९-५०)

वर्तमान सरक्षण नीति की रुपरेखा प्रशुल्क आयोग (१९४९-५०) द्वारा बनाई गई थी। इस आयोग की स्थापना २० अप्रैल, १९४९ मे की गई थी जिसके अध्यक्ष श्री वी० टी० कृष्णामचारी थे। इस आयोग को निम्नलिखित बातो पर सिफारिश देनी थी (अ) उद्योगो का सरक्षण एव सहायता देने के लिए सरकार की भावी नीति क्या होनी चाहिए तथा सरक्षित एव सहायता प्राप्त उद्योगों का व्यवहार एव दायित्व क्या होना चाहिए, (ब) इस नीति को कार्यान्वित करने के लिये आवश्यक सगठन क्या हो, तथा (स) इस नीति को प्रभावपूर्ण ढग से कार्यान्विन करने से सीधे सम्बन्धित अन्य कोई बात। इन मामलो पर विचार

करते समय आयोग को यह पूर्ण स्वतन्त्रता थी कि वह समस्या की अल्प-कालीन एव दीर्घ-कालीन पक्षो पर समुचित ध्यान रखे।

आयोग ने अपनी रिपोर्ट जूलाई, १९५० मे प्रस्तुत की। इनसे टैरिफ सरक्षण को मुख्य रूप से किसी लक्ष्य के साधन के रूप मे स्वीकृत किया तथा नीति के एक ऐसे साधन के रुप मे माना जिसे देश के आर्थिक विकास के लिये प्रयोग मे लाया जा सकता है। आयोग ने सरक्षण को आर्थिक विकास की सम्पूर्ण योजना के साथ जोडा। इसकी सिफारिशे समय की आवश्यकताओ के अनुरुप थी। टैरिफ नीति को आधारभूत आर्थिक उद्देश्यो के साथ जोडना आवश्यक है। सरक्षण से किसी उद्योग-विशेष को ही प्रोत्साहन नही मिलना चाहिए अपितु इसे सम्पूर्ण जनाकिकीय एव औद्योगिक सरचना मे परिवर्तन लाना चाहिए। प्रशुल्क आयोग की सिफारिशो का निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत परीक्षण किया जा सकता है·

(१) सरक्षण का प्रत्यय (concept),
(२) उद्योगो के निर्वाचन का सिद्धान्त,
(३) सरक्षणीय नीति के विशिष्ट मामले,
(४) सरक्षण का प्रारूप एव ढग,
(५) स रक्षण की मात्रा एव अवधि,
(६) सरक्षित उद्योगो का दायित्व; एव
(७) टैरिफ अधिकारी के कार्य एव संरचना।

सरक्षण का प्रत्यय आयोग ने व्यापारिक नीति के विकल्प के रूप मे सरक्षण नीति के पुराने विचार को अस्वीकृत कर दिया। इसके विपरीत, टैरिफ सरक्षण को साध्य के साधन के रूप मे स्वीकार किया है और साध्य राष्ट्रीय कल्याण को माना है। सरक्षण को आर्थिक विकास की सपूर्ण योजना से सबद्ध होना चाहिए अन्यथा भार का असमान वितरण होगा तथा उद्योगो का समन्वित विकास न हो पायेगा। सरक्षण की लागत को सामाजिक लागत के रूप मे मानना चाहिए। आयोग ने इस बात पर भी ठीक ही जोर दिया कि सरक्षण प्रदान कर देने से सरकार अपने सभी उत्तरदायित्वो से मुक्त नही हो जाती है। सरक्षित उद्योगों के प्रति बाद मे सावधानी रखना अति आवश्यक है। आयोग ने आर्थिक विकास के उस स्वरूप को स्वीकार किया जो कि आर्थिक नीति के आधारभूत उद्देश्यो के अनुरूप हो। इसने इस बात पर बल दिया कि टैरिफ नीति को आर्थिक योजना मे समाहित कर देना चाहिए।

निर्वाचन का सिद्धान्त. उद्योगो द्वारा सरक्षण अथवा सहायता के लिये प्रार्थनापत्र देने पर विचार करने के लिये प्रशुल्क आयोग ने निम्नलिखित कसौटियों

को अपनाने के लिये निश्चित किया । ये विचार इसी तथ्य के आधार पर किया जायगा कि उसके लिये योजना स्वीकृत की जा चुकी है। उद्योगों को निम्नलिखित वर्गों मे बाँट दिया गया . (१) सुरक्षा तथा अन्य सामरिक महत्व के उद्योग, (२) आधारभूत एव प्रमुख उद्योग, तथा (३) अन्य उद्योग । राष्ट्रीय हित को दृष्टिकोण मे रख कर सुरक्षा तथा सामरिक महत्व के उद्योगो की स्थापना एव सचालन किया जाना चाहिए । उन्हे उनकी उन्नति के लिये सरक्षण तथा अन्य प्रकार की आवश्यक सहायताये प्रदान की जानी चाहिए । आधारभूत एव प्रमुख उद्योगों का राष्ट्रीय योजना मे सम्मिलित कर लिया जाना ही पर्याप्त है ताकि उन्हे सरक्षण एव अन्य सहायताये प्रदान की जॉय । अत टैरिफ अधिकारी इन उद्योगो के लिये सरक्षण की मात्रा एव उसके प्रारूप के विषय मे विचार करेगी, सरक्षण अथवा सहायता प्रदान करने के लिये शर्तों को निश्चित करेगी तथा ऐसे उद्योगो के विकास की समय-समय पर जाँच भी करेगी । अन्य उद्योगो के सम्बन्ध मे, प्रथम, उन उद्योगों को सरक्षण दिया जाना चाहिए जिनको योजना मे उच्च प्राथमिकता दी गई हो । दूसरे, उन उद्योगो के विषय मे भी, जो आधारभूत एव महत्वपूर्ण उद्योगों के पूरक एव सहायक उद्योग है, विचार किया जाना चाहिए । अन्त मे, अन्य शेष उद्योगों के लिये, सरक्षण का प्रदान करना इस बात पर निर्भर होगा कि उद्योग को आवश्यक आर्थिक लाभ उपलब्ध हैं अथवा नही तथा उनकी वास्तविक एव सभाव्य उत्पादन लागत क्या है जो कि उस उद्योग के विकास के लिये होंगे जिससे कि वह बिना सरक्षण तथा सहायता के सफलता के साथ आगे बढ सके । साथ ही उन उद्योगो को जो कि राष्ट्रीय हित के लिये आवश्यक हो, सरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए । परन्तु उन्हे सरक्षण प्रदान करते समय यह ध्यान मे रखना चाहिए कि जनता पर सरक्षण अथवा सहायता का भार अधिक न पडने पाये । स्वीकृत योजना की अनुपस्थिति मे या यूँ कहिये कि जब कि प्राथमिकता का कोई भी सकेत उपलब्ध न हो, सभी उद्योगों के लिये, सुरक्षा तथा सामरिक महत्व के उद्योगो को छोड़ कर, वही कसौटी अपनाई जानी चाहिए जो कि अन्य उद्योगो के लिये निर्धारित की गई है ।

संरक्षणीय नीति के विशिष्ट मामले. प्रशुल्क आयोग ने संरक्षण प्रदान करने के लिये निर्वाचन के सिद्धान्तो को निर्धारित करने के अतिरिक्त संरक्षण नीति से सम्बन्धित कुछ विशिष्ट मामलों के विषय मे भी विश्लेषण किया :

(१) सरक्षण प्रदान करने के लिए कच्चे माल की स्थानीय उपलब्धता को एक शर्त के रूप में नही माना जाना चाहिए यदि उद्योग को अन्य आर्थिक लाभ उपलब्ध हो ।

(२) उद्योग को प्राप्त सापेक्ष लाभ को निश्चित करते समय संभावित निर्यात बाजार को ध्यान मे अवश्य रखना चाहिए। साथ ही, सम्पूर्ण घरेलू माँग को पूरा करना भी एक शर्त के रूप मे नही मानना चाहिए। इतना पर्याप्त होना चाहिए यदि कोई उद्योग समुचित समय मे आन्तरिक माँग के अधिकाश भाग की पूर्ति कर लेता है।

(३) उन सरक्षित उद्योगो को क्षतिपूरक सरक्षण प्रदान किया जा सकता है जो अन्य सरक्षित उद्योगो द्वारा उत्पादित कच्चा माल तथा स्टोर को प्रयोग मे लाते हो। साथ ही ऐसे उद्योगो को जो कच्चा माल तथा स्टोर का उत्पादन करते हो, टैरिफ के स्थान पर उपदान प्रदान किया जाना चाहिए।

(४) आयोग ने उन उद्योगो को सरक्षण प्रदान करने के लिये भी सिफारिश की जो स्थापित न हुए हो परन्तु सरक्षण प्राप्त होने के उपरान्त जिनके स्थापित होने की सभावना हो। विशेषकर ऐसी दशाओ मे जब उनमे अत्यधिक प्रारभिक पूँजी के लगाये जाने की आशा हो अथवा जिसमे प्लाण्ट तथा व्यक्तियो का उच्चतर विशिष्टीकरण हो और जिनकी पूर्व स्थापित तथा सुसगठित उद्योगो से विशेष प्रतिस्पर्द्धा होने की सभावना हो।

(५) कृषि पदार्थो को भी सरक्षण प्रदान किया जा सकता है यदि राष्ट्रीय हित मे यह आवश्यक हो। परन्तु सरक्षित पदार्थों की सख्या कम ही होनी चाहिए तथा उनका निर्वाचन कच्चे माल की महत्ता तथा उनके द्वारा दिये जाने वाले रोजगार पर निर्भर होना चाहिए। साथ ही, सरक्षण की योजना के साथ, कृषि उन्नति का कार्यक्रम अवश्य बनाया जाना चाहिए।

(६) आयोग ने आन्तरिक करो का सरक्षण सम्बन्धी उपायो पर होने वाले प्रभावो का भी परीक्षण किया तथा केन्द्रीय उत्पादकर लगाने के पक्ष मे अपने विचार नही प्रकट किये क्योकि वे "टैरिफ सरक्षण को प्रभावहीन कर देते हैं। केन्द्रीय उत्पाद्-करो का उपयोग तभी करना चाहिए जब उनकी आवश्यकता बजट के दृष्टिकोण से हो तथा अन्य उपयुक्त वैकल्पिक साधन उपलब्ध न हों। अनुसधान के लिये उपकरो को लगाने का विरोध नही किया यदि इनकी दर कम हो तथा इससे प्राप्त सपूर्ण आय को अनुसधान मे ही लगाया जाय तथा अन्य क्षेत्रो मे न लगाया जाय। साथ ही सरक्षित उद्योगो के लिये कच्चे माल के मूल्य को भी केन्द्रीय सरकार को केन्द्रीय अधिनियमो के द्वारा निर्धारित करना चाहिए यदि इस तरह मूल्य-निर्धारण आवश्यक हो।

संरक्षण का प्रारूप एव ढग सरक्षण की प्रणालियो पर विचार करते हुए, आयोग ने सरक्षण के निम्नलिखित प्रारुपो का परीक्षण किया (१) टैरिफ, (२) परिणाम सम्बन्धी निर्बन्ध, (३) उपदान, (४) एकत्रीकरण (pooling), (५) टैरिफ कोटा, तथा (६) प्रशासकीय सरक्षण। टैरिफ पर विचार करते हुए आयोग ने सुझाव दिया कि इस योजना मे यथामूल्य (ad valorem) सीमाशुल्क को ही प्रधानता दी जानी चाहिए। विश्व उत्पादन एव व्यापार की वर्तमान परिस्थिति मे तथा तेजी से परिवर्तित होते हुए मूल्य की स्थिति मे, देशी उद्योगों को सरक्षण की सर्वाधिक गारटी यथा मूल्य सीमा शुल्क द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। विशिष्ट सीमा शुल्को का भी प्रयोग उस दशा मे किया जा सकता है जब कि वस्तु के अनेक प्रकार न हों तथा जब उसके मूल्य को निश्चित न किया जा सकता हो। सरक्षित उद्योगो की तीव्र उन्नति के लिये अनुरक्षण के लिये सगठन की आवश्यकता पर बल देते हुए, आयोग ने भारतीय उद्योगो को सरक्षण देने की वर्तमान नीति के दोष की ओर ध्यान आकर्षित किया। यह सुझाव दिया कि एक 'विकास कोष' का सरक्षण टैरिफ से प्राप्त आय के कुछ भाग को प्रतिवर्ष उसमे हस्तान्तरित करके सृजन किया जाय और इस कोष का उपयोग उपदान के भुगतान के लिये किया जाय।

सरक्षण की मात्रा एव अवधि. सरक्षण की मात्रा प्राय वही होगी जो कि वस्तु की देश मे उत्पादन लागत तथा उसी वस्तु के आयात करने पर उतरने पर लागत (landed cost) मे अन्तर हो। परन्तु इन दोनो प्रकार की लागत को निश्चित करने मे कुछ कठिनाईयाँ उपस्थिति हो सकती है। इस सम्बन्ध मे पहली बात तो यह है कि उद्योग की किस इकाई की लागत को लिया जाय—सर्वोत्तम क्षमता वाली इकाई की लागत को अथवा सीमान्त इकाई की लागत को अथवा उद्योग में 'प्रतिनिधि' इकाई की लागत को लिया जाय। यदि प्रतिनिधि इकाई की लागत को लिया जाय तो इसके निर्वाचन के लिये कोई निष्पक्ष कसौटी नही है। सामान्य व्यवहार मे, विभिन्न केन्द्रो से औसत आकार की इकाइयो को चुना जाता है। दूसरी कठिनाई इसलिये उत्पन्न होती है कि लागत से सम्बन्धित मूल आँकड़े उपलब्ध नही होते है। टैरिफ परिषद की रिपोर्टों मे प्राय ही यह विचार व्यक्त किया गया है कि अधिकाश उद्योगो मे उचित लागत प्रणाली को प्रयोग मे नही लाया जाता है। अत: टैरिफ अधिकारी को लागत खातो के सचालन के लिये उचित प्रारूप को निर्धारित करना चाहिए। तीसरी कठिनाई लागत को निश्चित करने के के लिये उत्पादन के प्रतिनिधि मदों के चुनाव मे उत्पन्न हुई। व्ययो एव भत्तो के विभिन्न मदो, जैसे ह्रास, प्रबन्ध अभिकर्ता का कमीशन, पूंजी पर प्रतिफल आदि,

के लिये कुछ निश्चित व्यवहार का पालन किया जाना चाहिये। आयात की हुई वस्तुओ के उतरने पर लागत के सम्बन्ध मे टैरिफ अधिकारियो को एक नियमित प्रणाली का सगठन करना चाहिए जिससे कि व्यापार आयुक्त से, आयात करने वालों से, तथा सीमा शुल्क के कलेक्टर से सूचनाये प्राप्त होती रहे। देशी उत्पादनो के विरुद्ध पक्षपात के सम्बन्ध मे, यह ध्यान रखना चाहिए कि कहीं ऐसा न हो कि इसके कारण क्षमताहीनता तथा गिरते हुए क़िस्म के उत्पादनो को प्रोत्साहन न मिले।

सरक्षण की अवधि उद्योग की प्रकृति पर तथा विदेशो से प्रतिस्पर्द्धा की प्रकृति पर निर्भर है। यदि सरक्षण विकास के उद्देश्य से किया गया हो तो उस दशा मे दीर्घकाल के लिये इसकी आवश्यकता होगी अपेक्षाकृत उस दशा मे जब कि इसका प्रयोग अस्थायी हानियो की पूर्ति के लिये किया जा रहा हो। उद्योगो को समुचित अवधि के लिये सरक्षण का आश्वासन प्राप्त होना चाहिए जिससे कि उनमे उचित पूँजी आकर्षित हो सके तथा विनियोग के समुचित कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार की जा सके और कार्यान्वित भी की जा सके। सरक्षण की अवधि के विषय मे विचार करते समय, यह आवश्यक है कि अन्य देशो मे हो रही टैक्नोलॉजिकल प्रगति की ओर ध्यान दिया जाय तथा उस समय का भी ध्यान दिया जाय जिसमे घरेलू उद्योग अपने प्लाण्ट एव उपकरण का आधुनिकीकरण कर सके। टैरिफ अधिकारियो के लिये इस दिशा मे सर्वोत्तम उपाय यह होगा कि वे सरक्षण की विभिन्न अवस्थाओ को इगित करे तथा उन शर्तो को भी निर्धारित करें जिनका प्रत्येक अवस्था मे पालन किया जाना आवश्यक हो। उद्योगो को इस विषय मे सन्देह की स्थिति मे नही रखना चाहिए कि किस अवधि तक उनको सरक्षण प्रदान किए जाने की सभावना है यदि वे टैरिफ अधिकारियो द्वारा निर्धारित सभी शर्तों का पालन करे।

संरक्षित उद्योगों का दायित्व प्रशुल्क आयोग की सिफारिशो का एक नवीन लक्षण यह है कि इसने सरक्षित उद्योगो द्वारा कुछ दायित्वो को पूरा करने पर विशेष बल दिया है। उद्योगो को सरक्षण प्राप्त होना उनके लिये एक विशेषाधिकार है और उसके साथ उनका उत्तरदायित्व भी है कि वे उच्चतम क्षमता के स्तर पर उत्पादन करे। "सरक्षण के अन्तर्गत अत्यधिक लागत, क्षमताहीन ढगो तथा उपकरणो का सरक्षण नही होना चाहिए, और न ही रिंग्स, कार्टेल्स, टैरिफ तथा गारटी युक्त देशी बाजार पर विश्वास करने के व्यवहार को ही इसे प्रोत्साहन देना चाहिये इसकी अपेक्षाकृत सक्षम सरक्षण को प्रोत्साहन देना चाहिए।" सरक्षण के

कारण जनसमुदाय को कुछ त्याग करना पडता है परन्तु इस त्याग को न्यूनतम करना अति आवश्यक है। सरक्षित उद्योगो पर उत्तरदायित्व देने का उद्देश्य केवल यही है कि वे अपना कार्य क्षमता के साथ करे। सरक्षित उद्योगो के दायित्व को "प्रोत्साहित औद्योगिक विकास की प्रक्रिया की एक घटना के रूप मे ही लेना चाहिए न कि सरक्षित उद्योगो की सभावित भूलो अथवा कार्यो के लिये सजा के रूप मे लेना चाहिए।" उन्हे केवल टैरिफ प्रशासन के निदेशित सिद्धान्त के रूप मे लेना चाहिए जिसको उस समय ध्यान मे रखना चाहिए जब कि उद्योग-विशेष को सरक्षण देने का विचार किया जा रहा हो अथवा सरक्षित उद्योगो की सामयिक जॉच की जानी हो।

टैरिफ अधिकारी की सरचना एव कार्य प्रशुल्क अयोग ने भावी टैरिफ अधिकारी को इसके प्रस्ताविक कार्यो, स्थिति एव महत्ता के आधार पर "टैरिफ आयोग" का नाम देने की सिफारिश की। टैरिफ अधिकारी की प्रकृति एव सगठन का विचार करते हुए प्रशुल्क आयोग ने इस दृष्टिकोण को अस्वीकृत कर दिया कि इसे योजना आयोग के एक अग के रूप मे रखा जाय। योजना आयोग तो केवल एक परामर्शदाता सस्था है अत यह अपने मे टैरिफ अधिकारी को समामेलित नही कर सकता है। दूसरी बात यह है कि टैरिफ अधिकारी के कार्य न्यायिक कल्प के रूप मे है अत. इसका स्वतन्त्र रहना अति आवश्यक है। परन्तु इसमे और योजना आयोग मे यथासभव दृढ़ सम्पर्क होना चाहिए। टैरिफ आयोग के कार्यों पर ध्यान देते हुए प्रशुल्क आयोग ने यह सिफारिश की कि इसे स्थायी होना चाहिए जिससे कि सुसगत निर्णय लिये जा सके तथा नीति मे अविच्छिन्नता बनी रही।

प्रशुल्क आयोग ने टैरिफ अधिकारी के कार्यों के विषय मे यह सिफारिश की कि इसे सरक्षण सम्बन्धी तथा आगम टैरिफ की जाँच, मूल्यों की जाँच, देश की अर्थव्यवस्था पर संरक्षण का सामान्य प्रभाव सम्बन्धी जाँच तथा सरक्षण सम्बन्धी करो का पुनर्मूल्याकन आदि करना होगा। टैरिफ अधिकारी को यह विशिष्ट अधिकार प्रदान किया जाना चाहिए कि वह गवाहो को बुला सके तथा जिन साक्ष्यों को यह आवश्यक समझे उन्हें प्राप्त करने के लिये सम्बन्धित व्यक्तियो को बाध्य कर सके। जैसे ही जाँच समाप्त हो, इसे अपनी रिपोर्ट शीघ्र ही सरकार को प्रस्तुत कर देनी चाहिए तथा सरकार को चाहिए कि वह अपना निर्णय दो माह की अवधि के अन्दर ही ले ले। टैरिफ आयोग की रिपोर्ट मे वह सभी पर्याप्त विश्लेषण होना चाहिये जिसके आधार पर इसने अपना निर्णय लिया हो। सरक्षण के सम्बन्ध मे दावा विशेष के पक्ष तथा विपक्ष मे तर्क इस प्रकार से देना चाहिए कि जिससे सरक्षण

की योजना से होने वाले सम्भावी आर्थिक ,एव सामाजिक लाभ का जनता पर पडने वाला उसके भार अथवा लागत का जनता को स्पष्ट ज्ञान हो सके।

सिफारशो का मूल्यांकन. भारतवर्ष की आर्थिक नीति के विकास में प्रशुल्क आयोग की रिपोर्ट का निस्सन्देह एक महत्वपूर्ण स्थान है। देश की आर्थिक उन्नति मे सरक्षण की भूमिका से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण मामलो की इसने सम्पूर्ण जॉच करके तथ्य को प्रस्तुत किया। क्षेत्र के दृष्टिकोण से तो रिपोर्ट व्यापक थी और उपागम के दृष्टिकोण से यह यथार्थवादी थी। सभी मामलों पर अलग-अलग विचार करने के स्थान पर इसने देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को एक साथ देखने की महत्ता पर विशेष बल दिया। आयोग की सिफारिशो से समय की आवश्यकता परिलक्षित होती थी। परन्तु साथ ही इसकी सभी मान्यताये तथा निष्कर्ष वास्तविक न थे।

(१) महत्वपूर्ण मान्यताओ मे से एक यह थी कि निदेशी सिद्धान्त तथा औद्योगिक नीति विवरण, १९४८ अपने मे पूर्ण थे। यह माना गया था कि वे अपरिवर्तनशील थे तथा भावी सरक्षण नीति से सम्बन्धित विभिन्न सुझाव उन्ही पर आधारित थे। परन्तु यह निश्चित न था कि वे सदा के लिये उचित ही रहेगे। वास्तव मे, नई औद्योगिक नीति १९५६ की घोषणा से औद्योगिक नीति, १९४८ तो निरर्थक हो गई। वर्तमान औद्योगिक नीति मे मिश्रित अर्थव्यवस्था पर जो विशेष बल था वह अपेक्षाकृत कम हो गया। देश के औद्योगिक विकास मे सार्वजनिक क्षेत्र को ही अधिक महत्ता दी गई। अत: टैरिफ अधिकारियो द्वारा सरक्षण अथवा सहायता प्रदान करने के सम्बन्ध मे दृष्टिकोण पर इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ेगा।

(२) यह एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण नही है कि उन उद्योगो को तो सरक्षण स्वत: दे दिया जाय जिन्हे आर्थिक योजना मे सम्मिलित कर लिया गया हो। इसका परिणाम केवल यही नही होगा कि इससे उद्योग की कार्यक्षमता प्रभावित होगी अपितु इससे अधिकारी अपने कार्य मे प्रभावहीन हो सकते हैं। आर्थिक योजना मे सम्मिलित कुछ ऐसे उद्योग हो सकते है जिन्हे सरक्षण के स्थान पर अन्य साधनो से सहायता पहले से ही उपलब्ध हो रही हो।

(३) यह सुझाव दिया गया कि दूसरे प्रशुल्क आयोग द्वारा निर्धारित सूत्र स्पष्ट नही था और किसी टैरिफ अधिकारी द्वारा बिना निदेशित सिद्धान्त के उल्लेख के भी मान लिया जायगा। परन्तु दो ऐसे सिद्धान्त है जो सूत्र की घोषणा को न्यायोचित सिद्ध करते है—प्रथम, उद्योग के लिये सम्भावना है कि समुचित काल में उसका पर्याप्त विकास होगा जिससे कि वह बिना सरक्षण अथवा सहा-

यता के सफलता के साथ चल सके, और दूसरे, सरक्षण या सहायता का सभावित लागत जनसमुदाय पर अत्यधिक न पडे । अन्तर्युद्ध काल मे टैरिफ परिषद द्वारा अपनायी गई त्रिसूत्रीय योजना से तो ये नवीन सूत्र कही अधिक उदार था।

(४) ऐसा लगता है कि आयोग ने अन्त मे सरक्षण को समाप्त करने के विषय मे विचार नही किया है । परन्तु वास्तव मे सरक्षण को एक स्थायी विशिष्टता के रूप मे नही रखना चाहिये यद्यपि आर्थिक विकास के आरम्भ मे यह आवश्यक है। उत्पादन, क्षमता तथा सगठन सम्बन्धी सरचना के विषय मे कुछ लक्ष्यो को सरक्षण नीति के अन्तिम ध्येय के रूप मे निश्चित किये जाने चाहिए थे ।

(५) नियत्रण के सीधे एव प्रत्यक्ष तरीको को, जैसे परिमाण सम्बन्धी निर्बन्ध, आर्थिक योजना मे आवश्यक महत्ता नही प्रदान किया गया। योजना के अन्तर्गत वैदेशिक व्यापार पर समुचित नियत्रण रखना आवश्यक है जिससे कि बार-बार बाधाये उपस्थित न हो । इस उद्देश्य के लिए टैरिफ प्रणाली द्वारा नियमन करना अपर्याप्त सिद्ध हो सकता है ।

(६) सरक्षित उद्योगो के उत्तरदायित्व पर विचार करते हुए, आयोग ने इस बात का विश्लेषण नही किया कि सम्पूर्ण योजना का क्या होगा यदि किसी उद्योग विशेष को सरक्षण इस कारण से न किया गया कि उसने अपने दायित्वो को पूरा नही किया । यदि योजना के कुछ भाग को, जो निजी क्षेत्र मे हो, किसी भी कारण से सरक्षण न प्रदान किया गया तो यह सभव है कि योजना की सम्पूर्ण सरचना इससे प्रभावित हो जाय। अत निजी क्षेत्र के उद्योगो के लिये सरक्षण हटा लेने के अतिरिक्त कुछ और साधन अपनाये जाने चाहिए जिससे कि वे अपने दायित्व को समझ सके और उसे पूरा करने का प्रयत्न करे।

(७) अन्त मे, आयोग ने जिन सिद्धान्तो का उल्लेख किया है उनमें कोई नवीन बात नही दिखाई देती । अब तक अपनाई जा रही नीति के सैद्धान्तिक दोषो को स्वीकृत करने के अतिरिक्त आयोग ने किसी भी नवीन सिद्धान्त के विषय मे सूझ-बूझ नही दी। इसकी सिफारिशो मे न तो वे बाते आ पाई हैं जिनकी आशा जनता को थी अथवा जिनकी आवश्यकता बदली हुई परिस्थितियो के कारण तीव्र थी ।

उपर्युक्त आलोचनाओ के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त टैरिफ नीति के निर्माण मे आयोग ने पहिले की अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत क्षेत्र पर ही विचार किया है । अर्थव्यवस्था मे उन्नति लाने के लिये टैरिफ की आवश्यकता तथा उसके प्रभाव के प्रति इसने अत्यधिक विस्तार से प्रकाश डाला है । आयोग

द्वारा दिये गये सुझाव न केवल देश की प्रशुल्क नीति के इतिहास मे ही अपितु इसके आर्थिक विकास के लिये भी महत्वपूर्ण स्थान रखते है ।

टैरिफ आयोग

प्रशुल्क आयोग की सिफारिशो के आधार पर २१ जनवरी, १९५२ को भारत सरकार ने भारतीय टैरिफ परिषद के स्थान पर साविधिक टैरिफ आयोग की नियुक्ति की । यह आयोग टैरिफ अयोग अधिनियम, १९५१ के अन्तर्गत बनाया गया । इसमे तीन सदस्य है और उनमे से एक इसका अध्यक्ष होता है । आयोग के साविधिक होने के कारण इसके ऊपर किसी भी प्रकार के दबाव की अथवा हस्त-क्षेप की सभावना नही है। पूर्व टैरिफ परिषद की अपेक्षाकृत इसके कार्य तथा कर्त्तव्य अधिक व्यापक है । सरकार आयोग को किसी भी मामले पर, जिस पर उसकी राय आवश्यक समझे, जाँच कर रिपोर्ट देने के लिये कह सकती है। ये मामले निम्नलिखित हो सकते है (१) उद्योग के प्रोत्साहन के लिये सरक्षण प्रदान करना, (२) उद्योग के सरक्षण के लिये सीमावर्ती अथवा अन्य करो मे परिवर्तन के लिये, (३) डम्पिग (dumping) के सम्बन्ध मे तथा सरक्षित उद्योगो द्वारा सरक्षण के दुर्पुयोग के विरुद्ध कार्यवाही करन के लिये, (४) सरक्षण का सामान्य मूल्य स्तर तथा रहन-सहन पर लागत पर प्रभाव की जॉच करने के लिये, (५) किसी विशिष्ट उद्योग की उन्नति के लिये व्यापारिक समझौते के अन्तर्गत टैरिफ सम्बन्धी छूट का प्रभाव, तथा (६) सरक्षण से उत्पन्न होने वाली कोई भी गडबडी ।

आयोग को केवल स्थापित उद्योगो को सरक्षण प्रदान करने के लिये ही नही अपितु सभावी उद्योगो को सरक्षण प्रदान करने के विषय मे भी जॉच करने का अधिकार दिया गया है । सभावित उद्योगो का तात्पर्य उन उद्योगो से है जिन्हो ने उत्पादन आरभ न किया हो परन्तु यदि उन्हे सरक्षण प्रदान कर दिया जाय तो उत्पादन आरभ करने की सभावना हो सकती है । वैसे तो आयोग स्वयमेव जॉच प्रारभ कर सकता है परन्तु उन दशाओ मे जब कि ये जॉच प्रारभिक सरक्षण से अथवा वस्तु विशेष के मूल्य से सम्बन्धित हो, चाहे सरक्षण प्रदान किया गया हो या नही यह ऐसा नही कर सकता। इन दो दशाओ मे यह जॉच सरकार से कहे जाने पर ही प्रारभ कर सकता है ।

टैरिफ के निर्धारण के लिये सामान्य सिद्धान्तो के सम्ब ध मे तथा सरक्षित उद्योगो के दायित्व के लिये सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे आयोग को अत्यधिक विवेकाधीन अधिकार प्रदान किये गये है । प्रत्येक उद्योग की आवश्यकताओ के अनुसार, आयोग

को यह स्वतन्त्रता है कि वह सरक्षण की अवधि के बारे मे निश्चित करे। इस पर उस प्रकार का प्रतिबन्ध नही है जैसा कि युद्धोत्तर टैरिफ परिषद को केवल ३ वर्ष तक ही सरक्षण प्रदान करने का अधिकार था। उपभोक्ताओं के हित मे सरक्षण के दृष्टिकोण से, अधिनियम के अन्तर्गत आयोग का यह कर्त्तव्य है कि वह निर्धारित समयान्तर पर सरक्षित उद्योगों के कार्य कलापो का अनुसधान करता रहे। ये अनुसधान विशेष रूप से उत्पादन के लागत, उसका पैमाना, उत्पादन की किस्म तथा भावी विस्तार की सभावना आदि के विषय मे होगा और बाद मे इसे सरकार को अपनी रिपोर्ट भी देनी होगी।

आयोग की अर्द्ध-न्यायिक स्थित है और वैसे तो यह तथ्यो का पता लगाने मे तथा साराशो का विश्लेषण कर सिफारिश देने में यह स्वतत्रता के साथ कार्य करता है परन्तु इसे अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत करनी होती है। इस दृष्टिकोण से यह केवल एक सलाहकारी सस्था है क्योकि यह जो भी साराश निकालती है वह तथ्यो पर कानून के प्रयोग का परिणाम नही होता जैसा कि कानूनी घोषणाओ मे होता है अपितु वह तो आर्थिक सिद्धान्तो के प्रकाश मे तथ्यो का मूल्याकन मात्र होता है।

जॉच करते समय जिन सिद्धान्तो को ध्यान मे रखना चाहिये उनका उल्लेख टैरिफ आयोग अधिनियम मे किया गया है। इन सिद्धान्तो के अनुसार, उद्योग की प्रतिनिधि इकाइयो की दशा मे तो वास्तविक लागत का पता लगाना होगा और साथ ही भावी उत्पादन लागत का अनुमान लगाना होगा। उसके उपरान्त सम्पूर्ण उद्योग के लिये अनुमानित उत्पादन के उचित निर्माण मूल्य (ex-works price) मे तथा सी० आई० एफ० मूल्य अथवा उसी प्रकार की आयात की गई वस्तुओ के बिना शुल्क के उतरने पर लागत (landed cost) मे तुलना की जाती है। इस तुलना के आधार पर, उद्योग के लिये आवश्यक सरक्षण के परिमाण का अनुमान किया जाता है। भाडा सम्बन्धी हानियों को तथा प्रतिकूल प्रभाव के लिये भत्ते को भी उचित निर्माण मूल्य मे जोड दिया जाता है यदि प्रमाणो द्वारा यह ज्ञात हो कि इन घटको पर ध्यान देना आवश्यक है। कभी-कभी प्रतिनिधि इकाइयो की स्थायी पूंजी अथवा स्थायी सम्पत्तियो के मूल्य का पता लगाने मे कठिनाई होती है। स्थायी सम्पत्तियों के मूल्य का पता सामान्यतया उनके मूल पुस्तक-मूल्य के आधार पर किया जाता है तथा उस पर ह्रास की गणना आय-कर की दर से किया जाता है, यद्यपि, किसी-किसी दशा मे विशेष ह्रास के लिये भी छूट दी जाती है जिससे कि उद्योग अतिरिक्त संचिति का निर्माण कर सके। दूसरी महत्वपूर्ण बात पूंजी पर प्रतिफल की दर से सम्बन्धित है। वर्तमान व्यवहार तो यह है कि सामान्यतया सफल स्थायी पूंजी पर या यूँ कहिए कि स्थायी सम्पत्ति के प्रारभिक

१० प्रतिशत की दर से प्रतिफल को लिया जाता है। चालू पूँजी पर व्याज बैंक दर से १ प्रतिशत अधिक से सामान्यतया लिया जाता है। चालू पूँजी को उद्योग के उत्पादन के तीन से छ माह के लागत के बराबर माना जाता है।

टैरिफ अयोग अधिनियम के अन्तर्गत यह आवश्यक है कि सरकार आयोग द्वारा रिपोर्ट प्रस्तुत करने के तीन माह पश्चात् अपनी रिपोर्ट ससद में प्रस्तुत करे। ससद के समक्ष सरकार को यह प्रस्तुत करना होता है कि आयोग की रिपोर्ट पर क्या कार्यवाही की गई है और यदि कोई कार्यवाही न की गई हो तो उसके कारण को बताना होगा।

संरक्षण की भावी भूमिका. भारत सरकार के औद्योगिक नीति विवरण मे देश की औद्योगिक उन्नति के सम्बन्ध मे सरक्षण की भूमिका के विषय मे कुछ भी उल्लेख नही किया गया है। योजना तथा सरक्षण के सम्बन्ध को स्पष्ट करना आवश्यक है क्योकि नियोजित अर्थव्यवस्था टैरिफ नीति की प्रकृति को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है।

(१) उद्योगो के विकास के लिये पचवर्षीय योजनाओ मे निर्धारित प्राथमिकताओ के क्रम द्वारा टैरिफ अधिकारी के लिए अवश्य ही व्यावहारिक निर्देशन दिया जाना चाहिए।

(२) योजना विनियोग को विशिष्ट दिशाओ मे प्रवाहित कर सरक्षण की प्रकृति को प्रभावित करती है। जहाँ तक योजना औद्योगिक विनियोग को आर्थिक दृष्टिकोण से कम आवश्यक प्रायोजनाओ से दूर ले जाती है उस सीमा तक सरक्षण का जनसमुदाय पर भार कम हो जाता है।

(३) जहाँ तक योजना विकेन्द्रीयकरण तथा क्षेत्रीय विकास को प्रोत्साहन देता है उस सीमा तक जनसमुदाय पर सरक्षण का भार कम हो जाता है। यह एक महत्वपूर्ण बात है जिसे टैरिफ आयोग को ध्यान मे रखना आवश्यक है।

(४) अन्त मे, समाजवादी समाज की व्यवस्था को राष्ट्रीय उद्देश्य के रूप मे अपनाने के पश्चात् सरकार ने प्रत्यक्ष एव महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है कि सभी आधारभूत एव महत्वपूर्ण उद्योगो की स्थापना वह स्वयं करेगी। इसका परिणाम यह भी होगा कि इससे निजी क्षेत्र मे औद्योगिक उन्नति को प्रोत्साहन एव सुविधा मिलेगी। उस सीमा तक प्रार्थी उद्योगो को सरक्षण एवं सहायता कम मात्रा मे देनी होगी।

यह आवश्यक है कि टैरिफ सरक्षण को औद्योगिक उन्नति को तीव्रतम बनाने की व्यावहारिक नीति के ढाँचे मे उचित ढग से स्थान प्रदान किया जाय। परन्तु

सरक्षण औद्योगीकरण लाने मे एक सहायक तथा आवश्यक साधन हो सकता है परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि इसके लिए केवल यही एक साधन है। वास्तविकता तो यह है कि इस साधन पर सरकारो ने आवश्यकता से अधिक विश्वास कर अन्य आवश्यक नीतियो को अपनाने पर विशेष ध्यान नही दिया है। उन्नत औद्योगिक देशो मे प्रतिस्पर्द्धा की शक्ति, उत्पादन की उच्चतर क्षमता तथा आधुनिक परिवहन के सस्ते साधनो को ध्यान मे रख कर कोई भी सरकार जो अपने देश मे औद्योगीकरण को गति प्रदान करना चाहती हो, उसे चाहिए कि सरक्षण द्वारा विदेशी माल का निषेध करने के अतिरिक्त, रचनात्मक तथा अधिक विस्तृत कार्यक्रमो को अवश्य अपनाये। "उद्योगो के सरक्षण को आर्थिक उन्नति की योजना से जोडना चाहिये अन्यथा भार का असमान वितरण तथा उद्योगो का असगत विकास होगा"। केवल सरक्षण के लिए शुल्क लगा देने से ही, चाहे वह कितने ही वैज्ञानिक ढग से ही क्यो न लगाई गई हो, आवश्यक पूर्ण औद्योगिक विकास होना सभव नही है।

टैरिफ आयोग के लिए यह आवश्यक है कि वह सरक्षित उद्योगो की उन्नति की जाँच तथा विश्लेषण विस्तार से करे। ऐसे उद्योगो पर जो सरक्षण प्राप्त होने तक प्रयास करते है उसके लिए चिंतित रहते है परन्तु उसके प्राप्त होते ही ध्यान देना बन्द कर देते है, आयोग को विशेष ध्यान देना चाहिए कि वे अपना कार्य-क्रम लक्ष्य के अनुरुप ही कार्यान्वित करे। यद्यपि शिशु उद्योगो को सरक्षण प्रदान करना आर्थिक आवश्यकता है जिससे कि घरेलू उत्पादन को प्रोत्साहन मिल सके परन्तु सरक्षण का चालू रहना अवश्य ही इस बात पर निर्भर रहना चाहिए कि उत्पादन क्षमता तथा उन्नति की गति के दृष्टिकोण से सरक्षित उद्योग सतोषप्रद कार्य कर रहे है अथवा नही। उपभोक्ताओ से यह आशा नही की जानी चाहिए कि वे अनार्थिक उद्योगो के सचालन के लिए अधिक मूल्य के भार को सहन करे, यदि इस बात की आशा न हो कि भविष्य मे एक निश्चित काल के पश्चात् वे बिना सहायता के आगे नही बढ सकते।

समय-समय पर विशिष्ट समस्याओ पर अध्ययन भी किया जाना चाहिए। ये समस्याये, सामान्यतया जनसमुदाय पर टैरिफ का भार, टैरिफ का प्रारूप, उसमे आवश्यक परिवर्तन, विदेशो मे इससे सम्बन्धित नीतियाँ तथा टैरिफ की तकनीक आदि हो सकती है। विदेशो मे टैरिफ अधिकारियों द्वारा इस सम्बन्ध मे पारित अधिनियमो के विषय मे भी अध्ययन किया जाना चाहिए। टैरिफ आयोग को अपने अनुसधान विभाग द्वारा प्राप्त परिणामो को रिपोर्ट के रुप मे प्रकाशित कराना चाहिए। कार्य करते हुए आयोग को जो विभिन्न सूचनाये उपलब्ध होती है,

उनका भी समुचित विश्लेषण करके प्रकाशित कराना चाहिए । ऐसा करके, यह वर्तमान आर्थिक साहित्य मे एक महत्वपूर्ण योगदान भी कर सकेगा ।

कुछ लोगो का यह भी कथन है कि सरक्षण प्राप्त करने के लिए नवीन प्रार्थना पत्र चूँकि अब कम ही आ रहे है अत. टैरिफ सरक्षण की अब महत्ता समाप्त सी हो गई है। परन्तु ऐसा उल्लेख करते समय यह भुला दिया जाता है कि वैदेशिक विनिमय का अभाव तथा आयात-नियत्रण प्रतिबन्ध उद्योगो को प्रोत्साहन देने मे एक सीमित भूमिका प्रदान करते है। प्रशासकीय तथा वित्तीय सुविधाये आयात नियत्रण सम्बधी नीतियो पर अपना अत्यधिक प्रभाव डालती है। उद्योगो के नियोजित विकास के लिए ये उपाय दीर्घकाल मे टैरिफ सरक्षण का स्थान नही ग्रहण कर सकती है ।

टैरिफ आयोग के कार्यो का देश के नियोजित आर्थिक विकास से घनिष्ट सम्बन्ध है। यद्यपि देश की औद्योगिक सरक्षण एव उसका आधार पिछले २० वर्षो मे कही अधिक विस्तृत हो गया है, तथापि अब भी उसमे अनेक कमियाँ है । टैरिफ सरक्षण की नीतियो को यदि सावधानी से सोच-विचार करके उचित ढग से कार्यान्वित किया जाय तो वे औद्योगिक विस्तार के लिए महत्वपूर्ण साधन के रूप मे सिद्ध हो सकते है। यह भी सत्य है कि औद्योगिक सरचना जो आज है उसमे टैरिफ सरक्षण का योगदान सराहनीय रहा है । नियोजित आधार पर औद्योगिक उन्नति मे वृद्धि होने के साथ ही टैरिफ आयोग के कार्यो की भी महत्ता बढती जायगी ।

टैरिफ आयोग पुर्नविलोकन समिति. १९६७-६८ मे डा० वी० के० आर० वी० राव की अध्यक्षता मे समिति ने टैरिफ आयोग के कार्य-कलापो का पुर्नविलोकन किया । सितम्बर १९६८ मे, सरकार ने इस समिति की निम्नलिखित सिफारिशो पर अपने निर्णय की घोषणा की

(१) सरकार ने इस समिति का यह सुझाव स्वीकृति कर लिया कि शीघ्र ही उन उद्योगो की प्रारभिक जॉच आरभ कर देनी चाहिए जिन्हे अवमूल्यन से लाभ हुआ हो। इस प्रारभिक जॉच के आधार पर सरकार को चाहिए कि कुछ चुने हुए उद्योगो का टैरिफ आयोग को हवाला दे जिससे कि वह अनुमान लगाये कि वे सरक्षण के योग्य है अथवा नही ।

(२) सरकार समिति के इस दृष्टिकोण से सहमत है कि योजना नीति के एक साधन के रुप मे टैरिफ की महत्ता पुन बढ गई है क्योकि आयात मे कुछ छूट दे दी गयी है तथा देश की आर्थिक स्थिति मे अन्य परिवर्तन हो गये है।

(३) समिति के इस विचार को सरकार ने स्वीकृत किया कि लागत को कम करने से सम्बन्धित सतर्कता अध्ययन की सतत आवश्यकता है। सरकार ने यह अनुभव किया कि सिफारिश देते हुए टैरिफ आयोग को यह भी चाहिए कि यथासभव लागत को कम करने के उपाय की भी सिफारिश करें और उस सीमा को बतायें जहाँ तक उद्योग अपने उन घटको पर नियन्त्रण रख सकता है जिनके कारण लागत मे वृद्धि होती हो।

(४) सरकार ने समिति के इस विचार को स्वीकृत कर लिया कि जब कभी सरकार औद्योगिक उत्पादनो तथा कच्चे माल के मूल्यो पर सांविधिक नियत्रण करने का विचार करे, उसे चाहिए कि ऐसे सभी मामलो का उसकी जाँच कर रिपोर्ट देने के लिए टैरिफ आयोग को हवाला दे। साथ ही, सरकार ने यह भी निर्णय लिया कि विशिष्ट परिस्थितियो मे वह तदर्थ समितियो को स्थापना कर सकती है। फिर भी, यह एक परिपाटी होगी कि समिति के साथ टैरिफ आयोग के सदस्य अथवा अध्यक्ष को भी सम्मिलित किया जायगा।

(५) सरकार ने इस सिफारिश को मान लिया कि टैरिफ आयोग की विशेषज्ञता तथा अर्द्ध-न्यायिक प्रकृति का प्रयोग निर्यात उद्योग की विशिष्ट समस्याओ का विस्तृत अनुसधान के लिये किया जाय।

(६) सरकार ने यह सिफारिश मान ली कि मूल्य सम्बन्धी जाँच के लिये टैरिफ आयोग की रिपोर्ट सामान्यतया परिशोधन की तिथि से छ. माह मे समाप्त कर दिया जाय और विशिष्ट दशाओ मे यह समय दस माह तक बढाया जा सकता है।

(७) सरकार ने समिति के साथ यह सहमति प्रकट की कि सरक्षण तथा मूल्य नियत्रण के अन्तर्गत औद्योगिक इकाइयाँ लागत सम्बन्धी आँकड़े वैज्ञानिक ढग से रखे। सरकार ने यह विचार किया कि कम्पनी अधिनियम मे उत्पादन मे लगे विशिष्ट प्रकार की कम्पनियो के लिये पिछले वर्षों का रिकार्ड रखना अनिवार्य है। कम्पनी कानून परिषद को चाहिये कि वह टैरिफ आयोग की सलाह से लागत सम्बन्धी रिकार्ड को रखने के ढगो के विषय मे निर्णय करे।

(८) सरकार ने यह सुझाव मान लिया कि यदि टैरिफ आयोग को सफलता के साथ कार्य करना है और उद्योगो मे अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखना है तो ऐसी स्वस्थ प्रथा बनायी जाय कि इसके द्वारा दी गई सिफारिशो को सरकार सामान्यतया स्वीकृत कर ले। केवल विशिष्ट दशाओं मे ही सरकार उसे अस्वीकृत करे।

(९) सरकार ने समिति की यह सिफारिश मान ली कि उन उद्योगो का परीक्षण किया जाय जिन पर से अभी हाल मे ही सरक्षण हटा लिया गया हो और

यह ज्ञात किया जाय कि अब उनको किस मात्रा मे सरक्षण उपलब्ध हो रहा है। सरकार ने यह भी विचार प्रकट किया कि सरक्षण से वञ्चित किये गये उद्योगो की वञ्चित किये जाने के पश्चात् दो-तीन वर्ष मे जॉच करने का सिद्धान्त उपयोगी रहा है और इसे नियमित ढग मे अपनाया जाय।

(१०) सरकार ने यह निश्चय किया कि उन मामलो का हवाला टैरिफ आयोग को देना उपयोगी होगा जिनमे उत्पादन-लागत तथा उद्योग की प्रतिस्पर्द्धात्मक क्षमता जैसे घटक सम्मिलित हो।

(११) सरकार ने समिति की इस सिफारिश को स्वीकृत कर लिया कि यथासभव टैरिफ आयोग का एक सदस्य लागत खाते का विशेषज्ञ हो तथा दूसरा सदस्य प्रबन्धकीय अनुभव रखता हो।

(१२) सरकार ने सभी का ध्यान टैरिफ आयोग के साथ सहयोग देने के लिये आकर्षित किया और यह भी विचार प्रकट किया कि इसके लिये यदि वैधानिक प्रतिबन्धो की आवश्यकता हुई तो उसे भी भावी अनुभवो के आधार पर अपनाया जायगा।

अध्याय १०

सार्वजनिक क्षेत्र में औद्योगिक उपक्रम

भारत की औद्योगिक अर्थव्यवस्था मे सार्वजनिक क्षेत्र का विकास अभी हाल मे ही हुआ है। इसका इतिहास अगस्त १९४७ मे स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद से प्रारभ होता है। १९४७ से पूर्व भारतवर्ष मे आर्थिक विषयो के सम्बन्ध मे ब्रिटिश सरकार की 'अबन्ध नीति' थी, केवल इसके कि उन्नीसवी शताब्दी मे सरकार ने सिचाई कार्य के निर्माण का तथा रेलवे के निर्माण का उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया था। जब कि अन्य देशो मे, जैसे जर्मनी, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा जापान (जिसने आर्थिक विकास के क्षेत्र मे ब्रिटेन से बाद मे पदार्पण किया) उनकी सरकारो के द्वारा औद्योगिक विकास के लिये विशिष्ट प्रयास किये गये, भारतवर्ष मे सरकार की 'अबन्ध नीति' ने इस देश को केवल ब्रिटिश साम्राज्य का एक उपनिवेश मात्र ही बना रहने दिया।

स्वतन्त्रता के पश्चात भी कुछ दिनो तक देश की अर्थव्यवस्था मे राजकीय उपक्रमो की भूमिका के प्रति कोई भी स्पष्ट नीति न थी। केवल वे ही योजनाये चालू रखी गई जिनको पूर्व सरकार के द्वारा आरभ किया जा चुका था, जैसे रसायनिक खाद का कारखाना तथा रेल के इजिन बनाने का कारखाना आदि। अप्रैल १९४८ मे सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसके अन्तर्गत यह निश्चित किया गया कि "शस्त्र तथा युद्धास्त्र का विनिर्माण, आणविक शक्ति का सृजन एव नियत्रण, रेल यातायात का स्वामित्व एव प्रबन्ध पर केन्द्रीय सरकार का एकाधिकार होना चाहिए"। कोयला, लोहा एव इस्पात, हवाई जहाज का विनिर्माण, समुद्री जहाज का निर्माण, तार, दूरभाष तथा बेतार के तार के उपकरणो का विनिर्माण, तथा खनिज तेल की दशा मे सभी नवीन सस्थाये राज्य के द्वारा स्थापित की जा सकेगी तथा स्थापित उपक्रमों को कम से कम दस वर्ष तक चलते रहने की अनुमति दी गई।

प्रथम पचवर्षीय योजना (१९५१-५६) मे उपर्युक्त नीति को ही योजना के औद्योगिक अश का आधार माना गया। परन्तु योजना काल के मध्य मे ही इस नीति मे कई दिशाओ मे परिवर्तन किया गया। १९५३ के बाद सिद्धान्ततः कुछ

परिवर्तन आरभ हुए और अन्त मे काग्रेस दल ने समाजवादी समाज को आर्थिक नीति के लक्ष्य के रूप मे माना। इसे ससद ने भी दिसम्बर १९५४ मे स्वीकृत कर लिया।

समाजवादी समाज का अपनाना राष्ट्रीय उद्देश्य था और साथ ही औद्योगिक नीति प्रस्ताव १९५६ के अन्तर्गत निर्धारित आयोजित तथा तीव्र औद्योगिक उन्नति के लिये आवश्यक भी था। इस प्रस्ताव मे यह निश्चित किया गया था कि सभी आधारभूत तथा महत्वपूर्ण उद्योग तथा सामरिक महत्व के उद्योग या वे उद्योग जो जनोपयोगी सेवाओ की प्रकृति के हो सार्वजनिक क्षेत्र मे हो। अन्य उद्योग भी जो आवश्यक हो और जिनमे इतनी बडी मात्रा मे विनियोग की आवश्यकता हो जिसका वर्तमान परिस्थितियो के अन्तर्गत केवल राज्य के द्वारा ही प्रबन्ध किया जा सकता हो, सार्वजनिक क्षेत्र मे ही होगे। राज्य ने इस प्रकार विस्तृत क्षेत्र मे भावी औद्योगिक उन्नति का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। उद्योगो को तीन वर्गों[1] मे यह ध्यान रखते हुए बॉटा गया कि राज्य की भूमिका प्रत्येक वर्ग मे क्या होगी।। वर्तमान काल मे राजकीय उपक्रमो के क्षेत्र का निर्णय करने के लिये इसी नीति को आधार माना गया है। द्वितीय पचवर्षीय योजना मे तीव्र औद्योगीकरण पर विशेष बल देने के कारण देश की औद्योगिक अर्थव्यवस्था मे सार्वजनिक क्षेत्र की महत्ता और भी अधिक बढ गई। सार्वजनिक उपक्रमो की उन्नति के लिये सैद्धान्तिक विचार के अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि द्वितीय योजना मे नवीन उपक्रमो के लिये आवश्यक अतुल पूँजी की पूर्ति भी केवल सरकार ही कर सकती थी।

राज्य के द्वारा भारतवर्ष मे औद्योगिक उन्नति की गति को तीव्रतर करने के लिये प्रमुख उत्तरदायित्व को अपना लेने के परिणामस्वरूप, जैसा कि पचवर्षीय योजनाओ तथा औद्योगिक नीति प्रस्ताव १९५६ के अन्तर्गत निर्धारित किया गया था, देश की औद्योगिक सरचना मे कमियो की पूर्ति के लिये अनेक प्रयत्न किये गये। सार्वजनिक क्षेत्र मे अनेक महत्वपूर्ण तथा पूँजी-प्रधान उद्योगो की स्थापना की गई, जैसे, खाद, इस्पात, इलेक्ट्रानिक, मशीन-यत्र, खान सम्बन्धी उपकरण, समुद्री-जहाज का विनिर्माण, वायुयान, रेल इजिन का विनिर्माण, खनिज तेल सम्बन्धी खोज, भारी इजीनियरिंग वस्तुएँ, तार, अखबारी कागज, भारी विद्युत वस्तुएँ आदि।

उद्देश्य राजकीय उपक्रमो पर अधिक बल देने के निम्नलिखित प्रमुख कारण है

[1] विस्तृत विवरण के लिये 'औद्योगिक नीति' अध्याय को देखिये।

(१) आर्थिक विकास की दर को अधिकतम करना तथा एक निश्चित काल मे ही आत्म-स्फूर्ति अवस्था को प्राप्त करना,

(२) अधिकाधिक रोजगारी, रहन-सहन मे उन्नति, जन समुदाय के कार्य की दशा मे उन्नति के लिये अवसर की वृद्धि के लिये आर्थिक आधार प्रस्तुत करना,

(३) आय तथा धन मे असमानता को कम करना,

(४) निजी एकाधिकार तथा विभिन्न क्षेत्रो मे अल्प व्यक्तियो के हाथ मे आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोकना, तथा

(५) सार्वजनिक बचत के सभी सम्भव स्रोतो को विस्तृत तथा गहन करना।

सार्वजनिक उपक्रमो के पक्ष मे महत्वपूर्ण तर्क यही है कि आर्थिक क्षेत्र मे यह निजी उपक्रमो की अपेक्षाकृत अनेक सामाजिक दृष्टिकोण से आवश्यक तथा जन-स्वीकृत उद्देश्यो की पूर्ति अधिक क्षमता के साथ कर सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि आर्थिक कार्य-कलाप के उन क्षेत्रो का जिनमे या तो एकाधिकार की स्थिति हो, या सामरिक आर्थिक सत्ता हो, या बहुत बडी मात्रा मे साघन निजी क्षेत्र मे हो, स्वामित्व तथा सचालन सार्वजनिक होना चाहिये। इसके अन्तर्गत यह भी है कि सार्वजनिक उपक्रमो को अपने आप को आर्थिक उपरिव्यय के लिये, या बाह्य मितव्ययिताओ के लिये जैसे यातायात, शक्ति, ईधन तथा पूंजीगत वस्तुओ आदि के लिये उत्तरदायी बनाना होगा। इनके बिना उपभोक्ता वस्तुओ तथा सेवाओ के उत्पादन मे वृद्धि होना सभव नही है। आर्थिक उपक्रम मे सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के साथ राष्ट्रीय बचत तथा विनियोग की मात्रा मे समुचित वृद्धि करनी होगी तथा सामाजिक सेवाओ पर सरकारी व्यय के लिये कोष की उपलब्धि की भी आवश्यकता है। इन सभी उद्देश्यो की पूर्ति क्षमता के सिद्धान्त की स्वीकृति पर निर्भर है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन, परन्तु साथ ही उत्पादन की किस्म अच्छी हो, श्रमिको के रहन-सहन के स्तर मे वृद्धि, पुनर्विनियोजन के लिये आवश्यक धन की बचत, तथा राष्ट्रीय हित कार्यक्रम मे योगदान आदि आते है। आर्थिक कार्य-कलाप मे सार्वजनिक क्षेत्र को केवल महत्ता प्रदान कर देने से ही क्षमता या बचत या अवसर मे वृद्धि नही हो जायगी। यह सब इस बात पर निर्भर है कि सार्वजनिक उपक्रमो को किस ढग से चलाया जा रहा है तथा यह अपने उत्पादनो का मूल्य निर्धारण करने मे, तथा अपने लाभो को मजदूरी तथा वेतन, बचत तथा राष्ट्रीय कोष मे विभाजित करने के सम्बन्ध मे किस नीति को अपनाता है।

सार्वजनिक क्षेत्र की वर्तमान स्थिति. सार्वजनिक उपक्रम अब विभिन्न प्रकार के कार्यक्रमो मे लगे हुए है, उदाहरण के लिये, खनिज पदार्थ निकालना तथा धातु-कर्म, विद्युत पदार्थो, मशीन यत्र, रसायन पदार्थ तथा रसायनिक खाद का विनिर्माण, समुद्री जहाज, वायुयान तथा रेल-इजिन का निर्माण, भवन निर्माण; खनिज तेल की खोज, तथा तेल-शोधन, जल, थल तथा वायु यातायात की व्यवस्था, औद्योगिक वित्त व्यवस्था, तथा जीवन बीमा। जीवन बीमा तथा वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण को, तथा हिन्दुस्तान शिपयार्ड, हिन्दुस्तान जिंक आदि कुछ इकाइयो के स्वामित्व को प्राप्त करने को छोड कर अन्य क्षेत्रो मे सार्वजनिक उपक्रमो का विस्तार राजकीय उद्यम का ही परिचायक है। राजकीय उपक्रमो द्वारा किया गया विनियोग स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से अधिक तेजी से बढ रहा है। तृतीय योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार के उपक्रमो मे साधारण अश तथा ऋण के रूप मे विनियोग ९५३ करोड रुपये से बढकर २,४१५ करोड रुपया हो गया। प्रथम पचवर्षीय योजना के आरभ मे विनियोग केवल २९ करोड रुपया ही था। तृतीय योजना की समाप्ति के बाद और भी विनियोग किया गया है और मार्च, १९६९ के अन्त तक विश्लेषित आँकडो से यह ज्ञात होता है कि केन्द्रीय सरकारी उपक्रमो मे विनियोग लगभग ३,५०० करोड रुपये के आस-पास था।

सार्वजनिक क्षेत्र मे औद्योगिक एव व्यापारिक उपक्रमो को तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है.

(१) सरकार के विभागो द्वारा सीधे सचालित उपक्रम,

(२) साविधिक निगमो द्वारा सचालित उपक्रम, तथा

(३) कम्पनी अधिनियम १९५६ के प्रावधानो के अन्तर्गत पजीकृत सरकारी कम्पनियो द्वारा सचालित उपक्रम।

१९६७-६८ के अन्त तक केन्द्रीय क्षेत्र मे ८३ औद्योगिक एव व्यापारिक उपक्रमो मे से ७७ सरकारी कम्पनी थी, दूसरे शब्दो मे वे कम्पनियाँ जिनमे सरकार का भाग ५१ प्रतिशत से कम न था। शेष ६ को साविधिक निगम के रूप मे स्थापित किया गया और वे है जीवन बीमा निगम, केन्द्रीय भाण्डागार निगम, एयर-इण्डिया, इण्डियन एयर-लाइन्स निगम, तेल एव प्राकृतिक गैस निगम तथा भारत का खाद्य निगम। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि अनेक उपक्रमो को निगमो के रूप मे माना गया है यद्यपि वे कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत पजीकृत सरकारी कम्पनियाँ है।

उदाहरण के लिये, भारत का खाद निगम, भारतीय तेल निगम तथा राज्य व्यापारिक निगम वास्तव मे कम्पनियाँ है और साविधिक निगम नही है ।

सार्वजनिक उपक्रमो की सफलता एव असफलता का निर्णय करते समय यह ध्यान मे रखना महत्वपूर्ण है कि उनमे और निजी क्षेत्र के उपक्रमो मे महत्वपूर्ण अन्तर क्या है। यद्यपि सार्वजनिक उपक्रम भी व्यापारिक सिद्धान्तो को ध्यान मे रखकर ही अपना सचालन करते है तथापि लाभ की धारणा रखना उतना महत्वपूर्ण घटक नही है जैसा कि निजी उपक्रमो की दशा मे है। उदाहरण के लिये, पिछडे क्षेत्रो मे उपक्रमो की स्थापना करना या देशी वायु-परिवहन की अनार्थिक मार्गो मे व्यवस्था करना इस बात का द्योतक है कि इसका निर्धारण लाभ के आधार पर नही अपितु जन-हित के आधार पर ही किया गया है। सार्वजनिक उपक्रमो को उच्चस्तरीय प्रबन्धको की सेवाये प्राप्त करने में भी कठिनाई का सामना करना पडता है। आरभ मे इनका प्रबन्ध करने के लिये सरकारी विभाग के अधिकारी ही आते है न कि औद्योगिक अथवा व्यापारिक क्षेत्र के व्यक्ति। इन उपक्रमो मे नौकरी की शर्ते वही रखनी होती है जो कि सरकारी विभागो मे होती है। इसी कारण से ये अधिक कुशल प्रबन्धको की सेवाओ को उपलब्ध नही कर पाते है।

सार्वजनिक उपक्रम वैसे सामाजिक एव आर्थिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिये एक अत्यन्त शक्तिशाली साधन है । अर्थव्यवस्था मे जो महत्वपूर्ण कमियाँ होती है ये उनकी पूर्ति करते है, विशेषकर, भारी उद्योगो की दशाओ मे जैसे इस्पात, भारी मशीन यत्र, भारी विद्युत उपकरण, भारी रसायन तथा खाद आदि का विनिर्माण, खनिज तेल की खोज तथा शोधन तथा देश मे ही युद्धास्त्रो का विनिर्माण आदि। इन उपक्रमो ने केवल वैदेशिक विनिमय का उपार्जन करने मे ही सहायता नही की है अपितु उद्योगो की आयोजित ढग से स्थापना करके प्रारभिक क्षेत्रीय असतुलन को भी कम किया है। सार्वजनिक उपक्रमो के अन्य उद्देश्य है रोजगार के अवसर मे वृद्धि करना तथा निजी हाथो मे आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोकना।

यद्यपि सार्वजनिक उपक्रमो ने भारतीय अर्थव्यवस्था को दृढ बनाया है और उसमे विभिन्नता लाई है, तथापि उनके कार्य-सचालन के सम्बन्ध मे कुछ दोष रहे है जिनका दूर करना आवश्यक है जिससे कि भविष्य मे उन्हे सफलता उपलब्ध हो सके। दोषपूर्ण योजना तथा स्वीकृति प्राप्त होने मे देरी के कारण अनेक सार्वजनिक क्षेत्र की प्रायोजनाओ के निर्माण मे प्रारभिक अनुमान से अधिक लगा है । अनेक उपक्रमो मे पूँजीगत व्यय अत्यधिक रहा है जिसके कारण अतिपूँजीकरण हुआ और अनेक प्रायोजनाओ मे तो नगर के बसाने मे, प्रशासकीय भवन तथा अतिथालय आदि

के निर्माण मे आवश्यकता से अधिक व्यय किया गया। अनेक सार्वजनिक उपक्रमो मे अत्यधिक हानि होती रही है। यह सत्य है कि उन प्रायोजनाओ की दशा मे, जिनके निर्माण आदि मे अधिक समय लगता है, आरभ मे प्रति-फल की दर या तो कम होगो या हानि हो सकती है। फिर भी इन घटको को ध्यान मे रख कर उचित समायोजन करने के पश्चात् भी यह ज्ञात हुआ है कि अनेक दशाओ मे हानि अन्य कारणो से भी होती रही है। अतिपूँजी-करण इनमे से एक प्रमुख कारण है। प्रायोजना द्वारा पूर्णरूपेण उत्पादन प्रारभ हो इससे पूर्व ही विस्तार के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने से भी हानि हुई है जैसा कि हिन्दुस्तान स्टील को दशा मे रहा है अथवा ऐसा स्थापित क्षमता का पूर्ण प्रयोग न होने से भी होता है जैसा कि भारी इजीनियरिंग निगम तथा भारी इलेक्ट्रिकल्स, भोपाल की दशा मे रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र की प्रमुख असफलता यह भी रही है कि यह प्रबन्धकीय तथा तकनीकी व्यक्तियो का विस्तार करने मे असफल रही है तथा विदेशी इजीनियर, टक्नीशियन तथा सरकार द्वारा भेजे व्यक्तियो पर ही सतत निर्भर रहती रही है। एक कारण यह भी रहा है कि अनेक उपक्रमो मे श्रमिक तथा प्रबन्धको के मध्य स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित नही हो पाया है। साथ हो, कुछ सार्वजनिक उपक्रमो के कार्य मूल्य अथवा उत्पादन की किस्म के दृष्टिकोण से भी पूर्ण सन्तोषजनक नही रहा है। इनके प्रबन्ध के लिये व्यवस्थित सगठन सम्बन्धी सरचना मे भी अनेक दोष पाये जाते है। उच्च अधिकारी अथवा प्रबन्धकगण सचालन के स्तर पर व्यक्तियो को व्यावहारिक निर्देश दे पाने मे समर्थ नही है। सरकारी परिषदो मे सरकारी अधिकारियो का ही टैक्निकल व्यक्तियो की अपेक्षाकृत अधिक प्रतिनिधित्व रहता है। अधिकारो के प्रत्यायोजन की दृष्टिकोण से भी स्थिति सतोषप्रद नही है। सरकार एव सार्वजनिक उपक्रमो के मध्य उत्तरदायित्व का विभाजन भी स्पष्ट नही है जिसके कारण उनकी स्वतन्त्रता का हनन होता है। राष्ट्रीयकरण का तात्पर्य नौकर-शाही को प्रोत्साहन देना नही है। इन उपक्रमो को अपने कार्य मे अन्य व्यापारियो की तरह पूर्ण स्वतन्त्रता ही नही होनी चाहिये अपितु उन्हे जन-समुदाय के हितो एव आवश्यकताओ की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है।

बडे तथा जटिल सार्वजनिक उपक्रमो की स्थापना तथा सचालन मे अब तक पर्याप्त अनुभव प्राप्त हो चुका है। विधिवत प्रयत्न करके इनके अनुभवो से लाभ उठाना चाहिए और इनके द्वारा उत्पन्न साधनो मे वृद्धि करनी चाहिये। साथ ही, भविष्य मे इनकी स्थापना पर पूँजीगत लागत को भी कम करने का प्रयत्न करना चाहिये।

सार्वजनिक उपक्रमो की समस्याये

उद्योगो की स्थापना तथा सचालन मे राज्य का भाग जैसे-जैसे बढता जा रहा है इस समस्या की महत्ता भी बढती जा रही है कि किस ढग से इनका सचालन किया जाय। नये उपक्रमो की सख्या, उनके आकार की बृहत्ता, उनकी विभिन्नता तथा जटिलता से इस बात का आभास हो सकता है कि इनके प्रबन्ध की समस्या कितनी जटिल है। ये राजकीय उपक्रम निकट भविष्य मे अग्रगणी रहेगे और भारतवर्ष मे औद्योगिक विकास को गति प्रदान करेगे। ऐसी आशा है कि, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, ये नवीन रोजगारो का सृजन कर पायेगे और वह आर्थिक साधन प्रदान कर सकेगे जिनसे भावी अतिरिक्त विकास सभव हो सकेगा। यदि इन उपक्रमो को सफल होना है तो शीघ्र-निर्णय तथा उत्तरदायित्व को अपनाने की उत्कट इच्छा का होना आवश्यक होगा। अधिकारो का विकेन्द्रीयकरण होना चाहिए तथा प्रबन्ध व्यापारिक रीतियो के आधार पर ही होना चाहिए।

राजकीय औद्योगिक उपक्रमो के प्रबन्ध की समस्या की विशेष बाते है नियत्रण, निदेशन तथा प्रबन्ध के उचित प्रारूपो का विकास, सभी स्तरो पर उचित व्यक्तियो —सचालक, प्रबन्धक, टैक्नीशियन आदि—का बढता हुआ केन्द्र तैयार करना तथा साथ ही कार्य के क्षेत्र मे उचित परम्परा का निर्माण करना तथा समुचित ढगो को अपनाना। इन सभी बातो के सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना होगा कि इसे सामान्य सरकारी प्रशासन के ढगो से अलग ही बनाना होगा। सगठन का ऐसा रूप तैयार करना होगा जिसमे ससदीय तथा मत्रिमण्डलीय विस्तृत ढाचे के अन्तर्गत ही निजी उपक्रमो की लोच तथा क्षमता भी बनी रहे।

सगठन का प्रारूप यदि हम अभी हाल मे स्थापित किये गये सार्वजनिक उपक्रमो के सगठन के रूपो का विश्लेषण करे तो 'निजी सीमित कम्पनी' रूप का सगठन प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरण के लिये, सिंदरी खाद एव रसायनिक लिमिटेड, हिन्दुस्तान केबिल्स लि०, हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट लि०, हिन्दुस्तान मशीन टूल्ज लि०, इडियन टेलीफोन इण्डस्ट्रीज लि०, भारत इलेक्ट्रानिक्स लि०, हिन्दुस्तान शिपयार्ड लि०, हिन्दुस्तान ऐंटीवायटिक्स लि०, हिन्दुस्तान स्टील लि०, डी० डी० टी० फैक्ट्री, नहान फाउण्ड्री लि०, हिन्दुस्तान हाउसिग फैक्ट्री लि०, नेशनल मिनरल्स डेवलपमेण्ट कारपोरेशन आदि सभी को निजी सीमित कम्पनी के रूप मे सगठित किया गया है। रेलवे रोलिग-स्टॉक के सम्बन्ध मे ही एक अपवाद है जिसे रेलवे परिषद के अन्तर्गत विभागीय फैक्ट्री के रूप मे सगठित किया गया

है । ब्रिटिश मॉडल के समान वायु यातायात, बहुउद्देशीय नदी प्रायोजनाये, कर्मचारी राज्य बीमा, औद्योगिक वित्त, तथा जीवन बीमा को छोड कर एक भी फैक्ट्री स्थापित नही की गई है ।

ऐसे औद्योगिक उपक्रमो के सगठन के रूप के प्रश्न पर जिन्हे पूर्णरुपेण अथवा अधिकाश रूप से सरकार ने लिया तथा वित्त प्रदान किया, नवम्बर १९५० मे विचार किया गया था । सरकार इस निष्कर्ष पर पहुची कि प्रत्येक उपक्रम के सगठन तथा प्रबन्ध के लिये 'निजी सीमित कम्पनी' का रूप ही उपयुक्त होगा, यद्यपि इसे अपनाते समय उपक्रम-विशेष की आवश्यकताओ की ओर भी ध्यान रखना होगा।

यह विचित्र सा लगता है कि सरकार ने स्वय कम्पनी सगठन के सर्वाधिक निजी रूप को ही क्यो चुना जब कि सरकार निजी कम्पनियो के असार्वजनिकता के विरुद्ध रही है, विशेष कर उस दशा मे जब कि भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत निजी व्यापार चलाये जा सकते है । यह और भी विचित्र है कि सरकार किसी भी सरकारी कम्पनी को (एक कम्पनी जिसमे सरकार का उसके अशपूँजी के ५१ प्रतिशत पर स्वामित्व हो) कम्पनी अधिनियम के प्रतिबन्धो से मुक्त कर सकती है।

१९६७ मे प्रशासकीय सुधार आयोग ने 'सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो' के विषय मे अपनी रिपोर्ट मे यह सिफारिश की कि सामान्यतया औद्योगिक क्षेत्र मे सार्वजनिक क्षेत्र की प्रायोजनाओ के लिये 'साविधिक निगम' को ही अपनाना चाहिए। उन प्रयोजनाओ के लिये, जिनमे निजी व्यक्तियो के भाग लेने की बात हो अथवा जो उपक्रम मुख्य रूप से व्यापारिक सस्था के रूप मे कार्य करती हो, 'सरकारी कम्पनी' जैसे सगठन के रूप को अपनाना चाहिए।

विविध इकाइयो वाले उपक्रम. अनुमान समिति ने १९६० मे इस बात पर बल दिया था कि प्रत्येक नये उपक्रम के लिये एक नई कम्पनी या नए सगठन का विचार नही करना चाहिए। भारत मे औद्योगिक सगठन का स्वरूप यह होना चाहिए कि सचालन करने के लिये अपेक्षाकृत थोडे से ही निगम होने चाहिए और प्रत्येक के अन्तर्गत अनेक उपक्रम होने चाहिए । ये निगम धीरे-धीरे उनकी सख्या तथा उनके कार्य-कलाप के क्षेत्रो को बढाने की योजना बना सकती है । दीर्घ-काल मे, राजकीय तथा ससदीय दायित्वो की पूर्ति सर्वोत्तम ढग से हो पायेगी क्योकि अलग-अलग प्रबन्धित कुल उपक्रमो की सख्या अपेक्षाकृत कम होगी और सरकार उनकी समेकित रिपोर्ट का अध्ययन आसानी से कर पायेगी । यदि कोई उपक्रम ढग से सचालित की गई है तथा उसने अपने उद्देश्यो की पूर्ति कर ली है तो वह सम्बन्धित क्षेत्रो मे अपना विस्तार कर सकती है । निश्चित समय के

उपरान्त, राजकीय उपक्रमो का उनके उत्पादन अथवा अन्य उचित आधार पर वर्गीकरण करके उन्हे अलग-अलग मत्रालय के अन्तर्गत रखा जा सकता है। सार्वजनिक क्षेत्र की वृद्धि के साथ-साथ यह आवश्यक है कि अन्तर्सम्बन्धित उपक्रमो के मध्य अधिक से अधिक समन्वय की व्यवस्था हो। सामान्यतया, विस्तार के लिये नए उपक्रमो की स्थापना करने के स्थान पर पुराने परन्तु सक्षम उपक्रमों को ही भार सौंपा जाना चाहिए।

इस स्थान पर यह बताना उपयुक्त है कि भारतीय निगम के नाम से १९६१ के आरभ मे एक ही निगम की स्थापना की गई जिसके अन्तर्गत भारत मे सार्वजनिक क्षेत्र मे सभी खाद के कारखानो का समुचित नियत्रण एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत किया जा सके। इससे उनकी कार्य क्षमता मे वृद्धि होगी तथा आर्थिक सचालन मे सुविधा होगी। यह भी निर्णय इसी दृष्टिकोण को ध्यान मे रख कर लिया गया है कि पूर्वी तथा पश्चिमी शिपिग निगमो का समामेलन कर दिया जाय। सरकार ने यह भी निर्णय लिया है कि हैवी इलेक्ट्रिकल्स को, जिसका आरभ मे केवल भोपाल की प्रायोजना से ही सम्बन्ध था, भारी विद्युत उपकरणो का उत्पादन करने के लिये दो अन्य नये प्रायोजनाओ का भार भी सौप दिया जाय। उसी प्रकार, भारी इजीनियरिंग निगम (राँची) के अन्तर्गत चार अलग-अलग प्रायोजनाएँ हैं एक भारी मशीन बनाने वाली फैक्ट्री, एक भारी मशीन यत्र बनाने का सयत्र, एक फाउण्ड्री फोर्ज प्रायोजना, तथा एक कोयले के खान की मशीनरी की इकाई। प्रथम तीनो सयत्र की स्थापना राची के पास हितैची नामक स्थान पर तथा चौथे की दुर्गापुर मे की जा रही है।

प्रशासकीय सुधार आयोग ने १९६७ मे यह सिफारिश की कि कुछ क्षेत्रो के सभी औद्योगिक सस्थानो के क्षेत्रीय निगम के रूप मे वर्गीकृत किया जाना चाहिए। ये क्षेत्र है लोहा एव इस्पात, इजीनियरिंग तथा मशीन टूल्ज, विद्युत सम्बन्धी, कोयला तथा लिगनाइट, पेट्रोलियम तथा पेट्रो-कैमिकल्स, लोहा तथा अन्य धातुओ का खदान, खाद, इलेक्ट्रानिक, रसायन तथा औषधियाँ, वायु यातायात, जहाजरानी, होटल तथा पर्यटन आदि। इन क्षेत्रीय निगमो को सौपे गये कार्यों का सरकार के लिये आरक्षित अधिकार, तथा वे अधिकार जो निगम के सचालन के स्तर के इकाइयो को दिया जाना हो आदि के सम्बन्ध मे स्पष्ट विवरण दिया जाना चाहिए। इससे सरकार द्वारा निगम की स्वतन्त्रता पर आघात से सुरक्षा हो सकेगी तथा साथ ही निगम के स्तर पर अधिकारों का अनुचित केन्द्रीयकरण भी न हो पायेगा।

• क्षेत्रीय निगमों को चाहिए कि वे अपने अधीन इकाइयो पर अनुचित प्रशासकीय नियंत्रण न रखे तथा शोध तथा विकास को बढाने के लिये, डिजाइनिग तथा

कसल्टेसी सेवाये प्रदान करने के लिये, व्यक्तियो की नियुक्ति तथा प्रशिक्षग के समन्वय के लिये तथा अन्य सेवा-सुविधा प्रदान करने के लिये अपने विशेष दायित्वो की ओर ही उचित ध्यान दे । आन्तरिक बजट कार्यक्रम की जाच करने मे प्रबन्धकीय नियन्त्रण के लिये आवश्यक सूचना तथा रिपोर्ट की प्रणाली को सुव्यवस्थित करने मे क्षेत्रीय निगम महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है।

सरकार ने सिद्धान्तत क्षेत्रीय निगमो की स्थापना के सम्बन्ध मे की गई सिफारिश को नही माना । फिर भी, यह स्वीकार किया कि कुछ दशाओ मे क्षेत्रीय निगमो की स्थापना करने से लाभ हो सकता है तथा उन दशाओं के विषय मे उनकी स्थिति को ध्यान मे रख कर विचार किया जायगा ।

प्रबन्ध का स्वरूप यह सुझाव दिया गया है कि "परिषद का सघटन इस प्रकार नही होना चाहिए कि उससे स्वतन्त्रता जैसे प्रमुख तत्व का हनन हो जाय, या यूँ कहिये कि इससे उत्तरदायित्व की परस्परव्यापिता न बढे, या इसके परिणामस्वरूप अन्य रास्तो से नियत्रण तथा हस्तक्षेप न हो।" दूसरे शब्दो मे, राजकीय उपक्रमो के परिषदो मे ससद-सदस्यो को, मत्रियो को तथा विभागीय प्रतिनिधियो को सदस्य नही बनाया जाना चाहिए । साथ ही, परिषद को अपने-अपने हितो तथा वैचारिक विभिन्नता को मिटाने का साधन नही बनाया जाना चाहिए । इसका प्रमुख उद्देश्य जन हित मे प्रबन्ध करना होना चाहिए । परिषद का सगठन इस प्रकार का होना चाहिए कि जनहित और साथ ही सक्षम निजी उद्योगपतियो के विशेष गुणो का समावेश हो सके । इन परिषदो मे विभिन्न गुण वाले व्यक्तियो का प्रतिनिधित्व होना चाहिए, जैसे, प्रशासकीय, व्यापारिक, वित्तीय तथा तकनीकी । सभी व्यक्तियो को मिल-जुल करके एक दल के रूप मे कार्य करना चाहिए ।

प्रबन्ध के लिये परिषद के सघटन के सम्बन्ध मे प्रशासकीय सुधार आयोग की सिफारिशो को ध्यान मे रखते हुए, सरकार ने मई १९६८ मे यह निर्णय किया कि सामान्यतया पूर्णकालीन अध्यक्ष एव प्रबन्ध-सचालक नियुक्त किया जाना चाहिए । उन दशाओ मे अपवाद हो सकता है जब कि अध्यक्ष पूर्णकालीन न हो। उन दशाओ मे एक पूर्णकालीन प्रबन्ध सचालक होना चाहिए । अध्यक्ष पूर्णकालीन न हो तो भी उसे पूरा उत्तरदायित्व लेना चाहिए और उसे सम्पूर्ण अधिकार दिये जाने चाहिए । अध्यक्ष एव प्रबन्ध सचालक के मध्य अधिकारो का विस्तार नही होना चाहिए। बडी इकाइयो मे, पूर्णकालीन क्रियाशील निदेशक होना चाहिए जो कि अपने विभाग का कार्याध्यक्ष हो । कार्य प्रणाली का स्वरूप रेलवे परिषद के अनुरूप होना चाहिए। सरकार ने यह भी विचार किया कि सरकार तथा निदेशक

बोर्ड के मध्य ही नही अपितु उपक्रम के अन्तर्गत भी अधिकारो का समुचित विकेन्द्रीयकरण होना चाहिए। दो से अधिक सरकारी प्रतिनिधियो को सामान्यतया नियुक्त नही किया जाना चाहिए और दो या तीन गैर-सरकारी प्रतिनिधि अशकालीन सदस्य के रूप मे नियुक्त किये जाने चाहिए। परिषद मे श्रमिको को प्रतिनिधित्व दिये जाने के बारे मे यह निर्णय लिया गया कि सिद्धान्तत उन्हे भी परिषद मे सम्मिलित किया जाना चाहिए। श्रमिको का यह प्रतिनिधित्व केवल औद्योगिक इकाइयो मे ही होना चाहिए और वित्तीय तथा व्यापारिक उपक्रमो मे नही होना चाहिए।

प्रबन्धको की स्वायत्तता. सरकारी उपक्रमो की स्वायत्तता की सुरक्षा की व्यवस्था इस प्रकार अवश्य की जानी चाहिए जिससे कि सम्बन्धित मत्रालयो द्वारा हस्तक्षेप कम से कम हो। अनुमान समिति ने यह उल्लेख किया था कि मत्रालयो का उन उपक्रमो के प्रति उसी प्रकार का व्यवहार पाया जाता है जिस प्रकार कि सचिवालयो का सरकारी विभागो एव कार्यालयो के साथ पाया जाता है। "इस प्रकार सरकारी उपक्रम मत्रालयो के उपाबध के रूप मे बन गये है और इनके साथ अधीन सगठन अथवा कार्यालय की भाति व्यवहार किया जाता है।" समिति ने इस प्रवृत्ति की आलोचना की और यह विचार प्रस्तुत किया कि इससे उन उपक्रमो की कार्यक्षमता प्रभावित होती है और लालफीताशाही तथा कार्य सम्बन्धी देरी होती है जैसा कि सभी सरकारी कार्यालयो मे पाया जाता है।

सरकारी उपक्रमो को व्यापारिक सिद्धान्तो के आधार पर ही चलाया जाना आवश्यक है या यूँ कहिए कि उन्हे अपने दिन-प्रति-दिन के प्रशासन मे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। इकाफे (ECAFE) सेमिनार मे जो कि दिसम्बर १९५९ मे सार्वजनिक औद्योगिक उपक्रमो के प्रबन्ध के विषय पर हुआ था यह विचार प्रस्तुत किया गया कि स्वतन्त्रता एव नियन्त्रण के मध्य उचित सतुलन एक नाजुक बात है और प्राय उसे बनाये रखना कठिन होता है। सार्वजनिक उपक्रमो पर सरकार के नियन्त्रण को स्वीकार करते हुए सेमिनार मे भाग लेने वालो ने यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया कि यह नियत्रण ऐसा नही होना चाहिए कि उसके दिन-प्रति-दिन के कार्यकलापो पर हस्तक्षेप हो अपितु इसे मोटे तौर पर निदेशन तक ही सीमित होना चाहिए। जहाँ तक मोटे तौर पर नीति का प्रश्न है उस पर तो सरकार का सामान्य नियत्रण तथा पर्यवेक्षण इन उपक्रमो पर होना चाहिए, परन्तु निर्धारित नीति के अन्तर्गत उन्हें अनुकूलतम आकार तथा न्यूनतम लागत पर उत्पादन करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। समस्या यह भी है कि मत्री एव सचिव इन उपक्रमो के प्रधान अधिकारियो पर अनुचित दबाव न डाल सके।

कर्मचारियो पर प्रशासन सरकारी उपक्रमो को सफल बनाने के मार्ग मे प्रशिक्षित कर्मचारियो का उनके प्रबन्ध के लिए उपलब्ध न होना एक बहुत बडा बाधक है। सरकारी औद्योगिक उपक्रमो के प्रशासन मे तथा सामान्य सरकारी प्रशासन मे अत्यधिक अन्तर है। अत्यधिक आवश्यक बात तो यह है कि किस प्रकार से सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत ही प्रबन्धकीय साधनो की वृद्धि की जाय। सार्वजनिक उपक्रमो मे वरिष्ठ पदो पर अथवा परिषद के सदस्यो की अथवा अध्यक्ष की नियुक्ति करते समय प्रयत्न यही होना चाहिए कि उन्ही व्यक्तियो को प्राथमिकता दी जाय जो कि उपक्रम मे ही अपनी क्षमता के बल पर आगे बढे हो। तकनीकी तथा प्रबन्धकीय साधनो का विकास करना इसके लिये आवश्यक है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि जो योग्य व्यक्ति हो उन्हे अपेक्षाकृत तीव्रता के साथ आगे बढने का अवसर प्रदान किया जाय और जो कुशल तथा योग्य न हो उन्हे हतोत्साहित किया जाय।

कर्मचारियो से सम्बन्धित नीतियो एव नियमो द्वारा उत्पन्न सख्ती से, जो कि सरकारी विभागो मे पाई जाती है, छुटकारा मिलना चाहिए। उच्च प्रबन्ध स्तर पर प्रतिनियुक्त व्यक्तियो (deputationists) को अधिक नही रखा जाना चाहिए क्योकि वे उपक्रम के हितो का विशेष ध्यान रखने मे समर्थ नही हो पाते और पदोन्नति के लिये अपने विभाग की ही ओर विशेष ध्यान रखते है। ऐसे व्यक्तियो को प्रोत्साहन देने के स्थान पर सस्था मे ही कार्य कर रहे कर्मचारियो को चुनाव मे प्राथमिकता देना आवश्यक है।

सार्वजनिक उपक्रमो के सक्षम सचालन मे प्रशिक्षित व्यक्तियो की कमी भी एक महत्वपूर्ण बाधक है। इसके लिये प्रथम आवश्यकता यह है कि सार्वजनिक उपक्रम के लिये कितने व्यक्तियो की आवश्यकता होगी इसका अनुमान लगाया जाय। उनके प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए, परन्तु ध्यान यह रखा जाय कि इस सम्बन्ध मे समन्वित प्रयास किये जायँ। ऐसा न हो कि विभिन्न सस्थाये इस दिशा मे प्रयास करे और इस प्रकार दुहरा कार्य चलता रहे। सार्वजनिक उपक्रमो का ब्यूरो इस दिशा मे लाभदायक कार्य कर सकता है। उसे प्रशिक्षण सम्बन्धी कार्यक्रमो की जाँच करनी चाहिए। विभिन्न सार्वजनिक उपक्रमो तथा देश मे चलाई जा रही प्रशिक्षण सस्थाओ के मध्य सहयोग के लिये भी इसे प्रयास करना चाहिए।

अनेक सार्वजनिक उपक्रमो मे सचालन-लागत के अधिक होने का एक कारण यह है कि आवश्यकता से अधिक कर्मचारियो की नियुक्ति उनमे की गई है। अतिरिक्त कर्मचारी नियुक्त न होने पाये इसके लिये प्रारभ से ही कार्य मानको तथा उचित

नियत्रण प्रणालियो को अपनाना चाहिए । अतिरिक्त कर्मचारी के बारे मे पता लगाने के लिये इजीनियरो को चाहिए कि वे समय-समय पर कार्य अध्ययन करते रहे। यह भी ध्यान रखा जाय कि प्रशिक्षित व्यक्ति प्रशिक्षण के पश्चात् सस्था को छोडकर न चले जायँ।

सरकारी उपक्रमो के प्रबन्ध मे श्रमिको के भाग लेने के विषय मे भी प्राय. विचार किया जाता है। परन्तु इस सम्बन्ध मे विचार करते समय केवल क्षमता को ही ध्यान मे न रख कर समाज के अन्तिम उद्देश्यो को भी ध्यान मे रखना अति आवश्यक है। हमारा उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना करना है और इसके अन्तर्गत तो श्रमिको का भाग लेना निहित है। सम्मिलित प्रबन्ध समिति मे उन्ही श्रमिको को प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए जो कि सभी श्रमिको द्वारा निर्वाचित किए गये हो और न कि उन्हे जो कि श्रम सघो द्वारा मनोनीत हो।

श्रम सहसम्बन्ध. स्वतन्त्रता के पश्चात् सार्वजनिक क्षेत्र मे सगठित प्रायोजनाओ के श्रमिको मे अत्यधिक उत्साह था। उन्हे आशा थी कि कल्याणवादी सरकार के उद्देश्य की पूर्ति के हेतु उन्हे इनमे अधिकाधिक सुविधाये प्राप्त होगी। उनके रहन-सहन का स्तर ऊँचा होगा और उनके काम करने की दशाये सुधरेगी। इस सम्बन्ध मे दृष्टिकोण यह था कि सार्वजनिक उपक्रमो मे श्रमिको के हित के लिये कार्य तथा रहन-सहन की माडल दशाये प्रस्तुत की जायँ, उन्हे अपने ज्ञान को बढाने का सुअवसर प्रदान किया जायगा और इस प्रकार उनकी पदोन्नति के लिये रास्ते खोले जायँ। चितरजन लोकोमोटिव वर्क्स मे, जो कि स्वतन्त्रता के पश्चात् पहले स्थापित किये गये कारखानो मे से एक था, कर्मचारियो को कारखाने के अन्दर तथा बाहर सभी प्रकार की सुविधाये प्रदान करने का प्रयास किया गया था। अधिकाश केन्द्रीय सरकार के उपक्रमो मे उनके कर्मचारियों तथा उनके परिवार के लिये अल्पाहारगृह, उनके बच्चो के लिये स्कूल, अस्पताल, खेल का मैदान तथा सभी खेलो की व्यवस्था आदि सभी सुविधाये अधिकाधिक प्रदान की जा रही है। इस सम्बन्ध मे स्वतन्त्रता से पूर्व स्थापित सभी औद्योगिक उपक्रमो मे ऐसी सुविधाये नही प्रदान की जाती थी। इन उपक्रमो के लिये कर्मचारियो को तकनीकी प्रशिक्षण प्रदान करना महत्वपूर्ण है और ऐसा ही दृष्टिकोण इन उपक्रमो मे अपनाया गया है। चितरजन लोकोमोटिव वर्क्स, हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, पेरम्बूर कोच फैक्ट्री आदि मे विभिन्न वर्ग के श्रमिकों के प्रशिक्षण के लिये समुचित व्यवस्था की गई है। मजदूरी तथा भत्ता के सम्बन्ध मे इन उपक्रमो के श्रमिको की स्थिति निजी उपक्रमो की अपेक्षाकृत भिन्न नही है। कुछ इकाइयों मे श्रमिको तथा प्रबन्धकों के मध्य सहयोग को दृढ तथा प्रभावशाली बनाने

के लिये सम्मिलित प्रबन्ध परिषदो की स्थापना के लिये प्रयत्न किया गया है। ऐसी परिषदो की स्थापना हिन्दुस्तान मशीन टूल्स तथा हिन्दुस्तान इसेक्टीसाइड मे की गई है।

सरकारी उपक्रमो मे श्रमिको को इतनी सुविधाये प्रदान किये जाने के उपरान्त भी उनमे श्रम सहसम्बन्धो मे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन दृष्टिगोचर नही हुआ है। इस दिशा मे सफलता का प्रभाव इस तथ्य से भी ज्ञात होता है कि अनेक सरकारी उपक्रमो के प्रबन्धको ने श्रम सघो को औपचारिक मान्यता नही प्रदान की है। इन सघो का नेतृत्व अधिकाश दशाओ मे राजनीतिक दलो के व्यक्तियो द्वारा किया जाता है और परिणामस्वरूप वे उपक्रमो की कार्यक्षमता मे वृद्धि के लिये तथा अनुशासन को प्रोत्साहित करने मे कोई सक्रिय सहयोग नही देते। यद्यपि वे ऐसे उपायो की आवश्यकता को समझते है, फिर भी अपनी लोकप्रियता को खो देने के भय से वे प्रबन्धको को सहयोग देने मे अपने को असमर्थ पाते है। परन्तु इन उपक्रमो के प्रबन्धको के द्वारा श्रम सघो को स्वीकृत न करना विचित्र सा लगता है जब कि सरकार श्रमिको तथा प्रबन्धको के मध्य उचित सम्बन्ध की नीति का समर्थन करती रही है। हिन्दुस्तान मशीन टूल्स मे भी, जहॉ इसकी स्थापना से ही इनके मध्य सम्बन्ध अच्छे रहे है और सम्मिलित प्रबन्ध परिषद कार्य कर रही है, अभी हाल मे यह ज्ञात हुआ है कि इस दिशा मे अधिक सफलता उपलब्ध नही हुई है।

यह उल्लेखनीय है कि श्रमिको की अपनी सामान्य स्थिति इस प्रकार की है जो उचित सह-सम्बन्ध को बनाने मे बाधक है और जो वर्तमान स्थिति के लिये उत्तरदायी है। श्रम सघो की बहुलता, इनका विभिन्न राजनीतिक दलो से सम्बन्ध, अन्तर्सघीय वैमनस्य आदि ऐसी बाते है जिनके कारण श्रमिको के नेतागण अपना कर्त्तव्य उत्तरदायित्वपूर्ण ढग से नही निभा पा रहे है। यह सुझाव दिया जा सकता है कि वर्तमान अवस्था मे दोनो के मध्य सम्बन्ध सामूहिक सौदाकारी पर आधारित होना चाहिए और दोनो के मध्य साझेदारी के लिये बाद मे प्रयत्न किया जाना चाहिए।

खाता रखने की प्रणाली. कम्पनी सन्नियम प्रशासन ने विभिन्न सार्वजनिक उपक्रमो मे सक्षम आन्तरिक खाता तथा लागत लेखा प्रणाली की अनुपस्थिति की आलोचना की है। इस दिशा मे उन्नति ठीक से नही हुई है और इसके परिणाम-स्वरूप बजट सम्बन्धी अपूर्ण योजना, लागत पर क्षमताहीन नियन्त्रण तथा नीति निर्धारण के लिये उपलब्ध आँकडो का अपर्याप्त प्रयोग आदि बाते पाई जाती है। इसीलिये इस विभाग ने सरकारी कम्पनियो को यह सुझाव दिया है कि वे

सक्षम लागत लेखा प्रणाली का सगठन करने के लिये उचित ढग से प्रयास करे। इन उपक्रमो के अधिकारियो को प्रेरित किया गया है कि वे सस्था मे प्रबन्ध तथा खातो की व्यवस्था के लिये कुशल तथा विशिष्ट योग्यता प्राप्त कर्मचारियो की व्यवस्था करे। जब इन सरकारी उपक्रमो मे उचित आन्तरिक खाता प्रणाली व्यवस्थित हो जायगी तभी उनकी क्षमता का मूल्याकन सही ढग से सभव हो पायेगा। साथ ही खातों के विभिन्न प्रकार से रखे जाने के कारण तथा अलग-अलग ढग से प्रस्तुत किये जाने के कारण एक ही वर्ग के विभिन्न सरकारी उपक्रमो के सम्बन्ध मे समेकित वित्तीय सूचना प्राप्त करने मे भी कठिनाई होती है। इसीलिये यह अति आवश्यक है कि सभी सरकारी कम्पनियो मे एक ही प्रकार तथा ढग से खाते रखे जायँ। सरल ढग से खाते रखने से सभी को विशेष लाभ होगा। सक्षम तथा उचित ढग से व्यवस्थित खाता प्रणाली की आवश्यकता बहुत बढ गई है क्योकि अब अनेक सार्वजनिक उपक्रमो ने स्थापना के पश्चात् उत्पादन प्रारभ कर दिया है।

अंश पूंजी में जनता का भाग लेना　१९५९ मे कृष्णा मेनन समिति ने यह प्रस्ताव रखा था कि कुछ चुने हुए सार्वजनिक उपक्रमो के अंश-पूंजी मे आम जनता को भी भाग लेने दिया जाय। इस तथ्य का बाद मे योजना आयोग द्वारा नियुक्त एक स्टडी ग्रुप ने भी समर्थन किया था। इस ग्रुप ने यह सिफारिश की थी कि हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, सिदरी फर्टीलाइजर्स तथा कुछ राज्य यातायात निगमो के २५ प्रतिशत अशो को जनता को प्रस्तावित करके आरभ किया जा सकता है। इस ग्रुप का यह विचार था कि जनता का इन उपक्रमो की अश-पूँजी मे भाग लेने से अधिक लाभ होने की सभावना है। इससे विनियोग करने वाली जनता "जोखम तथा अनिश्चितताओ का, तथा विस्तार तथा विकास से सम्बन्धित कठिनाइयो एव पीडाओ को सहन करने मे" सहभागी हो सकेगी। इसका परिणाम यह होगा कि अधिक से अधिक लोग सरकार के कार्य-कलापो मे भाग ले सकेंगे और इस प्रकार वे सभी प्रक्रियाओ से अवगत होते रहेगे। साथ ही वे औद्योगीकरण की सभी समस्याओ को समझ सकेंगे और स्वय उन्हे दूर करने के लिये विचार करने का प्रयत्न करेंगे और इस प्रकार कुछ सीमा तक वे देश की औद्योगिक उन्नति को गति प्रदान करने मे सहायक होंगे। इन विचारों को ध्यान मे रखते हुए योजना आयोग ने इस ग्रुप की सिफारिशो का समर्थन किया था और अन्तिम निर्णय के लिये केन्द्रीय सरकार के पास प्रेषित कर दिया था।

इस प्रस्ताव के कारण ससद के अन्दर और बाहर विवाद उठ खडा हुआ। एक वर्ग ने तो इस आधार पर आलोचना की कि इसका परिणाम यह हो सकता है

कि निजी क्षेत्र द्वारा इन सार्वजनिक उपक्रमो के अशो के बाजार को धीरे-धीरे समेटा जा सकता है। अधिकाश लोगो का विचार यह था कि इस योजना की सराहना अधिकाश निजी विनियोक्ता न करेगे और इसमे भाग न लेंगे, परिणाम-स्वरूप सस्थागत विनियोक्ताओ पर ही अन्त मे अतिरिक्त भार पडेगा। केन्द्रीय सरकार मत्रालय के सचिवो की विशिष्ट समिति तथा मत्रिमडल उपसमिति ने भी इस प्रश्न पर विचार किया और उन्होने अन्त मे यही निष्कर्ष निकाला कि वर्तमान परिस्थितियो मे इस योजना को कार्यान्वित नही किया जा सकता। इस प्रस्ताव को तभी अपनाया जाय जब कि यह आश्वासन प्राप्त हो जाय कि इनके अशो का केवल वास्तविक विनियोक्ताओ द्वारा ही क्रय किया जायगा। यह तभी सम्भव हो पायेगा जब कि इन सार्वजनिक उपक्रमो के लाभ की मात्रा मे पर्याप्त वृद्धि हो जाय।

मध्यम वर्ग के लोग भी अब अधिक से अधिक सामान्य अशों के क्रय करने मे अपनी रुचि दिखा रहे है। इसका कारण यह है कि उन्हे इस विनियोग के बारे मे अधिक जानकारी है और साथ ही सतत मुद्रा-स्फीति के समय यह आवश्यक है कि वे उन्ही प्रतिभूतियो मे विनियोग करे जिनका वास्तविक मूल्य भविष्य मे भी बना रहे। उनमे से सभी विनियोक्ता को निजी क्षेत्र मे पूर्ण विश्वास नही है। वे सरकारी प्रतिभूतियो मे भी विनियोग नही करना चाहते क्योकि स्फीति काल मे उनका वास्तविक मूल्य गिरता जाता है। ऐसे व्यक्तियो के पास जो पूंजी है वह फिर भूमि अथवा भवन आदि में ही विनियोजित की जाती है क्योकि उनका मूल्य बढता रहता है परन्तु देश की अर्थव्यवस्था को इससे कोई भी लाभ नही होता है। ऐसी पूंजी को सार्वजनिक उपक्रमो मे विनियोजित करने के लिये प्रोत्साहित किया जा सकता है क्योकि यहाँ सुरक्षा अधिक है और अधिक लाभ प्राप्त करने की भी सभावना रहती है। इनके अश कुछ ही व्यक्तियो के हाथ मे केन्द्रित न होने पाये इसके लिये उचित प्रयास किये जा सकते है। साथ ही, श्रमिको को लाभ मे से रोकड बोनस के रूप मे धन न देकर उनसे यह समझौता किया जा सकता है कि उसे अतिरिक्त अश पूंजी मे बदल दिया जाय। इससे इन श्रमिको का सहयोग एव उनकी रुचि इन उपक्रमो मे बढती जायगी जो हितकर है।

संसद का नियन्त्रण. जनता की अतुल्य धनराशि जो इन सार्वजनिक उपक्रमो मे विनियोजित हुई है और इनको जो स्वतन्त्रता उपलब्ध है उन पर विचार करते हुए ससद का इनके प्रति अपेक्षाकृत अधिक कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व है। ससद के प्रति और उसके माध्यम से जनता के प्रति, इन उपक्रमो के उत्तर-

दायित्व के सिद्धान्त को आलोचना का विषय नही बनाया जा सकता है। परन्तु कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देना होता है और विशेषकर जब इसके रूप तथा मात्रा के विषय मे निर्णय लेना हो। कुछ अधिकारियो का यह विचार है कि ससद ने इन उपक्रमो को स्वतन्त्र बना कर अपना यह अधिकार समाप्त कर दिया है कि वे ससद के उत्तरदायी रहे अथवा ससद का उन पर नियत्रण रहे। क्योकि यदि ससद ऐसा करती है तो उनकी स्वतत्रता तो भग होती ही है और साथ ही उनका उत्साह तथा उद्यम कम होता है और परिणामस्वरूप उनकी कार्यक्षमता प्रभावित होती है। दूसरे लोगो का यह विचार है कि इन पर ससद का उपयुक्त नियन्त्रण रहना जिससे कि वे ससद के प्रति उत्तरदायी रहे उन्ही के क्षमतापूर्ण प्रबन्ध के हित मे आवश्यक है। परन्तु इन उपक्रमो के स्वस्थ विकास के लिये, क्षमतापूर्ण सचालन के लिये तथा उन पर विनियोजित जनता के कोष से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिये, यह आवश्यक है कि इन दोनो उग्र विचारो के स्थान पर कोई मध्यम मार्ग अपनाया जाय। इन उपक्रमो की प्रकृति ऐसी है कि ससद को अपने नियत्रण मे कुछ न कुछ लोच रखना ही होगा। नियत्रण की प्रकृति, मात्रा एव रूप को प्रत्येक उपक्रम की प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न होना चाहिए। इसके लिये उपक्रमो की उन्नति की अवस्था तथा अन्य सम्बन्धित बातो को भी ध्यान मे रखना होगा। साथ ही जब ससद ने इन उपक्रमों को यह दायित्व सौपा है कि वे व्यापारिक सिद्धान्तो के अनुसार ही अपना सचालन करे तो ऐसी दशा मे उसे इन सिद्धान्तो को ध्यान मे रखकर ही विवेकपूर्ण ढग से उन पर नियत्रण रखना होगा।

राजकीय उपक्रमो पर ससद अपना नियत्रण निम्नलिखित मे से किसी एक ढग से करता है (क) प्रश्न, (ख) विभिन्न मत्रालय द्वारा वार्षिक अनुदान की माँग पर बहस; (ग) कम्पनी अधिनियम, १९५६ की धारा ६३९ के अन्तर्गत सरकारी कम्पनियो पर वार्षिक रिपोर्ट, (घ) सार्वजनिक खाता समिति तथा अनुमान समिति की रिपोर्ट, तथा (च) सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो पर समिति द्वारा जाँच। ससद के प्रति उपक्रमो के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध मे कई दिशाओ मे सुधार किया जा सकता है। (१) इन उपक्रमो के वार्षिक खाते तथा रिपोर्ट तथा अकेक्षण रिपोर्ट को और अधिक विस्तार के साथ बनाया जाना चाहिए जिससे कि अपने मे वह पूर्ण प्रलेख बन सके और उन पर अच्छी तरह बहस की जा सके। उनमे उपक्रमो के सभी कार्य-कलापों का—जैसे सगठन सम्बन्धी, सचालन सम्बन्धी, उत्पादन, वित्त तथा कर्मचारियो से सम्बन्धित—विस्तार के साथ वर्णन किया जाना चाहिए। उनमे मत्रालयो द्वारा दिये गये

निदेशनो का भी विशिष्ट रूप से उल्लेख किया जाना चाहिए। (२) ससद मे उचित समय के अन्तर पर राजकीय उपक्रमो पर नियमित रूप से बहस की जानी चाहिए। (३) इन उपक्रमो को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए कि वे व्यापारियो की तरह बजट तैयार करे जिन्हे सरकार के प्रमुख बजट के साथ सलग्न किया जाय तथा सामान्य शर्तो के साथ स्वीकृत किया जाय। (४) सार्वजनिक खाता तथा अनुमान समिति को इन उपक्रमो पर समुचित नियत्रण रखना चाहिए। सार्वजनिक खाता समिति ससद मे प्रस्तुत किये गये इनके वार्षिक खातो तथा अकेक्षण रिपोर्ट का सफलता के साथ जाँच करती रही है।

भारतवर्ष मे, ससद के लगभग ८० प्रतिशत सदस्य ग्रामीण निर्वाचन क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते है और वे, यद्यपि चाहे भी, इस योग्य नही है कि इन औद्योगिक उपक्रमो पर आवश्यक सतर्कता के साथ ध्यान रख सके। इसीलिये यह आवश्यक है कि स्थायी ससदीय समिति का गठन किया जाय जो कि इन उपक्रमो की रिपोर्ट की जाँच कर सके। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो पर समिति की स्थापना इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये की गई है।

प्रशासकीय सुधार आयोग का विचार है कि इन उपक्रमो के कार्य-कलापो पर ससद मे प्रति वर्ष पूरी बहस किया जाना आवश्यक है। इसके लिये, ससद मे उचित ढग से पर्याप्त सूचना का दिया जाना महत्वपूर्ण है। इनकी वार्षिक रिपोर्ट मे सुधार किया जाना आवश्यक है। सरकार ने इस सिफारिश को स्वीकृत नही किया है कि इनकी वार्षिक रिपोर्ट का एक मॉडल प्रारूप होना चाहिए। इस रिपोर्ट मे फिर भी सभी महत्वपूर्ण मामलो का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए जैसे, उनका लक्ष्य, उपलब्ध उत्पादन का स्तर, निर्यात के दृष्टिकोण से प्राप्त सफलता अथवा असफलता तथा वैदेशिक विनिमय जो प्राप्त हुआ हो।

मत्रियो का उत्तरदायित्व मत्रियो का उत्तरदायित्व अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योकि इसी के माध्यम से ससदीय नियत्रण सम्भव होता है। जिन अधिनियमो के अन्तर्गत इन सरकारी उपक्रमो की स्थापना की जाती है उनके अन्तर्गत ससद के द्वारा कुछ अधिकार सरकार के लिये आरक्षित रखे जाते है। इन अधिकारो के अन्तर्गत प्राय उपक्रम के प्रशासन के हेतु प्रमुख अगो को नियुक्त करना होता है: पूँजी मे वृद्धि के हेतु स्वीकृति का अधिकार, उधार को सीमित करने का अधिकार, कुछ सीमा के ऊपर विस्तार की योजना को स्वीकृत करने का अधिकार, आदि होते हैं। इन विशिष्ट अधिकारो के अतिरिक्त सरकार को इन उपक्रमो को निदेशन देने का अधिकार होता है। यह अधिकार सरकार को इसीलिये दिये जाते है कि ये उपक्रम स्वतन्त्रता के नाम पर ऐसे कार्य न करे जो कि सरकार की या

राष्ट्रीय नीतियो के विरुद्ध हो। व्यवहार मे, मन्त्रियो के लिये यह सभव नही रहता कि वे अपने अधिकारो को साविधिक कर्त्तव्यो तक ही सीमित रखे। सम्बन्धित मत्री इन उपक्रमो का नियन्त्रण करने का, अथवा निदेशन करने का, अथवा उनके सक्षम सचालन का विस्तृत अधिकार रखते है। अत मत्री को सम्बन्धित उपक्रमो को सामान्य सफलता अथवा असफलता का उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर रखना चाहिए। परन्तु इस उत्तरदायित्व का अर्थ उदारता के साथ न लेकर सकुचित दृष्टिकोण से लेना चाहिए।

यह आवश्यक है कि सम्बन्धित मत्रालय तथा सचालक परिषद के मध्य कार्यो का स्पष्ट विभाजन हो। मत्री को कम्पनी से सम्बन्धित सामान्य बातो के सम्बन्ध मे, विशेषकर जो परिषद के कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत आती हो, प्रश्नो का उत्तर देना स्वीकार नही करना चाहिए, यदि वे ऐसा करते है तो वे उन उत्तर-दायित्वो को अपने ऊपर लेते है जो कि उनके लिये आरक्षित अधिकारो या नियत्रण के बाहर होते है। यदि मत्री ऐसे प्रश्नो का उत्तर नही देता तो उसका यह अर्थ नही निकाला जाना चाहिए कि वह अपने उत्तरदायित्व से बचने का प्रयास कर रहा है।

कुछ वित्तीय समस्याये

प्रायोजनाओं का आयोजन तथा निर्माण अभी हाल के वर्षो मे सरकार की नीति के अनुसार भारतवर्ष मे सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार तीव्रता के साथ हुआ है परन्तु उनमे से बहुत से उपक्रमो की स्थापना समुचित सूझ-बूझ के साथ नही की गई है। उनका प्रारभिक आयोजन तथा उनकी स्थापना प्राय उन व्यक्तियो के हाथो नही हुई जो कि व्यापारिक तथा औद्योगिक उपक्रमो के प्रबन्ध मे पूर्णरूपेण दक्ष हो। सार्वजनिक उपक्रमो पर समिति ने अपनी १३वी रिपोर्ट मे यह अवलोकन किया कि "अपने उपक्रमो की अधिकाश वर्तमान अनार्थिक बपौती को निश्चय ही प्रायोजना के आयोजन की अवस्था पर ही विभिन्न मामलो पर अपर्याप्त ध्यान न देने से सम्बन्धित किया जा सकता है।" चतुर्थ योजना की ड्राफ्ट रूपरेखा मे केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र मे औद्योगिक प्रायोजनाओ मे तथा खदान सम्बन्धी योजनाओ मे ३,५०० करोड रुपया और विनियोजित करना निर्धारित किया गया है। अतएव, प्रायोजनाओ के उच्चस्तरीय आयोजन की तथा योजना की आधुनिकतम प्रणालियो के उपयोग की आवश्यकता और भी अधिक है। सार्वजनिक क्षेत्र की प्रायोजनाओ का व्यावहारिकता अध्ययन विस्तार के साथ किया जाना चाहिए। योजना आयोग ने memorandum on feasibility studies

for public sector projects तैयार किया है । प्रशासकीय सुधार आयोग ने भी इसे अपनाने की सिफारिश की है । सावजनिक उपक्रमो को भी प्रर्याप्त डिजायन सम्बन्धी तथा परामर्श सम्बन्धी सगठनो की स्थापना के लिये उचित प्रोत्साहन तथा सहायता दी जानी चाहिए ।

अतिपूंजीकरण प्रशासकीय सुधार आयोग द्वारा स्थापित स्टडी टीम ने यह अवलोकन किया है कि अनेक उपक्रमो मे जैसे, हिन्दुस्तान एयरोनॉटिक्स, भारी इलेक्ट्रिकल्स, भारी इजीनियरिंग निगम, खाद निगम, भारतीय ड्रग एव फार्मास्युटिकल्स आदि मे अतिपूंजीकरण है जिससे निवेश-उत्पादन का अनुपात प्रतिकूल हो जाता है। अतिपूंजीकरण के कारण—अपर्याप्त आयोजन, निर्माण काल मे देरी तथा अनावश्यक व्ययो का करना, अतिरिक्त निर्धारित क्षमता, विदेशी सहयोग समझौते के अन्तर्गत अनिवार्य रूप से उपकरणो का उन बाजारो से आयात करना जो प्रतिस्पर्द्धा की दृष्टिकोण से उपयुक्त न हो, व्ययपूर्ण प्रसविदा, प्रायोजनाओ का अनुचित स्थान-निर्धारण, प्रवास-व्यवस्था तथा अन्य सामाजिक सुविधाओ की उदारता के साथ व्यवस्था करना आदि है । सभी सार्वजनिक उपक्रमो के लिये प्रवास तथा नगर-क्षेत्र की व्यवस्था करने मे ऐसा अनुमान लगाया गया है कि पूर्ण पूंजीगत विनियोग लगभग ३०० करोड़ रुपये किया गया है जो कि इन प्रायोजनाओ पर पूर्ण विनियोग के १० प्रतिशत से भी अधिक है।

पूंजी तथा ऋण का अनुपात तथा पूंजी की लागत सार्वजनिक उपक्रमो मे पूँजी की लागत के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की पूँजी को प्राप्त करने की लागत को भी सम्मिलित करना चाहिए। इसको बाजार दर पर ही लेना चाहिए न कि उस कम दर पर जिस पर कि ऋण अथवा पूँजी उन्हे प्रदान की गई हो। इस दिशा मे दो विशिष्ट समस्याये है। प्रथम, विभिन्न सार्वजनिक उपक्रम सरकार से ऋण विभिन्न ब्याज की दरो पर प्राप्त करती है । दूसरे उन उपक्रमो से, जिनमे पूँजी का अनुपात ऋण की अपेक्षाकृत अधिक होना है, यह आभास मिलता है कि पूंजी की लागत कम है । इसका यह कारण है कि पूंजी पर लाभाश को लागत मे नही सम्मिलित किया जाता है जबकि ब्याज की दर को उसमे सम्मिलित किया जाता है । ऐसी स्थिति और भी आभासित होती है जब कि इन उपक्रमो मे लाभ की दर कम हो।

प्रशासकीय सुधार आयोग ने यह सिफारिश की है कि पूंजी और ऋण के अनुपात के प्रश्न की जाँच फिर से की जानी चाहिए। साथ ही, विभिन्न प्रकार

के सार्वजनिक उपक्रमो की पूँजी सरचना को समुचित ढग से निकालना चाहिए। उन उपक्रमो के आकार उत्पादन क्षमता तथा उधार लेने की क्षमता पर बिना विचार किये हुए उनकी ऋण-पूँजी अनुपात को पूर्ण स्थिर नही मान लेना चाहिए। आन्तरिक साधनो के प्रजनन तथा उपक्रम की उधार लेने की क्षमता की वृद्धि के आधार पर उसमे पर्याप्त लोच तथा विभिन्नता होनी चाहिए। ८३ केन्द्रीय सरकारी उपक्रमो मे मार्च १९६८ के अन्त मे पूँजी की स्थिति निम्नलिखित प्रकार की थी

समता पूँजी	१,६३३ करोड़ रुपये
दीर्घकालीन ऋण	१,७०० करोड रुपये
	३,३३३ करोड रुपये

मूल्य निर्धारण सार्वजनिक उपक्रमो की मूल्य निर्धारण सम्बन्धी नीतियों मे सरकार की रुचि इस कारण से है कि उनमे से अधिकाश प्रमुख उद्योग है तथा वे उन वस्तुओ का उत्पादन करते है या सेवाये प्रदान करते है जो कि जनसमुदाय के लिये अति आवश्यक हो। साथ ही उनमे से कुछ मे एकाधिकार का तत्व भी रहता है। वास्तविकता यह भी है कि बाजार द्वारा स्थापित स्वचालित अनुशासन या तो कमजोर पड जाता है या समाप्तप्राय हो जाता है, यदि प्रशासित मूल्य प्रणाली को महत्ता दी जाय। यदि इन उपक्रमो द्वारा उत्पादित वस्तुओ के मूल्य को कृत्रिम रूप से कम रखा जायगा तो इनके उत्पादनो का अपेक्षाकृत कम सावधानी से तथा अनार्थिक ढग से उपयोग होने लगेगा। दूसरी ओर, एकाधिकारी उपक्रमों की दशा मे यदि मूल्य पर नियमन नही रखा जाता तो आवश्यक क्षमता के होते हुए भी ये उपक्रम लाभ प्रदर्शित करने लगते है। बाजार की परिस्थितियाँ जिनमे ये सार्वजनिक उपक्रम सचालित होते है, उनके उत्पादनो तथा सेवाओ के मूल्य निर्धा-रण के लिये आधार प्रस्तुत करते है। बाजार की परिस्थितियाँ एकाधिकार से लेकर प्रतिस्पर्द्धा की दशाओ तक भिन्न-भिन्न होती है। इन उपक्रमो की मूल्य निर्धा-रण सम्बन्धी नीतियो की उपयुक्तता की जाँच करते समय बाजार की इन परि-स्थितियो तथा विभिन्न विचारो पर ध्यान रखना आवश्यक है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि एक ही प्रकार के सिद्धान्त सभी प्रकार के सार्वजनिक उपक्रमो के लिये नही निर्धारित किये जा सकते।

किसी भी मूल्य निर्धारण सम्बन्धी प्रणाली से तीन प्रमुख उद्देश्यो की पूर्ति होनी चाहिए इससे साधनो का विवेकपूर्ण विभाजन होना चाहिए, इससे शुद्ध म् यो का ऐच्छिक प्रयोग होना चाहिए; तथा इससे अर्थव्यवस्था के विकास मे वृद्धि होनी चाहिए। उन सार्वजनिक उपक्रमो को छोड कर, जहाँ प्रशासित मूल्य की प्रणाली

का प्रयोग होता है, सभी उपक्रमो ने अपनी मूल्य सम्बन्धी नीति इस दृष्टिकोण को ध्यान मे रख कर बनाई है कि जिससे आधिक्य (surplus) प्राप्त करने की लागत की भी पूर्ति हो सके। इसके लिये वे अपने द्वारा अनुमानित वित्तीय दायित्वो को ही आधार मानते है। इस प्रकार, मूल्य सरचना मे स्वत स्वेच्छाचारिता का तत्व आ जाता है क्योकि वित्तीय दायित्वो के सम्बन्ध मे इन्हे स्पष्ट शब्दो मे कोई भी निर्देश नही दिया जाता है। चतुर्थ योजना के लिये भी, ड्राफ्ट रूपरेखा मे केवल सामान्य सकेत ही दिया गया है कि सार्वजनिक उपक्रमो को अपनी पूंजी पर कम-से-कम ११ से १२% तक प्रतिफल प्राप्त करने का लक्ष्य रखना चाहिए। इस निर्देश मे प्रबन्धको को यह स्पष्ट नही किया गया है कि क्या प्रत्येक उपक्रमो को अलग-अलग इसी दर पर प्रतिफल प्राप्त करने के लिये लक्ष्य करना चाहिए अथवा यह सकेत इस ओर है कि सभी का मिल कर औसत परिणाम इतना होना चाहिए। वह उन्नति स्वस्थ न होगी यदि एकाधिकार की सी स्थिति मे काम करने वाले उपक्रम लाभ की दर को बढाने के हेतु अपनी क्षमता बढा कर लागत कम करने का प्रयत्न न करे और केवल मूल्य मे ही वृद्धि करके लाभ दिखाने का प्रयत्न करे।

सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयो मे मूल्य सम्बन्धी नीति का निर्धारण करते समय, निम्नलिखित सिद्धान्तो को ध्यान मे रखना चाहिए

(१) कम से कम सार्वजनिक उपक्रमो को हानि पर नही सचालित करना चाहिए, जब तक कि जनहित के लिये यह स्पष्ट रूप से अति आवश्यक न हो और इस बात का स्पष्ट सकेत सरकार को अपने निर्देश मे देना चाहिए।

(२) सार्वजनिक उपयोग तथा सेवाओ से सम्बन्धित उपक्रमो की दशा मे विनियोग पर प्रतिफल की अपेक्षाकृत उत्पादन पर विशेष बल दिया जाना चाहिए। उत्पादन को उस स्तर तक बढाया जा सकता है जब तक सीमान्त लागत मूल्य के बराबर न हो जाय।

(३) उनसे आशा किये जा रहे लाभ के अनुसार मूल्य सरचना का निर्णय करते समय, सार्वजनिक उपक्रमो को अपना उत्पादन निर्धारित क्षमता के पास यथा सभव रखना चाहिए, हालाकि ऐसा करते समय वस्तु की माँग की मात्रा पर भी ध्यान देना चाहिए।

(४) औद्योगिक क्षेत्र के सार्वजनिक उपक्रमो को यह चाहिए कि वे पर्याप्त लाभ प्राप्त करने का लक्ष्य अपने सामने रखे जिससे कि वे अपनी आय से ही अपनी पूजी मे वृद्धि कर सके।

अधिशेष (surpluses) **प्राप्त करना.** पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र मे विनियोग की तीव्र वृद्धि के कारण कोष के साधन के रूप मे

सार्वजनिक उपक्रमो से प्राप्त किये जाने वाले अधिशेष की महत्ता भी बढती जा रही है। अधिशेप का तात्पर्य उपक्रमो से प्राप्त किये जाने वाले साधनो के उस शेष से है जो कि चालू व्यय, सामान्य प्रतिस्थापन व्यय, ब्याज का भुगतान, तथा लाभाश का वितरण करने के पश्चात् शेष रहे। तृतीय योजना मे भी इन उपक्रमो से सभावित अधिशेष को जो दिखाया गया था वह भी अतरिम अथवा अस्थायी ही थे। न ही उद्योग के क्षेत्र के स्तर पर और न ही उपक्रमो के क्षेत्र के स्तर पर ही उनको भलीभाति अलग-अलग दिखाने का प्रयास किया गया था। चतुर्थ योजना की ड्राफ्ट रूपरेखा मे भी इस सम्बन्ध मे विस्तार से सूचना देने का प्रयास नही किया गया है।

सार्वजनिक उपक्रमो पर समिति ने उस ढग पर खेद प्रकट किया है जिसके अनुसार तृतीय योजना के लिये सार्वजनिक उपक्रमो से प्राप्त होने वाले अधिशेष का अनुमान लगाया गया था। अधिशेष का तदर्थ अनुमान लगाना दुर्भाग्यपूर्ण ही है क्योकि इससे ऐसी आशाये बढती है जिन्हे पूरा करना सभव नही और बाद मे उपक्रमो के विरुद्ध अनावश्यक आलोचनाओ की सभावना बढ जाती है। वास्तव मे अधिशेष का अनुमान सम्वन्धित उपक्रमो से समुचित परामर्श करने के बाद वास्तविक आधार पर किया जाना चाहिए। स्टडी टीम ने भी इस बात का समर्थन किया है और यह भी सिफारिश की कि वर्तमान परिस्थिति मे यह आवश्यक है कि सार्वजनिक उपक्रमो के वित्तीय एव आर्थिक दायित्वो के सम्बन्ध मे स्पष्ट वक्तव्य प्रसारित किया जाय। अब वह समय आ गया है जब कि सरकार द्वारा उन सिद्धान्तो का स्पष्ट एव विशिष्ट वक्तव्य दिया जाय जो कि विभिन्न सचयो के सृजन मे, उस सीमा के बारे मे जहाँ तक उपक्रम वित्त प्रबन्ध का दायित्व अपने ऊपर ले, उसमे लगी पूजी पर सभावित लाभ की दर के बारे मे, तथा उस आधार के बारे मे उचित निर्देश दे सके जिसके अनुसार विवेकपूर्ण मजदूरी सरचना तथा मूल्य सम्बन्धी नीतियो का निर्धारण किया जाय। इस टीम ने यह भी सिफारिश की है कि उपक्रमो मे लाभ (ह्रास के पश्चात्) को रोकने के सम्बन्ध मे तथा सरकार को लाभाश का भुगतान करने के सम्बन्ध मे उचित सिद्धान्त निष्पादित किये जाने चाहिए। रोके गये लाभ की मात्रा का निर्धारण करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उपक्रम के भावी विकास पर वित्त प्रबन्ध के सम्बन्ध मे क्या दायित्व है।

पूँजीगत व्यय हेतु खुले बाजार से उधार लेना. स्टडी टीम ने इस सुझाव पर विचार किया है कि सरकार द्वारा वित्त प्रबन्ध से प्राप्त होने वाली सापेक्ष सुरक्षा सार्वजनिक उपक्रमो मे आवश्यक वित्त सम्बन्धी अनुशासन का सृजन करने मे असफल रहती है और इसीलिये यह अधिक अच्छा होगा कि पूँजीगत व्ययो के लिये भी ये उपक्रम खुले बाजार से अपनी साख के आधार पर ऋण प्राप्त करने

का प्रयास करें। टीम ने इससे यह अनुभव किया कि इन उपक्रमो की अत्यधिक मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता होती है अतः बिना सरकार द्वारा गारण्टी दिये जाने पर खुले बाजार से उतनी पूँजी प्राप्त करना उनके लिये आसान न होगा। अत ऐसी प्रयोजनाओ के लिये, जिनमे अत्यधिक पूँजी की आवश्यकता हो और जिनमे उत्पादन आरभ करने मे समय अधिक लगता हो, बिना गारटी के खुले बाजार से पूँजी प्राप्त करना वर्तमान परिस्थिति मे सभव न हो पायेगा। साथ ही, यह सुझाव भी व्यावहारिक नही पाया गया कि सरकार इन उपक्रमो को जो भी पूँजी देने के बारे मे योजना बनाये उसे भारत के औद्योगिक विकास बैंक के माध्यम से ही दिया जाय।

टीम ने सरकार की इस वर्तमान नीति का समर्थन किया कि चालू पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओ के लिये इन उपक्रमो को सरकार पर या सरकारी गारण्टी पर निर्भर रहने की अपेक्षाकृत बैंक से ही सामान्यतया धन प्राप्त करना चाहिए। परन्तु कुछ दशाओ मे सार्वजनिक उपक्रमो को, विशेषकर आरभिक अवस्था मे, बैंक से धन मिलने मे कठिनाई हो सकती है। ऐसी स्थिति मे सरकार को चालू पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओ के हेतु भी आवश्यक गारण्टी प्रदान करना चाहिए। सार्वजनिक उपक्रमो को यह अधिकार दे दिया जाना चाहिए कि वे किसी भी अनुसूचित बैंक से, जिसके निक्षेप एक निश्चित सीमा से अधिक हो, लेन-देन कर सकें।

बजट तैयार करना सार्वजनिक क्षेत्र मे बजट के प्रारूपो तथा प्रणालियो के सम्बन्ध मे परम्परावादी स्वरूप ही अपनाया गया है। कुछ दशाओ को छोड कर, बजट मे अपनाये गये व्यय के वर्गीकरण की प्रणाली द्वारा व्यय का कार्य-कलापो तथा परिणाम से सम्बन्ध नही जोडा जाता है, यद्यपि यह एक सफल बजट के लिये आवश्यक है। अनेक उपक्रमो द्वारा तैयार किये गये बजट को देखने से यह ज्ञात होता है कि उन्हे विस्तार के साथ तैयार नही किया जाता तथा धन प्राप्त करने तथा व्यय पर नियन्त्रण रखने के अतिरिक्त अन्य प्रबन्ध सम्बन्धी उद्देश्यो की पूर्ति उनमे नही होती है। अनेक उपक्रमो द्वारा व्यापारियो की तरह बजट तैयार नही किया जाता है। अनेक दशाओ मे अनुमान तथा वास्तविक स्थिति मे अन्तर पाया जाता है जिनके उदाहरण अकेक्षक की रिपोर्ट देखने से प्राप्त हो जाते है।

बजट को योजना तथा कार्यक्रम के दृष्टिकोण से देखना चाहिए। इसे प्रबन्ध का महत्वपूर्ण अग बनाना चाहिए जिससे कि उपक्रम के सदस्य साधनो का सर्वोत्तम उपयोग कर सके, अपने विचारो को भविष्य मे कार्यान्वित कर सके तथा अपनी आशाओ तथा लक्ष्यो के साथ गतवर्षो के परिणामो की तुलनात्मक जाँच कर सके। यदि बजट को केवल नियन्त्रण के साधन के रूप मे मान लिया जाय

तो इसकी महत्ता बहुत कुछ समाप्त सी हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि लोग सभावित व्यय से तो अधिक परन्तु जितना लक्ष्य उपलब्ध करने की आशा हो उससे कम का बजट तैयार करते है। इससे यह होता है कि जब परिणाम सामने आता है तो ऐसा लगता है कि सफलता ही अधिक मिली है परन्तु इस प्रकार वास्तविक स्थिति का समुचित ज्ञान नही हो पाता।

वित्तीय नियत्रण तथा अधिकारो का प्रतिनिधान (delegation) व्यापारियों की तरह बजट तैयार करने से, सामयिक बजट सम्बन्धी जाँचो द्वारा तथा बजट पर नियन्त्रण रखने के लिये प्रबन्धकीय लेखा सम्बन्धी व्यवहारो को अपना कर अधिकारो के प्रतिनिधान को और अधिक सुविधाजनक बनाया जा सकता है। इससे यह लाभ भी होगा कि उचित केन्द्र पर दायित्वो का निर्धारण किया जा सकता है और उसीके अनुरूप सम्बन्धित व्यक्ति को आवश्यक वित्तीय अधिकार प्रदान किया जा सकता है। इन मामलो के तय होने पर इससे अधिकारो का समुचित प्रतिनिधान ही नही होगा अपितु इससे पूर्व से ही वित्तीय सहमति की आवश्यकता भी कम हो जायगी। ऐसी सहमति की आवश्यकता सरकारी विभागो के लिये हो सकती है परन्तु यह सार्वजनिक उपक्रमो के लिये लाभप्रद नही है। इसके समाप्त होने पर लाइन अधिकारी (line authorities) अपने आप को अधिक उत्तरदायित्व समझेगे।

आन्तरिक अंकेक्षण. सार्वजनिक उपक्रमो मे आन्तरिक निरीक्षण की प्रकृति, क्षेत्र तथा इसके कार्य के सम्बन्ध मे कुछ भ्रान्तियाँ है। इसे इस दृष्टि से देखना चाहिए कि यह प्रबन्ध मे सहायता पहुचाता है। आन्तरिक अकेक्षक प्रबन्धकीय निर्णय के सम्बन्ध मे प्रत्यक्ष रूप से भाग नही लेता परन्तु उसके द्वारा निकाले गये निष्कर्षो से निर्णय प्रभावित हो सकता है। आन्तरिक अकेक्षण को उपक्रम के अन्तर्गत ही एक स्वतन्त्र मूल्याकन कार्य-प्रणाली के रूप मे देखना चाहिए। इसका उद्देश्य लेखो की तथा वित्तीय एव अन्य प्रणालियो की जॉच करना, लाइन अधिकारियो द्वारा नियमो तथा निर्दिष्ट ढगो के पालन किये जाने की बात देखना, त्रुटि एव कपटो के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करना, तथा साथ ही प्रणालियो मे सादगी तथा क्षमता लाना आदि है। आजकल यह परिपाटी बना दी गई है कि आन्तरिक अकेक्षण के सगठन को वित्तीय परामर्शदाता/नियन्त्रक के साथ लगा दिया जाता है। स्टडी टीम ने यह विचार प्रकट किया है कि आन्तरिक अकेक्षण को उपक्रम के वित्तीय सगठन के एक अग के रूप में ही रखना उचित होगा। आन्तरिक अकेक्षण के प्रमुख कार्य निम्नलिखित है:

(१) लेखा, वित्त तथा सचालन सम्बन्धी नियन्त्रणो की दृढता, पर्याप्तता तथा उनके उपयोग की जाँच करना;

(२) विहित योजना के प्रयोग का पता लगाना तथा खातो एव सगठन द्वारा ही तैयार किये गये अन्य आकडो की सत्यता का पता लगाना,

(३) उन्नति के लिये रचनात्मक सुझाव देना, तथा

(४) आन्तरिक तथा बाह्य दोनो प्रकार की अकेक्षण रिपोर्ट मे उल्लिखित बातो पर लाइन अधिकारी द्वारा किये गये कार्यो की जाँच कर उस पर रिपोर्ट देना।

सार्वजनिक उपक्रम के ब्यूरो को चाहिए कि वह इन उपक्रमो को उचित परामर्श दे जिससे कि वे लेखा सम्बन्धी सगठनो तथा आन्तरिक अकेक्षण की उचित ढग से व्यवस्था कर सके।

वित्तीय परामर्शदाता के कार्य प्रमुख वित्त अधिकारी या उपक्रम के वित्तीय परामर्शदाता/नियन्त्रक के वर्तमान कार्यो मे सुधार की आवश्यकता है। वित्तीय परामर्शदाता/नियत्रक को अपने आप को प्रबन्धक दल का एक प्रमुख अग मानना चाहिए और उसे यह न सोचना चाहिए कि वह सरकार के वित्तीय हितो का प्रतिनिधित्व करने वाला बाहरी व्यक्ति है। यह बात इसलिये भी है क्योकि सार्वजनिक उपक्रमो के अधिकाश वित्तीय परामर्शदाता सरकारी अधिकारी है जिनकी वहाँ प्रतिनियुक्ति हुई रहती है। स्टडी टीम ने यह सिफारिश दढता के साथ की है कि वित्तीय परामर्शदाता की नियुक्ति का अधिकार सरकार के पास न हो कर उपक्रम के प्रबन्धको के हाथो मे ही होना चाहिए हालाकि प्रबन्धको को यह चाहिए कि वे नियुक्ति करने से पूर्व इस सम्बन्ध मे सरकार से सलाह कर ले। वित्तीय परामर्शदाता का कार्य यह है कि वह प्रमुख व्यवस्थापक को सभी वित्तीय मामलो मे राय दे परन्तु स्टडी टीम के अनुसार प्रबन्ध के क्षेत्र मे प्रमुख व्यवस्थापक को ही पूर्ण अधिकार प्राप्त होने चाहिए अन्यथा उपक्रम के सचालन मे वित्त सगठन एक भार स्वरूप ही होगा। अतएव इसकी उपयोगिता भी कम हो जायगी।

वित्तीय परामर्शदाता को प्रोत्साहित करना चाहिए कि वह अनुरक्षण लेखा प्रणाली (maintenance accounting) तथा अन्य जाँचो की अपेक्षाकृत प्रबन्धकीय लेखा प्रणाली पर ही विशेष बल दे। वित्तीय प्रबन्धको को लाइन प्रबन्धको को दृढ आदेश नही देना चाहिए अपितु उन्हे साधनो की उपयोगिता तथा आँकडो के विश्लेषण सम्बन्धी सूचनाये देनी चाहिए। इससे उन्हे यह ज्ञात हो सकेगा कि

योजना तथा कार्य सम्बन्धी आँकडो का वास्तविक अर्थ क्या है और इस प्रकार वे साधनो का समुचित उपयोग कर लाभ की दर को बढाने मे समर्थ हो सकेगे । इस दिशा मे ही वित्तीय परामर्शदाता का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है।

यदि सगठन मे ही अन्तर्निहित नियन्त्रण की व्यवस्था की जाय, जैसे, आवश्यक आँकड़ो को एकत्र करना, विश्लेषण करना, व्याख्या करना तथा प्रस्तुत करना आदि, जिनके आधार पर ही वित्तीय निर्णय लिये जाने चाहिए, तो उस दशा मे वित्तीय परामर्श की विशेष आवश्यकता नही रहेगी। साथ ही व्यय से सम्बन्धित परामर्श देने के स्थान पर वित्तीय प्रबन्ध के तकनीकी मामलो पर ही परामर्श देना अधिक आवश्यक है । वास्तव मे, वित्तीय प्रबन्ध की तकनीक पर आवश्यकतानुसार ध्यान नही दिया जा रहा है। सार्वजनिक उपक्रमो को वित्तीय प्रबन्ध की आधुनिक तकनीक को ही अपनाना चाहिए और उन्हे तदर्थ वित्तीय निर्णयो पर ही निर्भर नही रहना चाहिए।

पदार्थों का प्रबन्ध सार्वजनिक उपक्रमो के स्टाक का मूल्य चालू पूँजी का प्रमुख अग होता है। ३१-३-६६ को ४० चालू सस्थाओ मे ३८४ करोड रुपये की चालू पूँजी मे से ३६१ करोड रुपये का केवल स्टाक था। स्टाक की पर्याप्तता की जानकारी के लिये यद्यपि किसी एक मान को निर्धारित नही किया जा सकता, फिर भी कुछ अनुपात इस सम्बन्ध मे व्यवहार मे सफलता के साथ उपयोग मे लाये जाते है। एक साधारण उपाय, स्टाक के मूल्य को महीनो मे उपभोग तथा महीनो मे उत्पादन-लागत के रूप मे प्रस्तुत करना है। पाँच उपक्रमो मे, हिन्दुस्तान टेलिप्रिटर्स, हिन्दुस्तान एयरोनॉटिक्स, हिन्दुस्तान शिपयार्ड, भारत अर्थमूवर्स, तथा भारत इलेक्ट्रानिक्स मे स्टाक का मूल्य दो वर्ष की उत्पादन लागत से भी अधिक था, अन्य पाँच उपक्रमो मे यह दो वर्ष से तो कम परन्तु एक वर्ष की उत्पादन-लागत से अधिक था। बिक्री-स्टाक का अनुपात ३१-३-६५ को चालू सस्थाओ मे २ १ था जब कि रिजर्व बैंक के सर्वेक्षण के अनुसार निजी क्षेत्र के उपक्रमो मे यह २ ७५ . १ था।

सार्वजनिक उपक्रमो मे स्टाक के मूल्य एव आकार का अधिक होना इस बात का द्योतक है कि उनके विषय मे तकनीकी जाँच करना अति आवश्यक है । यदि ऐसी जाँच करने से थोड़ी भी कमी होती है तो उससे इस जाँच की लागत की पूर्ति हो सकती है । सार्वजनिक उपक्रमो पर समिति ने अपनी ४० वी रिपोर्ट, मार्च १९६७ मे यह विचार प्रस्तुत किया है कि "यदि औद्योगिक सस्थाओ के स्टाक को घटा कर छ. माह के उत्पादन के बराबर तक कर दिया जाय, तो अधिक कठिन नही है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि १०४ करोड़ रुपये तक की पूँजी इससे प्राप्त हो सकेगी।"

अधिकाश उपक्रमो को अपने स्टाक की मात्रा को कम करना होगा जिससे कि वे उसकी समुचित व्यवस्था कर सके और इस सम्बन्ध मे चुने हुए नियन्त्रणो का, जो कि उनके मूल्य के तथा मॉग की मात्रा के अनुरूप हो, उपयोग कर सके। कुछ बडे उपक्रमो ने पदार्थो का उत्तम प्रबन्ध करने के हेतु सगठनो की भी स्थापना की है, परन्तु अधिकाश उपक्रमो मे पदार्थो पर प्रभावशाली प्रबन्ध के लिये कोई भी उपयुक्त व्यवस्था नही है। स्टडी टीम ने यह सिफारिश की है कि पदार्थ-प्रबन्ध को उच्च स्तर पर महत्ता प्रदान की जानी चाहिए। एक केन्द्रीय नियन्त्रण अनुभाग इसके लिये स्थापित किया जाना चाहिए जो कि पदार्थों के प्रबन्ध से सम्बन्धित आधुनिकतम तकनीक का प्रयोग करने पर विशेष बल दे जैसे, सहिताकरण तथा मानकीकरण मूल्य विश्लेषण आदि। इस सम्बन्ध मे सार्वजनिक उपक्रमो के ब्यूरो द्वारा विशेष तथा आवश्यक सलाह दी जानी चाहिए। एक विस्तृत पदार्थ-प्रबन्ध-नियमावली तैयार की जानी चाहिए जिससे कि आवश्यक वैज्ञानिक मामलो पर ठीक बाते ज्ञात हो सके तथा पदार्थो के इडेण्ट के लिए, उन्हे प्राप्त करने के लिये तथा उनका स्टाक रखने के लिये विहित विधियो की रूपरेखा तैयार हो सके।

रिपोर्टिंग की समस्या सार्वजनिक उपक्रमो के सामने यह सामान्य समस्या है कि उनसे अनेक रिपोर्टो की मॉग जल्दी-जल्दी की जाती है। इस प्रकार सम्बन्धित मत्रालय के पास एकत्र बहुत बडी मात्रा मे सूचनाओ का कोई भी पर्याप्त उपयोग नही किया जाता है। वर्तमान सूचना प्रणाली कारगर तथा प्रभावशाली नही है और यह सन्देहजनक है कि उन आंकडो का, जो गभीरता से प्रस्तुत नही किये जाते और जिनमे से अधिकाश मूल्यहीन हो चुके होते हैं, गभीर विश्लेषण करने का प्रयत्न किया जाता है। ससदीय समितियो ने इस सम्बन्ध मे कई बार आलोचना की है। सार्वजनिक उपक्रमो पर समिति ने तेल एव प्राकृतिक गैस आयोग पर अपनी ५वी रिपोर्ट मे यह उल्लेख किया कि आयोग ने लगभग ५५ रिपोर्ट तथा विवरणी प्रस्तुत की परन्तु इसके उपरान्त भी मत्रालय ने आयोग की उन्नति तथा समस्याओ से सम्बन्धित कोई भी स्पष्ट स्थिति प्रकट नही की। उसी प्रकार समिति ने राष्ट्रीय भवन निर्माण निगम पर अपनी रिपोर्ट मे यह इगित किया कि निगम द्वारा ११ रिपोर्ट तथा विवरणी प्रस्तुत करने के उपरान्त भी न तो प्रशासकीय मत्रालय को और न ही वित्त मत्रालय को, उस समय निगम के सामने वित्त सम्बन्धी जो कठिनाई थी उसके बारे मे कुछ भी नही ज्ञात था।

प्रशासकीय सुधार आयोग ने यह सिफारिश की है कि सार्वजनिक उपक्रमो के ब्यूरो के अन्तर्गत एक एक्सपर्ट स्टडी दल की स्थापना की जानी चाहिए जो

कि सार्वजनिक उपक्रमो द्वारा सरकार को रिपोर्टिंग के विषय मे विस्तार से जॉच करे। इस दल को इस विश्लेषण के सम्बन्ध मे सम्बोधित मत्रालय के अधिकारियो तथा सार्वजनिक उपक्रमो से तथा साथ ही उस क्षेत्र के बाहरी परामर्शदाताओ से सहायता प्राप्त करनी चाहिए। ब्यूरो को चाहिए कि मत्रालय तथा सार्वजनिक उपक्रमो से सलाह करके उनके वार्षिक रिपोर्ट के लिये एक मॉडल प्रारूप तैयार करे। मानक सचालन सम्बन्धी निर्देशाको को भी तैयार करना चाहिए जिनका उपयोग सार्वजनिक उपक्रम कर सके जिससे उनके कार्य-सचालन के सम्बन्ध मे प्रमुख सूचनाये सुगम प्रारूपो मे वार्षिक रिपोर्ट के रूप मे दी जा सके।

निष्पत्ति का मूल्यांकन. मूल्याकन करने के लिये यह आवश्यक है कि निष्पत्ति (performance) का उपयुक्त मानक तैयार किया जाय तथा उन मानदण्डो को सूचित किया जाय जिनके द्वारा यह पता लगाया जा सके कि वास्तविक निष्पत्ति अनुमानिक लक्ष्य की तुलना मे कैसी है। उचित ढग से मूल्याकन के लिये सरकार को चाहिए कि वह सार्वजनिक उपक्रमो के विभिन्न वित्तीय तथा अन्य दायित्वो के सम्बन्ध मे नीति का एक सामान्य विवरण दे। यह प्रत्येक उपक्रम के वित्तीय ढॉचे के बनाने के लिये जितना आवश्यक है उतना ही सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो को अनावश्यक आलोचना से बचाने के लिये भी आवश्यक है।

सार्वजनिक उपक्रमो के कार्य-सचालन का समुचित मूल्याकन करने के लिये यह प्रमुख रूप से आवश्यक है कि सरकार तथा प्रबन्धको के मध्य उत्तरदायित्व का स्पष्ट विभाजन हो। सरकार इन उपक्रमो पर अनेक प्रकार से नियत्रण रखती है और प्रबन्धको को उसी के अन्तर्गत कार्य करना होता है। इसलिये यह न्यायसगत होगा कि इनके निष्पत्ति का मूल्याकन इनके कार्य पर लगे नियत्रणो को ध्यान मे रखकर ही किया जाय।

क्रमबद्ध मूल्याकन के लिये इस समय कोई भी कुशल वाह्य सगठन नही है। प्रशासकीय मत्रालय द्वारा वित्त मत्रालय की सलाह से निरीक्षण दलों की स्थापना करने की जो व्यवस्था है जिससे सामयिक निरीक्षण कराया जाता है, वह प्रबन्धकीय कार्यक्षमता के मूल्याकन का सर्वोत्तम उपाय नही है। आवश्यकता इस बात की है कि एक स्थायी कुशल सगठन बनाया जाय। इस प्रकार का सगठन इस क्षेत्र मे अनुभवी तथा कुशल होता जायगा और तदर्थ निरीक्षण न करके समय-समय पर इस सम्बन्ध मे कुशलता के साथ निरीक्षण कर सकेगा। इसी दिशा मे यह सुझाव भी दिया गया है कि अकेक्षण परिषदो को बनाया जाय जो कि प्रबन्धकीय कार्यक्षमता का सामयिक तथा क्रमबद्ध मूल्याकन कर सके।

इन लेखा परीक्षण परिषदो को कुशल अकेक्षको के अतिरिक्त अन्य त्रशेषज्ञो की भी, जैसे अर्थशास्त्री, प्रबन्धकीय विशेषज्ञ, साख्यिकीविद् श्रादि था उन व्यक्तियो की जिन्हे सार्वजनिक उपक्रमो का अनुभव हो, सहायता लेनी ाहिए। इन लेखापरीक्षण समितियो को अपनी सीमाश्रो को ध्यान मे रखते ए पूर्ण दायित्व के साथ निरन्तर कार्य करते रहना होगा। सीमाये यह है कि नका कार्य केवल प्रबन्धकीय निष्पत्ति का मूल्याकन करना तथा सरकार एव ार्वजनिक उपक्रमो के प्रबन्धको को सुझाव देना है। परन्तु उनका कार्य यह ही है कि वे उपक्रमो के लिये श्रथवा सरकार के लिये प्रबन्धकीय नीति बनाने ा प्रयत्न करे।

अध्याय ११

राज्य-तथा औद्योगिक इकाइयों का आकार

१

विकासोन्मुख देशो मे जैसी परिस्थिति है उसके अन्तर्गत औद्योगीकरण के लिये लघु उद्योग-धन्धो का विकास ही सर्वोत्तम है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन के एशिया की क्षेत्रीय सम्मेलन पर चौथी रिपोर्ट (१९५७) मे, जो कि लघु तथा दस्तकारी उद्योगो पर थी, यह उल्लेख किया गया था कि "बडे स्तर पर उत्पादन की अपेक्षाकृत अधिकाश एशियाई देशो की आर्थिक एव सामाजिक दशाओ मे लघु उद्योग उचित लगते है।" लघु उद्योगो का विकास करने से स्थापित रहन-सहन के ढगो मे तथा मूल्यो मे विशेष परिवर्तन की आवश्यकता नही होती है अतएव बडे उद्योगो का विकास कर औद्योगीकरण करने से जो कठिनाइयाँ तथा तनाव समक्ष आते है, वे उपस्थित नही होते।

अप्रैल १९६६ मे, ECAFE ने अपने एक प्रकाशन मे इस बात पर बल दिया कि अनेक उपभोक्ता तथा उत्पादक वस्तुओ का उत्पादन इस क्षेत्र के कुछ देशो मे लघु स्तर पर ही किया जा रहा है। यदि इन लघु उद्योगो को पर्याप्त सुविधाये प्रदान की जायें तथा आवश्यक तकनीकी सेवाये प्रदान की जायँ तो लघु उद्योग धन्धे निम्नलिखित क्षेत्रो मे महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते है (१) उद्यमियो को प्रशिक्षण का स्थल प्रदान करने मे, (२) पूँजी-निर्माण मे जिसका उपयोग उत्पादक उपक्रमो मे किया जा सके, (३) बडे पैमाने के उद्योगो के सहायक इकाइयो के रूप मे, (४) आयात का प्रतिस्थापन करने के लिये उपभोक्ता तथा आसान उत्पादक पदार्थो के उत्पादन मे, तथा (५) ग्रामीण क्षेत्रो मे औद्योगिक पथप्रदर्शक के रूप मे।

प्राय उत्पादन की लागत तथा आकार मे सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। जैसे-जैसे आकार मे वृद्धि होती है, यह कहा जाता है कि उत्पादन लागत कम होती जाती है परन्तु केवल आकार का ही प्रभाव देखना महत्वपूर्ण नहीं है। उन लघु इकाइयो मे, जो कि एक ही स्वामित्व, नियत्रण तथा प्रबन्ध के अन्तर्गत हो, उचित प्रबन्ध एव सगठन के माध्यम से भी उत्पादन लागत मे कमी करके बडे स्तर की इकाइयो से प्रतिस्पर्द्धा किया जा सकता है।

सार्वजनिक अथवा निजी क्षेत्र की औद्योगिक इकाइयो के आकार की समस्या पर विचार करते समय सरकार को निम्नलिखित बातो पर ध्यान देना चाहिए

(१) उद्यमीय योग्यता की कमी के कारण लघु इकाइयॉ भारतवर्ष के लिये सर्वाधिक उपयुक्त है,

(२) क्षेत्रीय तथा विकेन्द्रित औद्योगिक सरचना के उद्देश्य की प्राप्ति के लिये लघु उपक्रम अत्यन्त महत्वपूर्ण है,

(३) लघु उपक्रम देश की सीमित आन्तरिक तथा वैदेशिक विनिमय साधनो का कम उपयोग करती है,

(४) यातायात की अविकसित स्थिति मे, ये औद्योगिक इकाइयाँ इस पर कम भार डालती है क्योकि अधिक दूरी पर माल का आवागमन कम से कम ही रहता है,

(५) छोटे स्थानीय बाजार मे न्यून क्रय शक्ति के कारण सीमित माँग की पर्ति करने के लिये लघु इकाइयाँ अधिक उपयुक्त है,

(६) श्रम-प्रधान होने के कारण, लघु उपक्रम बेरोजगारी अथवा अपूर्ण रोजगारी की समस्या को दूर करने मे सहायता कर सकते है,

(७) इनके द्वारा अधिकाश व्यक्तियो को अधिक विस्तृत क्षत्रो मे औद्योगिक कार्य-कलाप मे भाग लेने का अवसर उपलब्ध होगा जो स्थिरता को बनाये रखने मे तथा बढाने मे सहायक होगा जो कि देश के विकास के लिये अति आवश्यक है,

(८) युद्ध सम्बन्धी मामलो को ध्यान मे रखकर भी यह कहा जा सकता है कि औद्योगिक कार्यकलापो का विकेन्द्रीयकरण अति आवश्यक है क्योकि कुछ ही क्षेत्रो मे औद्योगिक सस्थाओ का केन्द्रीयकरण देश के लिये घातक सिद्ध हो सकता है,

(९) सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टिकोण से भी यह महत्वपूर्ण है कि समाज मे स्वतन्त्र रूप से स्थापित अनेक लघु सस्थाये होनी चाहिए जिससे कि सत्ता के केन्द्रीयकरण का भय न रहे, तथा

(१०) लघु इकाइयो को कुछ सीमाओ के अन्तर्गत प्राय उपभोक्ताओ की ख्याति तथा यातायात की लागत से सरक्षण प्राप्त होता है। व्यापारिक मन्दी का भी उन पर प्रभाव अपेक्षाकृत कम ही पडता है। दूसरे शब्दो मे, बडी इकाइयो की अपेक्षाकृत उनमे लोच की मात्रा अधिक होती है।

लघु उद्योगो को प्रोत्साहन देना तब तक नही बन्द करना चाहिए जब तक कि इनकी कार्यक्षमता अपेक्षाकृत असहनीय न हो जाय। इगलैण्ड तथा अमेरिका मे स्थित

दशाओ का वर्णन करते हुए सार्जेण्ट फ्लोरैंस ने इस बात पर बल दिया कि अनेक उद्योगो मे लघु इकाइयो का ही प्रभुत्व है और अन्य कई उद्योगो मे यद्यपि बडी इकाइयो का प्रभुत्व है, फिर भी बडी सख्या मे लघु इकाइयाँ पाई जाती है और वे श्रमिको को अपेक्षाकृत अधिक रोजगार प्रदान करती है।

लघु उद्योगो की सफलता के लिये कुछ परिस्थितियो का होना आवश्यक है : (अ) विसर्जन (dispersion) की आवश्यकता क्योकि साधनो के छिटके होने के कारण अथवा वस्तु के बाजार के फैले होने के कारण यातायात की लागत अधिक होती है, (ब) उसी उद्योग मे स्थानीय लघु उद्योगो के उत्पादन केन्द्र का निर्माण करना, तथा (स) उत्पादन की प्रक्रियाओ के माध्यम से उच्चस्तरीय विशिष्टीकरण। लघु इकाइयो के हेतु आर्थिक तथा तकनीकी शोध का कार्य सरकार के द्वारा अथवा सहकारी सस्थाओ के द्वारा किया जाना चाहिए। सरकारी सहायता उसी प्रकार की करनी चाहिए जैसा कि कृषि के क्षेत्र मे किया जा रहा है। विदेशी टैक्नीशियन की सहायता से तकनीकी ज्ञान प्रदान करने की व्यवस्था की जानी चाहिए। सरकार को कारखानो के लिये आवश्यक निर्माण सहित स्थान का प्रबन्ध करना चाहिए जिन्हे कि छोटे उद्योगपतियो को किराये पर दिया जा सके। कम ब्याज पर उन्हे आवश्यक वित्त देने का भी प्रबन्ध करना चाहिए।

उद्योग (विकास एव नियमन) अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित विकास परिषदो का गहन सर्वेक्षण करना चाहिए। इसके द्वारा उन्हे उद्योग विशेष मे सर्वाधिक क्षमता वाले आकार अथवा आकारों का पता लगाना चाहिए। निजी क्षेत्र मे उद्योगपतियो को प्रेरित करना चाहिए कि वे अपनी इकाइयो को इसी आकार के अनुरूप लाने का प्रयत्न करे। वैसे यह आकार परिवर्तनशील होता है क्योकि आकार को प्रभावित करने वाले विभिन्न घटको का अनुकूलतम सामजस्य बदलता रहता है। कार्यक्षम आकार सभी औद्योगिक उपक्रमो के लिये तथा सभी क्षेत्रो के लिये एक ही नही होता है। यह अलग-अलग क्षेत्रो मे ही नही अपितु उसी क्षेत्र मे भी अलग-अलग हो सकता है। विभिन्न शक्तियाँ, चाहे वे तकनीकी, प्रबन्धकीय, वित्तीय अथवा बाजार सम्बन्धी हो, एक ही अनुकूलतम फर्म के स्थान पर, उद्योगो के विकास की विभिन्न अवस्थाओं मे अनेको अनुकूलतम बिन्दुओ का सृजन करती है। यही कारण है कि उत्पादन के विभिन्न स्तर पर लघु आकार की इकाइयाँ पाई जाती है जो पर्याप्त लाभ भी कमाती है। आकार मे यह विभिन्नता विभिन्न उत्पादक शक्तियो के आपसी खिचाव का परिणाम है।

अन्तर्राष्ट्रीय योजना दल (International Planning Team). १९५४ मे अन्तर्राष्ट्रीय योजना दल ने भारत मे लघु उद्योग नामक अपनी रिपोर्ट मे यह

सिफारिश की कि वस्तुओ के विनिर्माण के लिये लघु अथवा मध्यम आकार के प्लाण्ट की स्थापना की जानी चाहिए जिसमे आधुनिक डिजाइन तथा उपकरण हो। जनता की अनेक प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति मे लघु उद्योग अत्यधिक सहायता करते है। लघु उद्योग प्रसविदा के अथवा सेवा के माध्यम से बडे उद्योगो की पूरक के रूप मे सहायता करते है। अनेक क्षेत्रो मे ये बडे उद्योगो के साथ सफलतापूर्वक प्रतिस्पर्द्धा भी करते हैं जैसे साइकिल, साइकिल के पुर्जे, सिलाई की मशीन के पुर्जे, गन्ना क्रशर्स, कृषि सम्बन्धी औजार, हाथ तथा मशीन टूल्स, पीतल के विद्युत लैम्प-होल्डर्स, विद्युत उपकरण, बैटरी, स्वचालित सहायक यन्त्र, कटलरी, शीशे के ऐम्प्यूल तथा फायल, घरेलू बर्तन, ताले, हल्की इजीनियरिंग तथा विद्युत सम्बन्धी उत्पादन, फाउण्ड्री सम्बन्धी उत्पादन, आदि। यदि लघु उद्योगो को उद्योगपतियो तथा सरकार से पर्याप्त तथा सतत सहायता मिलती रहे और उपभोक्ताओ का उचित समर्थन प्राप्त होता रहे तो देश मे स्वस्थ तथा तीव्र औद्योगीकरण मे ये अपना समुचित योगदान दे सकते है। यदि टैक्नालाजी तथा व्यावहारिक वैज्ञानिक शोध के परिणामो को देश के कोने-कोने मे फैलाना है तो यह लघु उद्योगो के माध्यम से ही सफलतापूर्वक सभव हो सकता है। वास्तव मे वे देश के आर्थिक विकास के लिये अन्तिम सबल के रूप मे है।

विशेषज्ञो के दल ने यह अवलोकन किया कि भारत में लघु उद्योगो की उन्नति की दर धीमी है, और वास्तव मे जितना सभव है उससे भी धीमी है। अनेक लघु उद्योग उत्पादन मे तथा रोजगार मे हो रही कमी के कारण सकट का सामना कर रहे है। माँग की कमी के कारण उत्पादन मे कमी है और इसके परिणामस्वरूप ये अपने श्रमिको को उचित मजदूरी नही दे पा रहे हैं। धीमी प्रगति तथा इस कमी के सम्बन्ध मे अनेक कारणो का उल्लेख किया जाता है, जैसे, निजी क्षेत्र द्वारा कोई उत्साह न दिखाना; सरकार पर अत्यधिक निर्भर रहना; उत्पादन तथा विपणन की अप्रचलित प्रणालियो को अपनाये रहना, पर्याप्त साख की सुविधा न प्राप्त होना तथा उन्नति के लिये क्रमबद्ध प्रयास न करना। स्टडी टीम का विचार यह है कि लघु उद्योगो मे वर्तमान कमियो के प्रमुख कारण है: (अ) उत्पादन तथा प्रबन्ध की प्रणालियाँ कार्यक्षमता की आधुनिक आवश्यकता के अनुरूप न होना, तथा (ब) उन्नतिशील तथा विवेकपूर्ण प्रणालियो के अपनाने मे असफल होना अथवा अनिच्छुक होना।

आर्थिक विकास के लिये औद्योगिक कार्यक्रम मे विवेकीकरण को उचित महत्ता प्रदान करना अति आवश्यक है। विवेकीकरण के बिना, भारतीय श्रमिको

के प्राकृतिक गुणो का अपव्यय किया जा रहा है। आधुनिक टैक्नालॉजी की दौड मे तो वे इसके बिना ठहर नही सकते। जब तक कि इन श्रमिको की सहायता इस ढग से नही की जाती कि वे अधिक वस्तुओ तथा धन का उत्पादन कर सके तब तक न ही उनकी मजदूरी और न ही रहन-सहन का स्तर बढ सकता है। विवेकीकरण को रोकना, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को बन्द करना तर्कहीन ही नही है अपितु भारतीय लघु उद्योगो की प्रगति को रोकना भी है। आधुनिकीकरण का विरोध इस भय से किया जाता है कि इससे बहुत बडी मात्रा मे टैक्नालॉजिकल बेरोजगारी के फैलने की सभावना रहती है। वास्तव मे, इस प्रकार का भय निराधार ही है। क्षमताहीन तथा अप्रचलित प्रणालियो को अपनाते रहने से जितनी बेरोजगारी बढती है उसकी अपेक्षाकृत आधुनिकीकरण को अपनाने से नही बढती। वास्तविकता तो यह है कि आधुनिकीकरण को अपनाने से रोजगारी का सृजन होता है। विभिन्न दिशाओ मे उन्नति लाने से अधिक तथा अच्छा उत्पादन कम लागत पर होता है। इसका परिणाम यह होता है कि इससे माँग मे तथा बाजार मे वृद्धि होती है और इस प्रकार रोजगार के अवसर मे भी वृद्धि होती है।

स्टडी टीम ने इस सुझाव पर बल दिया है कि निजी पहलशक्ति को पूर्ण रूप से प्रोत्साहित करना चाहिए। यद्यपि औद्योगिक विकास के कार्यक्रम के आरभ मे सरकार द्वारा पहल नियन्त्रण तथा निर्देशन की आवश्यकता होगी, तथापि सरकार को यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि वह इस बात की इच्छुक है कि अन्त मे निजी क्षेत्र ही इस मे पहल करे तथा उसकी दृढ धारणा यह है कि वह यथासभव शीघ्र ही प्रबन्ध तथा नियन्त्रण समाप्त कर देगी। "सक्रिय उत्तरदायी स्वतन्त्र लघु उद्योगो का विकास तथा अधिक गुण वाले कारीगरो मे से अनेको का धीरे-धीरे आत्म-निर्भर लघु उद्योगपतियो की स्थिति मे बढना भारतवर्ष की सामाजिक तथा आर्थिक सरचना मे महत्वपूर्ण योगदान होगा।"

टीम ने अपने प्रस्तावो तथा सिफारिशो को क्रमबद्ध विचारो पर आधारित किया है न कि लघु उद्योगो की बिखरी हुई समस्याओ को लेकर। उसने इनकी सभी समस्याओ को ही लिया है, यथा, कच्चे माल की पूर्ति, उत्पादन की डिजायन, तकनीक तथा उपकरण, व्यापारिक शिक्षा, वित्त तथा साख, सहकारी समितियाँ तथा व्यापारिक सघ, विपणन तथा वितरण। टीम का विचार है कि "इन प्रस्तावो से, यदि सफलता के साथ कार्यान्वित किये गये, अधिक उत्पादन तथा अधिक मजदूरी सभव हो सकेगी, तथा लघु उद्योग तथा भारतवर्ष के ग्रामीण श्रमिको तथा कारीगरो के हितो को बढाने के लिये जो अब प्रगति की जा रही है वह बढ सकेगी तथा तीव्र हो सकेगी।"

टीभ द्वारा की गई अधिकाश सिफारिशो को भारत सरकार कार्यान्वित कर चुकी है।

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, १९५६ अप्रैल १९५६ मे भारत सरकार ने अपने औद्योगिक नीति विवरण मे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की उन्नति मे कुटीर तथा ग्रामीण एव लघुस्तरीय उद्योगो की महत्वपूर्ण भूमिका पर समुचित बल दिया क्योकि वे "बडे स्तर पर तत्काल रोजगार प्रदान करते है, राष्ट्रीय आय के अधिक न्यायोचित वितरण के लिये एक विधि प्रस्तुत करते है, तथा उन पूंजी तथा योग्यता के साधनो के प्रभावपूर्ण सघटन मे सहायता प्रदान करते है जो अन्यथा अनुपयोगी रहते।" यद्यपि वे उपाय, जैसे बडे पैमाने के क्षेत्र मे उत्पादन की मात्रा पर प्रतिबन्ध लगाना, विभेदी कर लगाना, प्रत्यक्ष उपदान, जहा आवश्यक होगे चालू रहेगे, सरकारी नीति का उद्देश्य यह होगा कि विकेन्द्रित क्षेत्र इतना अधिक उन्नति कर जाय कि वह आत्म-निर्भर हो जाय तथा इसकी उन्नति बडे पैमाने के उद्योगो के साथ सम्बद्ध हो जाय। सरकार ने यह प्रस्तावित किया है कि छोटे पैमाने के उत्पादको की प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति को बढाया जाना चाहिए। इस विवरण मे लघुस्तरीय उद्योगो की कमियो की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। उत्पादन की तकनीक मे सतत ही उन्नति की जानी चाहिए तथा उसे आधुनिकतम बनाया जाना चाहिए। इस दिशा मे होने वाले परि-वर्तनो को इस ढग से नियमित किया जाना चाहिए कि यथासभव टैक्नालॉजिकल बेरोजगारी न हो सके। इस प्रस्ताव मे लघुस्तरीय उद्योगो की कमियो को दूर करने के लिये कुछ उपायो की महत्ता पर बल दिया है, जैसे औद्योगिक बस्तियाँ, ग्रामीण समुदाय वर्कशाप, औद्योगिक सहकारिता, तथा ग्रामीण विद्युतीकरण।

सरकारी नीति का आलोचनात्मक मूल्यांकन यह ध्यान देने योग्य बात है कि लघुस्तरीय उद्योगो के सम्बन्ध मे सरकारी नीति निश्चित करते समय कोरे सैद्धा-न्तिक विचारो को ही ध्यान मे न रख कर आर्थिक विचारो को ही अधिक महत्ता प्रदान करनी चाहिए। लघुस्तरीय उद्योगो की उन्नति इनकी उपयोगिताओ को ध्यान मे रखकर ही करनी चाहिए न कि अधिक कायक्षमता वाले बडे पैमाने के उद्योगो की लागत पर करनी चाहिये। देश की आर्थिक सरचना मे लघुस्तरीय उद्योगो के महत्वपूर्ण स्थान के विषय मे सभी एकमत है। परन्तु उनको इस दृष्टि से नही देखना चाहिए, जैसा कि योजना आयोग का भी विचार है, कि वे अर्थव्यवस्था के गतिहीन अग है अपितु उन्हे प्रगतिशील तथा क्षमतायुक्त विकेन्द्रित क्षेत्र के रूप मे देखना चाहिए। इन उद्योगो का क्षेत्र एक ओर तो ग्रामीण क्षेत्र मे है जहाँ कृषि पर आजीविका के लिये निर्भर व्यक्तियो को ये अतिरिक्त तथा पूरक आय प्रदान कर सकते है और दूसरी ओर बडे पैमाने के उद्योगो के सहायक उत्पादक के रूप मे

भी है । इस दृष्टिकोण से यदि हम सरकार की नीति को देखे जो कि पिछले वर्षो मे अपनाई गई है और जिसके अन्तर्गत सरकार ने अधिक क्षमता वाले क्षेत्र मे उत्पादन को नियन्त्रित किया है तथा अधिक कर का भार भी बढाया है, तो यह कहा जा सकता है कि इससे आवश्यक परिणाम उपलब्ध न हो पायेगा । सरकार को चाहिए कि वह लघुस्तरीय उद्योगो की बडे पैमाने के उद्योगो के सहायक के रूप मे उन्नति करे । "यह सोचना एक बडी गलती होगी कि लघुस्तरीय उद्योग उत्पादन के अप्रचरित तथा पुराने तकनीक को जारी रखते है । वास्तव मे, अधिक से अधिक तकनीकी परिवर्तन लाने के लिये बहुत विस्तृत क्षेत्र है जिससे उत्पादन मे कार्यक्षमता की वृद्धि होगी ।"

यह उचित ही है कि केन्द्रीय सरकार ने बडे तथा लघु उद्योगो के मध्य सहयोग के लिये हाल ही मे प्रयास करना आरभ कर दिया है । इससे दोनो एक दूसरे के पूरक होकर उन्नति करेगे और आपसी प्रतिस्पर्द्धा समाप्त होगी । उद्योग (विकास एव नियमन) अधिनियम के अन्तर्गत लायसेस प्राप्त लगभग ३,००० औद्योगिक इकाइयो को वाणिज्य तथा उद्योग मत्रालय ने लिखकर यह पता लगाया है कि वे किस सीमा तक लघ् उद्योगो से वस्तुओ का अथवा उनके अवयवो का निर्माण करवा सकती है । सरकार द्वारा यह प्रयास इसकी लघ् उद्योगो से सम्बन्धित अब तक की नीति मे अलग है । लघु उद्योगो की क्रमबद्ध तथा स्थायी उन्नति के लिये वास्तविक तथा प्रभावकारी ढग यही है कि उनका बडे उद्योगो के सहायक के रूप मे विकास किया जाय जैसा कि जापान मे हुआ । वहाँ पर भारी उद्योग केवल उन्ही उपकरणो का विनिर्माण करते है जिनमे अत्यधिक सूक्ष्मता की आवश्यकता होती है और वे भाग, जिनका विनिर्माण अपेक्षाकृत आसानी से किया जा सकता है, लघु उद्योगो से ही प्राप्त किये जाते है । जापान मे बडे उद्योग केवल लघ् उद्योगो द्वारा उनके निर्माण का निरीक्षण करते है अथवा डिजायन तैयार करने मे सहायता प्रदान करते है । इस प्रकार बड़े उद्योगो को इस ओर अधिक भारी विनियोग करने की आवश्यकता नही होती और लघु उद्योगो को अपने उत्पादनो का तैयार बाजार उपलब्ध हो जाता है ।

इस प्रकार भारत सरकार ने यह ठीक ही किया है, यद्यपि देर से, कि भारी तथा लघु उद्योगो के मध्य अन्तर्निर्भरता के आधार पर उन्नति के स्वरूप की महत्ता पर विशेष ध्यान दिया है । राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम तथा अन्य सरकारी प्रयासों के फलस्वरूप अनेक बडी औद्योगिक इकाइयो ने सिद्धान्तत. इस योजना को मम्न लिया है । वास्तव मे कुछ इकाइयो ने तो लघु उद्योगो से इस सम्बन्ध मे प्रसंविदा भी कर लिया है कि वे उन्हे आवश्यक वस्तुओ की पूर्ति करेगे । यह

आशा की जाती है कि और भी उद्योग अधिक से अधिक सख्या मे इस उदाहरण को अपनायेगे।

सरकार की नीति लघु उद्योगो को प्रोत्साहन देने तक ही केवल सीमित नही होनी चाहिए। उन उद्योगो मे जहाँ लघु इकाइयाँ अनार्थिक हो अथवा उन्नति के मार्ग मे अवरोधक हो उन्हे स्वेच्छा से सयोग करने के लिये प्रेरित करना चाहिए। यदि वे स्वेच्छा से सयोग न करे तो कानून के अन्तर्गत उन्हे ऐसा करने के लिये विवश करना चाहिए। यह ध्यान देने योग्य बात है कि राष्ट्रीयकरण का जो आन्दोलन चल रहा है वह इस तथ्य को इंगित करता है कि सयोग से आर्थिक लाभ प्राप्त होते है। भारत सरकार ने कोयले की छोटी खानो को आपस मे समामेलन के लिये कदम उठाये है क्योकि बिना इसके उद्योगो का आधुनिकीकरण सभव नही है और कोयले के सीमित साधनो का क्षमता के साथ आर्थिक उपयोग नही हो पाता। विभिन्न उद्योगो के लिये उद्योग (विकास तथा नियमन) अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित विकास परिषदो को यह भार सौपा गया है कि वे उद्योग विशेष मे सर्वाधिक क्षमता वाले आकार की इकाई का पता लगाये।

अन्त मे, सरकार को बडे आकार के उद्योगो की बुराइयो को रोकना है विशेषकर जब उनमे एकाधिकार की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो, जिससे कि उपभोक्ताओ, श्रमिको तथा जनसमुदाय के हितो की सुरक्षा की जा सके। जैसा कि सयुक्त राज्य अमेरिका मे ट्रस्ट को अवैध घोषित कर दिया गया था उसी प्रकार भारत सरकार को भी निश्चित प्रकार के एकाधिकारो को अवैध घोषित कर देना चाहिए। एकाधिकार की सत्ता को बनाये रखने के लिये जो अनुचित साधन अपनाये जाते है उनके विरुद्ध व्यक्ति विशेष अथवा कम्पनी द्वारा उनको यह अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि वे विशिष्ट ट्रिब्युनल के समक्ष अपील कर सके। भारत मे टैरिफ आयोग को यह अधिकार है कि वह औद्योगिक उपक्रमो द्वारा मूल्य-विभेदन तथा उनकी एकाधिकारी सत्ता की जाँच कर सकता है। यदि ससद के अधिनियम द्वारा एकाधिकार प्रदान किया जाता है तो उस दशा मे जनता के हितो की सुरक्षा के लिये कोई न कोई उपाय अपनाया जाता है। सार्वजनिक उपयोगी उपक्रमो के लिये मूल्य-नीति विहित की जाती है, लाभ को नियमित किया जाता है, सेवाओ के मान को निर्धारित किया जाता है तथा पूर्ति का दायित्व उन पर सौपा जाता है। इगलैंड मे निजी एकाधिकार पर नियन्त्रण को सुदृढ बनाने के लिये एकाधिकार तथा प्रतिबन्धक व्यवहार अधिनियम पारित किया गया है। अमेरिका के Anti-Trust Laws की तरह इसके अन्तर्गत एकाधिकार को अवैध नही घोषित किया गया और न ही उन व्यवहारों को वर्जित किया है जिनसे एकाधिकार का विकास

हो सके अपितु प्रत्येक मामले पर उनके गुण-दोषो के अनुसार विचार किया जाता है। अधिनियम के अन्तर्गत एकाधिकार आयोग की स्थापना की गई है जो व्यापार परिषद द्वारा सुपुर्द किये गये उद्योगो की जॉच करता है और रिपोर्ट देता है। आयोग को उद्योग मे स्थित सभी दशाओ को पूरी जाच करनी होती है। जब आयोग यह रिपोर्ट देता है कि कुछ व्यवहार जनहित के विरुद्ध है उस दशा मे यदि सरकार आयोग के मत से सहमत होती है तो किसी भी व्यवहार को अथवा हानिकर समझौते को अवैध घोषित कर देती है। व्यवहार मे, सरकार फर्म द्वारा दिये गये इस आश्वासन को ही मान लेती है कि वह आयोग की जॉच के अनुसार अपने व्यवहारो मे आवश्यक परिवर्तन कर लेगा। भारत सरकार ने अभी हाल मे ही एकाधिकार आयोग अधिनियम पारित किया है।

लघुस्तरीय उद्योग पर जापानी दल पाच व्यक्तियो का एक शिष्ट-मडल लघुस्तरीय औद्योगिक उपक्रमो के विषय मे अध्ययन करने के लिये १९५९ मे भारतवर्ष आया था। इसने अपनी रिपोर्ट १९६० मे प्रस्तुत की। इस दल ने लघुस्तरीय उद्योगो मे क्रमबद्ध यन्त्रीकरण तथा आधुनिकीकरण की सिफारिश की। साथ ही तकनीकी, वित्तीय तथा अन्य सुविधाये प्रदान करने की भी सिफारिश की। उसने यह विचार प्रकट किया कि इन उद्योगों के सम्बन्ध मे सरकार की नीति 'निर्देशन तथा प्रोत्साहन' के लिये होनी चाहिये न कि 'सरक्षण तथा पोषण' की।

वित्तीय सहायता के सम्बन्ध मे, दल ने यह अवलोकन किया कि भारत सरकार द्वारा अनेक प्रयत्न किये जाने के उपरान्त भी, सरकारी वित्तीय एजेन्सी तथा निजी बैंको के द्वारा अब भी एक सतर्क तथा रूढिवादी नीति ही अपनाई जा रही है। इसने यह सिफारिश की है कि साख गारण्टी प्रणाली तथा साख बीमा कोष का सचालन रिर्जव बैंक के द्वारा किया जाना चाहिए, राज्य सहकारी बैंक अथवा शीर्ष सहकारी बैंक की स्थापना प्रत्येक राज्य मे इन उद्योगों को वित्त प्रदान करने के लिये की जानी चाहिए; सरकार को राज्य वित्तीय निगम के माध्यम से ऋण प्रदान करना चाहिए, तथा राज्य वित्तीय निगम को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का एजेन्सी के रूप मे प्रयोग करना चाहिए।

इस दल ने भारत मे औद्योगिक बस्तियो के स्थापित किये जाने की अनुपम योजना की सराहना की और यह विचार प्रकट किया कि इन बस्तियो को विशिष्ट उद्योगो के प्रवर्तन के लिये ही महत्वपूर्ण योगदान नही देना है अपितु स्थानीय उद्योगो को प्रोत्साहन तथा विकेन्द्रीयकरण मे भी सहयोग देना है। यह सिफारिश की है कि भारतीय लघु उद्योग निगम को, कर्मचारियो तथा सगठन दोनो ही दृष्टि से, सुदृढ बनाना चाहिए। इसने Small Industries Service Institute तथा

extension centres को और अधिक उपयोगी बनाने के लिये और सुदृढ बनाने की सिफारिश की । इन सस्थाओ को शोध तथा जाच की सुविधाओ की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए ।

प्रत्येक राज्य मे तकनीकी समिति की स्थापना का भी सुझाव इसने दिया है जो कि सर्वेक्षण कर सके तथा स्थानीय प्राकृतिक साधनो के उपयोग तथा विकास के लिये सभावनाओ का भी अध्ययन कर सके । सहायक उद्योगो के प्रवर्तन के सम्बन्ध मे जापानी विशेषज्ञो ने यह सुझाव दिया कि सामान्य पुर्जो तथा कच्चे माल आदि के लिये राष्ट्र भर मे औद्योगिक मानको की स्थापना की जाय तथा नये सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयो पर इस बात का जोर डाला जाय कि यथासम्भव वे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति लघुस्तरीय इकाइयो से ही करे ।

रिपोर्ट मे औद्योगिक सहकारिता को सुदृढ बनाने की आवश्यकता पर बल दिया गया है जो छोट फर्म के मालिको द्वारा नई सहकारी समितियो का सगठन कर सके । इन सहकारिताओ को सम्मिलित कार्यक्रमो को अपना लेना चाहिए जैसे कच्चे माल का सम्मिलित क्रय, सम्मिलित बिक्री, स्टोरेज, तथा निर्मित माल के किस्म की जाच तथा उसका परिवहन आदि । राज्य मे प्रत्येक उद्योग के लिये व्यापारिक सघो की स्थापना की जानी चाहिए जिनका प्रमुख कार्य सम्मिलित हितो के सम्बन्ध मे होना चाहिए जैसे, वस्तुओ पर शोध, तकनीकी सूचनाओ को प्राप्त कर उन्हे प्रसारित करना, व्यापारिक प्रशासन मे निर्देशन, जन सम्पर्क सम्बन्धी कार्य तथा सरकार से सम्पर्क आदि ।

लघु स्तरीय उद्योगो द्वारा निर्मित वस्तुओ के निर्यात बढाने के सम्बन्ध मे यह सुझाव दिया गया कि इन उद्योगो को पहिले देशी बाजार मे पूर्ति के लिये ही प्रयत्न करना चाहिए, तथा विदेशो को निर्यात करने से पूर्व वस्तु के गुणो तथा प्रतिस्पर्द्धात्मक मूल्य के सम्बन्ध मे पूरी तरह से ध्यान देना चाहिए । दस्तकारी तथा हथकर्घो से बनी वस्तुओ के निर्यात के लिये विशेष क्षेत्र है ।

अनुमान समिति के अवलोकन. लोक सभा की २४ मार्च, १९६० को प्रस्तुत अपनी ७७ वी रिपोर्ट मे अनुमान समिति (Estimates Committee) ने लघुस्तरीय उद्योगो के विषय मे अपने विचार प्रकट किये । इसने रिपोर्ट यह दी कि भारत सरकार ने अर्थव्यवस्था के विकेन्द्रित स्वरूप के उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु कोई भी "सतर्क प्रयास" नही किया । सिद्धान्तो के प्रतिपादन करने के अतिरिक्त इन्हे व्यवहार मे लाने के लिये कुछ भी नही किया गया है । इस दिशा मे जितनी भी योजनाये बनाई गई है उन्हे समन्वित करने का विशेष प्रयास नही किया गया

है और न ही उन्हे औद्योगीकरण के कार्यक्रम से सुचारू रूप से जोडा गया है। इस समिति ने निम्नलिखित सिफारिशे की

(१) लघुस्तरीय उद्योगो के कार्यक्रम को विशेष रूप से गाँवो से ही सम्बद्ध करना चाहिये जिससे इन उद्योगो की उन्नति के लिये सभी प्रयास ग्रामीण क्षेत्रो मे केन्द्रित हो सके। अभी तक तो इस दिशा मे सभी प्रयास शहरी क्षेत्रो तक ही केन्द्रित रहे है।

(२) सरकार को इन उद्योगो से सम्बन्धित सभी आवश्यक अधिनियमो के पारित करने की बात पर विचार करना चाहिये, जैसे, उनका ग्रामीण तथा पिछडे क्षेत्रो मे विकास, बडे स्तर के उद्योगो तथा लघुस्तरीय उद्योगो के मध्य सम्बन्धो का नियमन तथा औद्योगिक सहकारिताओ का सगठन आदि।

(३) केन्द्रीय तथा राज्य स्तर पर इन उद्योगो से सम्बन्धित जो विभिन्न सगटनो की स्थापना की गई है उनके कार्य-कलापो की जाँच करने के लिये एक समिति की स्थापना की जानी चाहिए। उसे जाँच करके उन उपायो की सिफारिश करनी चाहिए जिनके द्वारा सगठनो की बहुलता कम हो सके, उनके द्वारा किये जा रहे कार्यों की परस्परव्यापिता समाप्त हो सके, कार्य मे देरी न हो, तथा यथासभव वे एक ही प्रकार की सेवाये प्रदान कर सके।

(४) केन्द्र मे लघुस्तरीय उद्योग परिषद का पुनर्संगठन किया जाना चाहिये जिससे कि लघुस्तरीय उद्योगो को और अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके।

(५) विकास आयुक्त के कार्यालय का राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम के साथ समामेलन कर दिया जाना चाहिए।

(६) लघु उद्योगो का व्यापक सर्वेक्षण किया जाना चाहिए तथा इनकी योजना से सम्बन्धित आवश्यक तथा प्रमुख आँकडो को एकत्रित करना चाहिए। इनके विकास की योजनाओ को योजना के अन्तर्गत निर्धारित उद्देश्यो के अनुरूप ही बनाया जाना चाहिए तथा लक्ष्य को योजना के अनुसार तथा साथ ही उद्योग के अनुसार निर्धारित करना चाहिए।

(७) चूँकि तृतीय योजना मे विकास की गति अधिक तीव्र होगी अत. यह आवश्यक है कि लघुस्तरीय उद्योगो के लिये अधिक वित्त की व्यवस्था की जानी चाहिए।

लघुस्तरीय उद्योगों पर भारतीय उत्पादकता दल. राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद (N P C.) के तत्वाधान मे T. C. M के सहयोग से लघुस्तरीय

उद्योगो पर दल ने चार देशो का निरीक्षण किया, यथा सयुक्त राज्य अमेरिका, पश्चिमी जर्मनी, स्वेडेन तथा जापान। इस दल ने १९६० मे प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट मे इस बात पर बल दिया कि उन सभी देशो मे जहाँ जहाँ यह दल गया, लघुस्तरीय उद्योगो का बडे उद्योगो के साथ-साथ विकास पाया गया। या तो वे बडे उद्योगो के सहायक उद्योग के रूप मे या स्वतन्त्र रूप मे विकसित हुए है। इन उद्योगो ने उन देशो के औद्योगिक विकास मे तथा उत्पादन क्षमता की वृद्धि मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। दल ने भारत सरकार द्वारा इन उद्योगो की उन्नति के लिये किये जा रहे प्रयासो की सराहना की तथा उनको चालू रखने की आवश्यकता पर बल देते हुए यह विचार प्रकट किया कि अब वह समय आ गया है जब कि विकास की गति को तीव्र करने के लिये समुचित कानूनी उपायो को अपनाया जाय। इस दल ने यह सिफारिश की कि जो कानूनी उपाय सयुक्त राज्य अमेरिका तथा जापान मे अपनाये जा रहे है, वे भारत के लिये कहाँ तक उपयुक्त है इस बात का अध्ययन लघुस्तरीय उद्योग परिषद को करना चाहिए। दूसरे, इन उद्योगो को प्रोत्साहित करने की सरकार की नीति की ओर उन बडे औद्योगिक इकाइयो का ध्यान आकर्षित करना चाहिये जो कि निजी क्षेत्र मे है जिससे कि लघु इकाइयो की उनके साथ सह-प्रसविदा करने की क्षमता का अधिकतम उपयोग हो सके। तीसरे, सरकार को इस क्षेत्र मे भी व्यावहारिक रूप से प्रयास करना चाहिए कि सार्वजनिक क्षेत्र के बड़े उद्योग भी इस नीति का यथासभव पालन करे कि वे लघु उद्योगो से उपलब्ध होने वाली वस्तुओ का अधिकतम उपयोग करेंगे। उसने यह भी सुझाव दिया कि सरकार सयुक्त राज्य अमेरिका मे चलाये जा रहे लघु व्यवसाय कार्यक्रम का विस्तारपूर्वक अध्ययन करे तथा यह देखे कि वह कहाँ तक भारतवर्ष की परिस्थितियो मे अपनाया जा सकता है।

योजना आयोग ने मई, १९६८ मे इस बात पर बल दिया कि भारतीय अर्थव्यवस्था मे जो परिस्थितियाँ है उनके अनुसार कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो मे रोजगार को बढाने की अत्यधिक आवश्यकता है। इसका तात्पर्य यह है कि देश भर मे अपेक्षाकृत लघु स्तरीय उद्योगो की उन्नति होनी चाहिए। विकास की आवश्यकताये यह सूचित करती है कि लघु उद्योगो मे तकनीकी उन्नति उच्च स्तर की होनी चाहिए तथा सभी महत्वपूर्ण दिशाओ मे टैक्नालॉजिकल प्रगति के परिणामो को इन्हे अपने मे समाहित करना चाहिये जिससे कि टैक्निकली प्रशिक्षित व्यक्तियो के लिये आत्मनियुक्ति के अवसर मे वृद्धि हो सके।

औद्योगिक विकेन्द्रीकरण की समस्या का समाधान तीन स्तर पर करना होगा। प्रथम स्तर पर परम्परा से चले आ रहे ग्रामीण उद्योग है। इनकी दशा

मे दो समस्याये है—(१) तत्कालिक सरक्षण की जिससे टैक्नालॉजिकल बेरोज-गारी मे वृद्धि न हो, तथा (२) सतत टैक्नालॉजिकल उन्नति के लिये कार्यक्रम बनाने की जिससे कि उद्योगो के सचालको की मजदूरी-आय शीघ्र ही औसत स्तर तक पहुंच जाय। दूसरा क्षेत्र उन लघुस्तरीय उद्योगो का है जिनकी उन्नति परम्परा से चले आ रहे ग्रामीण उद्योग के रूप मे नही हुई है अपितु जिनकी स्थापना या तो अधिक माँग वाली उपभोक्ता वस्तुओ के लिये अथवा माध्यमिक वस्तुओ के लिये अथवा लघुस्तर पर पुर्जो के बनाने के लिये हुई हो। तृतीय क्षेत्र उन लघुस्तरीय उद्योगो का है जो कि बडी औद्योगिक इकाइयो के सहायक के रूप मे स्थापित किये गये है। लघुस्तर पर विकेन्द्रित उद्योगो की उन्नति के लिये विभिन्न दिशाओ मे प्रयास किये जाने की आवश्यकता है जिससे इनको प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति मे वृद्धि हो तथा साथ ही टैक्नालॉजिकल प्रगति भी हो सके।

अध्याय १२

औद्योगिक स्थान-निर्धारण

किसी भी देश मे उद्योगो के भौगोलिक विभाजन पर अनेक जटिल बातो का प्रभाव पड़ता है, यथा, ऐतिहासिक, आर्थिक, प्राकृतिक तथा प्राय मनोवैज्ञानिक। अतः किसी भी उद्योग की स्थापना के लिए स्थान का चुनाव करते समय इन सभी महत्वपूर्ण घटको पर विचार करना तथा उनके सापेक्ष गुण-दोषो का निरुपण करना आवश्यक होता है। औद्योगिक स्थान-निर्धारण के सम्बन्ध मे व्यक्तिगत निर्णय के लिये क्षेत्र अधिक विस्तृत है। इन्ही घटको का विस्तारपूर्वक तथा आलोचनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

ऐतिहासिक अनेक दशाओ मे, औद्योगिक स्थान-निर्धारण को ऐतिहासिक घटनाओ ने प्रभावित किया है। इगलैड मे बारलो आयोग के समक्ष अपने साक्ष्य मे व्यापार परिषद के प्रतिनिधियो ने यह बताया कि यद्यपि सूती वस्त्र के विनिर्माण के लिये आर्थिक तथा अन्य दशाये उपयुक्त थी, फिर भी "यह उद्योग पहले लकाशायर मे ही किसी विशेष कारण से स्थापित नही किया गया, सिवा इसके कि शायद ऊनी उद्योग वहाँ पहले से ही था, विदेशियो का वहाँ स्वागत किया जाता था तथा मानचेस्टर मे नगर निगम न था।" उसी प्रकार स्टैफर्डशायर मे मिट्टी के बरतन उद्योग के केन्द्रीयकरण के लिये अत्यधिक शक्तिशाली घटक इगलैड के कुछ नियोक्ताओ की अपूर्व प्रतिभा ही थी। ये इस बात पर बल देते है कि औद्योगिक स्थान-निर्धारण को प्रभावित रने मे सायोगिक अथवा ऐतिहासिक परिस्थितियो की भी महत्ता है। "जब कोई उद्योग किसी विशेष क्षेत्र मे केन्द्रित हो जाता है, तो उस स्थान से सम्बद्ध प्राकृतिक लाभो का पता लगाना सदैव ही आसान होता है।"

कच्चे माल का उपलब्ध होना कच्चे माल को दो वर्गो मे बाँटा जा सकता है प्रथम, "सर्वव्यापी" (ubiquities) या जो प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध हो, जैसे मिट्टी, जल; तथा दूसरे, "स्थानीकृत पदार्थ" (localised materials) या जो कुछ निश्चित स्थानो पर ही उपलब्ध होते हो जैसे, खनिज पदार्थ, इमारती लकडी, कोयला, गन्ना आदि। स्थानीकृत पदार्थो को पुन

दो भागो मे उपविभाजित किया जा सकता है। एक तो 'शुद्ध' (pure) जिनका भार निर्माण करने पर कम नही होता जैसे कपास तथा ऊन, और दूसरे सकल (gross) पदार्थ जिनके भार का कुछ अश निर्माण करते समय कम हो जाता है जैसे, गन्ना, कच्चा लोहा तथा कोयला आदि। वेबर ने स्थानीकृत पदार्थ का निर्मित वस्तु के अनुपात को 'material index' या पदार्थ निर्देशाक नाम दिया है जिसका प्रभाव केन्द्रीयकरण की सीमा पर अत्यधिक पडता है। जितना ही यह निर्देशाक उच्चतर होगा उतना ही अधिक केन्द्रीयकरण कच्चे माल के केन्द्र के पास होगा। अत स्थानीकृत सकल पदार्थ का उद्योगो के केन्द्रीयकरण पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। भारतवर्ष के महत्वपूर्ण उद्योगो मे से चीनी उद्योग कच्चे माल के प्राप्त होने वाले स्थान पर ही केन्द्रित है। सूती वस्त्र उद्योग भी प्रारभिक अवस्था मे कच्चे माल से अधिक प्रभावित था। परन्तु बाद मे अधिक लागत के कारण बम्बई तथा अहमदाबाद से दूर ही स्थापित किया जाने लगा। कच्चा माल उपलब्ध होन वाले स्थान के पास केन्द्रित होने वाले उद्योगो मे लोहा और इस्पात उद्योग भी है। जूट उद्योग भी कच्चे माल के पास ही केन्द्रित होता रहा था यद्यपि कच्चा जूट 'शुद्ध' पदार्थ है। इसके अन्य कारण थे जैसे बाजार की समीपता, यातायात से सम्बन्ध, कोयला तथा स्काटलैण्ड वालो का उपक्रम आदि।

बाजार की समीपता ऐसे उद्योग, जिनकी वस्तुओ को अधिक दूर तक ले जाने पर अधिक लागत पडती है, अधिकाश बाजार के पास ही स्थापित किये जाते है। यह वस्तुओ की प्रकृति पर भी निर्भर करता है। वस्तु यदि टूटने-फूटने वाली हो या शीघ्र ही बरबाद होती हो या उसका आकार बडा हो तो उसे एक स्थान से दूसरे तक ले जाना कठिन होगा और उसकी लागत भी अधिक होगी। बाजार के पास उद्योग के केन्द्रित होने की सभावना और भी अधिक होती है यदि आवश्यक कच्चा माल अपेक्षाकृत हल्का हो, या उसे विभिन्न स्रोतो से प्राप्त किया जाता हो या विनिर्माण मे उसके भार मे कमी न आती हो या उसके यातायात मे लागत भी न अधिक पडती हो। यदि यह देश भर मे उपलब्ध हो तो उस दशा मे निर्माणकर्ता के लिये यही लाभदायक होगा कि वह उद्योग की स्थापना कच्चे माल के स्रोत के पास ही करे। किसी नवीन बाजार का विकसित होना भी औद्योगिक कार्य-कलाप के विकेन्द्रीयकरण के लिये महत्वपूर्ण घटक है। उदाहरण के लिये, सूती वस्त्र उद्योग की स्थापना बम्बई केन्द्र से हटकर उत्तरी भारत की ओर होना बाजार पास होने का लाभ प्राप्त करने के कारण ही था। जूट उद्योग का भी विकेन्द्रीयकरण नए बाजारो के विकसित होने के कारण हुआ।

उत्तर प्रदेश, मद्रास तथा बिहार मे चीनी, आटा तथा सीमेण्ट उद्योग की स्थापना के कारण अधिक बोरो की माँग वहाँ बढ जाने से ऐसा हुआ।

यातायात की लागत न्यूनतम यातायात लागत का कोई न कोई केन्द्र सदैव होता है यद्यपि इसका ठीक-ठीक पता लगाना कठिन है। फिर भी इस केन्द्र पर उद्योगो का स्थानीकरण किया ही जाय यह आवश्यक अथवा सभव नही है क्यो कि यह आवश्यक नही है कि जहाँ यातायात की लागत न्यूनतम हो वहाँ उत्पादन लागत भी न्यूनतम हो। व्यवहार मे, उद्यमी सभी घटको के विषय मे पूर्ण विचार कर वही क्षेत्र अन्त मे चुनता है जहाँ उसे अधिकतम शुद्ध लाभ की सभावना होती है।

यातायात के आधुनिक स्वरूपो के और इसकी बढती हुई कार्य क्षमता के कारण उद्योगपति के सम्मुख अब पहले की अपेक्षा उद्योग की स्थापना के सम्बन्ध मे अधिक स्वतत्रता है। भारतवर्ष मे सगठित उद्योग तब तक न थे जब तक कि देश मे रेल यातायात का प्रचुर विकास न हुआ था। १८८० के पश्चात रेलवे का तेजी के साथ निर्माण के साथ सूती वस्त्र, जूट तथा कोयला उद्योग का विकास हुआ। आरभ मे सूती वस्त्र उद्योग का बम्बई मे केन्द्रित होने का कारण सस्ते यातायात की सुविधा—आन्तरिक तथा बाह्य दोनो—का प्राप्त होना था। आरभ मे रेल भाडा नीति ऐसी थी जिसके कारण अधिकाश उद्योगो की स्थापना बन्दरगाह के पास के नगरो मे ही की गई। वर्तमान काल मे यातायात का प्रभाव कम हो गया है क्योकि रेलवे अब अधिक दूरी के लिये तथा भारी माल के लिये कम भाडा लेती है। ऐसे क्षेत्रो मे जहाँ रेलवे नही है वहाँ सडक यातायात का भी पर्याप्त विकास हो रहा है।

शक्ति सम्पदा (power resources). कोयला प्राप्त होने वाले स्थान के पास उद्योगो का केन्द्रित होने का प्रमुख कारण यह रहा है कि कोयले की परिवाहन लागत अधिक होती है। परन्तु विद्युत का विकास होने पर उष्मा तथा शक्ति का अब अधिक लोचदार स्रोत उपलब्ध हो गया है। दूसरे शब्दो मे, उन उद्योगो को छोड कर जहाँ यह अब भी प्रमुख अग है, जैसे, लोहा एव इस्पात उद्योग, वहाँ विद्युत ने कोयले के प्रभाव को काफी कम कर दिया है। १९२० के पश्चात् पयकारा जल-विद्युत परियोजना के पूर्ण होने के पश्चात् दक्षिण भारत मे (कोयमबटूर, मदुरा तथा तिनेवेली जिलो मे) बडी सख्या मे सूत कातने का उद्योग विकसित हुआ। विद्युत शक्ति की उन्नति के साथ-साथ उद्योगो का विकेन्द्रीयकरण करने मे अधिक सफलता प्राप्त होगी।

श्रम किसी भी उद्योग की स्थापना मे श्रम की पूर्ति की महत्ता के प्रभाव के विषय मे पता लगाना कठिन सा है क्योकि यदि किसी स्थान पर अन्य प्राकृतिक साधन अथवा लाभ उपलब्ध हो तो वहाँ श्रमिको के न उपलब्ध होने पर भी उद्योग की स्थापना की जा सकती है। श्रम के गतिशील होने के कारण उसे किसी भी क्षेत्र मे प्राप्त किया जा सकता है। देश मे न्यूनतम मजदूरी, सामाजिक सुरक्षा जैसी सुविधाये तथा अन्य वैधानिक सुरक्षा की व्यवस्था होने के कारण अब इस बात की महत्ता कम रह गई है कि उद्योग इस स्थान पर स्थापित किया जाय जहाँ श्रमिको को सस्ते दर पर प्राप्त किया जा सके। बम्बई के आस पास के क्षेत्रो मे सस्ते दर पर श्रमिको के उपलब्ध होने के कारण भी वहाँ सूती वस्त्र उद्योग का केन्द्रीयकरण हुआ था। बाद मे यह पाया गया कि अहमदाबाद, शोलापुर, नागपुर तथा कानपुर के पास बम्बई की अपेक्षाकृत श्रमिक अधिक सख्या मे और सस्ते दर पर उपलब्ध हो सकते है। भारतीय टैरिफ परिषद ने १९३७ मे यह अवलोकन किया कि बम्बई की अपेक्षाकृत अहमदाबाद मे "श्रम पूर्ति के चालू रहने, अधिक स्थायी फैक्ट्री जनसख्या, तथा अनुपस्थिति की मात्रा कम होने के सम्बन्ध मे" विशेष लाभ उपलब्ध है। आरभ मे कानपुर मे जुलाहा तथा कोरियो ने सूती वस्त्र उद्योग को आवश्यक श्रमिक प्रदान किये। उसी प्रकार, जमशेदपुर मे स्थित लोहा तथा इस्पात उद्योग के सचालन के लिये भी स्थायी श्रमिक उपलब्ध होते रहे थे।

स्थान तथा सेवायें. सस्ते मूल्य वाले स्थान तथा सार्वजनिक उपयोगी सेवाओ के विद्यमान रहने से भी कुछ क्षेत्रो मे उद्योगो की स्थापना के लिये उद्यमी आकर्षित होते है। इसी विचार से भारत सरकार औद्योगिक बस्तियो की योजना को देश के विभिन्न भागो मे कार्यान्वित कर रही है जिससे उद्योगो का विकेन्द्रीयकरण हो सके। किसी स्थान विशेष मे सामाजिक सुविधाओ के या आवास तथा चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओ के उपलब्ध होने पर भी उस स्थान पर उद्योग आकर्षित होते है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति से पूर्व देशी राज्यो मे उद्योगो को अधिक प्रोत्साहन मिलता था, क्योकि वहाँ पर कर का भार कम था, वैधानिक प्रतिबन्ध कम थे, तथा श्रमिको के सम्बन्ध मे प्रतिबन्ध कम थे। इसी लिये वहाँ पर उद्योग अधिक स्थापित किये जाते थे। साथ ही साथ, जब कोई उद्योग किसी एक छोटे स्थान पर केन्द्रित हो जाता है तो वहाँ पर अनेक लाभ उपलब्ध होने लगते है। इस प्रकार वहाँ केन्द्रीयकरण के लाभ तथा आर्थिक लाभ अनेक प्रकार से प्राप्त होते है। उसी क्षेत्र मे या उसके आस पास सहायक उद्योग भी स्थापित हो जाते हैं जिनसे प्रमुख उद्योग अपनी विशिष्ट

आवश्यकताओ की पूर्ति सस्ते दर पर और आसानी से कर लेने मे समर्थ होते हैं। एक ही स्थान पर एक प्रकार के उद्योग जब केन्द्रित हो जाते है तो सम्मिलित रूप से शोध सस्थाओ की स्थापना करना आसान तथा कम व्ययपूर्ण होता है। वहाँ पर प्राय शिक्षा तथा प्रशिक्षण की भी समुचित सुविधा उपलब्ध हो जाती है।

वित्तीय सुविधाये किसी भी उद्योग के स्थान-निर्धारण के लिये वित्तीय सुविधाओ का उपलब्ध होना अधिक आवश्यक नही होता है। वास्तव मे पूँजी तो उत्पादन का अत्यधिक गतिशील घटक है। इसे देश के किसी भी भाग मे प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु कुछ विशिष्ट दशाओ मे यह भी एक महत्वपूर्ण घटक हो सकता है। सरकार यह प्रतिबन्ध लगा सकती है कि बैंक वित्त नही प्रदान करेगे जब तक कि उद्यमी अपने उपक्रमो की स्थापना देश के हित को ध्यान मे रख कर न करे। ऐसा कहा जाता है कि नये उपक्रम को वित्त प्रदान करने वाले लोग प्राय स्थान के चुनाव मे इस बात पर जोर देते है कि उद्योग उनके घर के पास ही स्थापित किये जायँ जिससे कि वे अपने विनियोग की देखभाल आसानी से कर सके। परन्तु यह बताना कठिन है कि व्यवहार मे इसके कारण उद्योग का स्थानीयकरण किस सीमा तक प्रभावित होता है।

प्राकृतिक एवं जलवायु सम्बन्धी घटक. उद्योगो के स्थान-निर्धारण को प्राय. कुछ घटक, जैसे भूमि का स्तर, क्षेत्र की स्थलाकृति (topography), जल-निकास की सुविधा, तथा गन्दे पदार्थो के निकास की व्यवस्था आदि, भी प्रभावित करते है। कुछ उद्योग ऐसे होते है जिनको निर्माण के लिये पर्याप्त मात्रा मे तथा सतत जल की पूर्ति की आवश्यकता होती है। खान से सम्बन्धित उद्योग जैसे कोयला, कच्चा लोहा तथा बाक्साइट आदि प्राय उन्ही स्थानो पर स्थापित किये जाते हैं जहाँ आवश्यक तथा अनुकूल प्राकृतिक सुविधाये उपलब्ध हो। कृषि से प्राप्त होने वाले कच्चे माल से सम्बन्धित उद्योगो के स्थानीयकरण मे जलवायु महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। नम जलवायु सूती वस्त्र उद्योग के लिये आवश्यक होती है अत ऐसा क्षेत्र जहाँ नम जलवायु हो, इसके लिये अधिक उपयुक्त होता है। यद्यपि आजकल यह उद्योग उन स्थानो पर भी स्थापित किया जा सकता है जहाँ नम जलवायु न हो क्योकि नमी कृत्रिम रूप से भी प्राप्त की जा सकती है परन्तु उससे लागत मे वृद्धि होती है। साथ ही किसी भी क्षेत्र की स्थलाकृति भी यातायात की लागत पर प्रभाव डालती है जिसका अन्त मे उत्पादन की लागत पर प्रभाव पडता है।

व्यक्तिगत घटक. औद्योगिक उद्यमी किसी भी उद्योग की स्थापना करते समय केवल आर्थिक घटको पर ही विचार नही करते हैं। व्यक्तिगत विचारधारा,

अभिरुचि तथा पूर्व धारणा से भी वे प्रभावित होते है। "फोर्ड ने डेट्रायट मे मोटर कार का निर्माण आरभ किया क्योकि वह उनका नगर था। लार्ड नफील्ड ने काउली इसलिये चुना क्योंकि वह स्कूल जिसमे उनके पिता ने शिक्षा प्राप्त की थी बिकाऊ था। इन प्रेरणाओ मे से किसी को भी उन्हे सफलता प्रदान करने वाला नही कहा जा सकता जिन्होने उन्हे अपनाया।"[1]

युद्ध सम्बन्धी कारण आजकल युद्ध सम्बन्धी बातो पर भी औद्योगिक स्थानीयकरण के समय ध्यान रखना आवश्यक हो गया है। अनुभव यह बताता है कि बम वर्षा विशेषतया उन्ही क्षेत्रो मे की जाती है जहाँ युद्धास्त्र बनाने के कारखाने हो अथवा युद्ध के लिये वस्तुओ की पूर्ति करने वाले उद्योग हो। इसी कारण से ऐसे उद्योगो को ऐसे स्थानो पर स्थापित किया जाना चाहिए जहाँ पर वायु सेना द्वारा आक्रमण सभव न हो। चूँकि युद्ध के बादल अब भी क्षितिज पर मँडरा रहे है, औद्योगिक कार्यकलाप के विकेन्द्रीयकरण की आवश्यकता और भी अधिक है।

औद्योगिक स्थानीयकरण की परिवर्तनात्मकता

यह ध्यान देने योग्य बात है कि विभिन्न घटको की सापेक्ष महत्ता समय के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होती रहती है। इस प्रकार कोई भी क्षेत्र जो कि उद्योग विशेष की स्थापना के लिये विशेष परिस्थितियो मे आदर्श हो, उत्पादन की तकनीक, यातायात के साधन आदि के परिवर्तन होने पर आदर्श नही भी हो सकता है। औद्योगिक स्थानीयकरण के परिवर्तनात्मकता तथा विस्तार मे सह-सम्बन्ध पाया जाता है। किसी समय-विशेष मे तथा स्थान विशेष मे औद्योगिक स्थान-निर्धारण समय विशेष पर आर्थिक उन्नति की अवस्था से भी सम्बद्ध है। विभिन्न घटको मे परिवर्तन होने पर औद्योगिक स्थानीयकरण मे भी परिवर्तन होता है। ये परिवर्तन विशेषतया लागत मे परिवर्तन होने के कारण होता है। स्थान-निर्धारण सन्तुलन कभी भी नही आने पाता है और अनेक व्यावहारिक समस्याएँ इसलिये सामने आती है कि समायोजन की प्रक्रिया मे कठिनाइयाँ आती है और हितो मे आपसी विरोध होता है। स्थानीयकरण सम्बन्धी परिवर्तन के प्रमुख कारणो का विश्लेषण ई० एम० हूवर ने उनकी प्रकृति तथा समय के अनुसार प्राकृतिक, चक्रीय, दीर्घकालिक तथा सरचनात्मक के रूप मे किया है।

मौसमी परिवर्तन. अपनी गतिशीलता की सीमाओ के अन्तर्गत, निर्माणकर्ता अपने उद्योग के स्थान को परिवर्तित हो रही मौसमी दशाओ के अनुरूप बदल देते

[1] E. A. G. Robinson, *The Structure of Competitive Industry*.

है। उदाहरण के लिये, कैलीफोर्निया (सयुक्त राज्य अमेरिका) तथा कुछ अन्य स्थानो मे मधुमक्खी पालन का स्थान मौसम के अनुसार बदलता रहता है क्योकि वर्ष भर फूलो का लाभ उठाने के लिये मक्खियाँ क्रमबद्ध स्थान-परिवर्तन करती रहती है। परन्तु मौसम मे परिवर्तन होने का तथा स्थानीयकरण पर होने वाले इसके प्रभाव को पहले से ही जाना जा सकता है। अत इसके कारण उत्पन्न स्थानीयकरण की समस्या बहुत महत्वपूर्ण नही है।

चक्रीय परिवर्तन. चक्रीय परिवर्तन का पूर्वानुमान अपेक्षाकृत आसानी से नही लगाया जा सकता और मौसमी परिवर्तन की अपेक्षाकृत ये अधिक स्थायी होते है। ये व्यापार चक्र के कारण उपस्थित होते है। "उत्पादक उपकरणो के भौगोलिक वितरण मे परिवर्तन मुख्य रूप से सक्रिय विनियोग के काल मे होते है, परन्तु वास्तविक उत्पादन के स्थान-निर्धारण मे परिवर्तन व्यापार चक्र की सभी अवस्थाओ मे होता है।" चक्रीय उच्चावचन का प्रभाव विनियोग, आय-वितरण, घटको के उपयोग तथा सापेक्ष मूल्य पर पडता है।

दीर्घकालिक परिवर्तन दीर्घ-कालिक परिवर्तन धीरे-धीरे होता है तथा यह अपेक्षाकृत अधिक काल तक रहता है तथा उसकी शीघ्र ही पुनरावृत्ति की आशा व्यापार चक्र अथवा मौसम की तरह नही होती है। उदाहरण के लिये, किसी भी क्षेत्र मे जनसख्या का विकास इसी प्रकार से होता है और उसका प्रभाव औद्योगिक स्थान-निर्धारण पर भी पडता है। दीर्घकालीन परिवर्तन का एक और उदाहरण क्षयशील साधनो का समाप्त होना है।

संरचनात्मक परिवर्तन नये साधनो तथा तकनीक के विकास से इस प्रकार के परिवर्तन होते है। टैक्नॉलाजिकल उन्नति के कारण हस्तान्तरण लागत, श्रम-सम्बन्धी आवश्यकताये तथा शक्ति पर लागत मे परिवर्तन होते है और इस प्रकार स्थानीयकरण को प्रभावित करते है। यातायात की सस्ती लागत के कारण बाजार का क्षेत्र बडा होता है और इससे बाजार तथा पदार्थ अभिमुख उद्योगो का केन्द्रीय-करण और भी बढता है। आधुनिक टैक्नालॉजिकल विकास के कारण अधिक विशेषज्ञ श्रमिको की आवश्यकताये कम हो जाती है। उसके कारण नये-नये केन्द्रो की ओर विकेन्द्रीयकरण अग्रसर होता है। साथ ही अभिनव तकनीक की सहायता से सस्ती शक्ति उपलब्ध हो जाती है और उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से सचारित भी किया जा सकता है। इस प्रकार शक्ति की लागत मे विभिन्न स्थानो मे अधिक अन्तर न होने के कारण स्थान-निर्धारण कई स्थानो पर सुविधापूर्वक किया जा सकता है।

उद्योगो का क्षेत्रीय विकास

आधुनिक आर्थिक विचार-धारा तथा नियोजन मे उद्योगो के क्षेत्रीय अथवा विकेन्द्रित विकास की धारणा अधिक महत्वपूर्ण होती जा रही है। अधिक विस्तृत क्षेत्र वाले देशो के लिये इसके विषय मे विचार करना और भी आवश्यक है। औद्योगिक विकास की क्षेत्रीय प्रणाली विवेकपूर्ण आर्थिक नियोजन के लिये परम आवश्यक है। "औद्योगिक कार्य-कलाप का अत्यधिक स्थानीकृत स्वरूप राष्ट्रीय योजना के निर्विघ्न कार्यान्वित करने के मार्ग मे गभीर अवरोध उत्पन्न करता है राष्ट्रीय योजना मे अध्यारोपित, और इसका अग होते हुए, एक क्षेत्रीय योजना विशेष रूप से स्थानीय बेरोजगारी को दूर करने के लिये प्रत्येक क्षेत्र मे होना आवश्यक है।"[१]

उद्देश्य. उद्योगों के क्षेत्रीय विभाजन के निम्नलिखित उद्देश्य हो सकते है

(१) इसका ध्येय सम्पूर्ण देश के स्थानीय साधनो का अधिक न्यायसगत विकास करना है। "इस प्रकार से औद्योगिक विभाजन से उद्योगो मे विभिन्नता आयेगी तथा वे स्थानीय रूप से सन्तुलित होगे जिससे देश के विभिन्न क्षेत्रो मे विभिन्न तथा सतुलित जीवन उपलब्ध हो सके।" इस प्रकार, क्षेत्रीय विकास का ध्यय आत्म-निर्भरता प्राप्त करना नही है क्योकि कोई भी क्षेत्र इतना धनी नही हो सकता कि वह आधुनिक सभ्यता के लिये आवश्यक सभी औद्योगिक वस्तुओ की पर्याप्त पूर्ति कर सके। दूसरी ओर, एक क्षेत्र का अतिरिक्त उत्पादन दूसरे क्षेत्र मे पहुचाया जा सकता है और इस प्रकार क्षेत्रीय विभाजन से अतिरिक्त व्यापार की प्रकृति एव सघटन मे ही परिवर्तन होता है।

(२) क्षेत्रीय विकास के अन्तर्गत वे अनुकूलतम औद्योगिक क्रियाये आती है जो कि आर्थिक, सामाजिक तथा युद्ध सम्बन्धी महत्वपूर्ण विचारो पर आधारित होती है। इसके द्वारा क्षेत्र की सम्पत्ति एव वहाँ की जनता के मध्य साम्य स्थापित होता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि यह 'प्रान्तीयवाद' से प्रेरित है। प्रान्त-विशेष की आत्मनिर्भरता का विचार न ही सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से न्यायसगत है और न ही व्यावहारिक दृष्टिकोण से उचित है। अन्तर्प्रान्तीय ईर्ष्या की प्रवृत्ति क्षेत्रीय विकास के लिये घातक सिद्ध हो सकती है। राष्ट्रीय विकास के हेतु क्षेत्रीय अन्तर्विरोध को तो प्रोत्साहित करने के स्थान पर न्यूनतम करना आवश्यक है। वास्तव मे क्षेत्रीय योजना राष्ट्रीय योजना का एक अग है।

[1] J R. Bellerby, *Economic Reconstruction*, p. 287

"क्षेत्रीय विकास का ध्येय उपलब्ध साधनों के प्रयोग मे अधिकतम कार्यक्षमता प्राप्त करना है न कि विभिन्न क्षेत्रो के अपने ही ध्येय तथा इच्छाओ के हेतु विरोधी दावो का समाधान करना है।"[1]

(३) क्षेत्रीय विकास का उद्देश्य सीमित तथा क्षयशील सम्पत्तियो का भावी पीढियो के लिये सुरक्षित रखना है। यह जगल, कोयला तथा पेट्रोल जैमे प्राकृतिक साधनो को बरबाद होने से बचाता है। "जगल तथा खनिज पदार्थो के क्षेत्र, स्टाक बढाने वाले क्षेत्र, अन्न, कच्चा माल तथा कृषि क्षेत्र के पूर्ण विकास के लिये विभिन्न प्रकार के उद्योगो की स्थापना आवश्यक है जिससे इन क्षेत्रो के विभिन्न साधनो का उपयोग इन्हे एक सूत्र मे बँधे बडे क्षेत्र के अगो के रूप मे मान कर हो सके।"

(४) क्षेत्रीय विकास से रोजगार के अवसर का विभिन्न क्षेत्रो मे न्यायसगत विभाजन हो सकता है। इसकी अनुपस्थिति मे ये अवसर केवल कुछ ही राज्यो तक ही सीमित रह पाता है और इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रो मे प्रति व्यक्ति की आय मे अधिक असमानता होती है। इसके द्वारा विभिन्न क्षेत्रो के लोगो की क्रय शक्ति यथा-सभव समान होती है। क्षेत्रीय विकास इस सत्य पर आधारित है कि "अमीरी तथा गरीबी अविभाज्य है"। भारतवर्ष मे वर्तमान आर्थिक उन्नति की अवस्था मे, यह उचित न होगा कि औद्योगिक क्रियाएँ कुछ सीमित क्षेत्रो मे ही केन्द्रित होने के लिये प्रोत्साहित की जायें। वास्तव मे क्षेत्रीय उन्नति मे असमानताये राष्ट्रीय एकता के लिये घातक है। "यदि देश मे औद्योगिक विकास को तेजी के साथ तथा सन्तुलित ढग से आगे बढाना है, तो अधिक से अधिक ध्यान उन राज्यो तथा क्षेत्रो के विकास के लिये करना होगा जो अब तक पिछडे हुए रहे है।"

(५) क्षेत्रीय विकास के माध्यम से कुछ सामाजिक उद्देश्यो की पूर्ति भी हो सकती है, जैसे, श्रमिको के प्रवास की समस्या को दूर करना, क्षेत्रो के पिछडे होने की सभावना को रोकना, तथा देश के विभिन्न भागो मे प्रति व्यक्ति आय मे समानता लाना आदि। इसका सामाजिक ध्येय कुछ ही क्षेत्रो मे जनसख्या तथा उद्योगो के केन्द्रीयकरण को भी रोकना है। कुछ औद्योगिक नगरो के विकास एव प्रसार से स्वास्थ्य, सामाजिक तथा नैतिक हाईजीन, तथा घरो एव आवास से सम्बन्धित बुराइयाँ दूर होती है। ऐसे क्षेत्रो मे घनी आबादी होने के कारण समाज तथा सस्कृति के मूल आधारो पर भी कुठाराघात होता है। "यदि ट्रैफिक की भीड-भाड़ से उत्पन्न समय की बरबादी से समाज को होने वाली लागत का तथा अधिक भीड-भाड़, धुआँ तथा शोर-गुल के कारण कार्य-क्षमता मे हानि तथा

[1] R. Balakrishna, *Regional Planning in India*, p. 73.

सार्वजनिक स्वास्थ्य को पहुचने वाली क्षति का अनुमान लगाया जाय तो यह प्रति वर्ष करोडो रुपये होगा ।"

भारतवर्ष के लिये इसकी आवश्यकता भारतवर्ष मे औद्योगिक स्थानीयकरण सन्तुलित नही है। एक ओर तो, कुछ बडे स्तर के उद्योगो को कुछ केन्द्रो मे ही केन्द्रित पाया जाता और दूसरी ओर, देश के अधिकाश भागो मे ऐसे उद्योगो की अनुपस्थिति पाई जाती है। अधिकाश बडे पैमाने के उद्योग कलकत्ता तथा बम्बई जैसे बडे नगरो मे ही स्थापित पाये जाते है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उद्योगपतियो को ऐसे उद्योगो की स्थापना करने के लिये स्थान निर्धारण के सम्बन्ध मे पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी ओर इसके लिये समुचित नियत्रण नही था। इन दो केन्द्रो मे ही उद्योगो का केन्द्रीयकरण यह बताता है कि उद्योगो का क्षेत्रीय विभाजन कितना विषम है। १६५१ मे, केवल इन दो केन्द्रो मे ही कुल पजीकृत फैक्ट्री का ४२ प्रतिशत था, उद्योगो मे लगी कुल पूँजी का ६७ प्रतिशत था तथा औद्योगिक वस्तुओ के उत्पादन का ६० प्रतिशत था। एक और भी ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इन दो केन्द्रो मे शहरी जनसख्या का केवल १२ प्रतिशत ही निवास करता है जब कि कुल श्रमिको के ६३ प्रतिशत यहाँ पर कार्य करते है।

इस प्रकार असन्तुलित औद्योगिक विकास के कारण देश मे आय विभाजन मे तथा विभिन्न क्षेत्रों के लोगो के रहन-सहन के सापेक्ष स्तर मे अत्यधिक विषमताये पाई जाती है। विशेष रूप से, इसके कारण औद्योगिक क्षेत्रों मे तथा पिछडे हुए क्षेत्रो की आय मे अत्यधिक असमानताये पाई जाती है। १६५० मे, खान तथा फैक्ट्री के श्रमिको की प्रति व्यक्ति आय ८४० रु० प्रति वर्ष थी जब कि कृषि मे लगे श्रमिको की वार्षिक आय केवल २०० रु० ही थी। तब से अब तक की स्थिति मे विशेष परिवर्तन नही हुआ है। यह असमानता और भी अधिक हो जाती है क्योकि कृषि तथा अकृषि से सम्बन्धित वस्तुओ के सापेक्ष मूल्य मे पर्याप्त अन्तर पाया जाता है और यह तथ्य भारत जैसे देश के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है। १६३० के आस-पास कृषि-मूल्यो मे कमी औद्योगिक वस्तुओ के मूल्यो की अपेक्षाकृत अधिक तेजी से हुई थी जिससे उद्योगो मे लगी तथा गैर-उद्योगो मे लगी जनसख्या की सापेक्ष आय विशेष रूप से प्रभावित हुई थी। साथ ही, युद्धकालीन मुद्रास्फीति के समय मे, पिछडे हुए क्षेत्रो के लोगो को अधिक कठिनाई का सामना करना पडा था क्योकि उनकी वास्तविक आय मे अत्यधिक कमी आ गई थी, जब कि औद्योगिक केन्द्रों मे इस कमी की पूर्ति आय मे वृद्धि के कारण हो

गई थी जो कि युद्धकालीन उत्पादन मे वृद्धि से बढे हुए रोजगार से उन्हे प्राप्त हो रही थी।

उद्योगो के अत्यधिक केन्द्रित होने के कारण, बम्बई तथा कलकत्ता की जनसख्या मे अत्यधिक तेजी के साथ वृद्धि हुई। इन दोनो नगरो की जनसख्या मे १९३१ तथा १९५१ के मध्य ११८ तथा १२१ प्रतिशत की क्रमश वृद्धि हुई जब कि सम्पूर्ण नगरो मे ७७ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। इन दोनो नगरो मे जनसख्या का घनत्व अत्यधिक है जिसके कारण आवास समस्या दिन-पर-दिन गभीर होती जा रही है। "बहुत बडी सख्या मे लोग गलियो मे रहते है। घनी बस्ती होने के कारण उनका स्वास्थ्य खराब होता है, काम करने वालो की भौतिक तथा मानसिक क्षमता कम होती है और उनकी कार्यक्षमता घट जाती है।"

प्रमुख आवश्यकतायें अभी हाल के वर्षो मे कुछ सैद्धान्तिक तथा टैक्नालॉजिकल प्रगति के परिणामस्वरूप, भारतवर्ष मे उद्योगो के विकेन्द्रीयकरण को देश के औद्योगिक नियोजन मे उचित स्थान दिया जा रहा है। क्षेत्रीय आधार पर औद्योगिक उन्नति लाने के लिये विभिन्न उपाय किये जाने चाहिए।

(१) देश के राजनीतिक विभाजन पर पुनः विचार किया जाना चाहिए जिससे कि पर्याप्त बडे आर्थिक क्षेत्र बन सके। प्रत्येक क्षेत्र को एक स्वतन्त्र आर्थिक इकाई माना जाय जो कि अपने साधनो के समुचित उपयोग के लिये समुचित क्षमता रखते हो। राज्य पुनर्गठन अधिनियम, १९५६ के अन्तर्गत भारतवर्ष को पॉच क्षेत्रो मे बॉटा गया है—उत्तरी, केन्द्रीय, पूर्वी, दक्षिणी, तथा पश्चिमी। प्रत्येक क्षेत्र के लिये एक क्षेत्रीय परिषद की स्थापना की गई है। क्षेत्रीय नियोजन परिषद की स्थापना करने की आवश्यकता है जो कि क्षेत्रीय आधार पर कार्य कर सके। योजना आयोग के साथ मिल कर ये परिषद कुछ महत्वपूर्ण कार्य कर सकते है। नये उद्योगो की स्थापना के लिये आवश्यक घटको का अध्ययन भी ये कर सकते है। इन परिषदो की स्थापना क्षेत्रीय आधार पर होनी चाहिए तथा उस क्षेत्र मे आने वाले राज्यो के प्रतिनिधि इसमे होने चाहिए। इन परिषदो के कार्य की रूपरेखा निम्नलिखित हो सकती है

(अ) उन सभी घटको का विस्तृत अध्ययन करना जिससे क्षेत्र विशेष मे सन्तुलित विकास हो सके। ऐसा करते समय सभी महत्वपूर्ण बातो पर विचार करना चाहिए, जैसे कच्चे माल का उपलब्ध होना, शक्ति, यातायात की सुविधा, तथा बेरोजगार श्रमिक। तीनो प्रमुख औद्योगिक वर्गों—यथा भारी या प्रमुख हल्के अथवा उपभोक्ता पदार्थ, लघुस्तरीय तथा कुटीर उद्योग धन्धे—की स्थापना के सदर्भ में क्षेत्र की उन्नति के विषय मे भी अध्ययन किया जाना चाहिए।

(ब) प्रत्येक क्षेत्र मे औद्योगिक उन्नति के विभिन्न मामलो को ध्यान मे रखते हुए, नगर नियोजको के सहयोग से विस्तृत रूपरेखा तैयार की जानी चाहिए जिससे आवास अथवा गृह, अस्पताल, स्कूल तथा पार्क आदि की पर्याप्त सुविधाये उपलब्ध हो सके।

(स) समय-समय पर योजना आयोग को स्थानीय दशाओ तथा आवश्यकताओ के बारे मे अवगत करते रहना चाहिए। इस प्रकार योजना आयोग को विभिन्न क्षेत्रो की औद्योगिक परिस्थितियो तथा उसके विकास की सभावना के विषय मे पूरी जानकारी तथा सूचना प्राप्त हो सकेगी।

(द) प्रत्याशी उद्योगपतियो को विभिन्न क्षेत्रो मे उद्योगो के स्थान-निर्धारण के बारे मे विशेषज्ञो की सलाह तथा उचित सूचना देनी चाहिए।

(य) प्रत्येक स्तर पर जनता से सक्रिय सहयोग लेने का प्रयत्न करना चाहिए। समय-समय पर जिला अथवा स्थानीय परिषद से उनके सहयोग के लिये तथा विभिन्न योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिये परामर्श करते रहना चाहिए।

इन क्षेत्रीय परिषदो को उद्योगो के स्थानीयकरण के सम्बन्ध मे राजनीतिक दबाव का भी सामना करना पड सकता है और ऐसी परिस्थिति मे ऐसा स्थान चुनने के लिये बाध्य किया जा सकता है जो कि सम्पूर्ण राष्ट्र के सामाजिक तथा आर्थिक हितो के अनुरूप न हो। हाल मे, यह देखा गया है कि जब कभी सार्वजनिक क्षेत्र मे किसी उद्योग की स्थापना के लिये निर्णय लिया गया तो उस दशा मे विभिन्न राज्यो द्वारा अपने-अपने राज्य मे उसकी स्थापना के लिये दबाव डाला जाता है। ऐसी परिस्थितियो मे राजनीतिक दलो का दबाव ही स्थानीयकरण के लिये उत्तरदायी हो सकता है जो कि आर्थिक आवश्यकताओ के विरुद्ध सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार के दबाव तथा व्यवहारो को कम करने के लिये प्रयास करना अति आवश्यक है।

(२) उद्योगो के स्थानीयकरण के स्वरूप का क्षेत्रीय अध्ययन करके यह ज्ञात करना चाहिए कि प्रत्येक उद्योग के केन्द्रीयकरण की क्या प्रवृत्ति है। प्रोफेसर सारजेण्ट फ्लोरेंस ने इस सम्बन्ध मे एक उचित तकनीक बताया है। उन्होने 'स्थानीयकरण के गुणाक' का विचार प्रतिपादित किया है जिसका प्रयोग उद्योगो का तीन भागो मे वर्गीकरण करने के लिये किया जा सकता है, यथा, उद्योग जिनका गुणांक उच्च, मध्य तथा न्यून हो। ये वर्गीकरण उन उद्योगो का पता लगाने मे सहायक हो सकता है जिनको उद्योगो के विकेन्द्रीयकरण की नीति के

अन्तर्गत विकेन्द्रित करना हो। उन उद्योगों की क्षेत्र विशेष मे केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति होती है जिनका गुणाक उच्च होता है। कुछ दशाओ मे यह गुणाक उद्योगों के अल्प-विकसित होने के कारण भी उच्च हो सकता है जो कि उनके विकसित हो जाने पर कम भी हो सकता है। ऐसे उद्योग जिनका मध्य गुणाक हो विकेन्द्रीयकरण के लिये उपयुक्त होते है। इस प्रकार हम यह कह सकते है कि इस प्रकार से किया गया वर्गीकरण अन्तर्क्षेत्रीय समजन के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है। "जब तक कि विभिन्न क्षेत्रो मे उद्योगो की असमान उन्नति है, तब तक सदैव उन उद्योगो के विनियोजन तथा पुर्नविनियोजन की आवश्यकता औद्योगिक रोजगार मे साम्य की स्थिति लाने के लिये होगी।" औद्योगिक क्रियाओ के विभाजन मे क्षेत्रीय असमानता को दूर करने के लिये स्थापित उद्योगो का उपयोग करने के अतिरिक्त सभावित उद्योगो के प्रत्येक क्षेत्र मे उन्नति करने पर भी विचार करना चाहिए। नए उद्योगो के विकसित करने का जितना अधिक अवसर होगा उतना ही अन्तर्क्षेत्रीय साम्य स्थापित करने का कार्य आसान होगा।

(३) लघु तथा मध्यम-स्तरीय उद्योग भी अन्तर्क्षेत्रीय समायोजन के क्षेत्र मे बडे-स्तर के उद्योगो के सहायक के रूप मे महत्वपूर्ण योगदान दे सकते है। बडे-स्तर के उद्योग की अपेक्षाकृत अपनी प्रकृति के अनुसार वे प्रत्येक क्षेत्र मे फैलाये जा सकते है। विकेन्द्रीयकरण के लिये भी वे अधिक उपयुक्त है। साथ ही यह ध्यान देना चाहिए कि जो लघु तथा मध्यम-स्तर के उद्योग दीर्घ-जीवी हो उन्हे ही समुचित प्रोत्साहन दिया जाय।

(४) चूंकि यातायात की सुविधा किसी भी उद्योग के स्थान-निर्धारण पर अपना समुचित प्रभाव डालती है अत यातायात की प्रणाली की वर्तमान सरचना मे तथा भाडे की नीति मे उचित परिवर्तन करके उद्योगो की स्थानीयकरण की प्रवृत्ति मे आवश्यक मोड लाया जा सकता है। आधुनिक सडक यातायात का प्रयोग क्षेत्रीय आधार पर सन्तुलित औद्योगिक विकास करने के लिये किया जा सकता है। अल्प-विकसित तथा पिछडे क्षेत्रो मे यातायात के उचित, सुगम तथा सस्ते साधन का विकास करना अति आवश्यक है। "उन उपायो को जो कि यातायात प्रणाली के सचालन के लिये पूर्ण रूप से आर्थिक न हो, जैसे कि भाडा दर को कम करने के लिये सरकार के द्वारा उपदान का दिया जाना अथवा अलाभप्रद क्षेत्रो मे यातायात की सुविधा को बढाना, यातायात की नीति मे स्थान प्रदान करना, क्षेत्रीय नियोजन की सफलता के लिये आवश्यक है।" साथ ही, विभिन्न प्रकार के यातायात के साधनो मे पर्याप्त समन्वय भी स्थापित होना चाहिए।

क्षमता के साथ उनके सचालन के लिये तथा उनके उचित प्रयोग के लिये प्रयत्न किया जाना आवश्यक है।

(५) क्षेत्रीय विकास के लिये विद्युत शक्ति का पर्याप्त मात्रा में तथा सस्ते दर पर उपलब्ध होना भी अति आवश्यक है। क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था साधनो की सुरक्षा तथा विभिन्न प्रकार के एव विकेन्द्रित उद्योगो की उन्नति के सिद्धान्त पर आधारित है। सुरक्षा का प्रारभ प्रवाहित जल से आरभ किया जाना चाहिए जो कि शक्ति के लिये शाश्वत तथा अक्षय साधन है। "विकेन्द्रित उद्योग के लिये काफी बडे ग्रामीण आधार की आवश्यकता होती है और असख्य गॉव, बहु-केन्द्रित, लघु आकार वाले शहर, जो कि आर्थिक, शैक्षणिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक आवश्यकताओ का तथा साथ ही आधुनिक शहरी जीवन की अन्य सुविधाओ को प्रदान करता है, के लिये भ्रूण स्वरूप है।" औद्योगीकरण तथा विद्युत शक्ति पर अधिक जोर दिये जाने के कारण, उद्योगो मे शक्ति के उपभोग मे प्रचुर वृद्धि होने की अत्यधिक सभावना है। १९५५ मे ४६,००० लाख यूनिट (पूर्ण उपभोग का ६५ ७ प्रतिशत) का उद्योगो ने उपभोग किया तथा १९६० के अन्त तक औद्योगिक उपभोग १२०,००० लाख यूनिट (७२ प्रतिशत) तक बढ जाने की सभावना थी। शक्ति सम्बन्धी प्रायोजनाओ का विनियोजन एक सतत प्रक्रिया है और इसे दीर्घकालीन उद्देश्यो पर आधारित होना चाहिए। प्रथम योजना बनाते समय, अतिरिक्त शक्ति-क्षमता के लिये १५ वर्ष का लक्ष्य ७० लाख किलावॉट रखा गया था। उद्योगो, छोटे शहरो तथा ग्रामीण क्षेत्रो द्वारा मॉग मे वृद्धि होते जाने के कारण, इस लक्ष्य को बढा कर १५० लाख किलोवॉट कर दिया गया था। "इस प्रकार की वस्तुओ की प्रकृति के कारण, इस प्रकार के लक्ष्य को अलोचपूर्ण नही माना जा सकता, समय-समय पर इसमे समायोजन करना आवश्यक है जिससे कि औद्योगिक कार्यक्रम के क्षेत्र मे, औद्योगिक इकाइयो के स्थान-निर्धारण मे, तथा उपभोग के स्वरूप एव वृद्धि मे हुए परिवर्तन पर भी ध्यान दिया जा सके।"

(६) विभिन्न उद्योगों द्वारा प्रदर्शित प्रवृत्तियो का सावधानी के साथ विश्लेषण किया जाना चाहिए तथा प्रोत्साहित करना चाहिए जिससे कि उद्योगो का और अच्छा क्षेत्रीय विभाजन हो सके। भारतीय उद्योगो की स्थानीयकरण सम्बन्धी प्रवृत्तियो पर शोध अध्ययन द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि वस्त्र (सूती, ऊनी तथा रेशमी), साबुन, दियासलाई तथा सीमेण्ट उद्योगो मे उनके विकास के साथ-साथ अन्तर्युद्ध वर्षो (१९१८-३९) मे निश्चित विकेन्द्रीयकरण हुआ है। चमड़ा, कागज, शीशा, तथा रसायनिक उद्योगो मे भी यही प्रवृत्ति पाई गई है।

चीनी उद्योग मे—जो कि अधिकाश उत्तर प्रदेश तथा बिहार मे केन्द्रित थी—भी दूसरे राज्यो मे सिचाई की सुविधा मे वृद्धि के साथ हटने की प्रवृत्ति दिखाई दी है। जूट उद्योग मे भी, जो कि बगाल मे अत्यधिक केन्द्रित है, विकेन्द्रीयकरण हुआ है क्योकि कुछ मिले इधर उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य प्रदेश मे भी स्थानीय बाजार की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये स्थापित की गई है क्योकि यहाँ के चीनी उद्योग, आटा की मिलो तथा सीमेण्ट उद्योग को पैकिग के लिये उन वस्तुओ की आवश्यकता होती है।

अत यह तथ्य उल्लेखनीय है कि क्षेत्रीय विकास को केन्द्रीय नियोजन के उद्देश्यो से किसी भी प्रकार से परस्पर-विरोधी नही समझा जाना चाहिये। वास्त-विकता तो यह है कि यह राष्ट्रीय स्तर पर सन्तुलित औद्योगिक विकास का प्रमुख आधार है। क्षेत्रीय परिषद जैसी सस्था देश भर मे नियोजन को प्रोत्साहित करेगी तथा उसके उत्तरदायित्व को फैलायेगी। इस प्रकार यह लोगो के गुणो का पूर्ण उपयोग करने मे समर्थ होगी। इससे उचित औद्योगिक विभाजन तथा सम्पूर्ण आर्थिक विकास सभव हो सकेगा।

अभिनव अध्ययन (recent studies) क्षेत्रीय दृष्टिकोण से औद्योगिक स्वरूप का अध्ययन[१] यह बताता है कि पश्चिमी क्षेत्र को, जिसमे महाराष्ट्र तथा गुजरात राज्य सम्मिलित है, सर्वोच्च स्थान प्राप्त है तथा उत्तरी पूर्वी क्षेत्र सबसे नीचे है। यह क्षेत्र औद्योगिक दृष्टिकोण से एकदम पिछडा हुआ है और भविष्य मे भी यहाँ औद्योगिक उन्नति की सभावनाये अत्यन्त कम है। फिर भी, पजाब की स्थिति बिल्कुल भिन्न है। यहाँ पर उन्नतिशील लघु उद्योगो की सख्या अत्यधिक है जिन्हे बडे-स्तर के उद्योगो का विश्लेषण करते समय सम्मिलित नही किया जाता है।

यह ध्यान देने योग्य है कि विनियोजित पूंजी के प्रतिशत मे मध्य प्रदेश (९%) तथा उडीसा (७ ७%) का अश पर्याप्त है परन्तु श्रमिको को प्राप्त रोजगार के दृष्टिकोण से उनका भाग (क्रमश ३ ९% एव १ ६%) महत्वहीन सा है। इसका कारण दोनो ही राज्यो मे इस्पात के कारखानो का स्थापित होना है। इन प्लाण्टो मे अधिक पूंजी लगी है परन्तु अनुपातत वह उतना रोजगार नही प्रदान करते है। पश्चिमी बगाल सारे भारतवर्ष मे सबसे अधिक उन्नत राज्य है और महाराष्ट्र का नम्बर उसके बाद आता है। यह ध्यान देने योग्य है कि पश्चिमी

[1] T. R Sharma, "Industrial Pattern of India", *Commerce* 26th March 1966, p 534

बगाल मे अधिकाश पूँजी थोडे से बड़ी औद्योगिक इकाइयो मे लगी हुई है जब कि महाराष्ट्र मे इनमे लगी पूँजी का अधिक समान वितरण है और अधिक सख्या मे बडी औद्योगिक इकाइयो मे लगी हुई है। साथ ही यह अनेक प्रकार के उद्योगो मे भी है। समाज के आर्थिक तथा सामाजिक हित के दृष्टिकोण से इसी प्रकार का विकास आवश्यक है।

देश के विभिन्न क्षेत्रो मे पिछडेपन की मात्रा को नापने के लिये जो आँकडे उपलब्ध है वे राज्यो की राजनीतिक सीमाओ से सम्बद्ध है। यह भुला दिया जाता है कि सबसे अधिक उन्नत राज्यो मे भी पिछडे हुए क्षेत्र उपस्थित है। जी० डी० सोमानी ने इस समस्या को अध्ययन करने का प्रयास[1] किया है। उन्होंने यह पता लगाया कि पाँच राज्यो मे—बिहार, उत्तर प्रदेश, उडीसा, मध्य प्रदेश, तथा राजस्थान—४० प्रतिशत से अधिक जनसख्या पिछडे हुए क्षेत्रो मे है। साथ ही, इन राज्यो मे कुछ 'सीमावर्ती जिले' भी है जिनकी समस्याये वर्तमान सदर्भ मे और भी महत्वपूर्ण है। उचित सरकारी नीति तथा कार्य के माध्यम से उनके विकास के लिये उच्चतम प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

१९६८ मे योजना आयोग ने एक कार्यकारिणी दल की स्थापना की जो Ponde Panel के नाम से जाना जाता है। इसका उद्देश्य उन वास्तविक कसौटियो का पता लगाना था जिनसे पिछडे क्षेत्रो के बारे मे जाना जा सके। इस पैनल ने कुछ कसौटियो के बारे मे सिफारिश की है जिनके माध्यम से औद्योगिक दृष्टिकोण से पिछडे राज्यो का पता लगाया जा सके, यथा, (अ) प्रति व्यक्ति आय, (ब) उद्योग एव खान से प्रति व्यक्ति आय, (स) पजीकृत फैक्टरी मे श्रमिको की सख्या। इस पैनल की सिफारिशो के अनुसार आन्ध्र प्रदेश, बिहार, उडीसा, उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान औद्योगिक दृष्टिकोण से पिछडे राज्य है। इसने इस बात पर बल दिया है कि औद्योगिक उपक्रमो की स्थापना करते समय क्षेत्रीय विकास पर अधिकाधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

इन पिछडे राज्यों का औद्योगिक विकास तब तक सभव नही जब तक कि निजी एव सार्वजनिक दोनो ही क्षेत्र मिल-जुल कर नवीन उद्यमियो को प्रशिक्षित एव प्रोत्साहित नही करते। निजी उद्यमियो को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए जिससे कि वे इन पिछडे राज्यो मे नवीन औद्योगिक उपक्रमो की स्थापना करने के लिये प्रोत्साहित हो सके। हाल मे ही, एकाधिकार एव प्रतिबन्धक व्यापार व्यवहार अधिनियम (Monopolies and Restrictive

[1] G. D. Somani, "Industrialisation of Backward Areas", *The Economic Times*, October 31, 1965.

Trade Practices Act) पारित किया गया है जिसके कारण यह सभव हो सकता है कि इन पिछडे क्षेत्रो का आवश्यक विकास न हो पाये क्योकि इस अधिनियम के अन्तर्गत बड़े-बडे उपक्रम अपना विस्तार निश्चित सीमा से आगे नही कर सकते हैं। इस अधिनियम के अन्तर्गत सरकार को पर्याप्त अधिकार प्रदान किया गया है जिससे वह किसी भी उपक्रम को अपने आकार को निश्चित सीमा से आगे बढाने से रोक सकती है । इसका इन पिछडे राज्यो के विकास पर विपरीत प्रभाव पड सकता है ।

राज्य तथा औद्योगिक स्थान-निर्धारण

औद्योगिक स्थान-निर्धारण का नियमन औद्योगिक आयोजन की आधार-शिला है। व्यक्तिगत निजी हित तथा सामाजिक हित मे प्राय परस्पर विरोध सा पाया जाता है और इसीलिये इस दिशा मे सरकार द्वारा हस्तक्षेप तथा नियमन न्यायसगत है। कुछ लोगो का विचार है कि "कुल मिला कर व्यक्तिगत चुनाव उद्योग को उस स्थान पर रखता है जहाँ व्यक्ति ने उसे आर्थिक दृष्टिकोण से सर्वाधिक लाभप्रद पाया।" परन्तु ऐसा तर्क देते समय यह भुला दिया जाता है कि व्यक्ति विशेष के लिये जो आर्थिक है वही राष्ट्र के लिये भी आर्थिक हो यह आवश्यक नही है। यद्यपि उपलब्ध वित्त के अनुसार व्यक्ति अपना निर्णय यथा-सभव सर्वोचित ढग से ही लेता है फिर भी उसके पास सभी आवश्यक आकडे नही होते और न ही वह उन घटको पर नियत्रण रख सकता है जो स्थानीयकरण के अनुकूलतम स्वरूप मे परिवर्तन लाते है। साथ ही पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा व्यवहार-जगत मे नही पाई जाती है जिस पर इतना विश्वास रखा जाता है और इस प्रकार उसके द्वारा स्वयमेव समायोजन भी नही हो पाता।

भारतवर्ष मे स्थान-निर्धारण से सम्बन्धित पर्याप्त आकडे तथा सूचनाओ के न मिलने के कारण तथा ऐसी निजी सस्थाओ की कमी, जो कि इस विषय पर अपनी विशेषज्ञो की राय दे सकें, के कारण उद्यमियो को इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से कठिनाइयो का सामना करना पडता है। ऐसी परिस्थितियो मे भारतवर्ष मे व्यक्ति-विशेष द्वारा स्थान का चुनाव पाश्चात्य देशो की अपेक्षाकृत अधिक दोष-पूर्ण होता है। साथ ही औद्योगिक दृष्टिकोण से भारत जैसे अल्प-विकसित देश मे सरकार के लिये औद्योगिक क्रियाओ के वैज्ञानिक विभाजन का निर्णय लेने के लिये अधिक विस्तृत क्षेत्र उपलब्ध है। यह कहना उचित नही है कि उद्योगो के समुचित विभाजन हेतु ऐच्छिक साधन ही अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकते है। ऐच्छिक प्रयास उद्योगों से सन्तुलित विकास के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अपर्याप्त हो सकते है क्योकि निजी उद्यमी कभी भी सामान्य स्वरूप के विषय मे नही सोचते है अपितु वे तो किसी स्थान विशेष से होने वाले लाभ पर ही विशेष ध्यान देते है।

साथ ही, देश का आकार जितना ही बडा होगा उतना ही उद्योगो के असन्तुलित विकास के होने की सभावना अधिक होगी। अत भारतवर्ष मे जैसी विशिष्ट परिस्थितियाँ है उनके अन्तर्गत सरकार को औद्योगिक स्थानीयकरण पर पर्याप्त नियन्त्रण रखना अत्यन्त आवश्यक है।

नियन्त्रण के उपाय

सरकार द्वारा औद्योगिक स्थानीयकरण के नियमन के सम्बन्ध मे नीति के अन्तर्गत दोनो प्रकार के उपाय होने चाहिये, यथा (१) कुछ क्षेत्रो मे उद्योगो की स्थापना के लिये प्रोत्साहित करना, तथा (२) दूसरे क्षेत्रो मे उनके विकास को रोकना। प्रथम वर्ग मे आने वाले उपाय व्यावहारिक है तथा दूसरे वर्ग मे निषेधात्मक है। व्यावहारिक उपाय निषेधात्मक उपायो की अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी है। अनुभव यह बताता है कि प्रतिबन्धो का प्रभाव कम होता है।

व्यावहारिक उपाय सरकार द्वारा इस दिशा मे प्रोत्साहन कई प्रकार से दिया जा सकता है निश्चित क्षेत्रो मे सार्वजनिक उपयोगी सेवाओ को प्रदान करना, चुने हुए औद्योगिक क्षेत्रो मे सामाजिक सुविधाओ को प्रदान करना, सभावी उद्यमियो को उपदान प्रदान करना, सस्ती तथा पर्याप्त वित्त की व्यवस्था करना, स्टोर क्रय करने की नीति तथा औद्योगिक बस्तियो का निर्माण करना आदि। इन प्रोत्साहनो को विभिन्न प्रकार से दिया जा सकता है, परन्तु ऐसा करते समय प्रत्येक क्षेत्र की स्थानीय परिस्थितियो को तथा उनके द्वारा चुने गये औद्योगिक उपक्रमो पर भी विशेष ध्यान देना होगा। इन प्रोत्साहनो का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया जा सकता है।

(क) सार्वजनिक उपयोगी सेवाओ की जैसे यातायात, भूमि विकास, जल तथा विद्युत, स्थापना करने का उद्देश्य कुछ क्षेत्रो मे वहाँ की कमियो को दूर करना है जहाँ पर उद्योगो की स्थापना करना अन्यथा उपयुक्त हो। इन सुविधाओ के प्रदान करने के साथ ही उनका पर्याप्त प्रचार होना चाहिए तथा समुचित क्षेत्र तथा वहाँ पर उपलब्ध सुविधाये एव सेवाओ के विषय मे सूचनाओ को एकत्र करने तथा प्रचार करने के लिये भी उचित प्रयास करना चाहिए।

(ख) सरकार कुछ क्षेत्रो का विकास वहाँ पर सामाजिक तथा आर्थिक सुविधाओ को, जैसे मनोरजन, शिक्षा तथा स्वास्थ्य आदि प्रदान करके भी कर सकती है। महत्वपूर्ण नगरो के अतिरिक्त अन्य स्थानो पर इन सुविधाओ के उपलब्ध न होने का भी इस पर प्रभाव पडता है और प्राय. उद्योगपति उद्योग की स्थापना करते समय इन बातो पर भी विशेष ध्यान देते है। वहाँ पर कुछ सहायक आर्थिक

सुविधाये भी उपलब्ध होनी चाहिए जैसे वे सस्थाये हो जो श्रमिको को तकनीकी ज्ञान दे सकें, स्थानीय उद्योगो के लिये बाजार का उचित सगठन हो, आदि।

(ग) सरकार द्वारा दिया जाने वाला उपदान (subsidy) प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार का हो सकता है। प्रत्यक्ष उपदान सामान्यतया नही दिया जाना चाहिए। इसे तभी दिया जाना चाहिए जब कि यह निश्चित हो कि बिना इस प्रकार की वित्तीय सहायता प्रदान किए हुए उद्योगो का विकास सभव नही है। अप्रत्यक्ष उपदान कुछ सेवाओ की लागत को कम करने के लिये अथवा प्रतिकूल घटको के प्रभाव को कम करने के दृष्टिकोण से दिया जा सकता है।

(घ) निश्चित स्थानो मे उद्योगो के विकास हेतु रिआयती दर पर ब्याज लेकर ऋण प्रदान किया जाना चाहिए। उन क्षेत्रो मे बैक तथा अन्य वित्तीय सुविधाओ की व्यवस्था भी करनी चाहिए। सरकार आय तथा अन्य स्थानीय करो मे विभेद करके भी सहायता कर सकती है।

(ङ) सरकार को उन क्षेत्रो के उद्योगो को यह आश्वासन देना चाहिए कि वह उनके उत्पादनो का क्रय करेगी। या तो सरकार अपने विभागो के लिये उन वस्तुओ का क्रय कर सकती है या उनके लिये बाजार का सगठन करने मे भी सहायता दे सकती है। राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (N S I C) यह कार्य कुछ लघु उद्योगो के लिये करती है और विदेशो से भी इनके लिये आर्डर प्राप्त करने मे सहायता प्रदान करती है।

(च) औद्योगिक बस्तियो (Industrial Estates) का विचार चुने हुए क्षेत्रो में औद्योगिक विकास के लिये इगलैड से लिया गया है। इन बस्तियो के लिये औद्योगिक विकास हेतु सभावी बडे क्षेत्रो को चुना जाता है और वहाँ पर फैक्ट्री के लिये स्थान, भवन, तथा अन्य सुविधाये रिआयती दर पर सभावी उपक्रमो के लिये प्रदान की जाती है। उद्यमियो को इनके कारण दो विशेष समस्याओ से छुटकारा मिल जाता है, यथा उद्योगो के लिये प्रारंभिक अनुसधान, तथा फैक्ट्री भवन आदि के लिये बहुत बडी मात्रा मे विनियोग की समस्या। देश मे विस्तृत क्षेत्रो मे उद्योगो के विभाजन की दशा मे ये बस्तियाँ महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है।

निषेधात्मक उपाय. ऐसे उपाय परिणाम के दृष्किोण से ही कम प्रभावशाली नही होते अपितु इन्हें व्यवहार मे कार्यान्वित करने मे भी अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। साथ ही किसी भी क्षेत्र को यदि प्रोत्साहन दिया जाता है तो दूसरे स्थान के लिये वही प्रतिकूल सिद्ध हो सकता है। राज्य को ऐसे उपायो पर अधिक विश्वास नही रखना चाहिए। किसी भी क्षेत्र में उद्योगो के अत्यधिक केन्द्रीयकरण को रोकने के लिये सरकार स्थानीय दरो या करो को बढा सकती है। कुछ क्षेत्रो

मे नई इकाइयो के हित मे स्थापित उद्योगो पर कर लगाया जा सकता है। यदि सरकार यह समझती है कि किसी क्षेत्र मे और औद्योगीकरण होना देश के हित मे नही है तो उस दशा मे पूर्णरूपेण निषेध भी लगाया जा सकता है। विभिन्न क्षेत्रो मे औद्योगिक क्रियाओ का सन्तुलित विभाजन औद्योगिक लाइसेसिग के माध्यम से भी सभव है। देश को स्वतन्त्र क्षेत्र, निषिद्ध क्षेत्र, तथा तद्रस्थ क्षेत्र मे बॉटा जा सकता है और प्रत्येक क्षेत्र मे नियत्रण की मात्रा अलग-अलग होगी। उद्यमियो के चुनाव का विरोध तब तक नही करना चाहिए जब तक कि राष्ट्रीय नीति के सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यो के वह विरुद्ध न हो। नियत्रण की प्रणाली को सक्षम होते हुए भी लोचपूर्ण होना चाहिए।

१९५६ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव मे इस बात पर बल दिया गया है कि विभिन्न क्षेत्रो मे विकास के स्तर की असमानता को धीरे-धीरे कम करना चाहिए। "प्रत्येक क्षेत्र मे औद्योगिक एव कृषि अर्थव्यवस्था का सन्तुलित एव समन्वित विकास करके ही सम्पूर्ण देश मे उच्चतर रहन-सहन का स्तर प्राप्त किया जा सकता है।" प्रस्ताव मे औद्योगिक बस्तियो की स्थापना पर भी बल दिया गया है जो कि औद्योगिक क्रियाओ के विकेन्द्रीयकरण मे सहायक हो सकती है।

सन्तुलित क्षेत्रीय विकास के लिये निम्नलिखित प्रमुख उपाय अपनाये जा सकते है .

(१) उन क्षेत्रो मे सुविधाओ का जैसे, शक्ति, जल की पूर्ति, यातायात तथा सचार व्यवस्था, आदि, प्रदान करना जो औद्योगिक दृष्टिकोण से पिछडे हो और जहाँ अतिरिक्त रोजगार प्रदान करने की अधिक सभावना हो,

(२) ग्रामीण तथा लघु उद्योगो के विस्तार के हेतु कार्यक्रमो को बनाना,

(३) नये उद्योगो की स्थापना मे, देश के विभिन्न भागो मे सन्तुलित अर्थव्यवस्था के विकास की आवश्यकता पर विचार करना, चाहे वह सार्वजनिक या निजी उद्योग हों।

उपर्युक्त उपायो के अतिरिक्त, सरकार ने यह निर्धारित किया कि देश के विभिन्न भागो मे श्रमिको को गतिशीलता प्रदान करने के लिये प्रयास किया जाना चाहिए। यह भी सुझाव दिया गया कि क्षेत्रीय असमानता की समस्या का सतत अध्ययन किया जाना चाहिए तथा क्षेत्रीय विकास के लिये उचित उपायो का पता लगाना चाहिए। प्राय तुलनात्मक लागतो की हानियॉ मुख्य रूप से विकास की कमियो को ही इगित करती है। इस ओर ध्यान देने पर प्रारभिक कठिनाइयॉ धीरे-

धीरे समाप्त हो जायेगी । इस दृष्टिकोण से उद्योगो का विकेन्द्रीयकरण आवश्यक है । अतएव यह प्रस्तावित किया गया कि सार्वजनिक क्षेत्र मे उद्योग की स्थापना के लिये तथा निजी क्षेत्र मे नयी औद्योगिक इकाइयो के लिये लाइसेंसिंग नीति का प्रशासन करने के लिये भी इन बातो पर ध्यान दिया जाय। अनेक महत्वपूर्ण औद्योगिक प्रायोजनाओ को, जैसे भिलाई तथा रूरकेला मे इस्पात का प्लाण्ट तथा भोपाल मे भारी विद्युत प्लाण्ट आदि, उन्ही क्षेत्रो मे स्थापित किया गया है जो अब तक पिछडे हुए थे, यद्यपि उनकी स्थापना विशेषज्ञो द्वारा अध्ययन के आधार पर ही निश्चित की गई थी।

यह भी विचार किया गया कि यद्यपि प्रमुख पूंजीगत तथा उत्पादक पदार्थ के उद्योगो के सम्बन्ध मे कच्चे माल का पास ही उपलब्ध होना तथा अन्य आर्थिक घटको पर विचार करना आवश्यक है, तथापि अनेक प्रकार के ऐसे उपभोक्ता पदार्थ के उद्योग है जिनका विकास क्षेत्रीय आधार पर किया जा सकता है । उदाहरण के लिये, हल्की इजीनियरिंग उद्योगो की दशा मे, द्वितीय योजना के अन्तर्गत उन उद्योगो के विकेन्द्रीयकरण के लिये प्रमुख उपाय यह अपनाया गया कि इस्पात को सभी रेलवे-केन्द्रो पर एक ही मूल्य पर बेचा जाय। नयी इकाइयो की लाइसेंसिंग के सम्बन्ध मे अपनाई गई नीति के द्वारा तथा उपकरणो के आयात के लिये वैदेशिक विनिमय की सुविधा प्रदान करने के कारण ही दक्षिणी क्षेत्र मे चीनी उद्योग का विकास हुआ। उसी प्रकार, कुछ नए क्षेत्रो मे सूती मिलो की स्थापना के लिये प्रोत्साहन दिया गया है ।

नवीन प्रक्रियाओ के विकास से तथा नए कच्चा माल का प्रयोग करके भी कुछ सीमा तक उद्योगो का प्रसार किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, कागज के लिये कच्चे माल के रूप मे खोई (bagasse) का प्रयोग आरभ किया है, और इस प्रकार कुछ समय के बाद कागज की फैक्ट्री की स्थापना गन्ना उत्पादन करने वाले क्षेत्रों मे हो सकती है। उत्तर प्रदेश में एक सश्लिष्ट रबर प्लाण्ट की स्थापना अल्कोहल के आधार पर की गई है जिसका प्रयोग पहले केवल एक सीमित मात्रा मे पेट्रोल मे मिलाने के लिये ही किया जाता था । नीची शाफ्ट की धमन-भट्टी मे कच्चे लोहे का उत्पादन बढने से यह सभावना है कि लघु इकाइयों द्वारा कच्चे लोहे का उत्पादन देश के उन भागो मे हो सकता है जहाँ निम्न श्रेणी का कोयला उपलब्ध होता है। अल्प-विकसित क्षेत्रो मे औद्योगिक बस्तियो की स्थापना भी उद्योगो के क्षेत्रीय विकास मे सहायक होगी ।

चतुर्थ योजना (१९६९-७४) में नीति. योजना आयोग ने चतुर्थ योजना की रूपरेखा मे तृतीय योजना के विकास के विषय मे वर्णन करते हुए यह अवलोकन

किया कि कुछ सीमा तक उद्योगो का विकेन्द्रीयकरण तो हुआ है परन्तु अभी भी इस दिशा मे और अधिक प्रयास करने की आवश्यकता है। सार्वजनिक क्षेत्र मे अनेक प्रायोजनाओ की, जैसे, हरिद्वार मे तथा रामचन्द्रपुरम मे भारी विद्युत प्रोजेक्ट, एव कोटा मे इन्स्ट्रूमेण्ट प्रोजेक्ट, उन क्षेत्रों मे स्थापित किया गया जो पहले औद्योगिक दृष्टिकोण से पिछडे हुए थे। अनेक राज्य सरकारो ने औद्योगिक क्षेत्रो की स्थापना के लिये आवश्यक प्रयास किया और उन स्थानो पर प्रमुख सुविधाये प्रदान की जिससे कि अधिकाधिक क्षेत्रो मे औद्योगिक विकास सभव हो सके। नवीन योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिये राज्य औद्योगिक विकास निगमो की स्थापना भी की। उद्योगो का विकेन्द्रीयकरण करने के लिये ऐसे भी उपाय अपनाये गये जैसे कि पूँजी लाभ कर से मुक्त करना जिससे कि बडे-बडे नागरिक केन्द्रो से हट कर उद्योग अन्य स्थानो पर स्थापित किये जा सके।

चतुर्थ योजना मे उद्योगो के विकेन्द्रीयकरण पर विचार करते हुए, योजना आयोग ने इसकी आवश्यकता पर विशेष बल दिया। "गैर-कृषि रोजगार की आवश्यकता इतनी अधिक है और सारे देश मे इतनी फैली हुई है कि भारतवर्ष के सदर्भ मे विकास का अधिकाधिक विकेन्द्रीयकरण अति आवश्यक है। सकुचित एव तात्कालिक आर्थिक दृष्टिकोण से भी विकेन्द्रित विकास से समाज को लाभ होता है।" इस बात पर भी बल दिया कि बडे नगरो एव औद्योगिक क्षेत्रो मे प्राय आवश्यक साधनो को जुटाने की लागत छोटे नगरो एव ग्रामीण क्षेत्रों मे विकास की अपेक्षाकृत अधिक होती है।

पिछड़े क्षेत्रों मे उद्योगों के विकास के लिये अनेक उपायो के अपनाये जाने का प्रस्ताव रखा गया है। योजना आयोग का विचार है कि विकसित क्षेत्रो मे उद्योगो की स्थापना के लिये सभी आवश्यक तत्व एव साधन इतनी बहुलता से उपलब्ध है कि इन पिछडे क्षेत्रो मे उद्योगो की स्थापना करने के लिये केन्द्रीय, राज्य एव स्थानीय स्तर पर समन्वित रूप से प्रयास किये जाने की परम आवश्यकता है। यह समस्या इतनी व्यापक है कि चतुर्थ योजना मे तो इस दिशा मे केवल प्रारभ किये जाने की ही सभावना है। यह सच है कि यदि उचित एव आवश्यक नीति को कार्यान्वित करने का प्रयास किया जाय तो कुछ अवधि के अन्दर ही असन्तुलन को सुधारा जा सकता है। पिछडे क्षेत्रो का पता लगाने के लिये कसौटियो के विषय मे तथा उन क्षेत्रो मे उद्योगो को प्रोत्साहित करने के लिये कार्य-सम्बन्धी, प्राशुल्किक तथा वित्तीय उपायो के विषय मे आवश्यक विचार किये जा रहे है। राज्य सरकारों को इसके लिये महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी और

आवश्यक इन्फ्रास्ट्रक्चर की सुविधा प्रदान करनी होगी जिससे कि इन पिछडे क्षेत्रो मे उद्योगो की स्थापना हो सके। औद्योगिक क्षेत्रो की स्थापना करके प्रारभ तो कर दिया गया है परन्तु चतुर्थ योजना मे इसके लिये और अधिक वित्तीय व्यवस्था करनी होगी।

दूसरी महत्वपूर्ण बात जो ध्यान देने योग्य है वह बडे-बडे नगरो एव औद्योगिक क्षेत्रो मे और अधिक केन्द्रीयकरण को रोकना है। इन बडे केन्द्रो को सेवा प्रदान करने की सामाजिक एव आर्थिक लागत अत्यधिक है। इन केन्द्रो मे उद्योगो के केन्द्रीयकरण को रोकने के लिये आवश्यक उपायो पर भी विचार किया जा रहा है।

अध्याय १४

पूँजी बाजार

पूँजी बाजार का सम्बन्ध दीर्घकालीन वित्त से है। व्यापक अर्थों मे इस का तात्पर्य उन सभी स्रोतो से है जिनके माध्यम से औद्योगिक तथा व्यापारिक उपक्रमो को तथा सार्वजनिक अधिकारियो को जनसमुदाय की बचत उपलब्ध हो पाती है। इसका सम्बन्ध उन निजी बचत, व्यक्तिगत तथा निगमगत दोनो, से है जिन्हे नये पूँजी निर्गम तथा सरकारी तथा अर्द्धसरकारी सस्थाओं द्वारा नये सार्वजनिक ऋण के माध्यम से विनियोग मे परिवर्तित कर दिया जाता है। पूँजी बाजार मे माँग कृषि, उद्योग, व्यापार तथा सरकार द्वारा होती है तथा पूर्ति व्यक्तिगत या निगमगत बचत, सस्थागत विनियोक्ताओ तथा सरकार द्वारा की जाती है। बचत करने वाली सस्थाये, जैसे बचत-बैंक, विनियोग न्यास, अथवा विनियोग कम्पनी, विशिष्ट वित्तीय निगम तथा स्टाक एक्सचेज आदि, पूँजी बाजार के महत्वपूर्ण अग है।

एक आदर्श पूँजी बाजार वह है जहाँ वित्त को उद्योग की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये प्रयोग मे लाया जाता है। किसी भी ऐसे प्रस्ताव के लिये यह समुचित दर पर प्राप्त होता है जो इतना प्रतिफल दे सके जिससे कि उधार लेना अनुपयोगी न सिद्ध हो। सक्षम पूँजी बाजार आर्थिक विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है और किसी भी देश मे पूँजी बाजार का विकास बचत की उपलब्धता, माध्यमिक सस्थाओ का उचित सगठन जो कि विनियोक्ता तथा व्यापारियो को पारस्परिक हित मे साथ ला सके तथा विनियागो के नियमन आदि पर निर्भर है। उत्पादन तथा वितरण हेतु कम्पनी-सगठन की वृद्धि के साथ ही साथ पूँजी बाजार की महत्ता विनियोक्ता तथा उद्यमी के मध्य सामजस्य स्थापित करने के लिये अत्यन्त अधिक बढती जा रही है। "पूँजी बाजार का कार्य पूँजी पर प्रभुत्व की धारा को अधिकतम उत्पादन की सीमा की आर ले जाना है। ऐसा करके यह साधनो को उन लोगो के हाथ मे जाने पर नियत्रण मे सहायता करता है जो कि उन्हे अधिकतम क्षमता के साथ प्रयोग मे ला सके और इस प्रकार उत्पादन क्षमता को बढा कर राष्ट्रीय आय को बढा सके।"[1]

[1] F. Livingston, *The English Capital Market*

पूँजी बाजार तथा मुद्रा बाजार मे अन्तर है। मुद्रा बाजार का, सकीर्ण अर्थो मे, सम्बन्ध तरल तथा चालू शेषो से तथा उनका व्यापार तथा उद्योग मे अधिकोषण प्रणाली के माध्यम से अल्प-कालीन उपयोग से है। परन्तु व्यापक अर्थो मे, मुद्रा बाजार का उन प्रक्रियाओ से भी सम्बन्ध है जिनके माध्यम से दीर्घकालीन पूँजी की सुविधा प्राप्त होती है। वास्तव मे, पूँजी बाजार तथा मुद्रा बाजार आपस मे अन्तर्सम्बन्धित है। मुद्रा बाजार मे ब्याज की दर मे सापेक्ष वृद्धि से पूँजी बाजार मे माँग मे वृद्धि हो सकनी है और पूँजी बाजार मे ब्याज की दर मे सापेक्ष वृद्धि होने से मुद्रा बाजार मे माँग मे वृद्धि होगी।

भारतवर्ष मे पूँजी बाजार को दो वर्गो मे बाँटा जा सकता है, यथा, सगठित तथा असगठित। पूँजी बाजार के सगठित क्षेत्र मे दीर्घकालीन पूँजी के लिये माँग कम्पनी से, सरकारी तथा अर्द्धसरकारी सस्थाओ द्वारा होती है जिन्हे विभिन्न विकासात्मक क्रियाओ के लिये धन की आवश्यकता होती है। पूँजी की पूर्ति के स्रोत व्यक्तिगत विनियोक्ता, सस्थागत विनियोक्ता जैसे बैक, विनियोग न्यास, जीवन-बीमा कम्पनियाँ, वित्तीय निगम, सरकार तथा सस्थागत वित्तीय एजेसी आदि है। भारतवर्ष मे पूँजी बाजार का सगठित क्षेत्र भी अभी हाल तक अल्प-विकसित था। इसके निम्नलिखित प्रमुख कारण थे (१) कृषि मे, जो कि प्रमुख व्यवसाय है, प्रतिभूतियो को चालू नही किया जाता था, (२) प्रतिभूतियो के बाजार का विकास नही हो पाया था क्योकि वैदेशिक व्यापारिक उद्यमियो के द्वारा ही भूतकाल मे अधिकाश औद्योगिक उन्नति हो पाई थी और वे भारतीय बाजार की अपेक्षाकृत लन्दन पूँजी बाजार पर ही अधिक निर्भर रहते थे, (३) पूँजी बाजार के अविकसित रहने के लिये, बहुत सीमा तक, प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली भी उत्तरदायी है क्योकि प्रबन्ध अभिकर्ता स्थापना तथा विपणन दोनो ही एजेन्सी के रूप मे कार्य करते थे और नए निर्गमो के चालू करने के लिये कोई भी विशिष्ट सस्था न थी, (४) स्टाक एक्सचेज के माध्यम से जितनी प्रतिभूतियो का लेन-देन किया जाता था उनकी सख्या अत्यन्त कम थी। पूँजी बाजार मे आधे से अधिक सरकारी प्रतिभूतियो को ही निर्गमित किया जाता था। साधारण अश ही प्रमुख प्रतिभूति के रूप मे थे जब कि ऋणपत्रो तथा पूर्वाधिकार अशो ने सीमित स्थान ही ग्रहण किया था, तथा (५) व्यक्तियो की विनियोग करने की आदत के कारण तथा विभिन्न वित्तीय सस्थाओ के विनियोग पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये थे उनसे भी पूँजी बाजार का विकास रुका। सस्थागत विनियोक्ता साधारणतया सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी प्रतिभूतियो मे ही विनियोग करते थे। साथ ही, सट्टेबाज भी अधिकाश थोडे ही अशो से अपना सम्बन्ध रखते

थे। परिणामस्वरूप, औद्योगिक प्रतिभूतियो को क्रय करने वाले लोगो की सख्या अत्यन्त सीमित थी और विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियो मे सतत व्यवहार अथवा लेन-देन नही होता था।

पूँजी बाजार के असगठित क्षेत्र के अन्तर्गत नगर के देशी बैंकर्स तथा ग्रामीण क्षेत्रो के महाजन आते है और इनमे आपस मे कोई भी विशेष सम्पर्क नही है। यह क्षेत्र सगठित क्षेत्र से बिल्कुल ही अलग है और माँग के अनुरूप ये पूर्ति करने मे समर्थ नही हो पाते है। ये लोग अधिकाशतया उपभोग के लिये वित्त प्रदान करते है न कि उत्पादन के लिये और साथ ही ब्याज अत्यधिक दर से लेते है।

भारतवर्ष में पूँजी बाजार का विकास

किसी भी देश मे औद्योगिक विकास वहाँ पर उपलब्ध होने वाली पूँजी तक सीमित होता है। निजी बचत को उद्योग की दिशा मे आसानी से नही मोडा जा सकता क्योंकि वे परम्परावादी विनियोग को ही प्रधानता देते है, जैसे, भू-सम्पत्ति, सोना, सरकारी प्रतिभूतियाँ अथवा गुप्त-सचय आदि। ऐसे विनियोगो से उन्हे सामाजिक प्रतिष्ठा मिलती है और उनकी सुरक्षा भी अधिक रहती है। साथ ही, अल्प-विकसित देशो मे उद्योगो का विकास भी कुछ ऐसा पाया जाता है कि उससे लोगो को उनमे विनियोग के लिये कोई विशेष प्रोत्साहन नही मिलता। औद्योगिक विकास की प्रारभिक अवस्था मे, पर्याप्त पूँजी की व्यवस्था करना अत्यन्त कठिन कार्य होता है, अशत इस कारण से कि लोगो की क्षमता इतनी अधिक नही होती और अशत इसलिये भी कि लोग इसमे जाखिम नही उठाना चाहते। जैसे-जैसे उद्योग सफलता के साथ आगे बढते जाते है वैसे-वैसे लोगो का उद्योगो के प्रति विश्वास तथा उनकी क्षमता बढती है और पूँजी प्राप्त करने का कार्य भी सरल होता जाता है। इस प्रकार उपलब्ध होने वाली बचत की मात्रा औद्योगिक विनियोग की सीमा निर्धारित करती है।

बचत को सरकार द्वारा अपनाई जाने वाली आर्थिक एव औद्योगिक नीति, राजनीतिक स्थिरता, लाभ कमाने की सभावनाये, मौद्रिक तथा साख-नीतियाँ प्रभावित करती है। कर का स्वरूप भी, विशेष रूप से व्यक्तियो तथा कम्पनी पर प्रत्यक्ष कर, बचत तथा विनियोग की दर पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है।

बचत-आय के अनुपात को वर्तमान स्तर से, जो लगभग ११ प्रतिशत है, बढा कर १५ प्रतिशत तक करने की अत्यधिक आवश्यकता है यदि चतुर्थ योजना मे निर्धारित लक्ष्यो की पूर्ति करना है। इसके लिये सरकार को तथा जनता को अत्यधिक प्रयास करना होगा। भारत जैसे देश मे, जहाँ प्रति व्यक्ति आय अत्यन्त

न्यून है, लघु बचत योजनाये, तथा प्रसविदागत बचत जैसे प्राविडेण्ट फण्ड तथा जीवन बीमा आदि को महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी है। ग्रामीण बचत को सचारित करने के लिये भी गहन प्रयास करना चाहिये। हाल के वर्षो मे, विनियोग के लिये वातावरण अनुकूल न था और व्यक्तिगत तथा कम्पनियो पर लगने वाले कर की दरो मे वृद्धि होने के कारण, तथा विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्ष करो के लगाने के कारण बचत को औद्योगिक विनियोग की ओर प्रवाहित होने मे कठिनाई होती थी। "जब तक कि सरकार को यह अनुभव न होगा कि विनियोग करने वाले समुदाय के अन्तर्गत अत्यधिक छोटे विनियोक्ता है, सरकारी नीति इस झूठे आधार पर बनाई जा सकती है कि विनियोक्ता पूँजीपति है जिन्हे अशक्त बना देने वाले कर सम्बन्धी उपायो द्वारा दण्डित किया जाना चाहिए।" कर सम्बन्धी नीति का उद्देश्य अधिक विश्वास का उत्पन्न करना तथा आय को बिना प्रभावित किये हुए विनियोग की मनोवृति को प्रोत्साहित करना होना चाहिए।

व्यक्तिगत बचत का औद्योगिक विनियोग के लिये सचारण एक धीमी प्रक्रिया है क्योंकि इसके अन्तर्गत लोगो की उन पुरानी आदतो को तथा परम्पराओ को तोडना होता है जो कि अत्यन्त कठिनाई से समाप्त होते है। इसके अन्तर्गत विभिन्न दिशाओ मे परिकल्पनात्मक तथा सुसयोजित प्रयासो की आवश्यकता होती है और साथ ही इस विश्वास का सृजन करना आवश्यक है कि औद्योगिक सस्थाओ मे विनियोजित बचत सुरक्षित, लाभप्रद तथा विपणन योग्य ही रहेगी। जिस प्रकार से सरकार लघु-बचत योजनाओ के लिये प्रचार करती है उसी प्रकार से समुचित शिक्षाप्रद तथा सूचनापूर्ण प्रचार भी जनता मे करना आवश्यक है जिससे कि लोग अपनी बचत को सुप्रबन्धित तथा दीर्घ-काल से स्थापित सस्थाओ मे लगा सके जहाँ से उन्हे पर्याप्त लाभाश प्राप्त हो सके।

एक सुविकसित पूँजी बाजार के अन्तर्गत विनियोक्ताओ का—व्यक्तिगत तथा सस्थागत—होना ही आवश्यक नही है अपितु विशेष रूप से विशिष्ट सस्थाओ तथा एजेसी का जाल सा होना भी आवश्यक है जो कि सदैव ही नवीन सस्थाओ मे विनियोग के लिये तत्पर रहे। सयुक्त राज्य अमेरिका, इगलैण्ड तथा अन्य यूरोपीय देशो मे, जो औद्योगिक दृष्टिकोण से समुन्नत है, विशिष्ट एजेसी ही व्यक्तिगत तथा कम्पनियो की बचत को एकत्र करती है तथा उन्हे स्थापित एव नवीन दोनो ही प्रकार के औद्योगिक उपक्रमो मे विनियोजित करती है। वे आरभिक जोखिम को इस आशा से उठाते है कि भविष्य मे लघु विनियोक्ता अधिक समर्थन करेगे जब कि उन उपक्रमो को पर्याप्त लाभ होने लगेगा। सगठित पूँजी बाजार के लिये अभिगोपन की सुविधाओ का उपलब्ध होना भी अत्यन्त आवश्यक है। अभिगोपन

की व्यवस्था रहने पर नवीन उपक्रमो द्वारा पूंजी प्राप्त करने मे सुविधा होती है। परन्तु अभिगोपन की सस्था का विकास तभी होगा जब कि निजी बचत औद्योगिक विनियोग मे अधिक से अधिक लगाई जाय जिससे कि अभिगोपनकर्ताओ का भार हल्का होता रहे। उसी प्रकार, विनियोग न्यास, बैक, बीमा कम्पनी तथा वित्तीय निगमो का भी पूँजी बाजार की सफलता मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वे केवल विनियोक्ताओ से साधनो के सचारण मे ही सहायता नही करते है अपितु उन साधनो को कम्पनियो मे प्रवाहित करने का प्रयास भी करते है। यूनिट ट्रस्ट की सरकार द्वारा स्थापना (जो १ जुलाई १९६४ से कार्य कर रहा है) कम्पनी की प्रतिभूतियो मे लघु बचतो का सचारण करके विनियोग करने की दिशा मे एक उचित प्रयास है। साथ ही जीवन बीमा कोष तथा प्राविडेण्ट फण्ड का औद्योगिक प्रतिभूतियो मे विनियोग होने से भी पूँजी बाजार का आधार दृढ होगा।

सख्यिकीय विश्लेषण भारतवर्ष मे पूँजी बाजार के विकास का विश्लेषण उन आँकडो की सहायता से भी किया जा सकता है जो पूँजी निर्गमन के लिये स्वीकृति से सम्बन्धित है। निजी क्षेत्र मे पूँजी निर्गमन के लिये स्वीकृति १९५० मे ७५ करोड रुपये से बढ कर १९५५ मे ११९ करोड रुपये, १९६० मे १५० करोड रुपये तथा १९६६ मे २७८ करोड रुपये हो गई, परन्तु १९६७ मे घट कर १०३ करोड रुपये और १९६८ मे ८१ करोड रुपये ही रह गई। सार्वजनिक क्षेत्र के लिये पूंजी निर्गमन सम्बन्धी स्वीकृति मे पर्याप्त मात्रा मे कमी आई। गत वर्षो की अपेक्षाकृत १९६७ तथा १९६८ मे बहुत कम रही (तालिका १)।

तालिका १

पूँजी निर्गमन के लिये स्वीकृति

(रुपये करोड मे)

वर्ष	निजी क्षेत्र की कम्पनी	सरकारी कम्पनी	पूर्ण स्वीकृति
१९५०	७५ ४	२.५	७७ ९
१९५५	११८ ८	६ ६	१२५ ४
१९६०	१५० १	१३९ ५	२८९.६
१९६५	१६६.५	१०९ ३	२७५ ८
१९६६	२७७ ५	१८१ ७	४५९ २
१९६७	१०३.०	२ ४	१०५ ४
१९६८	८० ६	५·८	८६ ४.

जहाँ तक सरकारी कम्पनियो का सम्बन्ध है यह सबसे अधिक १९५८ मे था जब कि पूर्ण स्वीकृति ३३३ ५ करोड रुपये की थी और १९६३ मे ३०७ करोड रुपये थी। १९६६ मे सरकारी कम्पनियो को दी गई पूर्ण स्त्रीकृति १८२ करोड रुपये थी जब कि १९६५ मे १०९ करोड रुपये ही थी। पूर्ण स्वीकृति मे उनका अश सतत् ४० प्रतिशत ही रहा है।

The Economic Times के शोध ब्यूरो ने एक अध्ययन (२१ जुल ई, १९६९) किया था जिससे यह ज्ञात हुआ कि ऋणपत्र तथा पूर्वाधिकार अशो को लेकर परन्तु बोनस अशो को छोड कर सम्पूर्ण निर्गमन घट कर १९६८-६९ मे ६८ ९ करोड रुपये रह गया जब कि १९६७-६८ मे ७६.९ करोड रुपये था, १९६६-६७ मे ४६ २ करोड रुपये तथा १९६५-६६ मे ६५ ८ करोड रुपये था (तालिका २)। तृतीय योजना काल मे, पूँजी निर्गम की वार्षिक औसत राशि ७१ ६ करोड रुपये थी।

तालिका २

पूँजी निर्गम १९६१-६२ से १९६८-६९

(करोड रुपये मे)

वर्ष	प्रारभिक*	राइट्स	योग
१९६१-६२	३१.६	३५ ९	६७ ९
१९६२-६३	२६ ९	३२ ८	५९.७
१९६३-६४	५७ ९	१८ ०	७५ ९
१९६४-६५	७१ ६	१७ ६	८९.२
१९६५-६६	४८ ८	१७ ०	६५ ८
१९६६-६७	३७ ९	८ ३	४६.२
१९६७-६८	५९.०	१७ ९	७६ ९
१९६८-६९	५३ ४	१५ ५	६८ ९

*ऋणपत्र तथा पूर्वाधिकार अशो सहित।

मार्च १९६८ के अन्त तक चालू कम्पनियो की पूर्ण सख्या गैर-सरकारी क्षेत्र मे २७,०९७ थी और उनकी प्रदत्त पूँजी १९१३ करोड़ रुपये थी तथा सरकारी क्षेत्र मे २४१ कम्पनियाँ थी जिनकी प्रदत्त पूँजी १,५३२ करोड रुपये थी। १९५५-५६ से १९६०-६१ की अवधि मे निजी क्षेत्र मे कम्पनियों की सख्या मे ३,८०० से कमी आई, यथा, १९५५-५६ मे २९,८१३ कम्पनी थी और १९६०-६१ मे २६,००७ ही थी। यह कमी कम्पनी अधिनियम, १९५६ के लाग

होने के कारण हुई क्योकि अधिकाश कम्पनियो को इस नए अधिनियम के प्रावधानों को पूरा करने मे कठिनाई हो रही थी। सरकारी तौर पर यह बताया गया कि उनमे से अधिकाश मृत सी थी और कम्पनी की सख्या मे यह कमी इस बात का द्योतक है कि उनकी शक्ति दृढ ही हुई। साथ ही, यह ध्यान देने योग्य है कि उनकी प्रदत्त पूँजी की मात्रा मे इस अवधि मे वृद्धि हुई थी। उदाहरण के लिये, प्रदत्त पूँजी की मात्रा १९५५-५६ मे ९५८ करोड रुपये से बढ कर १९६०-६१ मे १२७१ करोड रुपये हो गई (तालिका ३)।

चालू कम्पनियो की सख्या मे १९६०-६१ से १९६७-६८ तक बढने की प्रवृत्ति पाई गई। इनकी सख्या १९६०-६१ मे २६,००७ से बढ कर १९६७-६८ मे २७,०९७ हो गई। इनकी प्रदत्त पूँजी भी १९६०-६१ मे १,२७१ करोड रुपये से बढ कर १९६७-६८ मे १,९१३ करोड रुपये हो गई।

तालिका ३

चालू कम्पनियो का विकास

(प्रदत्त पूँजी करोड रुपये मे)

वर्ष	सरकारी कम्पनी		गैर-सरकारी कम्पनी	
	सख्या	प्रदत्त पूँजी	सख्या	प्रदत्त पूँजी
१९५५-५६	६१	६६	२९,८१३	९५८
१९६०-६१	१४२	५४७	२६,००७	१,२७१
१९६५-६६	२१२	१,२४१	२६,४३४	१,७८०
१९६६-६७	२३२	१,३९२	२६,६५२	१,८३५
१९६७-६८	२४१	१,५३२	२७०९७	१,९१३

चालू कम्पनी की पिछले बारह वर्षो की प्रगति का एक महत्वपूर्ण घटक यह रहा है कि सरकारी कम्पनियो का विकास तेजी के साथ हुआ है। कम्पनी अधिनियम के लागू होने के समय (१ अप्रैल, १९५६) केवल ६१ सरकारी कम्पनी थी जिनकी प्रदत्त पूँजी ६६ करोड रुपये थी परन्तु १९६७ मे यह बढकर २४१ हो गई और उनकी कुल प्रदत्त पूँजी १,५३२ करोड रुपये हो गई। बहुत समय तक कम्पनी का विकास निजी उद्यमियो के हाथ ही होता रहा था परन्तु १९५६ से सरकार ने देश के आर्थिक विकास मे सक्रिय भाग लेना आरभ कर दिया और इस प्रकार सरकार एक बड़े उद्यमी के रूप मे आगे आई। सार्वजनिक क्षेत्र मे कम्पनी की

सख्या निजी क्षेत्र की अपेक्षाकृत अधिक नही है, परन्तु चालू सरकारी कम्पनी की पूँजी अपेक्षाकृत कही अधिक है। २४१ सरकारी कम्पनियो की प्रदत्त पूँजी लगभग १,५३२ करोड रुपया थी (तालिका ३)। इस प्रकार, सरकारी कम्पनी की प्रदत्त पूँजी १२ वर्ष की अवधि मे (१९५६ से १९६८ तक) २३ गुनी बढ गई। सरकारी कम्पनी की प्रदत्त पूँजी १९६७-६८ मे सम्पूर्ण निगम क्षेत्र की पूर्ण प्रदत्त पूँजी के ४४ प्रतिशत से भी अधिक थी।

संरचनात्मक प्रगति भारतवर्ष मे पूँजी बाजार मे अभी हाल तक अल्प-विकसित अर्थव्यवस्था के सभी लक्षण पाये जाते थे। कोई भी विशिष्ट सस्था, जैसे व्यावसायिक प्रवर्तक, विनियोग अथवा निर्गमन गृह, अभिगोपन एजेन्सी, तथा वित्तीय मध्यस्थ आदि, कुछ वर्ष पहले तक नही थी। इसके कारण बचत स्वतन्त्रतापूर्वक औद्योगिक विनियोग की ओर प्रवाहित न होती थी और परिणाम-स्वरूप हमारी अर्थव्यवस्था गतिहीन सी थी। अत भारतवर्ष मे पूँजी बाजार की सरचना मे विशेष कमियाँ थी। १९४७ मे, स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् पूँजी बाजार के सगठित विकास की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगी। भारतीय पूँजी बाजार की विभिन्न प्रगतियो का, जो इधर हुई है और जिनके कारण इसकी कमियाँ दूर हुई है, अध्ययन नीचे किया जा रहा है

(१) विनियोक्ताओ के हित की सुरक्षा के लिये सरकार ने व्यापक रूप से अनेक अधिनियम पारित किये है। (अ) कम्पनी अधिनियम, १९५६ भारत मे कम्पनी के विकास मे अत्यन्त सहायक रहा है। इसका प्रयास प्रवर्तको, विनियोक्ताओ, तथा प्रबन्धको के मध्य एक दृढ सहसम्बन्ध स्थापित करना रहा है जिससे कि कम्पनी की कार्यक्षमता मे समुचित वृद्धि हो सके। प्रविवरण, अशो का आबटन, कम्पनी के प्रवर्तन के सम्बन्ध मे, कम्पनी के अशो की सरचना आदि के सम्बन्ध मे इसमे अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये है जिससे सभावी अश-धारियो के हितो की समुचित सुरक्षा हो सके। (ब) पूँजी निर्गमन (नियन्त्रण) अधिनियम सरकार के पास एक महत्वपूर्ण अस्त्र के रूप मे है जिससे कि अनावश्यक क्षेत्रो मे विनियोगो को रोका जा सके। यह केवल नवीन कम्पनियो की पूँजी सरचना पर ही नियत्रण नही करता है अपितु सस्थापित कम्पनियो पर भी नियन्त्रण रखता है जिससे कि अनुचित व्यवहारो को, जैसे अशों का विषम अनुपात मे मताधिकार के साथ निर्गमन करना, हतोत्साहित किया जा सके। यह कम्पनी के लेनदारो तथा ऋणपत्र-धारियों के हित मे विभिन्न पूंजी पुनर्संगठन की योजनाओं की अच्छी तरह जाँच करता है। यह कम्पनियो के मिश्रण तथा सम्मिलन की भी जाँच करता है। वैदेशिक विनियोगो के नियमन मे यह सहायता

करता है और किन दशाओ मे वैदेशिक पूँजी भारतीय पूँजी के साथ सहयोग करे यह भी निश्चित करने मे सहायता करता है। (स) प्रतिभूति प्रसविदा (नियमन) अधिनियम, १९५६ मे स्टाक एक्सचेज मे व्यापार की प्रणालियो तथा उन व्यवहारो मे सुधार के लिये व्यवस्था की गई है जो कि विगत वर्षो मे विवाद के विषय रहे है। इस अधिनियम के अन्तर्गत केवल वे ही स्टाक एक्सचेज कार्य कर सकते है जिन्हे केन्द्रीय सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त हो। केन्द्रीय सरकार को जनता या व्यापार के हित मे उनकी मान्यता रद्द करने का भी अधिकार है। स्टाक एक्सचेज मे प्रतिभूतियो के सूचीकरण के सम्बन्ध मे भी इसमे अनेक महत्वपूर्ण प्रावधान है। इस प्रकार अनेक कुरीतियो तथा गडबडियो को इस प्रकार रोका जा रहा है। इस अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य एक ऐसे दृढ तथा स्वस्थ विनियोग बाजार की स्थापना करना है जिसमे जनता अपनी बचत को पूर्ण विश्वास के साथ विनियाजित कर सके।

(२) अभी हाल के वर्षो मे अनेक उदाहरण सामने आये है जिनसे यह ज्ञात होता है कि विनियोग की दिशा मे अधिक लोगो का झुकाव बढता जा रहा है और वे अपनी बचत को कम्पनी की प्रतिभूतियो मे विनियोजित करने के लिये तैयार है। अनेक स्थापित औद्योगिक इकाइयो को पूँजी निर्गमन मे जो सफलता प्राप्त हुई है, जिसकी जानकारी प्राप्त प्रार्थनापत्रों से होती है, उससे यह सिद्ध होता है कि देश मे विनियोग बाजार अधिक विस्तृत होता जा रहा है। उदाहरण के लिये, इस दिशा मे माइको, त्रिवेणी टिशूज, कैमिकल्स ऐण्ड फाइबर्स, आदि को पर्याप्त सफलता मिली है। यह बात केवल सफल विदेशियो द्वारा प्रबन्धित कम्पनियो की दशा मे ही नही पाई जाती है। भारतीयो द्वारा प्रबन्धित अनेक कम्पनियो की दशा मे भी जनता की अनुकूल प्रतिक्रिया पाई गई है। यह विश्वास का तथा "विकास-बोध" का परिचायक था। जिन लोगो ने नवीन सस्थाओ के अशो मे विनियोजित किया उन्हे यह ज्ञात था कि वे भविष्य के लिये विनियोग कर रहे थे और कुछ वर्षो तक उन्हे कुछ भी प्रतिफल न प्राप्त होगा। कुछ दशाओ मे, ऐसी नवीन कम्पनियो के अश, जिनमे निकट भविष्य मे लाभाश प्राप्त होने की सभावना न थी, अधिमूल्य पर बिके। यह एक बहुत ही आशाप्रद तथा स्वस्थ चिह्न है जिससे यह ज्ञात होता है कि वास्तविक विनियोक्ताओ मे नवीन निर्गमन के प्रति विशेष उत्सुकता रहती है।

(३) हाल के वर्षो मे, भारतवर्ष मे अभिगोपन की दशा मे भी सन्तोषजनक प्रगति हुई है। इस दिशा मे ICICI, IFC, LIC, UTI, तथा IDBI द्वारा विशेष रूप से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। जीवन बीमा निगम अभिगोपन मे सक्रिय

रुचि लेता रहा है। औद्योगिक वित्त निगम, जो कि इस दिशा मे वर्षों उदासीन रहा था, अब इसमे विशेष रुचि ले रहा है। साथ ही अनेक बैंको तथा दलालो ने भी इस व्यवसाय मे भाग लेना आरभ कर दिया है।

(४) व्यापारिक बैंको ने पूँजी बाजार के विकास को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया है। इन्होने अशो तथा ऋणपत्रो के विरुद्ध अधिक ऋण तथा अग्रिम देना आरभ कर दिया हे। यद्यपि इन अग्रिमो को चालू पूँजी प्रदान करने के लिये विशेष रूप से दिया जाता है, फिर भी इस बात ने कि बैंक अशो तथा ऋणपत्रो के विरुद्ध अग्रिम प्रदान करते है औद्योगिक प्रतिभूतियो मे विनियोग को प्रोत्साहित किया है। साथ ही, व्यापारिक बैंको ने अपने कोष को वित्तीय निगमो मे उनके अशो तथा ऋणपत्रो को क्रय करने मे लगाया है। ये अभिगोपन मे भी या तो अकेले ही या अन्य बैंको अथवा सस्थाओं से मिल कर भाग लेते है।

(५) १९४७ मे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् ही औद्योगिक उन्नति को तीव्र करने की आवश्यकता के कारण अनेक विशेष वित्तीय तथा विकास निगमो की शीघ्र स्थापना की गई। आरभ १९४८ मे औद्योगिक वित्त निगम (IFC) से की गई। इसके अतिरिक्त अब देश मे दीर्घकालीन वित्त प्रदान करने के लिये अन्य एजेन्सियाँ भी स्थापित की गई है। वे है १५ राज्य वित्तीय निगम (SFC), भारत का औद्योगिक साख एव विनियोग निगम (ICICI) तथा औद्योगिक विकास बैंक (IDBI)। अब भारत मे पर्याप्त विशिष्ट सस्थाये है जो उद्योगो को दीर्घकालीन तथा मध्यकालीन वित्त प्रदान करती है।

दीर्घकालीन वित्त प्रदान करने वाली सस्थाओ (IDBI, IFCI, ICICI, SFCs तथा SIDCs) ने १९६८-६९ मे निजी क्षेत्र को गत वर्षों की अपेक्षाकृत अधिक आर्थिक सहायता प्रदान की। उनके द्वारा दी गई कुल वित्तीय सहायता, जो कि ऋण, अशो तथा ऋणपत्रो का प्रत्यक्ष क्रय तथा अभिगोपन के रूप मे थी, १९६७-६८ मे ८७ करोड रुपये से बढकर १९६८-६९ मे १३८ करोड़ रुपये हो गई।

(६) १९५६ मे जीवन बीमा कम्पनी के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् भारतवर्ष में पूँजी बाजार मे जीवन बीमा निगम ने अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है। जीवन बीमा निगम द्वारा कम्पनी के अशो तथा ऋणपत्रो मे विनियोग की मात्रा १९५६ मे ५८ करोड़ रुपये से बढकर मार्च १९६९ के अन्त में २०३ करोड़ रुपये थी।

(७) एक ओर पूंजी बाजार के सगठित तथा असगठित क्षेत्र मे तथा दूसरी ओर मुद्रा तथा पूंजी बाजार मे धीरे-धीरे सघटन होता जा रहा है। इस दिशा मे अनेक घटको से सहायता मिलती रही है, जैसे, व्यापार के सयुक्त स्कध प्रारूप की विशेष प्रगति, ग्रामीण साख की दिशा मे रिजर्व बैंक की बढती हुई भूमिका, विभिन्न वित्तीय निगमो की स्थापना, बैंको का आन्तरिक क्षेत्रो की ओर प्रसार, व्यापारिक बैंको के कार्यो का विभिन्नीकरण तथा सरकार द्वारा उद्योगो को सहायता। विनियोग के योग्य कोष की धनराशि (pool) मे वृद्धि हो रही है तथा इस सम्मिलित एव सचित कोष को विभिन्न दिशाओ मे प्रवाहित किया जा रहा है। कुछ सरकारी आवश्यकताओ की पूर्ति करने के कारण और कुछ अधिक प्रतिफल के प्राप्त करने की आशा मे ऐसा हो रहा है। भारत के पूंजी बाजार का सगठन विदेशो के पूंजी बाजार की अपेक्षाकृत अधिक पिछडा हुआ नही है फिर भी सरकार, विनियोक्ताओ तथा उद्यमियो को इस दिशा मे बहुत कुछ प्रयत्न करना आवश्यक है।

(८) उद्योगो के कोष की पूर्ति करने वाले साधन के रूप मे पूंजी बाजार के ढाँचे को सुदृढ एव सुविस्तृत बनाने के लिये दो महत्वपूर्ण प्रयत्न किये गये। रिजर्व बैंक के तत्वावधान मे यूनिट ट्रस्ट ऑफ इडिया (जिसने अपना कार्य १ जुलाई १९६४ से आरभ कर दिया है) तथा औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना करना, दोनो ही महत्वपूर्ण प्रयास हैं। यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया का साधारण अशो, पूर्वाधिकार अशो तथा ऋणपत्रो मे विनियोग ३० जून, १९६९ को क्रमश: २४ करोड, ९ करोड़ तथा २७ करोड रुपये था। भारतीय औद्योगिक विकास बैंक द्वारा १९६८-६९ मे ६१ करोड रुपये की वित्तीय सहायता दी गई जो गत वर्ष (१९६७-६८) की अपेक्षाकृत अत्यधिक थी जब कि यह केवल ३६ करोड़ रुपये ही थी।

भारतवर्ष मे अंशों का स्वामित्व

रिजर्व बैंक आफ इडिया बुलेटिन (फरवरी, १९६८) मे ३१ दिसम्बर, १९६५ को अशो के स्वामित्व के सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक द्वारा किये गये सर्वेक्षण के परिणाम दिये गये है। इस सर्वेक्षण के लिये २०० सार्वजनिक कम्पनियो को स्टाक एक्सचेज मे निवेदित भाव सहित चुना गया। इस चुनाव का आधार यादृच्छ चयन था। चुनाव प्रदत्त पूंजी की विभिन्न आकार श्रेणियो वाली कम्पनी मे से किया गया था। २०० मे से, १८९ कम्पनियो ने ही पूर्ण तथा सही आँकड़े प्रस्तुत किये। इन १८९ कम्पनियो की प्रदत्त साधारण अश पूंजी की राशि ४२३ करोड़

रुपये थी जो बम्बई, कलकत्ता, तथा मद्रास स्टाक एक्सचेंज मे उद्धरित कम्पनियो की प्रदत्त पूँजी का ५२ प्रतिशत था। इन कम्पनियो के साधारण अशो का बाजार मूल्य ६५६ करोड रुपये था और इस प्रकार बाजार मूल्य के विचार से सर्वेक्षण का विस्तार ५६ प्रतिशत था। जिन कम्पनियो का सर्वेक्षण किया गया वे अनेक प्रकार की आर्थिक क्रियाओ मे लगी हुई थी, जैसे, खानो मे, विनिर्माण मे, अधिकोषण व्यापार तथा बागान आदि। इनमे से ७८ प्रतिशत से भी अधिक कम्पनियाँ प्रोसेसिंग तथा विनिर्माण मे लगी हुई थी।

१८९ कम्पनियो मे प्रदत्त ४२३ करोड रुपये पूँजी का स्वामित्व १० ७६ लाख अशधारियो (खातो) के पास था। सख्या के दृष्टिकोण से अधिकाश अशो का स्वामित्व व्यक्तियो के पास था जिनका प्रतिशत कुल का ९८ ९८ था। अशधारिता के मूल्य के दृष्टिकोण से व्यक्तियो का ४५ ६ प्रतिशत, सयुक्त स्कन्ध कम्पनियो का ३२ ८ प्रतिशत, वित्तीय सस्थाओ का (जैसे LIC, UTI, बैक आदि) १८·५ प्रतिशत, न्यास, सरकार तथा अन्य का ३·१ प्रतिशत था। जीवन बीमा निगम के पास कुल अश-धारिता के मूल्य का ९ प्रतिशत था और यह निजी कम्पनी क्षेत्र मे सबसे बडा अशधारी था। विदेशी अशधारियो का अश, सयुक्त स्कन्ध कम्पनी तथा अन्य विदेशी सस्थाओ को लेकर, सम्पूर्ण कम्पनियो की प्रदत्त पूँजी का २१·३ प्रतिशत था।

यदि आकार के दृष्टिकोण से अशो के स्वामित्व का विभाजन देखा जाय तो यह ज्ञात होता है कि कम्पनी के क्षेत्र मे ही स्वामित्व केन्द्रित है। इस विश्लेषण के उद्देश्य से ५,००० रुपये तक की अशधारिता को लघु आकार, ५,००० रु० से अधिक पर ५०,००० रुपये तक मध्यम आकार, तथा ५०,००० रुपये से अधिक को बडे आकार की धारिता माना गया है। साधारण अशो के पूर्णप्रदत्त मूल्य का २२ प्रतिशत लघु आकार धारिता तथा १६ प्रतिशत मध्यम-आकार धारिता थी। इनमे से अधिकाश, क्रमश ९९ और ९२ प्रतिशत, व्यक्तियो के पास थी। बडे आकार की धारिता सम्पूर्ण धारिता के पूर्ण प्रदत्त मूल्य का ६२० प्रतिशत थी। इस आकार श्रेणी मे व्यक्तियो का भाग १४ प्रतिशत, सयुक्त स्कध कम्पनी का ५२ प्रतिशत तथा वित्तीय सस्थाओ, जैसे यूनिट ट्रस्ट ऑफ इडिया, जीवन बीमा निगम, बैक तथा अन्य सस्थाओ का भाग २९ प्रतिशत था। अशो के स्वामित्व के केन्द्रीयकरण की सीमा के विषय मे जानकारी इस तथ्य से लगती है कि सबसे बडे आकार की श्रेणी मे अशधारिता का (अशो के पूर्ण प्रदत्त मूल्य का ६२ प्रतिशत) स्वामित्व केवल ४,३३४ खातो के पास था अथवा कुल खातो के ½ प्रतिशत के पास था।

विभिन्न प्रकार की वित्तीय सस्थाओ को यदि प्रत्येक औद्योगिक वर्ग मे स्वामित्व के रूप मे अलग-अलग देखे, तो सभी वर्गो मे जीवन बीमा निगम की धारिता सब से अधिक थी। उद्योगो के खानो तथा निर्माणकारी वर्गो मे साधारण अश पूंजी के अधिकाश भाग का स्वामित्व सयुक्त स्कध कम्पनियो के पास था। इसका कारण अशत यह हो सकता है कि कम्पनी के प्रबन्धको का यह व्यवहार रहा है कि वे अन्तर्कम्पनी विनियोग के द्वारा नियत्रण रखना चाहते हैं और अशत कारण यह भी हो सकता है कि हाल के वर्षों मे नयी कम्पनियों के साधारण अशो मे विदेशी सहयोग करने वाली कम्पनियो का अधिक भाग रहा है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि व्यक्तियो के अशो की धारिता का प्रतिशत १९५९ मे ५२ से (जब प्रथम सर्वेक्षण किया गया था) घट कर १९६५ मे द्वितीय सर्वेक्षण के समय ४५ ही रह गया था। जीवन बीमा निगम की धारिता इसी अवधि मे ५ ८ प्रतिशत से बढकर ९.२ प्रतिशत हो गई। उसी प्रकार अन्य वित्तीय सस्थाओ की धारिता मे भी वृद्धि हुई है। द्वितीय सर्वेक्षण के परिणामो से यह ज्ञात हुआ है कि व्यक्तियो की प्रत्यक्ष धारिता का अनुपात बडी वित्तीय सस्थाओ की अपेक्षाकृत घटता जा रहा है।

व्यक्तियो की अश-धारिता मे सबसे कम वृद्धि १८ प्रतिशत रही है और खातो की सख्या मे २३ प्रतिशत वृद्धि हुई। यह इस बात का द्योतक है कि अपेक्षाकृत व्यक्तियो की महत्ता साधारण पूंजी के साधन के रूप मे कम होती जा रही है और सयुक्त स्कध कम्पनी, वित्तीय सस्थाये तथा जीवन बीमा निगम आदि की महत्ता इस ओर बढती जा रही है। यद्यपि स्वामित्व का स्वरूप यह बताता है कि व्यक्तियो का स्थान स्पष्ट रूप से बदलता जा रहा है तथापि साथ ही व्यक्तियो की लघुता धारिता मे मूल्य तथा सख्या की दृष्टिकोण से वृद्धि की प्रवृत्ति पाई जा रही है, विशेष रूप से पुरानी तथा प्रतिष्ठित बडे आकार की सार्वजनिक कम्पनियो मे।

विश्वास को पुन: स्थापित करने के लिये उपाय. पूंजी बाजार मे १९६२ के अन्तिम माह से स्थिरता के कारण केवल उद्योगो मे पूंजी का प्रवाह ही नही प्रभावित हुआ है अपितु सरकार की चिन्ता भी बढ गई है कि विनियोक्ताओ मे किस प्रकार से विश्वास को पुनः स्थापित किया जाय। सरकार द्वारा इस दिशा मे उठाये गये कदम इस बात के द्योतक है। पूंजी बाजार की कठिन परिस्थिति के सदर्भ मे, पूंजी निर्गम से सम्बन्धित नियंत्रण को कुछ ढीला कर दिया गया है।

१९६३ मे पूँजी-निर्गम के लिये स्वीकृति से सम्बन्धित प्रार्थनापत्रो पर विचार करने के लिये लोचपूर्ण तथा अधिक उदार-नीति का पालन किया गया। साथ ही, औद्योगिक लाइसेसिग तथा पूँजी निर्गम दोनो के लिये सीमा को दिसम्बर १९६३ मे १० लाख रुपये से बढा कर २५ लाख रुपये कर दिया गया। स्वामीनाथन समिति की सिफारिशो के अनुसार औद्योगिक लाइसेस के प्रदान करने की विधि मे भी उचित परिवर्तन किया गया और उसे सरल बनाया गया। दिसम्बर, १९६३ में सोलह औद्योगिक वस्तुओ के सम्बन्ध मे मूल्य-नियत्रण को समाप्त कर दिया गया।

सरकार ने IFC तथा ICICI के साधनो को बढाने के हेतु प्रत्येक को १० करोड रुपये का ऋण दिया जिससे कि वे विशेष रूप से निर्गमो के अभिगोपन मे भाग ले सके। १९६४-६५ के बजट मे भी वित्तीय छूटे दी गईं। अधि-लाभ कर, जिसकी अत्यधिक आलोचना की जा रही थी, को समाप्त करके उसके स्थान पर कम्पनियो पर कम भार वाला तथा अधिक न्याय-सगत कर लगाया गया। हालाकि बजट के कुछ विषयो की, विशेष रूप से लाभाश कर के लगाने की तथा बोनस सम्बन्धी नियमो पर पूँजी लाभ कर के लगाने की, अधिक आलोचना की गई थी। पूँजी बाजार की स्थिति को सुदृढ करने के लिये दो और महत्वपूर्ण प्रयास किये गये। एक तो यूनिट ट्रस्ट ऑफ इडिया और दूसरे औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना करना है।

सरकार ने १९६४-६५ मे पूँजी बाजार की स्थिति को सुधारने के दृष्टिकोण से अपने प्रयत्न जारी रखे। इसी लिये सरकार ने अनेक उपाय किये जिससे कि विनियोक्ताओ मे विश्वास फिर से बढे और निजी विनियोग भी प्रोत्साहित हो सके। व्यक्तियो को कर सम्बन्धी अनेक छूटे दी गई जिससे कि उनकी व्यक्तिगत बचत और विनियोग को प्रोत्साहन मिले। साथ ही, उद्योगो के लिये भी विभिन्न प्रकार की कर सम्बन्धी छूटो की घोषणा की गई जिससे उनके उत्पादन तथा निर्यात मे वृद्धि हो सके। १९६५ के वित्त अधिनियम मे व्यक्तियो तथा कम्पनियो दोनो के लिये कर सम्बन्धी अनेक छूटो की घोषणा की गई। औद्योगिक कम्पनियो के साधारण अशो मे विनियोगो को पॉच वर्ष के लिये सम्पत्ति कर से मुक्त कर दिया गया, यूनिट ट्रस्ट ऑफ इडिया से प्राप्त लाभाश पर भी उपार्जित आय मान कर छूटे दी गईं। पूँजी गहन उद्योगो की दशा मे पूँजी-निर्गमन नियत्रण मे भी कुछ छूटे दी गईं। पूँजी निर्गमन परामर्शदाता समिति की सिफारिशो पर इन्हे यह स्वीकृति दी गई कि वे ऋण का साधारण अशो की अपेक्षाकृत अधिक अनुपात रख सकते है।

वित्त अधिनियम १९६६ ने राजस्व नीति के अन्तर्गत कुछ बाधाओ को समाप्त कर दिया और कुछ मे आवश्यक परिवर्तन कर दिया। जैसे, कम्पनी के बोनस अशो पर कर, अशधारियो पर बोनस अशो पर पूँजी लाभ कर, लाभाश पर कर मे परिवर्नन कर प्रदत्त पूँजी पर लाभाश पर १० प्रतिशत तक मुक्त करना, अधिकर को ४० प्रतिशत से घटा कर ३५ प्रतिशत करना आदि।

बोनस अशों के निर्गमन मे अभूतपूर्व वृद्धि १९६६-६७ के बजट मे कुछ छूट देने के कारण हुई। विशेषरूप से कम्पनी पर १२½ प्रतिशत बोनस निर्गमन को समाप्त कर देने से और अशधारियो पर बोनस अशो पर, पूंजी लाभ कर को समाप्त कर देने से ऐसा हुआ।

१९६७-६८ के बजट मे अपनाये गये कर सम्बन्धी उपायो से बचत तथा विनियोग दोनो को प्रोत्साहन मिला। विनियोग मे वृद्धि लाने के लिये सरचार्ज के लिये अनुपार्जित आय पर अधिकतम सीमा को बढा दिया गया तथा लाभाश से ५०० रुपये तक अथवा उससे कम प्राप्त आय को कर योग्य आय मे से घटाने के लिये छूट दे दी गई। कम्पनी पर कर के सम्बन्ध मे, उन उपक्रमो को, जिनको सामान्यतया प्रारभ के वर्षों मे कम लाभ होता है, कर अवकाश के लाभ को ८ वर्ष तक ले जाने की छूट दे दी गई।

१९६८-६९ के बजट प्रस्ताव मे भी आर्थिक दशा मे धीरे-धीरे उन्नति लाने के लिये प्रयास किये गये। बाजार पर निम्नलिखित उपायो का अनुकूल प्रभाव पडा: लाभाश से प्राप्त प्रथम ५०० रु० की आय पर कर से मुक्ति, १० प्रतिशत से अधिक विभाजन पर लाभाश समाप्त कर देना, कम्पनी पर से अधि-कर को ३५ प्रतिशत से घटाकर २५ प्रतिशत करना तथा वार्षिकी जमा योजना को समाप्त कर देना। मार्च २, १९६८ से बैक दर को ६ से घटा कर ५ प्रतिशत कर देने की घोषणा का भी अत्यन्त अनुकूल प्रभाव पडा।

१९६८ तथा १९६९ के प्रथम ६ माह मे पूँजी बाजार की स्थिति अच्छी रही। इसका कारण यह था कि १९६९-७० के बजट मे कर सम्बन्धी छूटे दी गई। इस से समुचित प्रोत्साहन मिला। अन्य अनुकूल बाते निम्नलिखित थी जिनसे पूँजी बाजार को समुचित प्रोत्साहन मिला: (अ) कृषि उत्पादन मे अधिक वृद्धि होने की आशा, (ब) निर्यात मे वृद्धि होने की रिपोर्ट, (स) उदारपूर्ण साख नीति का चालू रखना, तथा (द) फरवरी, १९६९ मे कम्पनी द्वारा पूँजी के निर्गमन पर जो प्रतिबन्ध थे उन पर कुछ छूट की घोषणा होना। औद्योगिक प्रति-भूतियो के लिये रिजर्व बैक का निर्देशाक (आधार वर्ष १९६१-६२=१००) १९६८ की अपेक्षाकृत १९६९ मे ७ प्रतिशत से बढकर ८० ७ हो गया।

१९६९ के पहले ६ माह मे उपर्युक्त कारणो से विनियोग मे तेजी के साथ वृद्धि हुई परन्तु जून के अन्त तक ये तेजी कम हो गई क्योकि जून २७, १९६९ को सरकार ने अशो के फारवर्ड व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिया। अशो का मूल्य १९६९ के जून के मध्य मे सर्वाधिक था जबकि रिजर्व बैंक का निर्देशाक १९६८ के अन्त मे ८० ७ से बढ कर ९९·८ हो गया था। उसके बाद से भारतीय स्टॉक एक्सचेज के अधिकारी भारत सरकार से इस प्रतिबन्ध को हटाने के लिये बातचीत कर रहे है। सरकार ने इस प्रतिबन्ध को हटाने के सम्बन्ध मे विचार करने के लिये श्री जे० जे० अजारिया की अध्यक्षता मे एक समिति भी नियुक्त कर दी है।

जुलाई १९६९ मे बैंको के राष्ट्रीयकरण का भी पूँजी बाजार पर प्रतिकूल प्रभाव पडा। बम्बई मे, दिसम्बर १९६९ मे अखिल भारतीय काग्रेस (सत्तारूढ-दल) के अधिवेशन मे जो प्रमुख आर्थिक सुधारो के विषय मे विचार किया गया उससे भी लोगो के मन मे भय उत्पन्न हुआ। दिसम्बर १९६९ मे रिजर्व बैंक का निर्देशाक घट कर ८८ ९ ही रह गया। यह जून १९६९ की अपेक्षाकृत ११% से घट गया यद्यपि दिसम्बर १९६८ की अपेक्षाकृत १० प्रतिशत अधिक था।

अनिश्चितता बनी रहने के कारण विनियोग की मात्रा मे कमी आती रही है। बाजार कभी भी रोकड के आधार पर कार्य नही कर सकता है। यह विचार करना उचित नही है कि फारवर्ड व्यापार के बिना भी भारत मे रोकड बाजार रह सकता है। फारवर्ड बाजार की अनुपस्थिति मे पूर्ति एव माग मे थोडा सा भी परिवर्तन होने पर मूल्य मे अत्यधिक उच्चावचन होगा और उसके परिणामस्वरूप विनियोक्ताओ को हानि उठानी पडेगी। फारवर्ड व्यापार सम्पूर्ण बाजार को प्रोत्साहित करता है और लोगो मे विनियोग की आदत डालने मे सहायता पहुचाता है। जीवन बीमा निगम तथा भारतीय यूनिट ट्रस्ट जैसे सस्थागत विनियोक्ताओ को भी इससे लाभ होगा।

नवीन पूँजी निर्गमन के दृष्टिकोण से, १९६९ का वर्ष देश के पूँजी-बाजार के इतिहास मे सबसे खराब रहा है। कुल पूँजी निर्गम १९६८ मे ६९ करोड रुपये से घट कर १९६९ मे ४८ करोड ही रह गया, अपितु इस प्रकार उपलब्ध पूँजी भी गत वर्ष की अपेक्षाकृत सबसे कम रही। प्रविवरण के माध्यम से प्राप्त की गई पूँजी की दशा अत्यधिक असन्तोषजनक रही। यह १९६९ मे केवल ११ करोड रुपये ही थी जबकि १९६८ मे २१ ८ करोड रुपया थी और १९६७ मे ४४.५ करोड़ रुपये थी। इसका तात्पर्य यह है कि उद्यमीगण नवीन उपक्रमो की स्थापना करने मे १९६९ मे अधिक रुचि नही दिखा रहे थे।

ऋणपत्रो के माध्यम से प्राप्त की गई धनराशि पर्याप्त थी। १९६९ मे इस प्रकार २४ ६ करोड रुपये थी, वैसे यह १९६८ से कम थी जबकि यह ३१ ६ करोड रूपये थी। गत पॉच वर्षो के स्तर से यह ऊँची थी। इन ऋण-पत्रो का निर्गमन वैसे बडी-बडी इकाइयो के द्वारा ही किया गया था। बोनस-निर्गमन का जहाँ तक सम्बन्ध है, सार्वजनिक सीमित कम्पनियो द्वारा १९६९ मे यह अधिक रहा। १९६९ मे इन कम्पनियो ने १७ ८ करोड रूपये का बोनस निर्गमित किया जबकि १९६८ मे यह १४ ८ करोड रुपये था। वैसे १९६७ से यह बहुत कम था जबकि यह ५४ करोड रुपये था।

नवीन निर्गमन सम्बन्धी कार्यवाईयाँ, जो निजी विनियोग का प्रमुख सूचक है, बहुत न्यून स्तर पर रही। वास्तव मे, १९६८ की अपेक्षाकृत १९६९ मे कुल नवीन पूँजी निर्गमन अत्यधिक कम रहा। साथ ही, नवीन निर्गमन मे पूर्वाधिकार अशो तथा ऋणपत्रो की ही बहुलता थी और साधारण अश कम ही निर्गमित किये गये। यह उद्यमियो द्वारा उत्साह की कमी का सूचक है। १९७० मे वित्त मत्रालय द्वारा प्रकाशित आर्थिक सर्वेक्षण मे इसका स्पष्टीकरण यह कह कर दिया गया है कि यह "पश्चायन द्वारा उद्यमियो के विश्वास पर लगे धक्के का प्रभाव" है। इसके अन्य प्रमुख कारण निम्नलिखित थे: नवीन विनियोग के लिये व्यावहारिक निदेशन की अनुपस्थिति, चतुर्थ योजना तैयार करने मे देरी, पश्चायन का प्रभाव, बढती हुई राजनीतिक अनिश्चिततताये तथा देश के कुछ भागो मे असतोषपूर्ण औद्योगिक सम्बन्ध आदि।

१९६९ के नवीन निर्गमन के सम्बन्ध मे जनता का रुख पहले की तरह चयनात्मक ही रहा। कुछ बडी-बडी एव प्रतिष्ठित कम्पनियो द्वारा, जैसे MICO, त्रिवेणी टिशूज तथा यूनिवर्सल टायर्स, जो अश निर्गमित किये गये थे वह निश्चित मात्रा से अधिक अभिदत्त रहे। बडी मात्रा मे ऋण-पत्र का निर्गमन १९६९ मे टैल्को, इण्डियन अल्युमूनियम तथा कलकत्ता इलेक्ट्रिक द्वारा किया गया था।

पूँजी बाजार से सम्बन्धित एक उल्लेखनीय बात फरवरी १९६९ मे पूँजी निर्गमन सम्बन्धी नियत्रण मे कुछ छूट देना था। बोनस निर्गमन तथा अशो को अधिमूल्य पर निर्गमित करने को छोडकर, गैर-सरकारी सार्वजनिक सीमित दायित्व वाली कम्पनियो को निश्चित दशाओ मे २५ लाख रुपये से अधिक पूँजी निर्गमित पर भी कुछ छूटे दी गई है। उन्हे पूँजी निर्गमन नियत्रक के पास केवल एक माह पूर्व ही प्रस्ताव का विवरण अग्रिम मे भेजना होगा।

१९७०-७१ का बजट प्रस्ताव तथा पुनरुत्थान

१९७०-७१ का बजट विकास की समस्याओ के सम्बन्ध मे व्यावहारिक दृष्टिकोण पर आधारित है। इस बात पर बल दिया गया है कि सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिरता राष्ट्रीय धन तथा उत्पादन की वृद्धि के बिना सभव नही है। देश की आर्थिक दशा ऐसी है कि विकास लाने के लिये कठिन प्रयास करने की आवश्यकता है। १९७०-७१ का बजट, एक ओर तो स्थिरता एव विकास की आवश्यकता के मध्य सतुलन स्थापित अरने का प्रयास करता है और दूसरी ओर सामाजिक न्याय के वितरण पर बल देता है जो कि दीर्घकाल मे विकास के लिये अत्यन्त सहायक होगा।

बजट का एक प्रमुख प्रावधान ३,००० रुपये तक की आय को कर से मुक्त करना है यदि यह आय भारतीय यूनिट ट्रस्ट से, या भारतीय कम्पनी से, या लघु बचत योजना आदि से प्राप्त हुई हो। इसका प्रभाव यह हुआ कि बाजार मे कुछ अशो की मॉग बढ गई और उनके मूल्य मे भी वृद्धि हुई। भारतीय यूनिट ट्रस्ट मे तथा कम्पनी के अशो मे १५ लाख रुपये तक के विनियोग को भी सम्पत्ति कर से मुक्त कर दिया गया है। कम्पनी कर की वर्तमान सरचना मे कोई भी परिवर्तन नही किया गया है। ग्रामीण क्षेत्रो से बचत को सचारित करने के लिये सरकार ने ऋणपत्रो को निर्गमित करने की घोषणा की है। निकट-भविष्य में इन प्रस्तावो का उचित प्रभाव पडने की ही सभावना है।

अध्याय १५

बैंक तथा औद्योगिक वित्त

व्यापारिक बैंक कम्पनी की अल्पकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति दो प्रकार से करते है (१) अग्रिम, ऋण, अधिविकर्ष तथा नकद-साख आदि प्रदान कर, तथा (२) विनिमय पत्र, हुण्डी तथा अन्य व्यापारिक प्रलेखो का बट्टे पर भुगतान करके। एक कम्पनी से यह आशा की जाती है कि वह किसी बैंक अथवा बैंको से अपनी चल-सम्पत्तियो के लिये वित्त प्राप्त करने के लिये घनिष्ट सम्बन्ध बनाये रखे। या यूँ कहिये कि इसे 'साख का एक पथ' स्थापित करना चाहिए। साख के पथ का तात्पर्य किसी भी उपक्रम विशेष को किसी बैंक से प्राप्त होने वाला ऋण है जो कि उसका निर्धारण करते समय स्वीकृत शर्तों के अन्तर्गत हो। इस व्यवस्था से धन शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार के समझौते के अन्तर्गत बैंक अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने मे प्राय असफल नही होते क्योकि वे अपने ग्राहको से सम्बन्ध नही बिगाड सकते है। परन्तु बदली हुई परिस्थितियो मे कभी-कभी समायोजन करने की आवश्यकता पड सकती है।

बैंक के द्वारा चल-पूंजी सम्बन्धी सहायता पहुँचाने की महत्ता उद्योगो के लिये भिन्न-भिन्न होती है। बडे पैमाने के तथा सुसगठित उद्योगो को, विशेष रूप से लोहा एव इस्पात, इजीनियरिग, रसायन, जूट, सूती वस्त्र, तथा चीनी आदि, व्यापारिक बैंक आवश्यकतानुसार पर्याप्त ऋण देते रहे हैं।

किसी भी व्यापारिक इकाई को अग्रिम प्रदान करने की सीमा बैंक की उधार देन की क्षमता से विशेष रूप से निर्धारित होती है। और किसी भी बैंक की उधार देने की क्षमता कानून तथा वित्तीय घटको दोनो द्वारा ही सीमित होती है। बैंकिग कम्पनी अधिनियम १९४९ के अन्तर्गत कोई भी बैंकिग कम्पनी अपने ही अशो की प्रतिभूति पर अग्रिम अथवा ऋण नही दे सकती है, अथवा अपने सचालको को बिना प्रतिभूति के ऋण नही दे सकती, अथवा उन फर्म अथवा कम्पनियो को इस प्रकार से ऋण नही दे सकती जिनमे इसके सचालक साझीदार प्रबन्ध अभिकर्ता के रूप मे कार्य करते हो। साथ ही, प्रत्येक बैंक को वर्ष की

अन्तिम तिथि पर भारत मे अपने सावधि तथा माँग दायित्वो के योग का कम-से-कम २८% राकड, सोना अथवा प्रभारहीन स्वीकृत प्रतिभूतियो के रूप मे रखना होता है। यह प्रावधान इसलिये है कि सुदृढ अधिकोषण प्रणाली ही व्यवहार मे लाई जाय, या यूँ कहिए कि बैंक इतना नकद अथवा तरल सम्पत्ति अपने पास सचित रखे कि वह अपनी माँग दायित्वो की पूर्ति कर सके और तरलता पर्याप्त मात्रा मे बनाये रखे। कानूनी प्रावधानो के अतिरिक्त, प्रबन्धक भी यह प्रयास करते है कि सुदृढ अधिकोषण व्यवहार ही अपनाये जायँ, जैसे कि ऋणो का पर्याप्त विभिन्नीकरण, जोखिम का विस्तार करने तथा अवधि पूर्ण होने की सूची बनाने के लिये किया जा सके। इसका उद्देश्य तरलता को बनाये रखना तथा कोषो को सुरक्षित रखना भी है।

बैंक की उधार देने की क्षमता दो घटको पर निर्भर हैं (१) बैंक को उपलब्ध पूर्ण कोष की मात्रा-निक्षेप, पूँजी तथा सचय, और (२) तरलता अनुपात बनाये रखने की नीति। बैंक के पास बहुत बडी मात्रा मे कोष के उपलब्ध रहने पर भी, इसकी यह स्थिति हो सकती है कि बडी मात्रा मे उधार न दे सके क्योकि उसे ऊँची तरलता अनुपात को बनाये रखना हो।

बैंको द्वारा अग्रिम दिये जाने की प्रवृत्तियाँ हाल के वषो मे पूर्ण बैंक साख मे उद्योगो के अशो मे जो धीरे-धीरे वृद्धि हुई है उसका परीक्षण अगले पृष्ठ पर दिये तालिका से किया जा सकता है। १९६६ मे मार्च के अन्त मे औद्योगिक अग्रिम का अनुपात बढकर ६४ प्रतिशत हो गया जब कि १९५१ मे मार्च के अन्त मे ३४ प्रतिशत ही था। परन्तु उसकी अपेक्षाकृत व्यापारिक तथा वित्तीय अग्रिम का भाग ३१ मार्च, १९५१ मे ५३ प्रतिशत से घट कर ३० अप्रैल, १९६१ को ३६ प्रतिशत तथा ३१ मार्च १९६६ को २८ प्रतिशत हो गया। नवीन उद्योगो (इजीनियरिंग तथा रसायन आदि) ने इस वृद्धि का अधिक भाग प्राप्त किया है। उनकी अपेक्षाकृत पुराने उद्योगो (सूती वस्त्र, जूट तथा चीनी) को उतना अधिक नही प्राप्त हुआ। यह प्रवृत्ति औद्योगिक उत्पादन मे विस्तार तथा विभिन्नीकरण के अनुरूप ही है। कृषि को न्यूनतम धनराशि ५ करोड रुपया ही प्राप्त हुआ या पूर्ण अग्रिम का केवल ०·२ प्रतिशत ही प्राप्त हुआ। वास्तव मे, कृषि का भाग ३१ मार्च, १९५१ को २ १ प्रतिशत से घटकर ३१ मार्च, १९६६ को ० २ प्रतिशत हो गया।

जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है, हाल के वर्षों मे बैंक साख का अधिकाश भाग उद्योगो को ही प्राप्त हुआ। उद्योगो को अग्रिम ३१ अप्रैल, १९६३

अनुसूचित व्यापारिक बैंको का अग्रिम

(उद्देश्य के अनुसार)

(रुपया करोड मे)

के अन्त मे	उद्योग		व्यापार तथा वित्तीय		कृषि		अन्य सब		योग	
	रकम	योग का प्रतिशत	रकम	योग का प्रतिशत	रकम	योग का प्रतिशत	रकम	योग का प्रतिशत	रकम	योग का प्रतिशत
मार्च १९५१	१९६	३३ ५	३१०	५३ १	१२	२ १	६७	११ ३	५८५	१०० ००
मार्च १९५६	२७८	३६·२	३८८	५० ३	१६	२ ०	८८	११ ५	७७०	१०० ००
मार्च १९६१	६८८	५२ ८	४७६	३६ ४	५	० ४	१३७	१० ४	१,३०६	१००·००
मार्च १९६६	१,५१०	६४ ३	६५०	२७ ७	५	० २	१८२	७ ८	२,३४७	१००·००

को ६८८ करोड़ रुपये से बढकर ३१ मार्च, १९६६ को १,५१० करोड रुपये हो गया और इस प्रकार १२० प्रतिशत वृद्धि हुई जब कि पूर्ण बैंक साख इस अवधि मे १,३०६ करोड रुपये से बढकर २,३४७ करोड रुपये ही हुई अथवा ८० प्रतिशत वृद्धि ही हुई। इस अवधि मे बैंक साख की वृद्धि का लगभग ⅘ भाग उद्योगो को प्राप्त हुआ और पूरे मे से इनका भाग ५३ प्रतिशत से बढकर ६४ प्रतिशत हो गया। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस अवधि मे औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि उद्योगो को दी जाने वाली बैंक अग्रिम मे वृद्धि की अपेक्षाकृत कम हुई। वैसे, विभिन्न औद्योगिक उत्पादनो के मूल्य मे वृद्धि हुई है। साथ ही, इसके अतिरिक्त पूँजी बाजार मे मन्दी होने के कारण भी यह परिणाम रहा कि उद्योगो ने अपनी दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति बैंको के माध्यम से अधिक की। यह भी सभव है कि सरकार ने बोगस हुण्डी के विरुद्ध हाल मे जो कार्यवाही की है उसके कारण भी उसके स्थान पर साख की आवश्यकताओ की पूर्ति बैंको से की गई हो। बैंक साख मे जो पूर्ण विस्तार हुआ है उसका हमारी अर्थ-व्यवस्था के वास्तविक साधनो पर पर्याप्त दबाव पडा है जो कि तेजी से आग नही बढ़ रही है।

श्राफ समिति १९५४ मे निजी क्षेत्र के लिये वित्त पर एक समिति ने, जिसे श्राफ समिति के नाम से विशेष रूप से जाना जाता है, बैंको के साधन के बढाने की तथा निजी क्षेत्र को अधिक वित्त प्रदान करने की समस्या का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया। इसकी सिफारिशो का अध्ययन दो शीर्षको के अन्तर्गत किया जा सकता है (१) अधिकोषण प्रणाली का विकास, तथा (२) बैंको के साधनो में वृद्धि। अधिकोषण प्रणाली की विकास की समस्या का विवेचन करते हुए समिति ने सिफारिश की कि बैंको मे जनता के विश्वास को बढाकर बैंकिंग की आदत को प्रोत्साहित किया जाय, बैंकों के सचालन व्यय को कम किया जाय, Bank Awards मे परिवर्तन किया जाय, मजदूरी तथा वेतन की सरचना का विवेकीकरण किया जाय, बैंक तथा ग्राहकों के मध्य सम्बन्धो को गुप्त रखा जाय, शाखाओ का नियोजित विस्तार किया जाय, ग्रामीण क्षेत्रो मे लोगो को बैंकिंग की आदत डालने के लिये गतिशील बैंक बनाये जॉय। बैंको के साधन मे वृद्धि करने के लिये, समिति ने यह सुझाव दिया कि, अन्य बातो के अतिरिक्त, प्रतिस्पर्द्धा को नियमित किया जाय (क्योकि मुद्रा बाजार मे सीमित साधन ही उपलब्ध हैं), रुपये के प्रेषण की सुविधा दी जाय, निक्षेप के बीमा की व्यवस्था की जाय, स्थानीय विभागो से निक्षेप प्राप्त करने का प्रयास किया जाय तथा सरकार द्वारा शीघ्र ही भुगतान की व्यवस्था की जाय।

बैंकिग क्षेत्र में हाल में हुए परिवर्तन

श्राफ समिति द्वारा रिपोर्ट देने के बाद से अनेक परिवर्तन हो चुके है। हाल के वर्षो मे बैंकिंग प्रणाली मे, जो सरचनात्मक तथा सस्थागत परिवर्तन हुए है, उनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है।

(१) १९५१ तथा १९६७ के मध्य की अवधि मे देश मे बैंकिंग की बहुमुखी प्रगति हुई है। इसी अवधि मे बैंको का समेकन हुआ है। १९५१ मे रिपोर्ट देने वाले बैंको की सख्या ५६६ थी परन्तु १९६७ मे यह घटकर ९१ हो गई। इस परिवर्तन से बैंकिग प्रणाली मे सुदृढता आई है क्योकि अनेक बैंको का समामेलन तथा सम्मिलन हुआ है। विशेष रूप से गैर-अनुसूचित बैंको की सख्या मे पर्याप्त परिवर्तन हुए है। इनकी सख्या १९५४ मे ४७४ से घटकर १९६७ मे केवल २० ही रह गई। साथ ही, दूसरी ओर शाखाओ का पर्याप्त विस्तार हुआ है। उनकी सख्या १९५१ मे ४,१५१ से बढकर १९६७ मे ६,९८५ हो गई और इस प्रकार लगभग ६८ प्रतिशत से वृद्धि हुई। यह ध्यान देने योग्य बात है कि यह प्रवृत्ति द्वितीय एव तृतीय योजना मे विशेश रूप से पाई गई।

(२) निक्षेप के क्षेत्र मे भी महत्वपूर्ण उन्नति हुई है। बैंको का कुल निक्षेप १९५१ मे ९८० करोड रुपये से बढकर १९६७ मे ३,९६२ करोड हो गया और इस प्रकार १९ ७ प्रतिशत की औसत दर से वार्षिक विकास हुआ। प्रति व्यक्ति निक्षेप मे भी तीन-गुना वृद्धि हुई। यह १९५१ मे २५ रुपये से बढकर १९६७ मे ७७ रुपये हो गया। इस प्रकार इसमे औसत वार्षिक विकास १३ प्रतिशत की दर से हुआ। निक्षेप की वृद्धि मे अनेक घटक, जैसे, सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि, आय मे वृद्धि, बैंकिंग प्रणाली का क्षेत्रीय विस्तार, नवीन सेवाओ का आरभ आदि, सहायक रहे है।

(३) अदत्त बैंक साख भी १९५१ मे ६२७ करोड रु० से बढकर १९६७ मे २,७४७ करोड रुपया हो गई और इस प्रकार औसत वार्षिक विकास दर २१ प्रतिशत रही। इसी अवधि मे अनुसूचित बैंको द्वारा उद्योगो को दिये जाने वाले अग्रिम मे पर्याप्त वृद्धि हुई। यह मार्च १९५१ मे १९६ करोड रुपये से बढ़कर मार्च १९६७ मे १,७४२ करोड रुपये हो गया जो कि कुल अग्रिम का लगभग ६४ प्रतिशत था। वाणिज्य को दिया गया अग्रिम १९५१ मे २३६ करोड़ रुपये से बढकर १९६७ मे ५२६ करोड रुपये हो गया जो कि कुल अग्रिम का १९ प्रतिशत था। इस प्रकार से बैंको ने व्यापार की अपेक्षाकृत उद्योग को अधिक अग्रिम प्रदान किया।

(४) बैंक साख की महत्वपूर्ण विशेशता बैंक साख का मौसम से प्रभावित होना समाप्त होना है। गत वर्षो मे, व्यस्त काल मे बैंक साख बढकर ५०-१०० करोड रुपये हो जाता था और उसी प्रकार उसी मात्रा मे रुपया बैंक को वापस भी होता था। परन्तु अब यह बात नही रह गई है क्योकि अर्थ-व्यवस्था मे विभिन्नीकरण हो चुका है तथा साख मिलने मे सामान्य कठिनाई है।

(५) भारतवर्ष मे बैंको की शाखा का विस्तार न तो पूर्ण ही रहा है और न ही उसका विभाजन एकरूप सा रहा है। यद्यपि शाखाओ की सख्या मे तो पर्याप्त वृद्धि हुई परन्तु जिस ढग से हुई है वह उचित नही कही जा सकती है। कुछ क्षेत्रो मे तो अत्यधिक केन्द्रीयकरण हुआ है जिसके कारण क्षेत्रीय असन्तुलन आ गया है। यद्यपि एक बैंक कार्यालय द्वारा सेवा प्राप्त जनसख्या १९५१ मे ८७,००० से घटकर १९६७ मे ७३,००० हो गई, तथापि विश्व के अन्य देशों की अपेक्षाकृत अभी भी यह बहुत अधिक है। व्यापारिक बैंको द्वारा सेवा प्राप्त जनसख्या, उदाहरण के लिये, सयुक्त राज्य अमेरिका मे १५,०००, जापान मे १५,००० तथा ईरान मे ११,००० है। देश मे ही स्थिति सब जगह एक सी नही है। गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास तथा आन्ध्र प्रदेश मे तो यह अत्यधिक विकसित है जब कि बिहार, मध्य प्रदेश, उडीसा तथा उत्तर प्रदेश मे स्थिति सोचनीय है।

(६) जैसा कि पहिले बताया गया है, निक्षेप की मात्रा मे उल्लेखनीय वृद्धि हुई है, परन्तु इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देने योग्य बात है कि यह वृद्धि सार्वजनिक व्यय तथा हीनार्थ प्रबन्धन के कारण हुई है न कि बैंको द्वारा दी गई सुविधाओ के कारण। निक्षेप से राष्ट्रीय आय का अनुपात भारतवर्ष मे लगभग १४ प्रतिशत है जबकि कनाडा मे ४९ प्रतिशत, सयुक्त राज्य अमेरिका मे ५६ प्रतिशत, जापान मे ८४ प्रतिशत तथा स्विटजरलैंड मे ९२ प्रतिशत है। इसका तात्पर्य यह है कि अभी बैंकिंग की आदत डालने के लिये तथा निक्षेप बढाने के लिये देश मे पर्याप्त क्षेत्र है।

(७) बैंक साख विस्तार की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसे आर्थिक विकास की बदलती हुई आवश्यकताओ के अनुसार प्रतिनिधिपूर्ण तथा लचीला होना चाहिए। वास्तविक साख आवश्यकताओ की पूर्ति तो अवश्य होनी चाहिए परन्तु साथ ही स्टाक की मात्रा बढाने के लिये, सट्टेबाजी के लिये, तथा अभाव का सृजन करने के लिये माल को रोकने के लिये साख उपलब्ध नही होने देना चाहिए। साख-निक्षेप अनुपात तो लगभग ६९ प्रतिशत रहा है परन्तु साख का वितरण तथा उसकी दिशा सन्तोषजनक नही रही है। उदाहरण के लिये लघु-स्तरीय उद्योगो

का भाग केवल ६ ६ प्रतिशत ही रहा जबकि उद्योगो को दिया जाने वाला अग्रिम बढकर ६६ प्रतिशत हो गया।

(८) निक्षेपो का प्रयोग अधिकाशतया शहरी क्षेत्रों मे ही साख सुविधाये प्रदान करने के लिये किया जाता रहा है और साथ ही पिछडे क्षेत्रो पर बिल्कुल भी ध्यान नही दिया गया। महाराष्ट्र, पश्चिमी बगाल तथा तामिलनाडु जैसे उन्नत राज्यो मे जो साख दिया जाता रहा है वह ग्रामीण तथा पिछडे राज्यो के निक्षेप से प्राप्त ही होता रहा है। १९६९ मे, राष्ट्रीय साख परिषद के अध्ययन दल ने यह पता लगाया कि व्यापारिक बैंक मे चालू खातों की सख्या घटकर २२,००० रह गई। यह उस समय हुआ जब कि देश मे साख की अत्यधिक आवश्यकता थी। इस दल ने विभिन्न आर्थिक क्षेत्रो मे असमान वितरण की ओर ध्यान आकर्षित किया। १९६७ मे बडे उधार लेने वालो को कुल औद्योगिक अग्रिम का लगभग ५० प्रतिशत प्राप्त हुआ।

इस दल ने निम्नलिखित प्रमुख बातो का पता लगाया अल्प पूँजी आधार, उच्च साख-निक्षेप अनुपात, बैंकिंग सुविधाओ की असमानता, विभिन्न क्षेत्रो मे साख के वितरण मे बढती हुई असमानताये, कुछ क्षेत्रो मे शाखा-विस्तार का केन्द्रीयकरण। बैंकिग प्रणाली के विकास की प्रमुख विशेषता अनार्थिक तथा क्षमताहीन इकाइयो को समाप्त कर बैंकिंग सरचना को सुदृढ़ बनाना है।

बैंको के समक्ष नियत कार्य. यदि बैंक प्रगतिशील नीतियो को अपनाये तथा अपनी व्यापार-प्रणाली को और उदार बनायें, विशेषरूप से बडे तथा लघुस्तरीय उद्योगो के हित मे, तो वे अपने हितो की सुरक्षा कर सकेंगे और साथ ही राष्ट्र का भी हित होगा। बैंक के लिए यह एक अवसर है पर साथ ही एक चुनौती भी है। पचवर्षीय योजनाओ मे औद्योगीकरण पर अधिक बल दिये जाने के कारण औद्योगिक उत्पादन मे सनत वृद्धि होती रहेगी। इस प्रकार उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताये भी बढती जायगी जिनकी पूर्ति करने के लिए बैंक को तत्पर तथा तैयार रहना होगा। चालू पूँजी के अतिरिक्त, उद्योगो को मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन साख की भी आवश्यकता होती है, विशेषरूप से उन्नतिशील देशो मे जैसा कि हमारा देश है जहाँ पूँजी बाजार भी विकसित नही है और विशिष्ट वित्तीय सस्थाये भी इनकी आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे पूर्णरुप से समर्थ नही है। बैंक इनकी आवश्यकताओ की पूर्ति चाहे दीर्घकालीन ऋण प्रदान करके और चाहे औद्योगिक कम्पनियो के ऋणपत्र, पूर्वाधिकार अशो तथा साधारण अशो मे भी विनियोग करके कर सकते है। साथ ही बैंक लघु तथा मध्यम स्तर के उद्योगो को भी अपने दृष्टिकोण मे समुचित परिवर्तन करके वित्तीय सहायता-

प्रदान कर सकते है, विशेष रूप से जबकि रिजर्व बैंक ने यह योजना चालू कर दी है कि बैको द्वारा लघु उद्योगो को दिये जाने वाले ऋण की गारण्टी दी जाय।

यद्यपि बैंकिग प्रणाली ने पिछले १५ वर्षो मे अपने आप को स्थिति के अनुरूप ढालने के लिये पर्याप्त प्रयास किया है, फिर भी इस बात की आवश्यकता है कि परिवर्तन करने के दृष्टिकोण से सभी महत्वपूर्ण परिस्थितियो पर विचार करे। हमे उन क्षेत्रो का विचार करना है जिन पर बैकिग को आगे बढना है :–

(१) बैंक के पूंजी कोष मे समुचित वृद्धि करना आवश्यक है। इसके लिये विशेष रूप से सचय कोष को चालू शुद्ध लाभ से और अधिक बढाना है और कभी-कभी जब सभव हो नवीन पूँजी का निर्गमन करके भी ऐसा किया जा सकता है। पिछले दशक मे बैंको के लाभ मे पर्याप्त वृद्धि होने के उपरान्त भी पूँजी कोष का कुल निक्षेप के अनुपात मे धीरे-धीरे कमी होती रही है। इस अनुपात मे कमी अशत हाल के वर्षों मे निक्षेप मे तेजी से वृद्धि होने के कारण भी हुई है। प्रदत्त पूंजी तथा सचय का निक्षेप से अनुपात १९५१ मे ९ ७ प्रतिशत से घट कर १९६७ मे २ ८ प्रतिशत हो गया। १९६७ मे प्रदत्त पूँजी तथा सचय १०२ करोड रुपये था, परन्तु उसी वर्ष के लिए बैको का निक्षेप-दायित्व ३,९६२ करोड रुपये था। यदि लघु उद्योगो के मध्यकालीन ऋण प्रदान करने की दिशा मे प्रयास करना है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि बैंक अपनी निजी पूँजी की स्थिति मे समुचित सुधार करे।

(२) बैको को ऐसी परिस्थिति का सामना करना है जबकि उन्हें साख के लिये समुचित दावो के मध्य सावधानी के साथ चुनाव करने की आवश्यकता पडेगी। उन्हे ऋण के लिये प्रार्थनापत्रो के सम्बन्ध मे व्यावहारिक कसौटियो को चुनना होगा और ऐसा करते समय इस राष्ट्रीय उद्देश्य को ध्यान मे रखना होगा कि विभिन्न क्षेत्रो मे जैसे वृहत तथा लघु उद्योग, निर्यात तथा कृषि, नवीन उद्यमियो की खोज करके उन्हे समुचित सहायता प्रदान की जाय। नियोक्ताओ की प्रतिस्थापित प्रतिष्ठा को अधिक ध्यान मे रखने के अपेक्षाकृत, उन्हे ऐसे विशेषज्ञो तथा साधनों को विकसित करना होगा जिसके अनुसार वे प्रवर्तनकर्ता की प्रकृति तथा प्रायोजना पर होने वाले लाभ पर उचित निर्णय ले सके और उसके लिये अधिक लोचपूर्ण तथा उपयोगी व्यावहारिक कसौटियो को प्रयोग मे ला सके। बैंको को नवीन उद्यम सम्बन्धी योग्यता के निर्माण के लिए अधिक प्रयास करना होगा।

(३) बैंको के आन्तरिक प्रबन्ध को अधिक सुदृढ बनाकर उसमे सुधार के लिये भी प्रयास करना होगा। अधिकाश बैंको मे आन्तरिक नियत्रण प्रणाली उतनी क्षमता के साथ कार्यान्वित नही की जा रही है जिसकी आवश्यकता है। यह भावना अब औ भीर दृढ होती जा रही है क्योकि बैंक रिजर्व बैंक द्वारा दिये गये हाल के निर्देशो को कार्यान्वित करने मे असफल रहे है।

(४) आर्थिक शोध की, सामान्य रूप से अर्थव्यवस्था मे बचत तथा विनियोग की प्रवृत्ति का पता लगाने के लिए अथवा विशेष रूप से उन क्षेत्रो के लिए जो बैंक विशेष के हित मे हो, अत्यधिक आवश्यकता है। ऐसे शोध की अनुपस्थिति मे, निक्षेप को बढाने के लिए, साख व्यवसाय के लिए अवसर ढूंढने के लिए, तथा शाखा की विस्तार के लिए विवेकपूर्ण नीतियो को अपनाना सभव नही है। सभावी निपेक्षको की अभिरुचि को ध्यान मे रखते हुए निक्षेप योजना को समय से अपनाने के लिए तथा साख-विस्तार के लिए उपयोगी प्रायोजनाओ के चुनने के हेतु व्यावहारिक कसौटियो का निर्माण करने के लिए भी आर्थिक शोध आवश्यक है।

(५) ऐसे आर्थिक शोध के अतिरिक्त, बैंको के लिए यह आवश्यक है कि वे लागत को कम करने तथा कार्यक्षमता को बढाने हेतु परिचालन शोध की ओर भी ध्यान दें। साख्यिकीय तथा परिचालन सम्बन्धी आँकडो की रिपोर्टिंग सन्तोषजनक नही है। साथ ही, शाखाओ पर नियत्रण तथा पर्यवेक्षण को और भी अधिक दृढ तथा उन्नतिशील बनाना होगा।

(६) ग्राहको को दी जाने वाली सुविधाओं मे उन्नति के लिए भी क्रमबद्ध प्रयास नही किया गया है। अधिकांश बैंको मे, चैको के भुनाने के लिए भी जो विधियाँ अपनाई जाती हैं वे ग्राहकों की दृष्टि से सन्तोषजनक नही है। बैंकों के कार्य-सचालन के सम्बन्ध मे यह बात खेदपूर्ण है कि रिजर्व बैंक को उनकी शाखाये जो विवरणी भेजती हैं वे भी समेकिक नही की जाती हैं (केवल कुछ दशाओ को छोडकर) और न ही वे उन्हे स्वय ही अपनी नीति-निर्माण के प्रयोग में ही लाते है।

(७) अधिकोषण प्रणाली के कार्य-सचालन में उन्नति लाने के लिये सतत् प्रयास किया जाना आवश्यक है। इससे बैंको को ही अधिक लाभ प्राप्त न होगा अपितु जनता के रहन-सहन के स्तर मे भी शीघ्र ही उन्नति होगी। यदि पूर्ण उत्साह के साथ कार्य किया जाय तो सामाजिक तथा भौतिक दोनो ही प्रकार के लाभ हो सकते है। इस प्रकार नवीन तथ्यो की खोज के लिये तथा प्रयोग करने के लिये उत्कट इच्छा की अत्यधिक आवश्यकता है।

व्यापारिक बैंको पर सामाजिक नियत्रण

१४ दिसम्बर, १९६७ को उप-प्रधान मत्री ने व्यापारिक बैंको के सामाजिक नियत्रण पर लोक सभा मे एक वक्तव्य दिया। उन्होने इस बात पर बल दिया था कि बैंको तथा थोडे से बडे औद्योगिक गृहो के मध्य सम्बन्धो को तोडना है, या कम से कम प्रभावहीन करना है, तथा बैंको का जो उद्योगो एव व्यापार से ही केवल सम्पर्क है उसे बदलना है तथा साख सम्बन्धी निर्णय जो बैंक के प्रबन्धक लेते है उन्हे आर्थिक विकास की प्राथमिकताओ के अनुरूप लाना है। वक्तव्य की अन्य प्रमुख बातें निम्नलिखित है —

(१) बैंको की नीतियॉ एव व्यवहार ऐसी होनी चाहिए जिससे कि प्रमुख सामाजिक एव आर्थिक उद्देश्यो की पूर्ति हो सके, यथा, अर्थ-व्यवस्था की उच्चतम अनुकूलतम विकास दर, एकाधिकारी प्रवृत्तियों पर रोक, साधनो के दुरुपयोग तथा आर्थिक शक्तियो के केन्द्रीयकरण पर रोक।

(२) नियोजित अर्थव्यवस्था के ढॉचे के अन्तर्गत, साख का उद्देश्यपूर्ण विभाजन सभी उत्पादक क्षेत्रो मे होना चाहिए। जनता इस तथ्य से चिंतित रही है कि अनेक प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो को, जैसे, कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात, बैंक साख का उचित भाग नही प्राप्त होता। साथ ही अधिकाश साख बडे-बडे औद्योगिक एव व्यापारिक गृहो को तथा बडे उद्योगो को चालू पूँजी के रूप मे प्राप्त होता रहा है।

(३) वैसे तो बैंको के लिये अधिक बचत प्रोत्साहित करने के हेतु दीर्घकालीन उपायो की आवश्यकता है, परन्तु निकट भविष्य मे प्राप्त साधनो के अन्तर्गत ही साख का समान तथा उद्देश्यपूर्ण विभाजन होना चाहिए। इस उद्देश्य के लिये, प्रथम प्रमुख आवश्यकता यह है कि बैंक साख की मॉग का अनुमान समय-समय पर लागाया जाय तथा ऋण देने एव विनियोग करने की प्राथमिकताओ को इंगित किया जाय। वैसे तो यह अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रो के लिये किया जाय पर विशेष रूप से कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात के लिये निश्चित करना आवश्यक है। अखिल भारतीय स्तर पर, एक उच्च स्तरीय सस्था—राष्ट्रीय साख परिषद—की स्थापना की जाय जिसमे वृहत, मध्यम तथा लघु स्तरीय उद्योगो के, कृषि के, सहकारी सस्थाओ के, व्यापार के, बैंक के, तथा व्यावसायिक क्षेत्र जैसे अर्थशास्त्री, चार्टर्ड एकाउन्टेन्टस आदि, के प्रतिनिधि हो। इससे यह आशा की जाती थी कि सम्पूर्ण साख का नियोजन करने तथा बजट बनाने मे यह सरकार तथा रिजर्व बैंक की सहायता करेगी।

(४) साख प्राथमिकताओ के सम्बन्ध मे बैंक के प्रबन्धको को आवश्यक तथा उचित निदेश देने के अतिरिक्त, यह भी आवश्यक है कि व्यापारिक बैंको द्वारा निर्णय लेने की प्रणाली मे आवश्यक परिवर्तन किया जाय जिससे कि रिजर्व बैंक के द्वारा निश्चित मौद्रिक तथा साख सम्बन्धी नीतियो को कार्यान्वित किया जा सके।

(५) यह अति आवश्यक है कि किसी विशेष नियोक्ता या नियोक्ताओ के वर्ग को ही प्राथमिकता न दी जाय तथा सचालक परिषद के सगठन मे अश-धारिता के प्रभाव को तथा वास्तविक साख सम्बन्धी निर्णयो पर उनके प्रभाव को समाप्त कर दिया जाय। सामाजिक नियत्रण योजना का यह एक प्रमुख तत्व है।

(६) रिजर्व बैंक को यह अधिकार होगा कि वह व्यावहारिक रूप से यह देखे कि बैंक प्रबन्धकगण आर्थिक विकास की प्राथमिकताओ के अनुरूप ही कार्य कर रहे है। इस दिशा मे निम्नलिखित कार्यवाहियो का किया जाना आवश्यक है —

(अ) प्रत्येक बैंक मे पूर्ण-कालिक अध्यक्ष के रूप मे एक व्यावसायिक बैंकर होगा, न कि कोई उद्योगपति होगा,

(ब) बैंको के सचालक मन्डल का पुनर्सगठन किया जायगा तथा इसमे अधिकाश सचालक उद्योगपति नही होगे तथा अन्य क्षेत्रो से व्यक्ति, जैसे, कृषि, लघु उद्योग, सहकारी सस्था तथा अन्य अनुभवी व्यक्ति, सचालक बनाये जॉय जो कि बैंको के लिये उपयोगी सिद्ध हो;

(स) सचालको को तथा उन सस्थाओ को, जिनमे वे अपना हित रखते हो, सभी को अग्रिम तथा गारन्टी देना बन्द कर दिया जाय,

(द) प्रत्येक विदेशी बैंक से यह आशा की जायगी कि वह एक सलाहकार परिषद बनाये जिसमे भारतीय हो और उनके सचालक मन्डल का भी यथासभव वही स्वरूप हो जो भारतीय बैंको के लिये निश्चित किया गया है।

(इ) नीतियो के बार-बार उल्लधन करने पर सरकार बैंक को ले सकती है।

(७) साख के उचित नियोजन तथा उसके बजट तैयार होने पर, राष्ट्रीय साख परिषद की स्थापना होने पर, तथा निर्णय लेने के सम्बन्ध मे अधिक प्रभावकारी नियत्रण होने पर यह आशा की जाती है कि सामाजिक नियत्रण का उद्देश्य पूरा हो सकेगा। फिर भी, बैंको की उधार देने की नीति मे परिवर्तन धीरे-धीरे ही होगा। शीघ्रता के साथ परिवर्तन लाने से, आर्थिक ढॉचे पर प्रभाव पड सकता

है। किसी को यह आशा नही करनी चाहिए कि यह रातो-रात अद्भुत प्रभाव उत्पन्न कर सकेगा।

(८) बचत का अपर्याप्त स्तर सोचनीय है। ग्रामीण तथा अर्द्ध-शहरी क्षेत्रो से बचत को सचारित करने के लिये सभी प्रयत्न किये जाने चाहिए। दीर्घ-कालीन उद्देश्य क्षेत्रीय बैंको की दिशा मे बैकिग प्रणाली का विकास करना है। साथ ही, निक्षेप को प्राप्त करना एव लघु उद्यमियो तथा कृषको की आवश्यकताओ की पूर्ति उन्ही के अपने-अपने क्षेत्र मे करना है।

(९) बैंकिग प्रणाली की कार्य-सचालन सम्बन्धी क्षमता मे उन्नति लाना है। उनकी कार्य-प्रणालियो को तथा कार्य-विधियो को आधुनिकतम बनाना है।

बैंको के लिये अनुभवी तथा तकनीकी ज्ञान प्राप्त कुशल व्यक्तियो को उपलब्ध करने के लिए तथा बैंकिंग व्यवसाय मे स्वतत्रता की भावना लाने के लिए एक उच्चस्तरीय प्रशिक्षण सस्था बनाने का भी सुझाव है।

सामाजिक नियत्रण योजना तथा बैंकिंग विधि सशोधन अधिनियम (१९६८) के अन्तर्गत, जो कि फरवरी १, १९६९ से लागू हुआ, एक राष्ट्रीय साख परिषद की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य अखिल भारतीय स्तर पर राष्ट्रीय साख सम्बन्धी प्राथमिकताओं का अनुमान लगाना है।

राष्ट्रीय साख परिषद ने अपनी प्रथम बैठक मे एक सात-सदस्यो वाली स्थायी समिति की नियुक्ति की जिसे विशिष्ट बातो का अध्ययन करके साख सम्बन्धी प्रस्तावो को तैयार करना था जिन पर अगली बैठको मे विचार किया जा सके। उद्घाटन भाषण देते हुए, इसके अध्यक्ष ने यह उल्लेख किया कि बैंको के सामाजिक नियत्रण के सम्बन्ध मे किये गए वार्तालापो मे साख के वितरण पर अनुचित जोर दिया गया है जब कि जोर साधनों के सचरण पर दिया जाना चाहिए। अत साख परिषद को केवल बैंक के पास उपलब्ध कोषो के पुनर्वितरण पर ही ध्यान नही देना है अपितु बैंकिंग प्रणाली के लिये जनता की अधिकाधिक बचत को भी प्राप्त करना है।

सामाजिक नियत्रण की सम्पूर्ण योजना इस विचार से ओत-प्रोत रही है कि बैंकिंग प्रणाली ने अर्थव्यवस्था को वे लाभ नही पहुचाये है जिनकी इससे आशा की जाती थी, यथा, यह अभाव बैंको के स्वामित्व के कारण नही अपितु बैंको के प्रबन्ध के कारण रहा है। इसीलिये सामाजिक नियत्रण योजना को प्रबन्ध मे सुधार के लिये प्रयोग के रूप मे माना गया।

बैंकिग विधि सशोधित अधिनियम, १९६८ केवल ६ माह ही प्रभावपूर्ण ढग से कार्यान्वित किया गया था, और जुलाई १९, १९६९ को राष्ट्रपति के एक अध्यादेश के द्वारा भारत के प्रमुख १४ बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

१४ बैंको का राष्ट्रीयकरण

१४ प्रमुख भारतीय बैंको के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे कुछ प्रश्न उठाये गये है क्या राष्ट्रीयकरण करना अपरिहार्य था? तथा सामाजिक नियत्रण योजना का प्रयोग कुछ और समय तक नही किया जा सकता था? क्या यह एक राजनीतिक निर्णय था या कि आर्थिक निर्णय था ? सामाजिक नियत्रण का विचार तो, निस्सन्देह, उत्तम था परन्तु इस योजना की कुछ अन्तर्निहित कमियाँ थी। प्राशुल्किक तथा मौद्रिक नीतियो मे सामजस्य स्थापित करने के लिये सामाजिक नियत्रण प्रभावकारी नही हो सकता था। बैंको का स्वामित्व अशधारियो के पास रहने मे तथा बैंकिग नीति के निर्माण का कार्य सरकार के हाथ मे रहने पर, उद्देश्यो की पूर्ति होना सभव न था। वास्तव मे, सामाजिक नियत्रण योजना को कार्यान्वित करने मे कुछ ऐसी कमियाँ सामने आईं कि केन्द्रीय गृह मत्री ने यह अवलोकन किया कि "जब कि बिना राष्ट्रीयकरण के सामाजिक नियत्रण एक जालसाजी थी, बिना सामाजिक नियत्रण के राष्ट्रीयकरण अर्थहीन था।" इस प्रकार राष्ट्रीयकरण को देश की सम्पूर्ण आर्थिक नीतियो के सदर्भ मे देखना होगा। यह भी सत्य है कि राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ कुछ ऐसी अनेक समस्याये भी उपस्थित हो गई है जिनका सावधानी के साथ परीक्षण करना आवश्यक है।

१४ व्यापारिक बैंको के राष्ट्रीयकरण होने से जनता को अनेक आशायें बँध गई है कि जहाँ तक बैंको की भूमिका देश के आर्थिक विकास के सम्बन्ध मे है, वह सन्तोषजनक होगी। यह सरकार के लिये तथा बैंक से सम्बन्धित व्यक्तियों के लिये एक चुनौती तथा एक उपयुक्त अवसर भी है। राष्ट्रीयकरण के द्वारा राष्ट्रीय प्राथमिकताओ तथा उद्देश्यो की पूर्ति करना है, जैसे, कुछ लोगो द्वारा नियंत्रण को समाप्त करना, लघुस्तरीय उद्योग, कृषि तथा निर्यात के लिये पर्याप्त साख की व्यवस्था करना, बैंक प्रबन्ध मे व्यावसायिकता लाना, नवीन प्रकार के उद्यमियों को प्रोत्साहित करना, बैंक के कर्मचारियो को पर्याप्त प्रशिक्षण तथा उचित शर्तों पर नौकरी की व्यवस्था करना। इससे शाखाओं के तेजी से बढने मे भी सहायता पहुचेगी जिससे कि देश भर मे बैंकिग की आदत का विकास हो सके। निक्षेप के सचरण मे भी विशेष सहायता मिलेगी जिससे कि देश के विभिन्न क्षेत्रो से बढती हुई साख की माँग की भी पूर्ति हो सके। बैंकिग के विकास के सम्बन्ध मे जो

क्षेत्रीय असन्तुलन हो गया है, उसे दूर किया जा सकेगा तथा ग्राहको को समुचित सुविधाये प्राप्त हो सकेगी ।

इन उद्देश्यो को कार्यान्वित करने मे बैको को अनेक समस्याओ का सामना करना पडेगा । सबसे कठिन कार्य जो उनके सामने है वह कृषि, लघुस्तरीय उद्योग, मध्यम तथा वृहत स्तरीय उद्योग तथा स्वत नियुक्त उद्यमी आदि की साख सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति करना है, विशेषरूप से इस सदर्भ मे जब कि चतुर्थ योजना मे २४,००० करोड रुपये से अधिक का विनियोग किया जाना है। व्यापारिक बैको के सामने निक्षेप की अधिक से अधिक प्राप्त करने की समस्या है, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रो से । इस सम्बन्ध मे प्रथम आवश्यकता तेजी के साथ शाखाओ का विस्तार करने के कार्यक्रम को अपनाना है। १४ प्रमुख बैको के, जिनका राष्ट्रीयकरण हो चुका है, अभिरक्षको (custodians) ने पिछडे हुए राज्यो मे उन क्षेत्रो मे बैक की शाखाओ को खोलने की एक योजना बनाई है जहाँ पर बैकिग सुविधा उपलब्ध नही है । प्रमुख विचार यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र के बैको के अन्तर्गत कुछ निश्चित जिले रखे जायेगे जहाँ पर उन्हे प्रमुख भूमिका निभानी है । वे जिलो का सर्वेक्षण करेगे और यह पता लगायेगे कि कहाँ पर कृषि, लघु उद्योग तथा अन्य प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो मे साख की तात्कालिक व्यवस्था करनी है। परन्तु केवल शाखाओ के खोल देने से ही बैकिग की आदत नही पड जायेगी और न ही समस्याये सुलझ जायेगी । आवश्यकता इस बात की है कि इसके लिये जनता मे अधिक से अधिक प्रचार करना होगा और सभी आधुनिक प्रसारण के साधनो को अपनाना होगा जिससे लोग इसकी महत्ता समझ कर इस सुविधा का अधिक से अधिक उपयोग करे । भारतवर्ष मे इस बात की अत्यधिक आवश्यकता है कि बैक अपने ग्राहको को सन्तोषप्रद सुविधाये एव सेवाये प्रदान करे। भारतीय बैको को बहुउद्देशीय सेवा उद्योग के रूप मे कार्य करना होगा । समय लेने वाली विधियो तथा औपचारिकताओ को सरल से सरल बनाने की भी अत्यधिक आवश्यकता है ।

जहाँ तक साख के विभिन्नीकरण की बात है, इस बात की अत्यधिक आवश्यकता है कि सुरक्षा के दृष्टिकोण से दी जाने वाली साख के स्थान पर उद्देश्य के दृष्टिकोण से दी जाने वाली साख को महत्ता प्रदान की जाय । भारतीय बैकिग प्रणाली अभी भी बैक प्रशासन की पुरानी पद्धतियों को इस कारण से अपनाती जा रही है कि साख सम्बन्धी अनुसधान की प्रथा अभी भी यहाँ उन्नत नही है । किसी भी नियोक्ता के विषय मे शीघ्र ही अद्यतन सूचनाये देने वाली कोई भी एजेसी हमारे यहाँ नही है । यह समय अति उपयुक्त है जब कि कुछ बैक मि त

कर एक ऐसी विशिष्ट साख एजेसी स्थापित करे । बैंको के सम्मुख दूसरी महत्व-पूर्ण समस्या उनकी लाभार्जन करने की क्षमता से है जो कि गत वर्षो मे घटती हुई पाई गई है । इसका उपाय यह नही है कि ग्राहको को दी जाने वाली सुविधाओ के लिये शुल्को को बढा दिया जाय, अपितु सेवा प्रदान करने की लागत को कम कर दिया जाय। इसके लिये विवेकीकरण, वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा यत्रीकरण को जहाँ-जहाँ सभव हो अपनाया जाना चाहिए ।

परिशिष्ट

साख सम्वन्धी आवश्यकता पर अध्ययन दल के जॉच परिणाम

अक्टूबर १६६८ मे, राष्ट्रीय साख परिषद ने एक अध्ययन दल इस विषय का परीक्षण करने के लिये बनाया कि "किस सीमा तक व्यापार एव उद्योग की साख सम्बन्धी आवश्यकताओ का प्रसार किया जा सकता है और इस प्रवृत्ति को कैसे रोका जा सकता है ।" इस दल ने अपनी रिपोर्ट सितम्बर १६६९ मे दी। इस दल की जाँच मुख्य रूप से अल्प-कालीन बैंक साख के प्रसार से सम्वन्धित थी । उद्योग की साख सम्बन्धी आवश्यकताओ को प्रसारित समझा जा सकता है यदि (१) निश्चित अवधि मे, अल्प-कालीन साख मे वृद्धि औद्योगिक उत्पादन के मूल्य मे विकास की अपेक्षाकृत कही अधिक हो, (२) अल्प-कालीन साख मे वृद्धि उद्योग या व्यापार के पास स्टाक मे वृद्धि की अपेक्षाकृत कही अधिक हो, (३) उद्योग मे सस्थाओ के अल्प-कालीन बैंक ऋण का स्थायी सम्पत्तियो अथवा अन्य गैर-अचल सम्पत्तियो जैसे ऋण एव विनियोग, के निर्माण के लिये विभिन्नीकरण हुआ हो, (४) उसी स्टाक के लिये दो बार अथवा कई बार वित्त प्रदान किया गया हो, (५) साख की अवधि अत्यधिक लम्बी हो ।

इस अध्ययन दल के प्रमुख जॉच-परिणाम निम्नलिखित है —

(१) मार्च ३१, १९६७ को औद्योगिक क्षेत्र को दी गई साख सम्पूर्ण अनुसूचित बैंक साख का २/३ था। हाल के वर्षो मे उद्योगो को दी जाने वाली साख मे वृद्धि होती रही है, १९६१ से औसत वृद्धि अनुपात लगभग ७७ प्रतिशत रहा है। औद्योगिक उत्पादन तथा क्षमता मे तेजी से वृद्धि होने की परिस्थिति मे, जैसा कि १९६० के बाद लगभग पॉच वर्ष तक रहा, उद्योग को अधिकाधिक कार्यशील पूंजी की तथा स्थायी सम्पत्ति के लिये कोष की आवश्यकता पडी। निम्न तालिका १९६४-

६५ से १९६६-६७ के मध्य बैंक साख तथा औद्योगिक उत्पादन के कुल मूल्य मे सह-सम्बन्ध दिखाती है ।

चालू मूल्य पर औद्योगिक उत्पादन के मूल्य मे १९६०-६१ की अपेक्षाकृत प्रतिशत वद्धि			१९६०-६१ की अपेक्षाकृत उद्योग द्वारा बैंक ऋण मे प्रतिशत वृद्धि		
१९६४-६५	१९६५-६६	१९६६-६७	१९६४-६५	१९६५-६६	१९६६-६७
५० ३	६० ७	१० ९ ६	८१ ०	१२१ ५	१६३ ३

तालिका मे यह देखा जा सकता है कि बैंक साख मे वृद्धि चालू मूल्य पर औद्यौगिक उत्पादन के मूल्य की अपेक्षाकृत उच्चतर दर से हुई। इसका पुष्टीकरण अल्प-कालीन बैंक साख से सम्बन्धित स्टाक के आँकडो से भी होता है। १९६१-६२ तथा १९६६-६७ के मध्य उद्योग के पास स्टाक के मूल्य मे ८० प्रतिशत से वृद्धि हुई जब कि अल्प-कालीन बैंक साख मे १३० प्रतिशत से वृद्धि हुई । अल्प-कालीन ऋण का स्टाक से अनुपात १९६१-६२ मे ४० प्रतिशत से बढकर १९६६-६७ मे ५२ प्रतिशत हो गया ।

(२) व्यक्तिगत उद्योग के सम्बन्ध मे उपलब्ध आँकडो के आधार पर भी विश्लेषण किया गया । यह पाया गया कि सूती वस्त्र, कागज तथा इजीनियरिग उद्योगो ने बैंक से अपने-अपने उत्पादन मे वृद्धि से अधिक ऋण लिया । यह दल इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि विशिष्ट प्रतिबन्धो की अनुपस्थिति मे, उद्योगो की यह प्रवृत्ति रही है कि वे उत्पादन तथा स्टाक मे वृद्धि की अपेक्षाकृत अधिक अल्प-कालीन बैंक साख प्राप्त करते रहे है ।

(३) बैंकों का साख-सीमा निर्धारण के सम्बन्ध मे जो प्रचलित व्यवहार है, दल ने अवलोकन किया, वह इतना भिन्न-भिन्न है कि यह बात कारण सहित सोची जा सकती है कि ऋण लेन वालो की साख की अधिक माँग को वे नही रोक सकते । अधिकाशतया अनुसूचित बैंक साख की मात्रा को दी जान वाली प्रतिभूति से सीमित करते हैं और वे ऋण लेने वालो की आर्थिक स्थिति के विषय मे सामान्यतया कोई मूल्याकन नही करते है ।

(४) बैंक सामान्यतया स्टाक के मूल्याकन के लिये भिन्न-भिन्न ढगो को प्रयोग मे लाते हैं। बैंको द्वारा अतिरिक्त राशि (margin) का निर्धारण भी अलग-अलग

प्रकार से किया जाता है। दल के विचार मे, इस सम्बन्ध मे विभिन्न व्यवहार के कारण साख मे अधिकता नही होती।

(५) २२५ कम्पनियो के अध्ययन करने से यह ज्ञात हुआ कि १९६१-६२ तथा १९६६-६७ के बीच अल्प-कालीन दायित्वो मे वृद्धि का प्रयोग दीर्घकालीन सम्पत्तियो तथा दीर्घकालीन दायित्वो मे अन्तर को पूरा करने के लिये किया गया। इन कम्पनियो के सकल स्थायी सम्पत्ति निर्माण के १/५ भाग के लिये वित्त अल्प-कालीन दायित्वो का विस्तार करके, जिसमे बैंक ऋण भी सम्मिलित है, प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त गैर-चल सम्पत्तियो, जिनके अन्तर्गत अधिकाशतया ऋण था, को अल्प-कालीन दायित्व (बैंक ऋण सहित) मे विस्तार कर के प्राप्त किया गया। यह प्रवृत्ति १९६२ से पूँजी बाजार के मन्दा होने के कारण रही।

(६) इस दल ने यह विचार किया कि भारतीय बैंको की जो ऋण देने की प्रथा प्रचलित है उसने उद्योग की कुछ इकाइयो को गैर-चल सम्पत्तियो के लिये अल्प-कालीन ऋण का प्रयोग करने मे सहायता पहुँचाई है। इस अल्प-कालीन ऋण का प्रयोग निश्चित रूप से अल्प-कालीन उद्देश्यो के लिये नही किया जाता है यद्यपि उसके लिये चल सम्पत्तियो को प्रतिभूति के रूप मे दिया जाता है। इसका परिणाम यह है कि नकद-साख अग्रिम अल्प-कालीन अथवा आत्म-समापित नही रह गया है। ऐसा पाया गया है कि अधिकाधिक सख्या मे खातो मे जमा शेष नही रहता अथवा नाम शेष को निश्चित समय मे समाप्त भी नही किया जाता क्योकि आहरण प्राप्ति से अधिक होता है। उद्योग द्वारा बैंक-साख पर अधिक निर्भर रहना इसलिये संभव है कि हाल के वर्षो मे नकद-साख प्रणाली (जो कि कुल बैंक साख का ७० प्रतिशत तक है) को इसी ढग से चलाया जा रहा है।

(७) इस दल ने यह सुझाव दिया है कि बैंक साख का उपयोग दीर्घ-कालीन सम्पत्ति के लिये प्रयोग होने से रोका जाय। यह सुझाव दिया गया है कि साख के लिये प्रार्थना-पत्र का मूल्याकन ऋण प्राप्तकर्त्ता द्वारा प्रस्तुत नकद-प्रवाह विश्लेषण तथा पूर्वानुमान के माध्यम से किया जाना चाहिए।

(८) अधिक बैंक साख का क्षेत्र इसलिये भी व्यापक है कि स्टाक के लिये वित्त दोबारा अथवा कई बार दिया जाता है। ऐसा कुछ प्रकार की साख सुविधा के लिये प्राय किया जाता है जैसे प्राप्ति के विरुद्ध अग्रिम। बैंक द्वारा ऋण देने की वर्तमान प्रथा ही ऐसी है कि कुछ प्रकार की साख सुविधा स्टाक सम्बन्धी वित्त के लिये दोबारा अथवा कई बार दी जा सकनी है।

(६) अतिरिक्त बैंक साख के विस्तार को रोकने के लिये इस दल ने यह सुझाव दिया है कि न प्रयोग की गई सीमा पर बचनवद्धता परिव्यय की उगाही लगाने पर विचार किया जाना चाहिए। इस उगाही को न प्रयोग की गई सीमा के आकार के बढने के साथ-साथ बढा देना चाहिए।

(१०) इस दल ने यह सिफारिश की है कि व्यापारिक बैंक, उद्योग एव व्यापार को, जहाँ तक यह व्यवहार मे सभव हो, मियादी बिल (usance bills) का प्रयोग करने के लिये बढावा देना चाहिए क्योंकि इससे क्रेताओ पर वित्तीय अनुशासन रहेगा और साथ ही उत्पादको तथा विक्रेताओ को अपने वित्तीय उत्तरदायित्वो को पूरा करने के लिये वास्तविक ढग से योजना बनाने मे आसानी होगी। इससे भारतवर्ष मे वास्तविक बिल बाजार के विकास मे भी सहायता मिलेगी। सरकार को इन बिलो पर स्टाम्प शुल्क को कम करने के लिये विचार करना चाहिए। वैसे इस कमी मे हानि नही होगी क्योकि उस दशा मे अधिक से अधिक ऐसे बिलो का प्रयोग होगा।

(११) इस अध्ययन दल का विचार है कि कुछ वित्तीय अनुशासन सम्बन्धी उपायो को अपनाने से कम्पनी तथा अन्य ऋण प्राप्तकर्ताओ को आसानी होगी जिससे वे अपनी वित्तीय योजना बना सकेंगे, विवेकपूर्ण ढग से अपने उत्पादन को नियमित कर सकेंगे तथा बैंक साख की माँग भी कम कर सकेंगे। जहाँ तक बैंको का सम्बन्ध है, फसा हुआ रुपया यदि समय-समय पर उन्हे प्राप्त होता रहेगा तो वे उसका उपयोग अन्य प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो को साख प्रदान करने मे कर सकेंगे। इस प्रकार व्यापारिक बैंक जनता की सेवा करने मे और अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकेंगे।

अध्याय १६

औद्योगिक वित्त तथा विकास निगम*

व्यक्तिगत पूँजीवाद द्वितीय महायुद्ध के पश्चात समाप्त सा हो गया। समतावादी विचारो के तेजी से फैलने के साथ-साथ, बचत थोडे से लोगो के पास ही सीमित नही रह गयी है। साथ ही, व्यक्तिगत उद्यमियो द्वारा पूँजी न प्राप्त होने के कारण, उन विशिष्ट सस्थाओ की आवश्यकता बढती जा रही है जो कि बहुत बडी मात्रा मे विनियोग वाले नवीन उद्योगो के प्रवर्त्तन मे, तथा स्थापित उद्योगो को विस्तार एव आधुनिकीकरण के लिए दीर्घकालीन वित्त प्रदान कर सके। वैत्तिक सस्थाओ ने उन उत्तरदायित्वो को प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण कर लिया है जो कि पहले व्यक्तिगत उद्यमियो तथा पूजीपतियो के कन्धो पर था। "वित्त निगमो" की स्थापना सार्वजनिक, निजी, मिश्रित, सहकारी तथा अन्य प्रकार के व्यापारिक सगठनो की मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन वित्त की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सरकारी एव/अथवा निजी कोष प्रदान करने के लिये की गई है। "विकास निगमो" का भी सगठन ऋण तथा पूंजी वित्त दोनो प्रदान करने के लिये किया गया है। वे व्यक्तिगत उपक्रमो के सृजन, निदेशन तथा सचालन मे पहल करते है। उनकी प्रमुख विशेषता यह है कि वे औद्योगिक उपक्रमो को आवश्यक साधारण पूँजी पूर्णत. अथवा अशत प्रदान करते है न कि ऋण सम्बन्धी कोष, और प्राय प्रबन्ध एव नियत्रण का उत्तरदायित्व ग्रहण कर लेते है।

इन सस्थाओ की प्रकृति तथा उनका क्षेत्र विभिन्न देशो के आर्थिक विकास के स्तर के अनुरूप भिन्न-भिन्न पाई जाती है। उन्नत देशो मे, जैसे इगलैड तथा स० रा० अमेरिका, विशिष्ट वैत्तिक सस्थाओ का सगठन मुख्यरूप से लघु उपक्रमो की वित्तीय सहायता के लिये किया गया है। बृहत व्यापारिक इकाइयो को सामान्यतया अपनी विभिन्न आवश्यकताओ के लिए आन्तरिक तथा बाह्य पूँजी पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त हो जाती है। वहाँ समस्या लघु उपक्रमो के समक्ष मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन पूँजी प्राप्त करने मे है। दूसरी ओर अविकसित तथा अल्प-विकसित

*विकास एव वैत्तिक निगमो को इस विषय पर दो अभिनव प्रकाशनो मे 'विकास बैंक' भी कहा गया है।

देशो मे, व्यापारिक इकाइयो को केवल वित्त प्रदान करने की समस्या ही नही है, अपितु आवश्यक तकनीकी जानकारी सहित सफलता के साथ उपक्रमों का प्रवर्तन करना भी है।

विशिष्ट वित्त अथवा विकास निगमो की स्थापना के लिये जो विभिन्न उत्तर-दायी घटक है उनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है

(१) सकोचपूर्ण पूँजी. अधिकाश अविकसित देश औद्योगिक उपक्रमो के विकास के लिए आवश्यक पूँजी का सचारण करने मे असफल पाये जाते है। नवीन उपक्रमो के लिये पूँजी प्राप्त नही होती है। ऐसे देशो मे आर्थिक उन्नति लाने के लिये विकास निगमो की स्थापना अवाछनीय है। वे प्रारभिक सर्वेक्षण तथा अनु-सधान मे तथा प्रवर्तन सम्बन्धी जोखिम का उत्तरदायित्व लेने मे सहायता प्रदान करते हैं। इस प्रकार निजी उपक्रम इन विकास निगमो द्वारा स्थापित सस्थाओ को क्रय करने मे अपने को समर्थ पा सकते है।

(२) अल्प पूँजी-निर्माण अल्प-विकसित देशो मे, पूँजी-निर्माण की अल्प दर तथा परिणामस्वरूप बचत की मात्रा मे कमी के कारण, वित्त की चिरकालिक कमी पाई जाती है। इन वित्त निगमो की सहायता से बचत तथा विनियोग के अन्तर को दूर किया जा सकता है। वे उपलब्ध वित्तीय साधनो की कमी की पूर्ति करते है। जैसे कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, इन निगमो ने उन व्यक्तिगत विनियोक्ताओ की स्थिति को ग्रहण कर लिया है, जोकि हाल के वर्षो मे पार्श्व मे चले गये है।

(३) पुनर्स्थापना तथा पुन. उद्धार के कार्यक्रम द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् युद्ध से क्षतिग्रस्त अर्थव्यवस्था के पुन उद्धार की समस्या महत्वपूर्ण होती गई। विभिन्न देशो मे निजी उपक्रम इस योग्य न रहे कि वे मशीन तथा उपकरणो के प्रतिस्थापन के लिये आवश्यक वित्त की व्यवस्था कर सके। विभिन्न व्यापारिक इकाइयो के पुनर्स्थापन तथा नवीकरण की योजनाओ के लिये आवश्यक वित्त प्रदान करने के लिये विशिष्ट सस्थाओ की स्थापना करना आवश्यक समझा जाने लगा।

(४) सुसगठित पूँजी बाजार की अनुपस्थिति वित्त तथा पूँजी बाजार केवल व्यापारिक उपक्रमो के प्रवर्तन तथा उनको वित्त प्रदान करने मे ही सहायता नही करते हैं अपितु वे पूँजी बाजार मे भी समुचित जान डालते है। कम्पनी की प्रतिभूतियो के विपणन की सुविधा वे या तो विभिन्न निर्गमन का अभिगोपन करके अथवा उनके लिये सतत माँग का सृजन करके करते है।

(५) नियोजित अर्थव्यवस्था किसी भी देश के नियोजित आर्थिक विकास मे विशिष्ट वित्त तथा विकास निगम महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है।

राष्ट्रीय महत्ता वाली प्रायोजनाओ को, जिन्हें निजी उपक्रम नही सँभाल सकते, इन निगमो को सौप दिया जाता है। दुर्लभ वित्तीय साधनो से योजनाबद्ध कार्यक्रम के अनुसार इस प्रकार अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त की जा सकती है। कुछ ऐसे प्रमुख उद्योगो का सगठन जिनसे कुछ लाभ प्राप्त होने मे समय लगता है सरकार द्वारा इन सस्थाओ को सहायता से किया जा सकता है।

(६) लघु उद्योगो को वित्त प्रदान करना उन्नत तथा अविकसित दोनो ही देशो मे, विशिष्ट निगमो को लघुस्तरीय उद्योगो को वित्त प्रदान करने के लिए स्थापित किया गया है। अधिकाँश देशो मे ऐसा पाया गया है कि लघुस्तरीय उद्योगो की वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आवश्यक वित्तीय सस्थाये नही है। लघु उद्योगो को वित्त प्रदान करने की समस्या विशेष प्रकार की है जिसको सतोषजनक ढग से दूर करने के लिये उन सस्थाओ की आवश्यकता है जिनका सगठन इसी दृष्टिकोण से किया गया है।

इस प्रकार विशिष्ट वैत्तिक सस्थाओ की स्थापना विभिन्न देशो मे या तो उपरोक्त मे से कुछ या सभी कारणो से की गई है। ऐसी विशिष्ट सस्थाओ के लिये आन्दोलन ने प्रथम महायुद्ध के बाद तथा मन्दी के बाद की अवधि मे गति पकडी थी परन्तु द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जो प्रोत्साहन मिले उनके कारण इस आन्दोलन मे अद्वितीय प्रगति हुई।

(१) अधिकाश सस्थाओ की व्यवस्था औद्योगिक विकास के लिये वित्त प्रदान करने की दिशा मे कमी को पूरा करने के विचार से की गई है। उद्योगो को वित्त प्रदान करने वाली वर्तमान एजेसी को समाप्त करने के स्थान पर उनके पूरक के रूप मे ये सस्थाये हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय ही विशेष रूप से इनकी आवश्यकता महसूस हुई और बाद मे और भी बढ गई जब कि उद्योगो के विस्तार तथा पुनर्स्थापना का कार्यक्रम बनाया गया।

(२) अधिकाशतया वित्तीय सस्थाओ का सगठन स्वायत्त आधार पर ही किया गया है। अधिकाश दशाओं मे देश विशेष के केन्द्रीय बैंको द्वारा ही इनकी स्थापना के लिये प्रयास किया गया है। सरकार ने भी इनके सगठन मे आवश्यक सहायता पहुचाई है परन्तु इन सस्थाओ के कार्य-कलाप मे सामान्यतया सरकार हस्तक्षेप नही करती है। कुछ देशो मे सस्थागत विनियोक्ताओ ने भी, जैसे व्यापारिक बैंक तथा बीमा कम्पनी आदि इन विशिष्ट निगमो की स्थापना मे सहयोग दिया है।

(३) ये विशिष्ट वित्त तथा विकास निगम अनेक प्रकार के कार्य करते है जैसे प्रवर्तन, कम्पनी की प्रतिभूतियो का निर्गमन तथा अभिगोपन, बन्धक पर ऋण देना, ऋणपत्र तथा साधारण पूँजी मे अभिदान करना आदि।

(४) वैत्तिक सहायता देने के अतिरिक्त ये नवीन प्रवर्तित उपक्रमो को तकनीकी सलाह भी देते है। आर्थिक दृष्टिकोण से पिछडे देशो मे, विकास निगमो द्वारा इस प्रकार का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन देशो मे केवल पूँजी की ही नही अपितु औद्योगिक विकास के लिये तकनीकी ज्ञान तथा पूँजीगत वस्तुओ की भी आवश्यकता होती है। इन उद्देश्यो से स्थापित वित्तीय निगम की स्थिति ऐसे अल्प-विकसित देशो के आर्थिक विकास के लिये अपरिहार्य है।

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम

भारत मे उद्योगो को दीर्घकालीन वित्त प्रदान करने की आवश्यकता एक ओर तो सुविकसित तथा सुसगठित पूँजी बाजार, निर्गमन-गृह तथा अभिगोपन-फर्म की कमी तथा दूसरी ओर व्यापारिक बैंको द्वारा दीर्घकालीन ऋण प्रदान न करने की नीति अपनाने के कारण हुई। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् निम्नलिखित कारणो से औद्योगिक वित्त की महत्ता बढती गई (अ) युद्धकालीन उद्योगो का शान्तिकालीन आधार पर पुन परिवर्तन, (ब) सयत्र तथा मशीन का पुनर्स्थापन तथा नवीनीकरण करके उद्योगो को फिर से उत्पादन योग्य बनाना; (स) स्थापित औद्योगिक इकाइयो का विवेकीकरण तथा विस्तार, तथा (द) नियोजित अर्थव्यवस्था मे नवीन औद्योगिक उपक्रमो की स्थापना।

उद्देश्य तथा क्षेत्र भारत के औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना १९४८ मे की गई। इसे वृहत उद्योगो को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिये स्थापित किया गया, विशेष रूप से उन परिस्थितियो मे जब कि सामान्यतया बैंको से आवश्यक ऋण मिलना सभव न हो या पूँजी निर्गमन की प्रणाली को अपनाना अव्यावहारिक हो। औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम के अन्तर्गत एक "औद्योगिक सस्था" की परिभाषा के अन्तर्गत सार्वजनिक सीमित कम्पनी अथवा सहकारी समिति, जो किसी अधिनियम के अन्तर्गत समामेलित की गई हो तथा भारत मे रजिस्टर्ड हो, किसी भी वस्तु के विनिर्माण अथवा प्रोसेसिंग मे अथवा जहाजरानी, खदान, होटल उद्योग अथवा विद्युत शक्ति या अन्य प्रकार की शक्ति के प्रजनन मे लगी हो। अधिनियम मे १९६० मे सशोधन किया गया और तब इसके अन्तर्गत उन सस्थाओ को भी सम्मिलित किया गया जो कि वस्तु के परिरक्षण मे लगी हो या लगने वाली हो।

लघुस्तरीय उद्योगो को इसकी सीमा से अलग कर दिया गया है क्योंकि उन्हें वित्त प्रदान करने के लिये राज्य वित्तीय निगमो की स्थापना की

गई है। उन औद्योगिक उपक्रमो को भी इस निगम से ऋण नही मिल सकता जो कि निजी सीमित कम्पनी के आधार पर सगठित है। हमारे देश की औद्योगिक अर्थव्यवस्था मे निजी कम्पनियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है और यह बात विरोधाभास सी लगती है कि उन्हे राज्य वित्तीय निगमो से तो ऋण मिल सकता है परन्तु औद्योगिक वित्त निगम के क्षेत्र के अन्तर्गत वे नही आते है। औद्योगिक वित्त निगम जॉच समिति* की यह सिफारिश, कि निजी कम्पनियो को इस निगम द्वारा ऋण मिलने के सम्बन्ध मे जो साविधिक प्रतिबन्ध है उसे चालू रखना चाहिये, प्रत्यगामी सी लगती है। निगम के क्षेत्र के अन्तर्गत वे उद्योग भी नही आते जिनका राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है और यह पूर्णरूपेण उन निजी औद्योगिक उपक्रमो के लिये है जिनका सगठन सार्वजनिक सीमित कम्पनी तथा सहकारी समिति के आधार पर किया गया हो।

वित्तीय सहायता का स्वरूप औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम की धारा २३ के अन्तर्गत निगम को निम्नलिखित कार्य करने के अधिकार है (१) औद्योगिक सस्थाओ द्वारा लिये गये उन ऋणो की गारन्टी देना जो कि २५ वर्ष से अधिक समय मे पुन देय न हो तथा सार्वजनिक बाजार से लिये गये हो ; (२) औद्योगिक सस्थाओ द्वारा निर्गमित स्टाक, अश, बॉड तथा ऋणपत्र आदि का अभिगोपन करना परन्तु उनको ७ वर्ष मे बेच देना होगा, (३) ऋण तथा अग्रिम प्रदान करना तथा औद्योगिक सस्थाओ द्वारा निर्गमित ऋणपत्रो का क्रय करना जो कि २५ वर्ष से अधिक मे पुन. देय न हो, (४) केन्द्रीय सरकार के एजेण्ट के रूप मे कार्य करना तथा/या उसकी स्वीकृति से IBRD के एजेन्ट के रूप मे, उनके द्वारा औद्योगिक सस्थाओ को स्वीकृत ऋण के लिये, कार्य करना, तथा (५) आयात करने वालो के द्वारा स्थगित भुगतान के सम्बन्ध मे गारन्टी देना यदि वे विदेशी निर्माणकर्ताओ से इस प्रकार की व्यवस्था कर सके हो।

औद्योगिक वित्त निगम (सशोधित) अधिनियम, १९६० के अन्तर्गत निगम को ऋण की गारन्टी देने के सम्बन्ध मे दिये गये अधिकारो को और बढा दिया गया। अब निगम को निम्नलिखित गारन्टी देने के भी अधिकार है (१) औद्योगिक सस्थाओ द्वारा अनुसूचित बैंक तथा राज्य सहकारी बैंको से लिये गये ऋण पर, (२) भारत मे विनिर्मित पूँजीगत वस्तुओ के क्रय करने के सम्बन्ध मे स्थगित भुगतान पर, तथा (३) केन्द्रीय सरकार की पूर्वस्वीकृति लेकर, विदेशी मुद्रा के रूप मे विदेशी बैंक तथा वित्त सस्थाओ से औद्योगिक सस्थाओ द्वारा लिया गया

ऋण अथवा साख की व्यवस्था पर । धारा २३ (1) (f) के अन्तर्गत अब निगम को यह भी अधिकार दे दिया गया है कि वह किसी भी औद्योगिक सस्था के स्टाक या अशो को सीधे क्रय कर सकता है । दूसरा जो प्रमुख सशोधन हुआ है उसके अनुसार निगम उन औद्योगिक सस्थाओ की उन्नति मे भी, जिन्हे इसने ऋण के रूप मे अथवा ऋणपत्रो को क्रय करके आर्थिक सहायता दी हो, भाग ले सकता है। दूसरे शब्दो मे, यदि निगम चाहे तो वह दिये गये ऋण को अथवा क्रय किये गये ऋणपत्रो को औद्योगिक सस्थाओ के स्टॉक अथवा अशो मे बदल सकता है परन्तु ऐसा उस अवधि तक ही हो सकता है जब तक कि ऋण अथवा ऋणपत्र देय हो।

कार्य-संचालन की विधि ऋण देना स्वीकृत करने के पूर्व निगम ऋण लेने वाले औद्योगिक उपक्रम के विषय मे विस्तृत सूचनाये प्राप्त करता है, जैसे निर्मित वस्तुओ की प्रकृति, फैक्ट्री का स्थानीयकरण, भूमि सम्बन्धी स्वत्वाधिकार, भवन, शक्ति की उपलब्धता, टैक्निकल स्टॉफ, बाजार की सभावनायें, उत्पादन की अनुमानित लागत, मशीन की किस्म, प्रस्तुत प्रतिभूतियो का मूल्य, वह उद्देश्य जिसके लिये ऋण लिया जा रहा हो, लाभ अर्जित करने तथा ऋण के भुगतान करने की क्षमता आदि।

उपरोक्त सूचनाये प्राप्त करने के उपरान्त निगम के अधिकारी फैक्ट्री का निरीक्षण करते है । निरीक्षको को सस्था की बहियाँ तथा खाते, सम्पत्ति का मूल्याकन, प्रबन्धको की क्षमता, कच्चे माल की उपलब्धता तथा उत्पादित वस्तुओ के बाजार आदि के विषय मे अपनी रिपोर्ट देनी होती है । औद्योगिक सस्थाये स्वय अपने विशेषज्ञो को निगम के परामर्शदाताओ से बात चीत करने के लिये भेज सकती हैं।

निगम सस्थाओ से सामयिक रिपोर्ट लेता है तथा समय-समय पर उसका निरीक्षण भी ऋण के समुचित प्रयोग, योजना के अनुसार कार्य प्रगति, लागत मे कमी, उत्पादन की किस्म मे उन्नति के सम्बन्ध मे करता है । निगम भारत सरकार के विभिन्न मत्रालयो (विशेष रूप से, वाणिज्य तथा उद्योग, खाद्य एव कृषि आदि) तथा C S I R के सहयोग से कार्य करता है और समय-समय पर उनसे परामर्श अथवा सहायता भी लेता है। निगम मे छ परामर्शदाता समितियाँ है जो निम्नलिखित प्रकार के उद्योगो से प्राप्त प्रार्थनापत्रो पर विचार करती है वस्त्र, चीनी, इजीनियरिंग रसायन तथा विभिन्न उद्योग एव जूट ।

ऋण देते समय, निगम निम्नलिखित बातो पर भी ध्यान देता है: (१) उद्योग की राष्ट्रीय महत्ता; (२) निर्मित वस्तु की देश मे आवश्यकता; (३)

टैक्निकल व्यक्तियो तथा कच्चे माल की पूर्ति; (४) प्रबन्धको की कार्यकुशलता; (५) प्रस्तुत प्रतिभूतियो की प्रकृति, (६) उत्पादित वस्तु की किस्म, (७) योजना की लागत तथा उसकी व्यावहारिकता।

कार्य प्रगति औद्योगिक वित्त निगम के ३० जून, १९६९ को २१ वर्ष पूरे हुए। इस अवधि मे, दीर्घकालीन औद्योगिक वित्त प्रदान करने की दिशा मे अग्रगणी होने के रूप मे, इसने महत्वपूर्ण भाग लिया है, जिसका अवलोकन निम्नलिखित तथ्यो से किया जा सकता है :

(१) इस २१ वर्ष की अवधि मे इसने ३२१·५ करोड रुपये की शुद्ध वित्तीय सहायता ४८४ प्रायोजनाओ को प्रदान की। इसका ६५ प्रतिशत नवीन इकाइयो की स्थापना के लिये किया गया और शेष ३५ प्रतिशत स्थापित इकाइयो के विस्तार, आधुनिकीकरण तथा विभिन्नीकरण के लिये किया गया। इस निगम द्वारा स्वीकृत सहायता का १,३५६ करोड रुपये की प्रायोजनाओ को पूरा करने के लिये साधन जुटाने मे अत्यधिक योगदान रहा है।

(२) इसी अवधि मे वितरित सहायता २८२ ६ करोड रुपये रही। कुल स्वीकृत वित्तीय सहायता प्रथम योजना मे २७ ० करोड रुपये से बढ कर द्वितीय योजना मे ७० ६ करोड रुपये तथा तृतीय योजना मे १६४ ६ करोड रुपये हो गई। कोष का वितरण प्रथम योजना काल मे १० ९ करोड रुपये, द्वितीय योजना काल मे ५७ ० करोड रुपये तथा तृतीय योजना काल मे १२७ ८ करोड रुपये किया गया। इस प्रकार वार्षिक औसन स्वीकृति प्रत्येक योजना काल मे दूने से भी अधिक रही जो कि ५ करोड रुपये से बढ कर १४ करोड रुपये हो गई और फिर ३३ करोड रुपये हो गई। वार्षिक औसत वितरण प्रथम योजना मे २ करोड रुपये से बढकर द्वितीय योजना मे ११ करोड रुपये तथा तृतीय योजना मे २५ करोड रुपये रहा।

१९६८-६९ मे वितरित कुल सहायता १७ करोड रुपये रही जब कि १९६७-६८ मे २७ करोड रुपये और १९६६-६७ मे ३८ करोड रुपये थी। इस प्रकार इन तीन वर्षों मे घटने की प्रवृत्ति दिखाई दी। यह कम वितरण मुख्य रुप से चीनी तथा वस्त्र सहकारिताओ तथा जूट के कारखानो को किया गया।

(३) उद्योग के दृष्टिकोण से यदि देखा जाय, तो शुद्ध वित्तीय सहायता का तीन-चौथाई चीनी, रसायन, अलौह धातु, खाद तथा कृषि सम्बन्धी उद्योगो को दिया गया। वैसे अभी तक तो अधिकाश सहायता चीनी तथा वस्त्र उद्योगो को प्राप्त होती रही परन्तु अब कृषि सम्बन्धी उद्योगो को भी, जैसे कृमिनाशक, कृषि यत्र, रसायनिक तथा इजीनियरिग पदार्थ अधिकाधिक सहायता प्राप्त हो रही है।

(४) यदि राज्य के दृष्टिकोण से देखा जाय तो निगम द्वारा स्वीकृत वित्तीय सहायता (शुद्ध) का लगभग ४५ प्रतिशत महाराष्ट्र, मद्रास तथा पश्चिमी बगाल राज्यो के उद्योगो को ही प्राप्त हुआ है।

(५) सहकारी समितियो को दी गई वित्तीय सहायता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। चीनी उद्योग की दशा मे, विशेष रूप से, सहकारी समितियो को ऋण स्वीकृत किया गया। ३० जून, १९६९ तक औद्योगिक सहकारिताओ को स्वीकृत शुद्ध सहायता ६४ करोड रुपये रही जो निगम द्वारा कुल स्वीकृत सहायता का २० प्रतिशत हैं।

(६) १९५७-५८ से निगम अभिगोपन का कार्य भी कर रहा है। ३० जून, १९६९ तक निगम ने अभिगोपन के लिये १५१ प्रार्थनापत्रो को स्वीकृत किया जो २२ ८ करोड रुपये का था। निगम को अभिगोपित अशो तथा ऋणपत्रो का ८० प्रतिशत स्वय क्रय करनपा डा।

(७) १९५७-५८ मे निगम ने एक दूसरा नवीन कार्य आरभ किया, यथा, आयात की गई पूँजीगत वस्तुओ के लिये विदेशी ऋण तथा अस्थगित भुगतानो की गारटी देना। जून ३०, १९६९ तक इसके लिये निगम ने ५५ करोड रुपये तक के प्रार्थना पत्रो को स्वीकृत किया।

(८) निगम को सबसे अधिक असतोष विदेशी मुद्रा मे दिये गये उप-ऋणो के प्रयोग की धीमी दर से है ।

(९) गत तीन वर्षों मे स्वीकृत वित्तीय सहायता के सम्बन्ध मे दूसरी महत्व-पूर्ण बात यह रही कि अधिक सख्या मे उद्योगो को पहली बार स्वीकृति दी गई है। ऐसे उद्योगो की सख्या, जिन्हे पहली बार स्वीकृति दी गई, १९६८-६९ मे ७४ मे से ४३ थी जब कि १९६७-६८ मे ४८ मे से २६ थी और १९६६-६७ मे ५६ मे से २४ थी ।

समीक्षा तथा आलोचनाये. १९६९ मे औद्योगिक लाइसेसिग नीति जाँच समिति (जिसे दत्त समिति के नाम से जाना जाता है) ने यह विचार प्रकट किये थे कि यह निगम, अन्य वित्तीय निगमो के साथ, कुछ ही हाथो मे आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण के लिये उत्तरदायी रहा है। सदन के दोनो गृहो मे ही नही अपितु सत्तारूढ दल के सदस्यो ने भी इस निगम के कार्य सचालन के विरुद्ध आरोप लगाये। उनमे से प्रमुख आरोप निम्नलिखित थे. (१) निगम ने ऋण स्वीकृत करते समय पक्षपात तथा भाई- भतीजावाद अपनाया। (२) सरकार के पास स्वामित्व न होने तथा उसके द्वारा नियन्त्रित न होने के कारण, निगम एक

"Big Business Racket" के रूप मे कार्य करता रहा है और ऐसी आशा की जाती है कि कुछ बडे व्यापारी देश की औद्योगिक अर्थव्यवस्था पर इस प्रकार पूर्ण नियत्रण रख सकेगे (३) आर्थिक दृष्टिकोण से पिछडे क्षेत्रो के विकास मे निगम असफल रहा है और उन क्षेत्रो अथवा राज्यो को ही प्राथमिकता इसने दी है जिनका इसके ऊपर समुचित प्रभाव रहा है । (४) इसने पूर्ण-स्थापित तथा वृहत उद्योगो को ही अधिक प्राथमिकता दी है और लघु एव मध्यस्तरीय उद्योगो के हितो की उपेक्षा की है। (५) उन औद्योगिक इकाइयो को भी ऋण प्रदान किया गया है जो पचवर्षीय योजना की रूपरेखा के अन्तर्गत नही आते है । उपभोक्ता पदार्थों के उद्योगो को समुचित सहायता इसने दी है और उसकी अपेक्षाकृत उत्पादक पदार्थो के उद्योगो को उतनी सहायता नही उपलब्ध हो पायी है। (६) ऋण लेने वाली कम्पनियो के द्वारा दिये गये ऋण का समुचित उपयोग हो रहा है अथवा नही इसका पर्यवेक्षण करने मे भी निगम असफल रहा है। यह पाया गया है कि उन कम्पनियो ने न ही अपनी उत्पादन-क्षमता को बढाने का और न ही उत्पादन को बढाने का प्रयास किया है। (७) इसने समता पूँजी भी प्रदान नही की है। (८) निगम ने उन उपक्रमो को ऋण प्रदान किया है जो समुचित लाभ कमा रहे थे और जो बाजार मे ऋण प्राप्त कर सकते थे । (९) निगम की कार्यक्षमता मे समुचित कमी होने का भी आरोप था और यह पाया गया कि स्थापना सम्बन्धित तथा अन्य व्यय अत्यधिक रहा है ।

लोक सभा की अनुमान समिति द्वारा भी मई, १९६३ मे निगम की कटु आलोचना की गई थी । इस समिति ने यह अवलोकन किया कि (अ) इसकी स्थापना के समय इसे जो निर्देश दिये गये थे उनका पालन यथावत नही किया गया, (ब) आशा के अनुकूल इसने कार्य नही किये है । निगम सामान्य रूप मे पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत निर्धारित औद्योगिक उन्नति के उद्देश्यो की पूर्ति हेतु उचित नीतियो का निर्माण कर पाने मे असफल रहा है, इसने अपेक्षाकृत वृहत उद्योगो की न कि लघु उद्योगों की सहायता की तथा कुछ क्षेत्रो मे केन्द्रीय-करण को रोकने की अपेक्षा उसे प्रोत्साहित ही किया है ।

सार्वजनिक उपक्रमो पर समिति (१९६८-६९) के जाँच-परिणाम

इस समिति की ४९वी रिपोर्ट मे औद्योगिक वित्त निगम के ३० जून १९६८ तक के कार्य-सचालन का परीक्षण किया गया है । यह रिपोर्ट समिति ने अप्रैल १९६९ मे दी। इस समिति की निम्नलिखित सिफारिशे तथा जाँच-परिणाम है:

(१) निगम द्वारा वित्तीय सहायता स्वीकृत करने की कसौटी मे उद्योगो के विकास के लिये योजना के उद्देश्यो के अनुरूप परिवर्तन होता रहा है । समिति ने सुझाव दिया है कि अपनाई गई कसौटियो के बारे मे पर्याप्त प्रचार किया जाना आवश्यक है जिससे कि ऋण के लिये प्रार्थियो को उनके बारे मे पूरा-पूरा ज्ञान रहे ।

(२) निगम द्वारा प्राप्त नवीन प्रार्थनापत्रो के अतिरिक्त, निगम के पास गत तीन वर्षो से (१९६५-६६ से १९६७-६८) अत्यधिक सख्या मे प्रार्थनापत्र विचाराधीन है। प्रार्थना-पत्रो की कमी नही थी। निगम के सीमित वित्तीय साधनो के सम्बन्ध मे, समिति इस बात से सन्तुष्ट थी कि कुछ दशाओ को छोड कर उसके पास कोष की कमी नही रही है । समिति इस बात से असन्तुष्ट थी कि कोष की कमी न रहते हुए भी निगम ने पर्याप्त मात्रा मे प्रार्थनापत्रो पर विचार नही किया। इस बात की आवश्यकता है कि प्रार्थनापत्रो का मूल्याकन तेजी के साथ किया जाय तथा अप्रचलित सिद्धान्तो को इस सम्बन्ध मे न अपनाया जाय।

(३) प्रार्थनापत्रो के अस्वीकृत करने का प्रभाव इस अवधि मे कम रहा है। अस्वीकृत प्रार्थनापत्रो मे से कुछ पार्थनापत्र अल्प-विकसित राज्यो मे से थे। निगम को अल्प-विकसित क्षेत्रो से आने वाले प्रार्थना-पत्रो को प्रोत्साहित करना चाहिए। समिति ने सिफारिश की कि निगम तथा सरकार को यह प्रयत्न करना चाहिए कि अल्प-विकसित क्षेत्रो मे उद्योग को स्थापित करने के लिये उद्यमियो से प्रार्थनापत्र को आकर्षित करे। इस सम्बन्ध मे निगम को चाहिए कि ऐसे क्षेत्रो मे उद्यमियो को उचित सलाह देने के लिये शैक्षिक तथा सहकारी एजेसी की स्थापना करे।

(४) अधिक अनुपात मे प्रार्थनापत्रो को वापस भी लिया गया है। ऋण प्राप्तकर्ता को अपने निश्चित समय मे कार्य पूरा करने के लिये अन्य स्रोतो से साधन जुटाना पडा। समिति का विचार था कि प्रार्थनापत्रो का परीक्षण करने मे देरी होने से ही कुछ प्रार्थनापत्रो को वापस ले लिया गया । समिति ने सिफारिश की कि निगम को इस सम्बन्ध मे निश्चित उपाय अपनाने चाहिए जिससे कि प्रार्थनापत्र वापस न हो।

(५) जैसे-जैसे योजना के अन्तर्गत उद्योगो की प्राथमिकताये बदलती रही है और उनकी महत्ता बदलती रही है, निगम द्वारा स्वीकृत वित्तीय सहायता के स्वरूप मे भी उद्योगो के दृष्टिकोण से परिवर्तन होता रहा है । परिणाम यह हुआ कि खाद, रसायन, इजीनियरिग उद्योग, लोहा एव इस्पात, तथा सीमेण्ट उद्योगो पर अब अधिक ध्यान दिया जा रहा है। समिति ने आशा व्यक्त की है कि निगम भविष्य मे भी योजना मे निर्दिष्ट प्राथमिकताओं का पालन करेगा।

(६) सरकारी वित्तीय सस्थाओ द्वारा वित्त प्रदान करते समय बडे, माध्यमिक तथा लघु औद्योगिक गृहो मे आवश्यक सन्तुलन स्थापित रखना चाहिए। समिति को आश्चर्य हुआ कि केवल एक ही औद्योगिक गृह को १२ करोड रुपये की सहायता प्रदान की गई।

(७) समिति ने खेद प्रकट किया कि विदेशी साख का प्रयोग करने के सम्बन्ध मे निगम असफल रहा है। यदि आवश्यकताओ का मूल्याकन उचित ढग से किया गया होता तो ऐसा न होता। समिति ने विश्वास प्रकट किया कि भविष्य मे निगम को विदेशी साख के प्रयोग के सम्बन्ध मे अत्यधिक सावधानी बरतनी होगी और प्रार्थनापत्रो को वापस लेने का अवसर ही न आयेगा।

(८) गत तीन वर्षो मे औद्योगिक सहकारिताओ को जो कम सहायता प्रदान की गई है उस सम्बन्ध मे निगम द्वारा दिये गये स्पष्टीकरण से समिति सन्तुष्ट नही है। इसका विचार है कि इनको १९६५ से पूर्व जो सहायता दी जाती थी उतना तो दिया ही जाना चाहिए। इसे यह भी आश्चर्य था कि सहकारिताओ से रुपया प्राप्त करने के सम्बन्ध मे निगम ने सरकार को कुछ भी सूचना नही दी।

(९) इस बात की आवश्यकता है कि ऋण प्रार्थनापत्र का प्रपत्र एक ही प्रकार का हो तथा वैधानिक विधियाँ भी एक ही तरह की हो क्योकि औद्योगिक इकाइयो की वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति अनेक वित्तीय सस्थाओ के द्वारा की जाती है। इस प्रकार के प्रमानीकरण से सहायता देने मे देरी न होगी तथा ऋण लेने वालो को भी असुविधा न होगी। कुछ ऐसा भी प्रबन्ध होना चाहिये कि एक सस्था द्वारा प्राप्त जाँच परिणाम दूसरो को भी उपलब्ध हो सके जिससे काम दोबारा न करना पडे।

(१०) समिति को इस तथ्य से भी असतोप था कि निगम को बहुत बड़ी मात्रा मे अभिगोपित अशो तथा ऋणपत्रो को क्रय करना पड रहा है। इससे इसकी पूँजी फँस जाती है। समिति का विचार था कि विनियोग विभाग को इस सम्बन्ध मे पर्याप्त अध्ययन करना चाहिए और केवल सुदृढ सस्थाओ के ही अशो तथा ऋण पत्रो का अभिगोपन करना चाहिए जिससे कि इसे बडी मात्रा मे उन्हे क्रय न करना पडे।

(११) समिति ने खेद प्रकट किया कि गत चार वर्षो मे भुगतान न करने वाली सस्थाओ की सख्या बढती जा रही है। कुछ दशाओ मे तो निगम ने भुगतान प्राप्त करने के लिये बहुत देर से कार्यवाही आरभ की और यह परिणाम रहा कि १० सस्थाये तो समापित हो गई। इस सम्बन्ध मे आवश्यकता यह है कि शीघ्र ही तथा उचित समय मे ही कार्यवाही आरभ की जानी चाहिए।

(१२) समिति इस बात से सन्तुष्ट थी कि निगम की उधार लेने की वर्तमान सीमा पर्याप्त है पर इसकी अधिकृत पूंजी को १० करोड रुपये तक बढाया जा सकता है। इसने सिफारिश की कि निगम को अपने साधनो को स्वय भी बढाने का प्रयत्न करना चाहिए। सरकार को भी समय-समय पर इस सम्बन्ध मे ध्यान देना चाहिए।

(१३) समिति का विचार था कि बदली हुई ब्याज की दर को (८½% तथा निश्चित समय पर भुगतान करने पर ½% की छूट) अप्रैल १९५७ के बाद स्वीकृत तथा वितरित ऋण पर क्यो नही लागू किया जाता विशेष रूप से जब कि इस सम्बन्ध मे ऋण प्रपत्रो मे स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। इससे निगम की कार्यशील पूजी मे वृद्धि होगी। समिति को इस बात से प्रसन्नता थी कि निगम ने गत वर्षो मे लाभ कमाया है और आशा व्यक्त की है कि यह भविष्य मे भी लाभ कमायेगा।

(१४) समिति का विचार था कि निगम के तीनो प्रमुख शाखा कार्यालयो को ऋण स्वीकृत करने के सम्बन्ध मे और अधिकार दिये जाने चाहिए तथा साथ ही भुगतान न करने वाली सस्थाओ से देय राशि उगाहने के लिये भी उन्हे उत्तरदायित्व सौप देना चाहिए।

(१५) समिति को इस बात से आश्चर्य हुआ कि निगम ने कोई भी अलग वित्त विभाग नही खोला है जो कि सहायता प्राप्त सस्थाओ की आर्थिक स्थिति का सतत अध्ययन करता रहे और साथ ही देय धन की उगाही का प्रयत्न करता रहे। उनकी आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने के लिये अनेक विभाग कार्य कर रहे है। समिति का विचार था कि इस विधि से देरी होती है और साथ ही सामजस्य स्थापित करने मे भी कठिनाई होती है। अत इसने सिफारिश की कि इसके लिये एक अलग वित्त विभाग खोला जाय।

(१६) सभी तथ्यो का परीक्षण करने के पश्चात् समिति इस निष्कर्ष पर पहुची कि अब यह अवस्था आ गई है जब कि इस निगम तथा भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI) का सम्मिलन कर दिया जाना चाहिए। इसका देश के औद्योगिक विकास पर अच्छा प्रभाव पडेगा और साथ ही अधिक साधन, अनुभव, तथा नीतियो का अधिक सामजस्य हो सकेगा।

इस सम्मिलन के लिये सुझाव केवल इसी समिति ने नही दिया अपितु औद्योगिक लाइसेंसिग नीति जॉच समिति (जो दत्त समिति के नाम से भी प्रसिद्ध है) ने भी इसकी सिफारिश की है। ये हो सकता है कि औद्योगिक वित्त निगम का क्षेत्र एक निश्चित आकार की प्रायोजनाओ तक सीमित कर दिया जाय तथा उसको

बड़े आकार की प्रायोजनाओ के लिये भारतीय औद्योगिक विकास बैंक सहायता प्रदान करे।

भारतीय औद्योगिक साख एव विनियोग निगम

भारतीय औद्योगिक साख एव विनियोग निगम की स्थापना ५ जनवरी, १९५५ को निजी क्षेत्र के औद्योगिक उपक्रमो को सहायता देने के विशिष्ट उद्देश्य से की गई थी। इस निगम की स्थापना का मूल विचार भारत सरकार तथा विश्व बैंक एव अमेरिका के वित्तदाताओ मे बातचीत के मध्य सामने आया था। भारत सरकार के पास कुछ कोष था जिसका सृजन सयुक्त राज्य अमेरिका से राजकीय विभाग के विदेशी सहायता विभाग द्वारा दी गई सहायता से हुआ था। इस सम्बन्ध मे एक सुझाव यह आया था कि इस कोष का उपयोग एक निगम के प्रवर्तन के लिए कर लिया जाय।

उद्देश्य इस निगम की स्थापना भारतवर्ष मे निजी क्षेत्र के औद्योगिक उपक्रमो को सहायता देने के लिये की गई है। सामान्यता इसके निम्नलिखित उद्देश्य है —(१) इन उपक्रमो के सृजन, विस्तार तथा आधुनिकीकरण मे सहायता प्रदान करना, (२) इन उपक्रमो मे निजी पूँजी, देशी तथा विदेशी दोनों, के सहयोग को प्रोत्साहित करना, (३) औद्योगिक विनियोग के निजी स्वामित्व को प्रोत्साहित एव प्रवर्तित करना तथा विनियोग बाजार का विस्तार करना, विशेष रूप से, (अ) दीर्घ अथवा मध्यकालीन ऋण के रूप मे अथवा समता अश मे भाग लेकर वित्त प्रदान करना, (ब) नये निर्गमन, तथा अशो एव प्रतिभूतियों का समर्थन तथा अभिगोपन करना; (स) अन्य निजी विनियोग के स्रोतो से प्राप्त ऋण पर गारटी देना, (द) पुर्नविनियोग के लिए कोष का उपलब्ध कराना (य) भारतीय उद्योगो को प्रबन्धकीय, तकनीकी तथा प्रशासकीय सेवाओ को प्राप्त करने मे सहायता पहुंचाना।

निजी औद्योगिक विनियोग को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य की पूर्ति के लिए निगम विभिन्न प्रकार की वित्तीय सहायता प्रदान करता है। प्रमुख उद्देश्य, जिसके लिये यह निगम धन देता है, भूमि, भवन, मशीन के रूप मे पूँजीगत सम्पत्तियो का क्रय करने के लिये धन प्रदान करना है। इस निगम ने वित्तीय सहायता निम्नलिखित रूप मे दी है (अ) सार्वजनिक तथा निजी निर्गमन का तथा औद्योगिक प्रतिभूतियो की बिक्री के प्रस्ताव का अभिगोपन इसने किया है। (ब) इन प्रभूतियो को प्रत्यक्ष रूप से क्रय किया है। (स) रुपये मे सुरक्षित ऋण दिया है जिसका पुनर्भुगतान १५ वर्ष तक होना हो। (द) उसी प्रकार से

इसने आयात किये हुए पूँजीगत उपकरणो तथा तकनीकी सेवाओ के भुगतान के लिये विदेशी मुद्रा मे भी ऋण दिये है । (य) दूसरो के द्वारा दिये गये साख के लिये भुगतान की भी गारटी दी है । प्रत्येक दशा मे उचित प्रकार के विनियोग के रूप के लिये विचार किया जाता है ।

निजी क्षेत्र मे सीमित दायित्व वाली कोई भी कम्पनी इस निगम से सहायता प्राप्त कर सकती है यदि वह औद्योगिक उपक्रम की स्थापना, विस्तार, अथवा आधुनिकीकरण के लिये वित्त प्रदान करने के लिये समुचित प्रस्ताव रखे । निगम साझेदारी फर्म तथा एकल व्यापारियो को ऋण सहायता पहुँचाना व्यावहारिक नही समझता है। न ही उन उपक्रमो के आकार पर कोई सीमा रखी गई है जिन्हे निगम सहायता पहुँचाने के लिये तैयार है, न ही अपने द्वारा किये जाने वाले विनियोग की कोई अधिकतम अथवा न्यूनतम सीमा निर्धारित की है। व्यवहार मे, विनियोग की न्यूनतम सीमा ५ लाख रुपया रही है परन्तु उचित दशाओ मे यह कम ऋण देने के लिये भी तैयार रहता है ।

निगम केवल ऋण देने अथवा वित्त प्रदान करने का ही कार्य नही करता है अपितु एक वित्तीय साझेदार के रूप मे विनियोग के लिये प्रस्ताव के निष्पादन मे तथा उसकी योजना बनाने मे प्रत्येक चरण पर परामर्श तथा सहायता देने के लिये तत्पर रहता है । गत पन्द्रह वर्षों के जीवन मे निगम ने अपने लिये एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है । निजी क्षेत्र मे उद्योगो के विकास के लिये इसने महत्वपूर्ण योगदान दिया है और इसके लिये केवल ऋण ही नही दिया है अपितु जोखिम-पूँजी भी सीधे अशो का क्रय करके तथा पूजी-निर्गमन का अभिगोपन करके प्रदान किया है । विदेशी मुद्रा के रूप मे वित्तीय सहायता पहुँचाने की दिशा मे भी यह अग्रगामी सिद्ध हुआ है ।

कार्य-सचालन १९५५ से, जब इस निगम की स्थापना हुई, मार्च १९६९ तक इस निगम ने ५०५ कम्पनियो को कुल २४१ करोड रुपये की सहायता स्वीकृत की। इसमे से १३८ करोड रुपये की सहायता वैदेशिक मुद्रा मे दी गयी, ४३ करोड रुपये का ऋण रुपये मे दिया गया, ७ करोड रुपये की गारन्टी दी गई तथा अशो एव ऋण पत्रो का अभिगोपन अथवा प्रत्यक्ष अभिदान ५३ करोड रुपये का किया गया । मार्च १९६९ तक, कुल वितरित धनराशि १५९ करोड रुपये थी (इसमे से ९२ करोड रुपये वैदेशिक मुद्रा मे, ३६ करोड रुपये का ऋण रुपया मे तथा ३१ करोड रुपये का अशो मे एव ऋण पत्रो मे विनियोग किया गया) ।

१९६९ मे शुद्ध स्वीकृति ३० करोड रुपये की थी और इस प्रकार १९५५ से १९६१ तक कुल शुद्ध स्वीकृति २६१६ करोड रुपये की गई जिसमे से १५१८ करोड रुपये वैदेशिक मुद्रा मे ऋण के रूप मे दिया गया, ४६० करोड़ रुपये का ऋण रुपया मे दिया गया, ६८ करोड रुपये की गारटी दी गई, ५०.५ करोड रुपये का अभिगोपन किया गया तथा ६.५ करोड़ रुपये का प्रत्यक्ष अभिदान किया गया ।

प्रभाव (१) परिमाण के दृष्टिकोण से, इस निगम ने देश मे औद्योगिक वित्त के क्षेत्र मे अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है। परन्तु इस सस्था की महत्ता केवल परिमाण की दृष्टि से ही नही आँकी जानी चाहिये। अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह देखना है कि इसके कार्य-सचालन की प्रकृति क्या है और इसने उन आवश्यकताओ की पूर्ति की है अथवा नही जिनकी पूर्ति वित्त के पुराने साधनो द्वारा नही हो पाती थी। इस निगम ने तो विस्तृत उद्देश्य को ही अपने सम्मुख रखा है, यथा, भारत मे स्वस्थ पूंजी बाजार का विकास करना। इस सदर्भ मे, यह ध्यान देने योग्य है कि निगम भारतवर्ष की सबसे अधिक महत्व-पूर्ण अभिगोपन सस्था के रूप मे आगे आने मे समर्थ हो सका है। (२) यह निगम अन्य वित्तीय सस्थाओ के सहयोग से कार्य कर रहा है, यथा औद्योगिक वित्त निगम, स्टेट बैक ऑफ इडिया, जीवन बीमा निगम, पुर्नवित्त निगम, राज्य वित्त निगम, तथा व्यापारिक बैक। इस प्रकार सघीय अभिगोपन के भी लाभ इस प्रकार के किसी औपचारिक सगठन की स्थापना किये बिना ही प्राप्त हो रहे हैं। इस निगम ने अपना सम्पर्क विदेशो मे भी, विशेष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम से, कामन-वैल्थ विकास वित्त कम्पनी तथा सयुक्त राज्य अमेरिका, इगलैड तथा पश्चिमी जर्मनी की कुछ महत्वपूर्ण विनियोग सस्थाओ तथा बैको से स्थापित कर रखा है। (३) विदेशी साख की पूर्ति की दिशा मे भी निगम महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है। वैदेशिक विनिमय ऋण के सम्बन्ध मे भी सम्मिलित रूप से यह वित्त प्रदान करता है और इस प्रकार देश मे उपलब्ध वैदेशिक विनिमय साधनो को बढाने मे सहयोग देता रहा है। अन्त मे, निजी विदेशी पूँजी के सहयोग को प्रोत्साहित करने के लिये निगम को विनियोग केन्द्र की स्थापना मे भी सफलता प्राप्त हुई है।

यह निगम ही एक ऐसी सस्था है जो विदेशो से भारतीय उद्योगो के लिये सहायता दिलाने मे विशेष योग्यता रखता है। इसके पास वैदेशिक विनिमय सम्बन्धी साधन अपेक्षाकृत अधिक है और विदेशो से सम्बन्ध भी इस क्षेत्र मे अत्यधिक है। विश्व बैक, विदेशी व्यापारिक बैक तथा विनियोग बैक के साथ

सहयोग होने के कारण, यह निगम विदेशो से अधिक कोष प्राप्त करने मे सफल रहा है।

निगम निजी उपक्रमो की परिचारिका के रूप मे है। देश के औद्योगिक विकास की अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा निर्णायक परिस्थितियो मे इसकी स्थापना होने के कारण, यह वही कार्य कर रहा है जो कि विदेशो मे पूंजी बाजार के द्वारा वर्षो के अनुभव के पश्चात् किया जा रहा है। वित्त प्रदान करने के अतिरिक्त, निगम सहायक सेवाओ को प्रदान करने की ओर भी ध्यान देता है, जैसे प्रायोजना विशेष के लिये योजना तैयार करना, विभिन्न क्षेत्रो से (जैसे, व्यापार, प्रबन्ध, इजीनियरिंग तथा अन्य पेशे, आने वाले उद्यमियो को परामर्श प्रदान करना। निगम विशेष रूप से नवीन उद्योगो को तथा अधिक जोखिम वाले उद्योगो को, विशेषतया धातु पर आधारित तथा रसायन उद्योग, वित्त प्रदान करने मे अधिक ध्यान देता रहा है और इस प्रकार भारतीय अर्थव्यवस्था की नियोजन सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति कर रहा है। इस प्रकार सदर्श का यह दूसरा स्वरूप है जिसको ध्यान मे रख कर ही इसके कार्य-कलापो का परीक्षण किया जाना चाहिये, यथा, नवीन उपक्रमो तथा नये उद्यमियो का विकास। इन दोनो को प्रोत्साहित करने के लिये निगम विशिष्ट प्रयास करता रहा है।

निगम के कार्य-सचालन का परीक्षण उन कठिनाइयो के सदर्भ मे करना चाहिए जिनका सामना हाल ही मे उद्योगो को करना पडा है। गतिहीन पूंजी बाजार की स्थिति मे, अच्छी स्थिति वाले उपक्रमो को अथवा उत्तम प्रायोजनाओ के लिये भी अश-पूँजी प्राप्त करना अत्य त क ठेन हो गया था। इसलिये अश-पूंजी का अभिगोपन करना पडता था जिसका परिणाम यह होता था कि अभिगोपनकर्ता को अश-पूंजी को अपने पास ही धारण करना पडता था। प्रायोजना की पूँजीगत लागत सदैव ही मूल अनुमान से अधिक हो जाती थी, चाहे कितनी ही सावधानी से अनुमान लगाया गया हो। एक महत्वपूर्ण तथा अभिनव घटक तो आयात कर मे वृद्धि होना रहा है। इसके परिणामस्वरूप उद्यमियो को अतिरिक्त पूँजी प्राप्त करने मे कठिनाई होने लगी। अन्त मे, जब उपक्रम उत्पादन आरम्भ कर देता है तो उसे कच्चे माल के आयात करने मे कठिनाई का सामना करना पडता है। इन सब समस्याओ ने इस निगम के कार्य-सचालन को प्रभावित किया है।

भारतवर्ष मे पिछले कुछ वर्षो मे पूंजी-बाजार मे बदलती हुई परिस्थितियाँ पाई गई हैं। अल्पविकसित पूंजी-बाजार से लेकर वैदेशिक विनिमय के सकट तक

और अद्वितीय उदासीनता होते हुए भी औद्योगिक विनिमय प्राय वृद्धि पर ही रहा है। इस वृद्धि का एक कारण ICICI जैसी सस्थाओ का होना भी रहा है जिसने उद्यमियों को पूँजी-बाजार की विषम परिस्थितियो से बचाया है।

इस निगम ने कम्पनी को सभी वित्तीय सहायता नही प्रदान की है किन्तु प्रवर्तको को प्रोत्साहित किया है कि वे अतिरिक्त कोष लावे और अन्य स्रोतो से भी धनराशि प्राप्त करने के लिये प्रयास करे। किसी भी प्रायोजना के लिये इसकी सहायता तो केवल एक तत्व है परन्तु वह उसके लिये व्यवस्थित पूर्ण वित्त करने के सम्बन्ध मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

इस निगम ने विभिन्न प्रकार के उद्योगो मे अनेक प्रकार की प्रायोजनाओ के लिये और विशेष रूप से नवीन क्षेत्रो मे सहायता पहुँचाई है। इजीनियरिग के क्षेत्र मे विभिन्न प्रकार के उपक्रमो को इसने वित्त प्रदान किया है। कृषि मे उत्पादन बढाने के हेतु रसायनिक खाद्य उद्योग तथा ट्रैक्टर आदि बनाने वाले उपक्रमो को भी आर्थिक सहायता प्रदान की है। विद्युत के क्षेत्र मे विद्युत प्रजनन करने वाली कम्पनी को, ट्रासमिशन टावर्स, शक्ति केबिल्स, ट्रासफार्मर, विद्युत लैम्प तथा मीटर बनाने वाली औद्योगिक इकाइयो को भी वित्त प्रदान किया है। वस्त्र उद्योग के लिये मशीन बनाने वाली तथा रग बनाने वाली इकाइयो को वित्त प्रदान किया है। हार्डबोर्ड, रिकलेम्ड रबर तथा कैल्साइन्ड पैट्रोलियम कोक आदि के निर्माणकर्ताओ को भी इसने वित्त प्रदान किया है।

१९६६-१९६८ की अवधि कठिन रही है क्योकि गत चार वर्षो तक परिस्थिति अनुकूल रहने और तेजी के कारण उद्योगपतियो को उसी का अभ्यास हो गया था। अनेक उद्योगो को क्रेता का बाजार हो जाने के कारण विकट कठिनाई का सामना करना पडा। अर्थव्यवस्था मे पश्चायन की प्रवृत्ति होने के प्रभाव से यह निगम भी वचित न रहा। औद्योगिक सस्थाओ के कार्य-सचालन मे कमी होने के कारण रोकड के प्रवाह पर प्रतिकूल प्रभाव पडा और उन्हे अपने दायित्व का भुगतान करने मे कठिनाई होने लगी। निगम ने किश्तो के भुगतान को कुछ दशाओ मे स्थगित करना स्वीकृत कर लिया। साथ ही इस निगम का विनियोग भी चुने हुए क्षेत्रो तक ही—अधिकाशतया रसायनिक खाद, सीमेन्ट तथा एलॉय इस्पात—सीमित रह गया।

मार्च १९७० मे, इस निगम के अध्यक्ष ने अपने वक्तव्य मे (जो उन्होने ३१ दिसम्बर १९६९ को समाप्त होने वाली १५वी वार्षिक रिपोर्ट मे दिया) इस बात पर बल दिया कि उनका यह विचार है कि लाइसेसिग नीति के परिवर्तन

होने पर निगम द्वारा देश के औद्योगिक विकास के लिये किये जाने वाले प्रयास पर कोई भी महत्वपूर्ण प्रभाव न पडेगा। उन्होने यह भी कहा कि वैदेशिक मुद्रा मे अथवा रुपये मे दिये जाने वाले ऋण पर निगम द्वारा लिये जाने वाले ब्याज की जो दर है उसमे भी परिवर्तन करने की कोई सभावना नही है। निगम के पास जो वैदेशिक मुद्रा के रूप मे साधन है उनका उपयोग १९७१ के अन्त तक कर लिया जायेगा।

इस निगम ने तामिलनाडु मे एक वित्तीय प्रबन्ध की सस्था स्थापित करने का समर्थन किया है। इसके लिये यह पर्याप्त मात्रा मे वित्तीय सहायता देने के लिये भी तैयार है।

इस निगम ने अभी तक तो सयुक्त स्कध कम्पनी को ही वित्त प्रदान किया है परन्तु अब इसने यह प्रस्ताव रखा है कि एकल व्यापारी तथा साझेदारी सस्थाओ को भी वैदेशिक विनिमय प्रदान करेगा। ये हमारी अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण तथा विकासशील अग है और यह उचित ही है कि निगम ने उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति करने का विचार किया है।

भारतीय औद्योगिक विकास बैंक

औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना देश मे औद्योगिक वित्त सस्थाओ की पुनर्संगठित तथा समेकित सरचना के अग के रूप मे की गई थी जिससे औद्योगीकरण के तेजी से बढने की आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके। प्रमुख उद्देश्य एक शीर्ष सस्था की स्थापना करना था जो कि बैंक को लेकर अन्य वित्तीय सस्थाओ के कार्य-कलापो मे सामजस्य स्थापित कर सके, उद्योग को दीर्घ-कालीन वित्त प्रदान कर सके तथा साथ ही औद्योगिक इकाइयों को प्रत्यक्ष रूप से वित्तीय सहायता प्रदान कर मध्य तथा दीर्घकालीन वित्त की माँग और पूर्ति के मध्य अन्तर को पूरा कर सके। IDBI को केवल विद्यमान वित्तीय सस्थाओं के साधन को बढाकर उनकी उपयोगिता ही नही बढाना है तथा औद्योगिक विकास तथा विस्तार के लिये वित्तीय सहायता की दिशा मे उनके क्षेत्र को और भी विस्तृत करना है।

संगठन तथा प्रबन्ध विकास बैंक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की पूर्ण रूप से सहायक कम्पनी है। इसकी अधिकृत पूँजी ५० करोड रुपया है परन्तु रिजर्व बैंक को इसे बढा कर १०० करोड रुपया करने का अधिकार है, परन्तु इससे पूर्व केन्द्रीय सरकार से अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है। निर्गमित पूँजी को भी, जो आरभ मे १० करोड़ रुपया है, केन्द्रीय सरकार की अनुमति से बढाया जा सकता है।

विकास बैंक के कार्य-कलापो का पर्यवेक्षण, निदेशन तथा प्रबन्ध एक सचालको की परिषद करती है। रिजर्व बैंक के सचालको की केन्द्रीय परिषद विकास बैंक के सचालको की परिषद है तथा उसका गवर्नर एव डिप्टी गवर्नर क्रमश इसके अध्यक्ष तथा उप-अध्यक्ष है। परिषद एक कार्यकारिणी समिति का गठन भी कर सकती है जिसमे कुछ निश्चित सख्या मे सचालक होगे और जो इस के द्वारा निधारित कार्य करेंगे। कुछ तदर्थ समितियाँ भी बनाई जा सकती है जिनमे या तो सभी सचालक होगे या कुछ सचालक या कुछ अन्य व्यक्ति भी हो सकते है।

कार्य भारतीय औद्योगिक विकास बैंक अधिनियम के अन्तर्गत इस बैंक के लिये अनेक कार्य निर्धारित किये गये है और साथ ही कार्य-सचालन सम्बन्धी पर्याप्त स्वतन्त्रता भी इसे प्रदान की गई है। बैंक को सभी प्रकार की औद्योगिक सस्थाओ को वित्त प्रदान करने का अधिकार प्राप्त है जो कि वस्तुओ के निर्माण या प्रोसेसिंग, खान, यातायात, विद्युत प्रजनन तथा वितरण आदि मे लगी हो चाहे वे निजी क्षेत्र मे हो या सार्वजनिक क्षेत्र मे हो। औद्योगिक सस्थाओ से प्राप्त होने वाली प्रतिभूतियो की प्रकृति तथा उनके प्रकार के सम्बन्ध मे कोई भी प्रतिबन्ध नही है। न ही सहायता के लिये और न ही सस्था के आकार के लिये कोई अधिकतम तथा न्यूनतम सीमा निर्धारित की गई है।

भारतीय औद्योगिक विकास बैंक के कार्य-सचालन को, साविधिक प्रावधानो के अनुसार, दो वर्गो मे बाँटा जा सकता है (१) अन्य वित्तीय सस्थाओ को वित्त प्रदान करना, तथा (२) या तो स्वय ही या अन्य सस्थाओ के साथ मिल कर औद्योगिक सस्थाओ को प्रत्यक्ष सहायता प्रदान करना। अन्य वित्तीय सस्थाओ को वित्त प्रदान करने के अन्तर्गत अन्य सस्थाओ के द्वारा दिये गये ऋणो का पुनर्वित्तीकरण, उनके अशो तथा ऋणपत्रो मे विनियोजित करना तथा औद्योगिक सस्थाओ द्वारा निर्गमित किये गये अशो तथा ऋणपत्रो के अभिगोपन के सम्बन्ध मे अन्य सस्थाओ के दायित्वो पर गारण्टी प्रदान करना आदि कार्य आते है। औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्त निगम के द्वारा तथा सरकार द्वारा अनुसूचित अन्य सस्थाओ के द्वारा (जैसे ICICI), अनुसूचित बैंक तथा राज्य सहकारी बैंको के द्वारा औद्योगिक सस्थाओ को दिये गये दीर्घकालीन ऋणो के सम्बन्ध मे भारतीय औद्योगिक विकास बैंक पुनर्वित्त प्रदान करता है। ऋण के पुनर्वित्तीकरण के रूप मे दी गई धनराशि का विशिष्ट सस्थाओ को इसे ३ से २५ वर्ष तक भुगतान करना होता है और अनुसूचित तथा राज्य सहकारी बैंको को ३–१० वर्षो के अन्दर भुगतान करना होता है। इसके अतिरिक्त, उपरोक्त किसी भी सस्था के द्वारा यदि ६ माह

से १० वर्ष तक के लिये निर्यात-साख प्रदान किया गया हो तो उसके लिये भी यह बैंक पुनर्वित्त प्रदान करता है। जैसा कि अधिनियम मे दिया है, भारतीय औद्योगिक विकास बैंक ने औद्योगिक पुनर्वित्त निगम के कार्य को सितम्बर १, १९६४ से अपने हाथ मे ले लिया और औद्योगिक ऋण का पुनर्वित्तीकरण तथा निर्यात-साख की योजना को अब यह बैंक ही कार्यान्वित करता है।

विकास बैंक औद्योगिक सस्थाओ को प्रत्यक्ष वित्तीय सहायता उन सभी प्रकार से दे सकता है जैसा कि अन्य वित्तीय सस्थाये प्रदान करती है, यथा, ऋण तथा अग्रिम प्रदान करना, स्टाक, अशो को, ऋणपत्रो का क्रय करना तथा अभिगोपन करना आदि। ऐसे ऋण अग्रिम तथा ऋणपत्रो को बैंक अपनी इच्छानुसार समता अशो या स्टाक मे बदल सकता है। औद्योगिक सस्थाओ द्वारा देय उन अस्थगित भुगतानो की भी यह गारण्टी देता है जो कि उन्होने या तो सार्वजनिक वाजार से या अनुसूचित बैंक से लिया हो। यह अभिगोपन सम्बन्धी उत्तरदायित्वो को ले सकता है तथा औद्योगिक सस्थाओ की व्यापारिक हुन्डियो तथा प्रामिजरी नोट को स्वीकार कर सकता है या उन्हे बट्टे पर भुना सकता है।

विकास बैंक अधिनियम के अन्तर्गत एक विशेष प्रावधान 'विकास सहायता कोष' की स्थापना करना है। इस कोष की स्थापना का उद्देश्य उन उद्योगो की सहायता करना है जो कि विभिन्न कारणो से आवश्यक वित्त एकत्र न कर पा रहे हो, यथा अत्यधिक पूंजी की आवश्यकता हो, पूंजी पर प्रतिफल कम दर से प्राप्त होने की सभावना हो, या सामान्य ढग से पूंजी न प्राप्त कर पा रहे हो, परन्तु उद्योग इतना महत्वपूर्ण हो कि उसे विशेष सहायता प्रदान करना आवश्यक तथा न्यायसगत हो। विकास सहायता कोष की स्थापना १९६५ मे की गई थी और इसके लिये प्रारभिक अशदान केन्द्रीय सरकार से प्राप्त हुआ है। इस कोष के साधन मुख्य रूप से ऋण, उपहार, अनुदान, दान आदि है जो कि सरकार तथा अन्य साधनो से उपलब्ध होगे। इन साधना के प्रयोग से होने वाले लाभ अथवा हानि को भी इसी कोष के जमा या नाम लिखा जायगा। इस कोष से सहायता प्रदान करने से पूर्व केन्द्रीय सरकार से स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। सरकार को ऐसी स्वीकृति देने से पूर्व इस ओर से सन्तुष्ट होना पडेगा कि इस प्रकार की सहायता देश मे औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक है। विकास सहायता कोष का खाता अलग से ही रखा जायगा और इसकी रिपोर्ट भी केन्द्रीय सरकार को प्रस्तुत करनी होगी।

विकास बैंक का कार्यक्षेत्र केवल औद्योगिक सस्थाओ को वित्तीय तथा अन्य सहायता प्रदान करना ही नही है। बैंक प्रवर्तन सम्बन्धी कार्य सभाल सकता है जैसे

कि विपणन तथा विनियोग सम्बन्धी शोध तथा सर्वेक्षण एव टैक्नो-आर्थिक अध्ययन आदि । यह किसी भी औद्योगिक उपक्रम को प्रवर्तन, प्रबन्ध तथा विस्तार के लिये टैक्निकल तथा प्रशासकीय सहायता प्रदान कर सकता है । साथ ही, देश की औद्योगिक सरचना मे अभाव की पूर्ति के लिए नवीन उद्योगो के नियोजन, प्रवर्तन तथा विकास मे सहायता प्रदान कर ओद्योगीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करने मे व्यावहारिक भूमिका भी इसे निभानी है ।

अन्य साविधिक निगमो की तरह, विकास बैंक के लिये प्रतिभूति स्वीकृत करने के सम्बन्ध मे कोई भी प्रतिबन्ध नही रखा गया है । इस प्रकार इस बैंक को इन मामलो मे अधिक सीमा तक विवेकपूर्ण निर्णय लेने की छूट प्राप्त है ।

साधन विकास बैंक के लिये पर्याप्त साधन जुटाने का प्रावधान रखा गया है । आरभ मे, पूँजी के रूप मे १० करोड रुपये का कोष इसके पास था तथा इसके साथ ही केन्द्रीय सरकार द्वारा ब्याज मुक्त ऋण भी १० करोड रुपये का दिया गया था जिसका भुगतान १५ वर्षो मे १५ समान किश्तो मे इसे करना है । बैंक के आग्रह पर इन शर्तो मे छूट भी दी जा सकती है । इस प्रारभिक ऋण के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ऐसी ही शर्तो पर और भी ऋण दे सकती है । अन्य सस्थाओ की तरह, यह बैंक भी अपने साधनो को बढाने के लिये सरकार की गारन्टी सहित अथवा उसके बिना ऋणपत्रो तथा बाड का विक्रय कर सकता है तथा रिजर्व बैंक द्वारा स्वीकृत शर्तो पर जनता से निक्षेप भी स्वीकृत कर सकता है जो १२ माह से कम के लिये न होगा ।

विकास बैंक रिजर्व बैंक से ऋण भी ले सकता है । औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्य वित्त निगम की तरह इसे भी ९० दिन तक के लिये सामान्य बैंकिंग ऋण न्यास प्रतिभूतियो के विरुद्ध प्राप्त हो सकता है । दो हस्ताक्षर वाले व्यापारिक हुन्डी तथा प्रामिजरी नोट की प्रतिभूति पर इसे पॉच वर्ष तक के लिये अग्रिम प्राप्त हो सकता है । रिजर्व बैंक के द्वारा स्थापित राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घ-कालीन सचालन) कोष से यह बैंक दीर्घकाल के लिये भी उधार ले सकता है । आरभ मे रिजर्व बैंक ने इस कोष मे १० करोड रुपये जमा किये थे और बाद मे जून ३०, १९६५ से ५ करोड रुपये प्रतिवर्ष इसमे जमा करना होगा । इस वार्षिक अनुदान को परिस्थितियो के अनुसार केन्द्रीय सरकार से अनुमति लेकर कम भी किया जा सकता है । इस कोष के साधनो का रिजर्व बैंक विकास बैंक को ऋण प्रदान करने के लिये प्रयोग कर सकता है । इसे विकास बैंक या तो अन्य वित्तीय सस्थाओ के अश, बॉड्स तथा ऋणपत्रो को क्रय करने के लिये या अन्य कार्यों के लिये

प्रयोग कर सकता है। इस कोष से रिजर्व बैंक विकास बैंक के द्वारा निर्गमित उन ऋणपत्रो को भी क्रय कर सकता है जो कि उसने अपने साधनो को बढाने के लिये निर्गमित किये हो।

जून १९६९ के अन्त मे सरकार से लिया गया कुल ऋण १७७ ५ करोड रुपये था जिसमे विकास सहायता कोष से लिये गये २७ ४ करोड रुपये भी सम्मिलित है। विकास बैंक ने रिजर्व बैंक से उसके राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घ-कालीन सचालन) कोष मे से १८ लाख रुपये उधार लिये थे जिससे कि इसने राज्य वित्त निगम के अशो तथा ऋणपत्रो का क्रय किया। रिजर्व बैंक ने इसकी अश पूँजी मे १० करोड रुपये तथा अभिदान के रूप मे दिया और इस प्रकार इसकी अशपूँजी बढ कर २० करोड रुपये हो गई।

विकास बैंक सरकार की अनुमति लेकर विदेशी मुद्रा को भी बैंक तथा वित्तीय सस्थाओ से लेकर अपने साधनो मे सम्मिलित कर सकता है। इसे सरकारी तथा गैर-सरकारी दोनो ही स्रोतो से उपहार, अनुदान, तथा दान आदि प्राप्त करने की अनुमति प्राप्त है।

रिजर्व बैंक की पूर्ण-स्वामित्व वाली सहायक कम्पनी होने के कारण विकास बैंक की आय तथा लाभ पर आयकर तथा अन्य कर उसी प्रकार से नही लगता जिस प्रकार से रिजर्व बैंक पर स्वय नही लगता है।

अगस्त १, १९६४ से विकास बैंक ने औद्योगिक वित्त निगम की पूर्ण अश पूँजी का ५० प्रतिशत क्रय कर लिया है। ऐसा दो उद्देश्यो से किया गया है। प्रथम, सरकार तथा रिजर्व बैंक के पास निगम के अशो का हस्तान्तरण करके पूर्णतया प्रशासकीय परिवर्तन लाने के लिये, तथा द्वितीय, निगम के साधनो को बढाने के लिये। औद्योगिक वित्त निगम अब औद्योगिक विकास बैंक का सहायक हो गया है और अब इसकी पूँजी ७ करोड रुपये से बढ कर ८ ३५ करोड रुपये हो गई है। औद्योगिक पुनर्वित्त निगम को सितम्बर १९६४ से विकास बैंक के साथ पूर्णतया मिला दिया गया है।

कार्य-संचालन. सगठन को सुदृढ बनाने के साथ ही और औद्योगिक प्रायोजनाओ की तकनीकी तथा वित्तीय मूल्याकन के लिये उचित सगठन की स्थापना होने के कारण औद्योगिक विकास बैंक के कार्य-सचालन मे तीव्रता के साथ वृद्धि हुई है। इसके कार्य सचालन का जुलाई १, १९६४ से जून ३०, १९६७ तक का व्योरा नीचे दिया जा रहा है। इस अवधि मे यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण वित्तीय सस्था रही है। अन्य वित्तीय सस्थाओ के वित्तीय साधनों की पूर्ति करता रहा है तथा औद्योगिक संस्थाओ को प्रत्यक्ष सहायता भी प्रदान की है।

पुर्नवित्त पुर्नवित्त की दो योजनाओ के कार्य सचालन, यथा, (अ) औद्योगिक ऋण के पुर्नवित्त के लिए योजना, तथा (ब) निर्यात साख के पुर्नवित्त के लिए योजना, की जॉच-समीक्षा निम्नलिखित है।

औद्योगिक ऋण के विरुद्ध दिया गया पुर्नवित्त ८५.६ करोड रुपये था जिसके अन्तर्गत ३१० करोड रुपये की पूँजी-लागन सहित ८२६ प्रायोजनाये थी। व्यापारिक बैंक इस औद्योगिक विकास बैंक से कम सहायता लेने लगे है। कुल स्वीकृत पुर्नवित्त मे से उनका भाग १९६७-६८ मे ५३ प्रतिशत था परन्तु १९६८-६९ मे यह घटकर ४० प्रतिशत रह गया। दूसरी ओर राज्य वित्तीय निगमो का भाग ४७ प्रतिशत से बढकर ६० प्रतिशत हो गया। व्यापारिक बैंको ने लघुस्तरीय उद्योगो को दीर्घकालीन वित्त प्रदान करने के लिए औद्योगिक विकास बैंक से पुर्नवित्त की अधिक सुविधा नही ली।

मध्यकालीन निर्यात साख पुर्नवित्त योजना के अन्तर्गत जून १९६९ के अन्त मे अदत्त राशि २.४ करोड रुपये थी। इस योजना ने, यद्यपि इसका आरभ औद्योगिक पुर्नवित्त निगम के द्वारा जनवरी १९६३ मे किया गया था, अब तक कोई महत्वपूर्ण स्थिति ग्रहण नही की है। भारतीय औद्योगिक विकास बैंक ने इस सम्बन्ध मे बैंको से जाँच-पडताल की है कि निर्यात करने वालो को इस योजना के अन्तर्गत पुर्नवित्त प्राप्त करने मे किन कठिनाइयो का सामना करना पडता है। यह सुविधा सामान्यतया पूँजीगत या इजीनियरिंग वस्तुओं के निर्यात के लिए उपलब्ध होती है। निर्यात साख पुर्नवित्त की सुविधा ४½ प्रतिशत की रियायती दर से प्रदान की गई है यदि बैंक ऋण लेने वालो से ६ प्रतिशत से अधिक न वसूल करे।

वित्तीय सस्थाओ के अशो तथा बाण्ड मे अभिदान भारतीय औद्योगिक विकास बैंक को, शीर्ष सस्था होने के नाते, दीर्घकालीन वित्त प्रदान करने वाली सस्थाओ की साधन सम्बन्धी स्थिति को सुदृढ करने का उत्तरदायित्व दिया गया है जिससे कि वे अपने कार्य-कलापो को और अधिक बढा सके और विस्तृत कर सके। इस प्रकार की सहायता उनके द्वारा निर्गमित अशो तथा बाण्ड का अभिदान करके प्रदान की जाती है। जैसा कि पहले बताया गया है, रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घ-कालीन सचालन) कोष की स्थापना की है जिसमे से विकास बैंक को दीर्घकाल के लिए ऋण दिया जाता है। जून ३०, १९६९ को वित्तीय सस्थाओ के अशो तथा बॉड्स मे अभिदान की राशि १९.७ करोड़ रुपये थी।

प्रत्यक्ष सहायता सावैधिक प्रावधानो के अन्तर्गत भारतीय औद्योगिक विकास बैंक को यह अनुमति प्राप्त है कि वह औद्योगिक सस्थाओ की प्रत्यक्ष सहायता भी सभी प्रकार से कर सकता है। यह सहायता ऋण देकर, अशो तथा ऋणपत्रो का अभिदान करके अथवा अभिगोपन करके तथा ऋण एव अस्थगित भुगतानो पर गारण्टी प्रदान करके यह बैंक कर सकता है। इसने प्रत्यक्ष सहायता कार्य अन्य सस्थाओ के साथ मिलकर ही की है।

उद्योगो के अनुसार यदि देखा जाय तो इस बैंक ने अनेक प्रकार के उद्योगो को सहायता प्रदान की जिनमे से पैट्रो-रसायन, एलॉय तथा विशिष्ट इस्पात, रसायनिक खाद, सीमेण्ट, मशीन तथा धातु के सामानो का विनिर्माण, पिग आयरन, सूती वस्त्र आदि प्रमुख है।

ऋण के रूप मे प्रत्यक्ष सहायता (निर्यात को छोडकर) इसकी स्थापना से प्रथम पॉच वर्ष तक १०१ करोड रुपये रही। इसी अवधि मे अशो एव ऋणपत्रो का अभिगोपन अथवा उनमे प्रत्यक्ष अभिदान १८ करोड रुपये रहा। इस ११९ करोड रुपये की कुल राशि मे से ७३ करोड रुपया नवीन इकाइयो को स्वीकृत किया गया तथा ४६ करोड रुपया स्थापित सस्थाओ को विस्तार, आधुनिकीकरण तथा विभिन्नीकरण के लिए दिया गया।

विकास सहायता कोष इस कोष की स्थापना उन औद्योगिक प्रायोजनाओ की सहायता करने के लिए की गई है जो कि देश की अर्थव्यवस्था मे सामरिक महत्व के है परन्तु उनमे जोखिम कम प्रतिफल की सभावना के कारण अथवा उनकी स्थापना तथा उत्पादन आरभ करने मे समय-अन्तराल अधिक होने के कारण अधिक हो। इस कोष मे से मार्च १९६५ मे इसकी स्थापना होने से जून १९६९ तक तीन प्रायोजनाओ के लिए स्वीकृत सहायता ३२ २ करोड रुपया रही है और उसका वितरण २७ ६ करोड रुपया रहा है।

मशीन निर्माणकर्ताओ को सहायता अप्रैल १, १९६५ से विकास बैंक ने एक योजना आरभ की जिसके अन्तर्गत अस्थगित भुगतान के आधार पर बिक्री की गई स्वदेशी मशीनो से सम्बन्धित हुण्डी या प्रामिजरी नोट को पुनः बट्टे पर भुनाने की सुविधा दी गई है। इसके अन्तर्गत हुण्डी या प्रामिजरी नोट मशीन निर्माणकर्ताओ के नाम होनी चाहिए जो कि इस विकास बैंक द्वारा स्वीकृत बैंको तथा वित्तीय सस्थाओ से भुनाई जा सकती है। ये स्वीकृत सस्थाये इस विकास बैंक से उन्हे पुन. बट्टे पर भुना सकती हैं। इसकी दर समय-समय पर निश्चित की जाती हैं।

इस योजना मे १९६८-६९ मे परिवर्तन किया गया जिससे कि यह औद्योगिक विकास के लिए अधिक उपयोगी साधन सिद्ध हो सके। इन नवीन उपायो को अपनाने से मशीन के क्रेताओ को १० ६–१२ ० प्रतिशत से लेकर ९ १–९ ८ प्रतिशत तक लागत मे कमी आई है। यह कमी बिल की अवधि पर निर्भर करती है' साथ ही, यह सुविधा पहिले तो निजी क्षेत्र तक ही सीमित थी परन्तु १९६९ मे इसे सार्वजनिक उपक्रमो जैसे, विद्युत उपक्रम, परिवहन निगम, तथा सरकारी कम्पनियो के लिए भी, लागू किया गया।

भारतीय औद्योगिक विकास निगम द्वारा भुनाये गये बिले की राशि १९६८-६९ मे १५ ५ करोड रुपये थी, जबकि १९७-६८ मे १२ ४ करोड रुपये थी और १९६६-६७ मे ७ १ करोड रुपये थी। इस प्रकार इस योजना के आरभ से कुल ३७ ३ करोड रुपये के बिल भुनाये जा चुके है। मशीन-निर्माताओ की सख्या जिन्होने इस योजना के अन्तर्गत लाभ उठाया, १०७ थी और क्रेता एव प्रयोग करने वालो की सख्या ५१८ थी।

भविष्य विकास बैंक को एक केन्द्रीय समन्वयकारी एजेंसी के रूप मे माना गया है जिसे औद्योगिक प्रवर्तन, विकास तथा वित्त सम्बन्धी सभी समस्याओ की ओर ध्यान देना है। देश को विकास बैंक से अत्यधिक आशाये हैं क्योकि इसके लिए बनाये गये अधिनियम मे वे प्रतिबन्ध तथा रुकावटे नही रखी गई है जिनका सामना अन्य वित्तीय निगमो को करना पडता है। साथ ही, इसके पास साधन भी अधिक है और व्यापार करने की स्वतत्रता भी अत्यधिक हैं। यह अपने कार्यो को जिस ढग से चाहे कर सकता है। विकास बैंक को एक और भी सुविधा उपलब्ध है जो कि अन्य वित्तीय निगमो को प्राप्त नही है। इसे यह सुविधा प्राप्त है कि इसकी सभी आय, लाभ आदि पर कोई भी कर नही लगता है।

अभी हाल मे, इस बैंक के कार्य-सचालन के सम्बन्ध मे निदेशन के लिए कुछ रूपरेखा तैयार की गई है जिसमे औद्योगिक प्राथमिकताये भी निश्चित की गई है। यह उचित समझा गया कि लघु प्रायोजनाओ के लिए वित्तीय सहायता की व्यवस्था उन अन्य सस्थाओ द्वारा ही अच्छी तरह से की जा सकती है जिनके साधनो को विकास बैंक पर्याप्त मात्रा मे बढाने का प्रयत्न करेगा। इसके लिए वह इनकी अशपूँजी मे तथा ऋणपत्र मे योगदान देगा तथा पुनर्वित्त की सुविधाये भी प्रदान करेगा। प्रत्यक्ष वित्तीय सहायता के लिए विचार करते समय अथवा ऋण के लिए पुनर्वित्त प्रदान करते समय विकास बैंक सामान्यता सुरक्षा तथा निर्यात सम्बन्धी उद्योगो को, जो आवश्यक उपभोग सम्बन्धी वस्तुओ का निर्माण कर रहे

हों तथा वे जो कृषि विकास के लिए तथा औद्योगीकरण को आधार प्रदान करने वाले हो, प्राथमिकता देता है।

१९६७ मे मन्दी की दशा मे अर्थव्यवस्था के समक्ष कठिन समस्याये उपस्थित हो गई थी और विकास बैंक ने अपनी योजनाओ मे आवश्यक परिवर्तन करने का विचार किया। हुण्डियो को पुन बट्टे पर भुनाने की सुविधा प्रदान करने की योजना के अन्तर्गत आस्थगित भुगतान के आधार पर बिक्री की गई स्वदेशी मशीन के सम्बन्ध मे हुण्डियो के अतिरिक्त कृषि, तथा लघुस्तर उद्योगो के उपकरणो के लिए तथा पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओ के लिए भी यह सुविधा प्रदान करने का विचार किया। निर्यात साख योजना के अन्तर्गत बैंक ने साख की अवधि को बढा दिया। इस योजना के अन्तर्गत भारतीय फर्म द्वारा विदेशो मे निर्माण सम्बन्धी प्रायोजनाओ को वित्त प्रदान करना भी सम्मिलित किया गया।

वैसे तो भारतीय औद्योगिक विकास बैंक अन्य दीर्घकालीन ऋण प्रदान करने वाली सस्थाओ के साथ मिलकर उद्योगो को वित्त प्रदान करने की दिशा मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है, फिर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि उनका योगदान केवल सहायक के रूप मे ही है। निजी क्षेत्र के उद्योगो को वित्त प्रदान करने के लिये इन दीर्घकालीन सस्थाओ के पास अधिकाश मात्रा मे कोष केन्द्रीय सरकार से ही प्राप्त होता है। निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगो के लिये वैत्तिक साधन एक सम्मिलित धनराशि से ही प्राप्त होता है और दोनो ही क्षेत्रो की आवश्यकताओ एव साधन के मध्य उचित सामजस्य स्थापित करना आवश्यक है। इसी कारण अधिकाश कोष को सार्वजनिक क्षेत्र से निजी क्षेत्र की ओर ले जाने मे कठिनाई होती है। अत, उद्योगो के प्रवर्तको को प्रायोजना की लागत के अधिकाश भाग के लिये योगदान स्वय देना होगा।

भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की स्थिति

अपने प्रथम पाँच वर्ष की अवधि मे (जो जून १९६९ को समाप्त हुई) इस बैंक ने विभिन्न प्रकार की कुल सहायता, प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष, २७८ करोड़, रुपये की दी। ऋण के रूप मे प्रत्यक्ष सहायता (निर्यात को छोड कर) तथा अभिगोपन, जो १०२ औद्योगिक सस्थाओं को स्वीकृत किया गया, कुल मिला कर ११९ करोड रुपये का रहा जो कि ७३४ करोड रुपये के कुल प्रायोजना-लागत मे से था। ११९ करोड़ रुपये मे से, ७३ करोड रुपया नवीन इकाइयो को स्वीकृत किया गया तथा ७६ करोड रुपया स्थापित इकाइयो को विस्तार, आधुनिकीकरण अथवा विभिन्नीकरण के लिये दिया गया। औद्योगिक ऋण के विरुद्ध जो पुनर्वित्त

प्रदान किया गया वह कुल ८६ करोड रुपये था जिसके अन्तर्गत ३१० करोड रुपये की कुल पूँजी लागत वाली ८२६ प्रायोजनाये थी। पुन बट्टे पर भुनाने की योजना के अन्तर्गत दी गई सहायता ३७ करोड़ रुपये की थी जिससे १०७ मशीन-निर्माताओं तथा ५१८ मशीन के क्रेता-उपयोगकर्ताओ को लाभ हुआ।

प्रत्यक्ष सहायता के अन्तर्गत, इस बैंक ने अनेक लघु तथा मध्यम आकार वाली प्रायोजनाओ की ओर विशेष ध्यान दिया। इस बैंक ने बड़े तथा प्रमुख प्रायोजनाओं की सभी आवश्यक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए प्रत्यक्ष सहायता स्वीकृत करने की निति अपनाई जिससे प्रवर्तको को पूरा आश्वासन प्राप्त रहे और वे अन्य प्रबन्ध सुचारु रूप से कर सके। कई प्रायोजनाओ के लिये, इसने अन्य वित्तीय सस्थाओ को अधिकाधिक वित्त प्रदान करने की अनुमति भी दी।

१९६८-६९ मे इस बैंक को प्रमुख उद्योग मे किसी नवीन तथा बडी प्रायोजना के लिये सहायता स्वीकृत करने का अवसर न मिला। पश्चायन के कारण दो वर्ष तक जो मन्दी का प्रभाव रहा, उससे बडे उद्यमी पूर्णरूपेण समाप्त नही हुए। १९६५-६६ तथा १९६६-६७ मे दो बडे अलॉय इस्पात प्रायोजनाओ के लिये जो सहायता स्वीकृत की गई थी उसे रद्द करना पडा था क्योकि उद्यमी उन्हे कार्यान्वित करने मे असमर्थ पाये गये।

वैसे भी बैंक का प्रयास यही रहता है कि उसके पास जो साधन हैं उसमे से न्यूनतम सीमा तक ही सहायता दी जाय और विशेष रूप से यह ऐसा इस लिए करती है कि लोग यथासभव बचत का भी सचरण करने के लिये प्रयास करते रहे और पूर्णरूपेण इसी पर निर्भर न रहे। बडी प्रायोजनाओ वाली कम्पनियो को, जो ५ करोड़ रुपये से अधिक पूंजी लगाना चाहती थी, इस बैंक ने यह समझाने का प्रयत्न किया कि ऋण पर अधिक निर्भर रहने के स्थान पर उन्हें अधिक से अधिक पूँजी लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। वैसे प्रवृत्ति यह पाई जा रही है कि वे इन वित्तीय सस्थाओ पर अधिक से अधिक निर्भर रहना चाहती है। प्रबन्ध अभिकर्ताओ के समाप्त होने के साथ ही इस प्रवृत्ति को और भी बल मिला है।

उपर्युक्त प्रवृत्ति के होने के कारण समस्या और कठिनतर हो जाती यदि इस क्षेत्र मे केवल यह औद्योगिक विकास बैंक अकेला होता। वास्तविकता तो यह है कि एक ऐसा फोरम बना लिया गया है जहाँ चारो अखिल-भारतीय दीर्घ-कालीन वित्त प्रदान करने वाली सस्थाये प्रति माह मिलती हे और इससे बहुत लाभ पहुचा है।

दूसरी महत्वपूर्ण नीति जो इस बैंक ने अपनाई, वह सार्वजनिक क्षेत्र को प्रत्यक्ष सहायता पहुचाने के सम्बन्ध मे निर्णय लेना है। बैंक ने यह निश्चय किया

कि विस्तार तथा विभिन्नीकरण के लिये उन सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो को प्रत्यक्ष वित्तीय सहायता प्रदान की जायगी, जिन्होने लाभाश की घोषणा की हो, जिनके पास नवीन कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिये अशत आन्तरिक साधन उपलब्ध हो तथा जो इस बैंक की शर्तो को मानने के लिये तैयार हो। वैसे इन उपक्रमो के लिये अप्रत्यक्ष सहायता तो यह बैंक पहिले से ही दे रहा है।

१९७०-७१ के बजट मे इस बैंक के लिये कोई भी वित्तीय निर्धारण नही किया गया जैसा कि जुलाई १९६४ से, इसके आरभ से, ही होता चला आ रहा था। इस प्रकार यह बैंक केन्द्रीय सरकार पर वित्त के लिये अगले वर्ष से निर्भर न रहेगा। बैंक को पूँजी बाजार से वित्त प्राप्त करना होगा और परिणामस्वरूप इसे ब्याज की दर बढानी पड सकती है क्योकि खुले बाजार से रुपया उधार लेने की लागत बढती जा रही है। आरभिक वर्षो मे बैंक ने जो सहायता प्रदान की है उसमे से पुनर्भुगतान प्राप्त होने पर इसके साधन मे वृद्धि होगी। वैसे, यह रिजर्व बैंक के दीर्घकालीन औद्योगिक साख कोष से भी धन प्राप्त कर सकता है।

अध्याय १७

योजनाओं के अन्तर्गत उद्योगों की वित्त व्यवस्था

भारतवर्ष मे द्वितीय महायुद्ध तथा युद्धोत्तर काल मे औद्योगिक विकास अधिकाशतया समकालीन मुद्रा-स्फीति तथा अभाव की दशाओ से ही प्रभावित था। इसके परिणामस्वरूप उद्योगो के विकास के सम्बन्ध मे दीर्घकालीन घटको की ओर आवश्यक ध्यान नही दिया गया। उद्योगो का वैज्ञानिक स्थानीयकरण, सचालन का स्तर अथवा आकार, कच्चे माल की उपलब्धता, बाजार का आकार तथा प्रतिस्पर्द्धात्मक दशाओ मे सगठन का सफलतापूर्वक सचालन हेतु वैत्तिक तथा तकनीकी सगठन जैसी महत्वपूर्ण बातो पर विशेष विचार नही किया गया। विविध पाली मे कार्य करने की युद्धकालीन आवश्यकताओ तथा ह्रास एव प्रतिस्थापन के लिये आयात करने की कठिनाइयो के कारण प्रतिष्ठित उद्योगो मे बहुत बडी मात्रा मे बकाया एकत्र होता चला गया। प्रथम पचवर्षीय योजना से पूर्व, औद्योगिक विकास मे उपभोक्ता पदार्थ के उद्योगो पर ही विशेष बल दिया जा रहा था और प्रमुख पूँजीगत पदार्थो के उद्योगो की उन्नति नही हो रही थी। पूँजीगत पदार्थो के उद्योग तथा माध्यमिक पदार्थों का निर्माण करने वाले उद्योगो की दशा मे उपलब्ध क्षमता देश मे अधिकाश दशाओ मे अपर्याप्त थी। लोहा एव इस्पात, अल्युमीनियम, फेरो-अलायज, कास्टिक सोडा तथा सोडा ऐश, रसायनिक खाद तथा पेट्रोल आदि के उत्पादन को अत्यधिक मात्रा मे बिना बढाये देश मे औद्योगिक उन्नति तीव्र दर से नही की जा सकती। उपरोक्त सभी पदार्थो की माँग देश के ही द्वारा की जाने वाली पूर्ति से कही अधिक थी। मशीन तथा सयन्त्रो के निर्माण की दिशा मे भी विकास नाम-मात्र का हुआ था। केवल सूती वस्त्र के लिये मशीन उद्योग की ही स्थापना हुई थी। सश्लिष्ट औषधि तथा प्रतिजीवाणु पदार्थ, रगने के पदार्थ तथा रसायन के सबध मे भी उद्योगो का विकास होना केवल आरम्भ ही हुआ था। ऐसी परिस्थितियो मे, औद्योगिक योजना का उद्देश्य इन कमियो तथा अभावो को यथा सभव पूरा करना था और विकास का आरम्भ करने के लिये पहल करना था जिससे कि औद्योगिक क्षेत्र मे सचयी विस्तार के लिये आधार बन सके।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

प्रथम पचवर्षीय योजना मे औद्योगिक विकास के लिये प्राथमिकताओ को निर्धारित करने के साथ-साथ, तात्कालिक उद्देश्यो को, उपलब्ध साधनो को तथा सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र के सचालन के सम्बध मे नीति के प्रमुख स्वरूप को भी ध्यान मे रखा गया था। औद्योगिक क्षेत्र मे सामान्य रूप से निम्नलिखित प्राथमिकताये रखी गई थी :

(१) जूट, प्लाईबुड आदि उत्पादक उद्योगो तथा सूती वस्त्र, चीनी, साबुन, वनस्पति, पेण्ट, वार्निश आदि उपभोक्ता उद्योगो की विद्यमान क्षमता का सम्पूर्ण उपयोग करना;

(२) लोहा एव इस्पात, अल्युमीनियम, सीमेट, खाद, भारी रसायन, मशीन टूल आदि उत्पादक तथा पूंजीगत उद्योगो मे क्षमता का विस्तार करना;

(३) उन औद्योगिक इकाइयो को पूरा करना जिन पर कुछ पूंजीगत विनियोग किया जा चुका था, तथा

(४) जिप्सम से गधक बनाना, रेयन के लिये रसायनिक लुग्दी बनाना जैसे नवीन उद्योगो की स्थापना करके औद्योगिक सरचना को सुदृढ करना तथा साधनो के अनुसार जितना हो सके वर्तमान दोषो को दूर करना।

प्राथमिकताओ का जो उपर्युक्त क्रम दिया गया है उसका तात्पर्य केवल एक सामान्य दिशा बताना है जिसके अनुसार योजना काल मे विभिन्न दिशाओ मे विनियोग को प्रवाहित करने की समस्या सुलझ सके। इसी कारण यह कहा जा सकता है कि प्राथमिकताओ का उल्लेख अन्तिम नही है।

केन्द्रीय सरकार तथा राज्य के लिये योजना मे सम्मिलित प्रायोजनाओ पर पाच वर्ष के लिये कुल ९४ करोड रुपये व्यय किये जाने का अनुमान था। इस व्यय का अधिकाश भाग—लगभग ८३ करोड रुपये—केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत प्रायोजनाओ के लिये ही था। राज्य सरकारों के अन्तर्गत कार्यान्वित किये जाने वाली प्रायोजनाओ पर ११ करोड रुपया व्यय किये जाने का अनुमान था जिसमे से ४८ करोड रुपया केन्द्रीय सरकार को उन्हे ऋण के रूप मे प्रदान करना था। इस क्षेत्र मे अधिकाश प्रायोजनाये पूंजीगत वस्तुओ के अथवा माध्यमिक वस्तुओ के निर्माण से सम्बन्धित थी जो केवल आवश्यकताओ के दृष्टिकोण से ही नही अपितु भावी आर्थिक विकास के लिये भी अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। उनके पूरा हो जाने पर यह आशा की जाती थी कि औद्योगिक सरचना की तात्कालिक कमियो तथा

दोषो को दूर किया जा सकेगा । योजना मे सम्मिलित प्रमुख नवीन औद्योगिक प्रायोजना लोहा एव इस्पात का उत्पादन था ।

निजी क्षेत्र मे औद्योगिक विस्तार के लिये कार्यक्रम पर २३३ करोड रुपये व्यय किया जाना था। साथ ही पाँच वर्ष की अवधि के लिये प्लाण्ट एव मशीन के प्रतिस्थापन तथा विभिन्न उद्योगो के आधुनिकीकरण पर १५० करोड रुपया व्यय किये जाने का अनुमान था । यह ध्यान देने योग्य बात है कि सार्वजनिक क्षेत्र मे औद्योगिक विस्तार के सम्बन्ध मे कुछ प्रमुख दिशाओ मे विनियोग के लिये पहल करने तथा उसके बढाने पर अधिक जोर था, जबकि अधिकाश उद्योगो मे आवश्यक विस्तार करने के लिये पहल तथा उत्तरदायित्व का भार निजी उपक्रमो के ही कन्धो पर था । औद्योगिक विस्तार के लिये पूर्ण पूँजी विनियोग (२३३ करोड रुपये) का लगभग ८० प्रतिशत पूँजीगत तथा उत्पादक उद्योगो पर व्यय किया जाना था। इनमे से प्रमुख थे लोहा एव इस्पात (४३ करोड रुपये), पेट्रोल सशोधन (६४ करोड रुपये), सीमेण्ट (१५ ४ करोड रुपये), अल्यूमीनियम (६ करोड रुपये), खाद, भारी रसायन तथा शक्ति अल्कोहल (११ करोड रुपये), विद्युत शक्ति प्रजनन (१६ करोड रुपये) । उपभोक्ता उद्योगो की दशा मे, यद्यपि स्थापित क्षमता का अधिकाधिक उपयोग करके ही उत्पादन को बढाने पर अधिक जोर दिया गया था, कुछ नवीन क्षेत्रो मे भी पर्याप्त विनियोग करने की योजना थी, जैसे रेयन (१५ १ करोड रुपये), कागज तथा बोर्ड (५ ३५ करोड रुपये), फार्मास्यूटिकल्स (३ ५ करोड रुपये) । वस्त्र उद्योग के कार्यक्रम के अन्तर्गत सूत, सूती एव ऊनी दोनो ही, की क्षमता मे पर्याप्त विस्तार करना सम्मिलित किया गया था । योजना बनाने वालो का यह विचार था कि ऐसी अर्थव्यवस्था मे, जिसका पूर्णतया केन्द्रीयकरण न हुआ हो, सरकार विनियोग की वास्तविक दिशा को निर्धारित नही कर सकती है अपितु उसे केवल प्रभावित कर सकती है । विकास का कार्यक्रम व्यावहारिकता तथा आवश्यकता के सम्बन्ध मे सर्वोत्तम निर्णय पर ही आधारित था। इन कार्यक्रमो को पूरा करने के लिये निजी क्षेत्र इस बात पर बहुत कुछ निर्भर था कि आवश्यक वित्त उसके लिये उपलब्ध होता है या नही । अतिरिक्त चालू पूँजी सम्बन्धी आवश्यकता का उत्पादन के अनुरूप ही बढने का अनुमान था और उसके लिये १५० करोड रुपये का अनुमान किया था । चालू ह्रास की राशि का जो कि आय-कर के अन्तर्गत नही आती थी अनुमान ८० करोड रुपये था ।

सार्वजनिक क्षेत्र मे कुल विनियोग — ९४ करोड रुपये — की व्यवस्था इसे अपने ही साधनो से करनी थी और इसमे विदेशी विनियोग तथा घरेलू निजी

साधनो से सहयोग मिलने की भी आशा थी। सार्वजनिक क्षेत्र मे औद्योगिक योजना के अन्तर्गत कुछ प्रायोजनाओ मे निजी पूंजी के, देशी तथा विदेशी, भाग लेने की भी व्यवस्था थी। निजी पूंजी के रूप मे इस प्रकार २० करोड रुपये के योगदान होने की आशा थी। इस प्रकार यह ध्यान देने योग्य है कि कुल निर्धारित विनियोग का ७५ प्रतिशत भारत मे निजी क्षेत्र को ही प्रदान करना था, उसका १० प्रतिशत सार्वजनिक क्षेत्र के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से विनियोजित किया जाना था और शेष का आयात किया जाना था। उद्योगो को विदेशी विनियोग १०० करोड रुपये होने की आशा थी। कम्पनी के अविभाजित लाभ मे से २०० करोड रुपये के प्राप्त होने की आशा थी और नवीन निर्गमन के द्वारा १०० करोड रुपये प्राप्त होने की सभावना थी। सरकार से ५ करोड रुपये के ऋण तथा औद्योगिक वित्त निगम से २० करोड रुपये के ऋण की व्यवस्था थी। अतिरिक्त लाभ का निक्षेप से ६० करोड रुपये वापस होने की सभावना थी। अल्पकालीन वित्त के लिये बैंक तथा अन्य साधनो से १५८ करोड रुपये प्राप्त होने की सभावना थी।

प्रथम योजना के अन्तर्गत प्रगति. यदि औद्योगिक उत्पादन के निदेशाक मे वृद्धि के दृष्टिकोण से ही केवल देखे, तो प्रथम योजना के अन्तर्गत उद्योगो का विकास सन्तोषजनक ही रहा था। औद्योगिक उत्पादन मे सतत वृद्धि होते रहना एक महत्वपूर्ण विशेषता थी। १९५१ से और उसके पश्चात् उसमे महत्वपूर्ण तथा सतत वृद्धि होती रही थी। परन्तु यदि उन्नति को प्रथम योजना के अन्तर्गत निर्धारित उद्देश्यो, प्राथमिकताओ तथा क्षमता एव उत्पादन के स्तर के दृष्टिकोण से देखा जाय, तो वह बहुत सन्तोषजनक नही दिखाई देगी।

सार्वजनिक क्षेत्र मे प्रगति प्रथम योजना मे उद्योगो की प्रगति का मूल्याकन करते हुए, योजना आयोग को यह ज्ञात हुआ कि सिन्दरी उर्वरक फैक्टरी, चितरजन रेल इजन फैक्टरी, भारतीय टेलीफोन उद्योग, रेल के डिब्बे का कारखाना, केबिल फैक्टरी, पेनिसिलीन फैक्टरी मे क्षमता के विस्तार तथा उत्पादन मे सन्तोषजनक प्रगति हुई। दूसरी ओर, केन्द्रीय एव राज्य सरकार के अन्तर्गत कुछ प्रायोजनाओ की प्रगति योजना के अनुसार नही रही। उन प्रायोजनाओ के पूर्ण होने मे तथा उत्पादन के आरभ होने मे आशा से अधिक समय भी लगा। उदाहरण के लिए, मशीन टूल फैक्टरी, उत्तर प्रदेश सीमेण्ट फैक्टरी, नेफा फैक्टरी तथा बिहार सुपरफास्फेट फैक्टरी मे योजना के अनुसार प्रगति नही रही। लोहा और इस्पात उद्योग मे उत्पादन का लक्ष्य पूरा नही हुआ यद्यपि प्रथम योजना के अन्त तक प्रत्येक १० लाख टन क्षमता वाले तीन इस्पात सयत्रों की स्थापना के सम्बन्ध मे प्रारभिक कार्य समाप्त हो चुका था और इस प्रकार भविष्य मे लोहा,

इस्पात उद्योग का तेजी से विकास करने के लिए आधार तैयार किया जा चुका था। साथ ही, भारी विद्युत मयत्र के लिए प्रारंभिक कार्य के समाप्त होने, तथा ऐसोशियेटेड इलेक्ट्रिकल इण्डस्ट्रीज लि० के साथ समझौते पर हस्ताक्षर होने के अतिरिक्त, प्रथम योजना काल मे इस प्रायोजना पर महत्वपूर्ण विनियोग नही किया गया था।

सार्वजनिक क्षेत्र मे यद्यपि ६४ करोड़ रुपये विनियोजित करने की व्यवस्था थी, परन्तु वास्तविक व्यय ५७ करोड रुपये ही रहा। राज्य सरकारो का औद्योगिक प्रायोजनाओ पर विनियोग ९.९४ करोड रुपये रहा जबकि मूल प्रावधान ८.९६ करोड रुपये का ही था और इस प्रकार इसमे अधिक विनियोग रहा। वैसे केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत प्रायोजनाओ पर विनियोग के मूल अनुमान तथा वास्तविक विनियोग मे अन्तर रहा था। इस अन्तर का प्रमुख कारण लोहा और इस्पात प्रायाजना को कार्यान्वित करने मे देरी, शिपयार्ड, मशीन टूल फैक्टरी तथा भारी विद्युत उपकरण प्रायोजना की दशाओ मे धीरे-धीरे प्रगति होना था। ९४ करोड रुपये के कुल विनियोग के अन्तर्गत वे उद्योग सम्मिलित न थे जिनकी प्रगति ५० करोड रुपये के कुल प्रावधान से की जानी थी, उदाहरण के लिए भारी विद्युत मशीन प्रायोजना, तथा वे योजनाये भी सम्मिलित न थी जो प्रथम योजना मे समायोजन के अन्तर्गत लाई गई थी, यथा, मैसूर सरकार पोर्सीलेन फैक्टरी का विस्तार करना।

निजी क्षेत्र मे प्रगति प्रथम योजना काल मे निजी क्षेत्र मे उद्योगो मे विस्तार करने के कार्यक्रम के लिए २३३ करोड रुपये विनियोजित करने का लक्ष्य था। विभिन्न उद्योगो मे प्लाट तथा मशीन के प्रतिस्थापन तथा आधुनिकीकरण के लिए २३० करोड रुपये व्यय किये जाने का अनुमान था जिसमे से ८० करोड रुपये उस अवधि मे पहले की अपेक्षाकृत मशीनो की लागत मे वृद्धि हो जाने के लिए था। इस प्रकार प्रथम योजना मे निजी क्षेत्र मे कुल ४६३ करोड रुपये का विनियोग नवीन प्रायोजनाओ, प्रतिस्थापन तथा आधुनिकीकरण पर किया जाना था। इसके विरुद्ध वास्तविक विनियोग ३४० करोड रुपये ही हुआ जो कि लक्ष्य से कम था।

कुछ उद्योगो मे विनियोग मे कमी के प्रमुख कारण थे (अ) योजना के प्रथम दो वर्षो मे सामान्यतया अनुकूल दशाओ का होना, (ब) काल्टेक्स रिफाइनरी, विशाखापटनम मे निर्माण कार्यक्रम मे तथा योजना के आकार मे परिवर्तन होना, (स) योजना से अन्तर्गत निर्धारित अल्युमीनियम, जिप्सम-गधक तथा

लुग्दी के कार्यक्रम मे देरी होना। मोटे तौर पर निजी क्षेत्र में विनियोग मे कमी उन्ही उद्योगो मे रही जिनमे पूंजी की आवश्यकता भारी मात्रा मे थी तथा जिनसे अधिक लाभ होने की सभावना न थी। साथ ही, राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (NIDC) तथा भारतीय औद्योगिक साख विनियोग निगम (ICICI) की स्थापना देर मे जाकर १६५४-५५ मे हुई।

नवीन इकाइयो तथा विस्तार मे कुल विनियोग २३३ करोड रुपये रहा क्योकि कुछ क्षेत्रो मे जैसे सूती वस्त्र, विद्युत प्रजनन, कागज तथा बोर्ड तथा सीमेण्ट आदि मे मूल अनुमान से अधिक विनियोग हुआ।

निजी क्षेत्र मे विभिन्न उद्योगो मे प्लाण्ट तथा मशीन के प्रतिस्थापन तथा आधुनिकीकरण पर १०५ करोड रुपये व्यय किये गये जबकि मूल रूप मे २३० करोड रुपये व्यय किए जाने थे। इसके परिणामस्वरूप पर्याप्त बकाया रह गई जिसे द्वितीय योजना के प्रारभिक भाग मे पूरा किया जाना था।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

द्वितीय पचवर्षीय योजना मे औद्योगीकरण को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गई। विशेष रूप से भारी तथा प्रमुख उद्योगो के विकास को प्राथमिकता दी गई। सार्वजनिक उपक्रमो का अधिकाश विस्तार औद्योगिक तथा खनिज विकास के क्षेत्र मे करने के लिये निश्चित किया गया। द्वितीय योजना से जो परिणाम उपलब्ध होने को थे वे अत्यन्त प्रभावशाली थे परन्तु साथ ही वास्तविक एव वैत्तिक साधनो के सचारण तथा उपयोग के लिये अधिक प्रयास की भी आवश्यकता थी। औद्योगिक कार्यक्रमो को कार्यान्वित करने के लिये सार्वजनिक क्षेत्र को ही अधिक महत्ता प्रदान की गई थी, परन्तु उसके साथ ही निजी क्षेत्र की महत्ता को भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया था। "दोनो क्षेत्रो को मिलकर कार्य करना होगा और उन्हे एक ही प्रक्रिया के भाग के रूप मे देखा जाना चाहिए। दोनो ही क्षेत्रो के एक-साथ तथा सतुलित विकास के आधार पर ही योजना को चलाया जा सकता है।" सार्वजनिक क्षेत्र मे, विनियोग सम्बन्धी निर्णय सार्वजनिक अधिकारियो द्वारा लिये जाते है। परन्तु निजी क्षेत्र की दशा मे, जिसके अन्तर्गत देश भर मे फैले हुए छोटे-छोटे लाखो उत्पादक आते है, सरकारी नीति प्रशुल्क उपायो से, लाइसेसिग, तथा प्रत्यक्ष वितरण द्वारा विनियोग सम्बन्धी निर्णयो को केवल प्रभावित कर सकती है जिससे कि लक्ष्य को उपलब्ध करने मे पर्याप्त सहायता मिल सके। इस क्षेत्र मे विनियोग सम्बन्धी अनुमान तथा लक्ष्य केवल मोटे तौर

पर बताये गये सकेत के रूप मे ही हो सकते हैं। ऐसी दशा मे साधन तथा उपलब्धियो के मध्य सामजस्य उतनी अच्छी तरह स्थापित नही किया जा सकता है जितना कि सरकार के द्वारा कार्यान्वित किये जाने वाले कार्यों मे हो सकता है। परन्तु यदि सरकार के द्वारा नियत्रित एव प्रभावित उपयुक्त मूल्य सरचना तैयार की जा सके तो निजी क्षेत्र मे भी साधनो का समुचित विभाजन हो सकता है।

प्रथम योजना मे औद्योगिक कार्यक्रम तथा प्राथमिकताये औद्योगिक नीति प्रस्ताव १९४८ के अन्तर्गत तैयार किये गये थे। १९४८ मे इस प्रस्ताव को अपनाने के पश्चात् से एक महत्वपूर्ण बात सामने आई। दिसम्बर, १९५४ मे भारतीय ससद के द्वारा सामाजिक एवं आर्थिक नीति के उद्देश्य के रूप मे समाजवादी समाज के स्वरूप को स्वीकृत कर लिया गया। १९४८ के प्रस्ताव का इस उद्देश्य की पृष्ठ भूमि मे तथा तब तक प्राप्त अनुभव के प्रकाश मे पुनर्मूल्याकन किया गया, और एक नवीन औद्योगिक नीति प्रस्ताव प्रधान मत्री ने अप्रैल ३०, १९५६ को ससद के समक्ष रखा। समाजवादी स्वरूप वाले समाज की स्थापना करने के लिये आर्थिक विकास की दर को तीव्र करना तथा औद्योगीकरण को गति प्रदान करना अत्यन्त आवश्यक था। विशेष रूप से भारी उद्योगो तथा मशीन निर्माण करने वाले उद्योगो की उन्नति करना आवश्यक था जिससे कि सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार तथा सहकारी क्षेत्र का निर्माण एव विस्तार हो सके।

द्वितीय पचवर्षीय योजना मे औद्योगिक प्राथमिकताये निम्नलिखित थी।

(१) लोहा एव इस्पात, नाइट्रोजन युक्त खाद, भारी रसायन के उत्पादन मे वृद्धि तथा भारी इजीनियरिंग एव मशीन-निर्माण उद्योग का विकास,

(२) विकासपूर्ण तथा उत्पादक पदार्थों के उद्योगो मे, यथा, अल्युमीनियम, सीमेण्ट, रसायनिक लुग्दी, रंगने के पदार्थ, फास्फेट युक्त खाद तथा आवश्यक औषधियाँ, की क्षमता मे विस्तार,

(३) जूट, सूती वस्त्र तथा चीनी जैसे महत्वपूर्ण राष्ट्रीय उद्योगो का, जिनकी स्थापना पहले हो चुकी है, आधुनिकीकरण तथा प्रतिस्थापन ;

(४) उन उद्योगो की विद्यमान क्षमता का पूर्ण उपयोग करना जिनकी निर्धारित क्षमता तथा उत्पादन मे अन्तर हो, तथा

(५) उद्योग के विकेन्द्रित क्षेत्र के लिये सम्मिलित उत्पादन कार्यक्रम तथा उत्पादन लक्ष्य की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए उपभोक्ता वस्तु के उद्योगो की क्षमता का विस्तार करना।

औद्योगिक विस्तार के लिये विनियोग द्वितीय योजना मे प्रमुख उद्योगो पर अधिक बल देने के परिणामस्वरूप, अर्थव्यवस्था को और सुदृढ बनाना निश्चित किया गया था और इस के लिये लोहा एव इस्पात, मशीन निर्माण, इजीनियरिग, विद्युत उपकरण तथा रसायन उद्योगो का विकास करना निश्चित किया गया। सार्वजनिक तथा निजी दोनो ही क्षेत्रो के बडे पैमाने के उद्योगो पर द्वितीय योजना मे औद्योगिक विकास के कार्यक्रम पर १०९४ करोड रुपये का विनियोग करने के लिये निर्धारित किया गया। यह प्रथम योजना के २९३ करोड रुपये के विनियोग से लगभग ३½ गुना था। औद्योगिक उत्पादन के दृष्टिकोण से द्वितीय योजना मे ४९ प्रतिशत वृद्धि करने का प्रस्ताव था जब कि प्रथम योजना मे इसकी अपेक्षाकृत ३८ प्रतिशत ही था। सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र मे विभिन्न उद्योगो मे विस्तार के अतिरिक्त, योजना के अन्तर्गत विद्यमान उद्योगो के, जैसे सूती एव जूट वस्त्र तथा चीनी, आधुनिकीकरण तथा प्रतिस्थापन के लिये १५० करोड रुपये का विनियोग करना निश्चित किया गया।

प्रगति का मूल्यांकन अत्यधिक विनियोग होने के उपरान्त भी (योजना अनुमान से लगभग ३० प्रतिशत अधिक) द्वितीय योजना मे निर्धारित भौतिक लक्ष्य ८५ से ९० प्रतिशत तक ही उपलब्ध किये जा सके। सीमेन्ट उद्योग के लिये जो अधिक ऊँचा लक्ष्य रखा गया था और वास्तव मे जो क्षमता प्राप्त की जा सकी, उसके कारण भौतिक उपलब्धियो के दृष्टिकोण से बहुत बडे अनुपात मे कमी रही। लोहा और इस्पात उद्योग के विस्तार के कार्यक्रम मे अत्यधिक मात्रा मे व्यय करना पडा क्योंकि मूल्यो मे वृद्धि होने के कारण लागत मूल अनुमान से अधिक हो गई। एक ओर व्यय मे अधिक वृद्धि हुई और दूसरी ओर कुछ प्रायोजनाओ और भौतिक लक्ष्यो को पूरा नहीं किया जा सका। उदाहरण के लिये द्वितीय योजना के अन्त मे औद्योगिक मशीन के उत्पादन का स्तर जितनी आशा की गई थी उससे कही कम था। अन्य महत्वपूर्ण कमिया लोहा एव इस्पात, नाइट्रोजनयुक्त खाद, अल्युमीनियम, अखबारी कागज तथा रसायनिक लुग्दी आदि के उत्पादन के सम्बन्ध मे पाई गई। साथ ही, द्वितीय योजना से यह अनुभव प्राप्त हुआ कि योजना का देश की अर्थ-व्यवस्था पर तथा तीव्र औद्योगीकरण पर क्या-क्या भार पड सकता है। इससे पूर्व घरेलू उद्योगो की कमी, प्रमुख औद्योगिक कच्चे माल की कमी तथा तकनीकी कुशल व्यक्तियो की कमी थी जिसके परिणामस्वरूप बाध्य हो कर मशीनो के लिये, कुशल तथा तकनीकी जानकारी वाले व्यक्तियो के लिये और अधिकाँश सीमा तक औद्योगिक कच्चे माल के लिये विदेशो पर निर्भर रहना पडा। यह भी ज्ञात हुआ

कि किसी भी प्रायोजना के आरभ करने और उत्पादन करने मे जो समय अन्तराल होता है वह आशा से कही अधिक होता है, विशेष रूप से भारी उद्योगो की दशा मे यह अधिक होता है। वैदेशिक विनिमय की कठिनाइयो पर, तथा राष्ट्रीय बचत तथा पूँजी निर्माण के निम्न स्तर पर, तथा तकनीकी ज्ञान एव अनुभव की कमी पर यदि हम समुचित विचार करते हुए देखे तो इस अवधि मे जो औद्योगिक विकास हुआ वह अत्यन्त प्रावैगिक ही रहा है।

सार्वजनिक क्षेत्र की प्रायोजनाओ पर १९५६-६१ मे कुल स्थायी विनियोग ७७० करोड रुपये हुआ जब कि मूल अनुमान ५६० करोड रुपये का था। निजी क्षेत्र की दशा मे, ८५० करोड रुपये का विनियोग किया गया जब कि मूल अनुमान ६८५ करोड रुपये का ही था। सिन्दरी उर्वरक फैक्टरी के विस्तार को छोड कर, जहाँ कि नवीन विनियोग अधिकाश तथा आन्तरिक साधनो से ही किया गया था, सार्वजनिक क्षेत्र की प्रायोजनाग्रो को सरकार के द्वारा अश पँजी तथा ऋण के रूप मे अग्रिम के माध्यम से ही कार्यान्वित किया गया। इस्पात के सरकारी कारखाने, मशीन निर्माण, खान से सम्बन्धित उपकरण, तथा भारी फाउन्ड्री/फोर्ज प्रायोजनाओ के लिए आवश्यक विदेशी विनिमय को मित्र देशो द्वारा दिये गये साख के आधार पर ही पूरा किया गया। निजी क्षेत्र मे इस्पात के विस्तार के कार्यक्रम के लिये बैक से तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय स्रोतो से ७० करोड रुपये प्राप्त हुए तथा भारत सरकार से ब्याज-मुक्त अग्रिम २० करोड रुपये का प्राप्त हुआ था। निजी उपक्रमो मे जो उच्च स्तर का विनियोग किया गया वह अधिकाश अस्थगित भुगतान व्यवस्था के माध्यम से ही उपलब्ध हो सका था।

तृतीय पचवर्षीय योजना

तृतीय योजना मे पूंजीगत तथा उत्पादक पदार्थो के उद्योगो के विस्तार पर बल दिया गया। मशीन-निर्माण, प्रबन्धकीय योग्यता, तकनीकी ज्ञान, तथा डिजायन करने की क्षमता पर विशेष रूप से बल दिया गया। इस दिशा मे सार्वजनिक क्षेत्र को महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की गई और साथ ही निजी क्षेत्र से भी यह ग्राशा की जाती थी कि योजना के ढाँचे के अन्तर्गत वह भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगा। निर्माण करने वाले उद्योगो के शुद्ध उत्पादन मे सार्वजनिक क्षेत्र का भाग १९६०-६१ मे लगभग १/१० से बढाकर १९६५-६६ मे लगभग १/४ करना था और इनमे से अधिकाश पूँजीगत तथा उत्पादक पदार्थो का उत्पादन करना था।

तृतीय योजना के अन्तर्गत निरन्तर इसी बात पर बल दिया जा रहा था कि उन उद्योगो का विकास किया जाय जिनसे अर्थ-व्यवस्था को आत्म-निर्भर बनाना

जा सके, उदाहरण के लिये, इस्पात, मशीन-निर्माण तथा उत्पादक पदार्थो का विनिर्माण आदि। इस प्रकार इन पदार्थों का निर्माण करके इन वस्तुओ का क्रय करने के लिये विदेशी सहायता पर निर्भरता को भी तेजी से कम करने का प्रयास किया जाय और साथ ही निर्यात के लिये सभावनाओ को बढाया जाय। उपभोक्ता पदार्थों के उत्पादन को भी पर्याप्त मात्रा मे बढाने के लिये प्रस्ताव रखा गया, परन्तु इनका विस्तार मुख्य रूप से निजी क्षेत्र मे ही करना था। इन सब विकास के कार्यक्रमो के कार्यान्वित हो जाने के पश्चात् औद्योगिक उत्पादन का लगभग ७० प्रतिशत से बढ जाने की सभावना थी। परन्तु इस वृद्धि से अधिक महत्वपूर्ण बात लोहा एव इस्पात्, मशीन तथा रसायनिक पदार्थो के उद्योगों का विकास होना था।

तृतीय योजना मे उद्योगो का विस्तार औद्योगिक नीति प्रस्ताव १९५६ से प्रभावित था। जैसा कि द्वितीय योजना मे था, सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र दोनो की ही भूमिका एक दूसरे की सहायक ही मानी गई। औद्योगिक विस्तार की योजना को इस प्रकार से कार्यान्वित किया जाना था कि विभिन्न क्षेत्रो मे सन्तुलन स्थापित हो सके। वैसे इस सम्बन्ध मे कुछ सामान्य बातो को भी ध्यान मे रखा गया। प्रथम, जहाँ कही भी उत्पादन तथा क्षमता मे महत्वपूर्ण अन्तर था, या जहाँ कही भी अनेक पारियो मे उत्पादन करके या अन्य प्रकार से कम लागत पर अधिकाधिक उत्पादन सभव था, वहा पर नई इकाइयो की स्थापना अथवा विद्यमान इकाइयो के विस्तार के स्थान पर, स्थापित क्षमता का पूर्ण उपयोग किये जाने पर ही अधिक बल दिया जाय। दूसरे, नवीन इकाइयो की स्थापना की अपेक्षाकृत विद्यमान इकाइयो के विस्तार पर ही विशेष बल दिया जाय क्योकि इस प्रकार से अतिरिक्त क्षमता बढाना शीघ्रतर सभव था और साथ ही इस प्रकार से उत्पादन की प्रत्येक इकाई के लिये विनियोग की लागत भी कम ही होगी। नवीन इकाइयो के विकास के सम्बन्ध मे विशेष बल उन्ही प्रायोजनाओ पर दिया जो कि निर्यात मे अपना योगदान दे सकें। इन सामान्य बातो के अन्तर्गत ही, तृतीय योजना मे कार्यक्रमों एव प्रायोजनाओ के लिये निम्नलिखित प्राथमिकताएँ ही निर्धारित की गई थी :—

(१) द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत निर्धारित उन प्रायोजनाओं को पूरा करना जिन्हे कार्यान्वित किया जा रहा था या जिनका कार्यान्वित किया जाना १९५७-५८ मे वैदेशिक विनिमय की कठिनाइयो के कारण स्थगित कर दिया गया था।

(२) भारी इंजीनियरिंग तथा मशीन-निर्माण करने वाले उद्योगों की, अलॉय टूल तथा विशेष इस्पात, लोहा एव इस्पात तथा फेरो-अलाय की क्षमता मे

विस्तार करना तथा उनका विभिन्नीकरण, तथा उर्वरक एव पैट्रोल के उत्पादन मे वृद्धि करना।

(३) प्रमुख आधारभूत कच्चे माल तथा उत्पादक पदार्थों के, जैसे अल्युमीनियम, खनिज तेल, प्रमुख रसायन पदार्थ, उत्पादन मे वृद्धि करना।

(४) घरेलू उद्योगो द्वारा उन पदार्थों के उत्पादन मे वृद्धि करना जिनसे प्रमुख आवश्यकताओ की पूर्ति होती है जैसे, औषधि, कागज, वस्त्र, चीनी, वनस्पति तेल आदि।

वित्तीय विनियोग. तृतीय योजना के अन्तर्गत उद्योगो तथा खनिज के विकास कार्यक्रमो के लिए २,९९३ करोड रुपये विनियोजित करना निर्धारित किया गया था जिससे कि सभी भौतिक लक्ष्यो की पूर्ति हो सके। वैदेशिक विनिमय के रूप मे १३३८ करोड रुपया व्यय होने का अनुमान था। इसका विस्तृत विवरण निम्नलिखित तालिका से ज्ञात किया जा सकता है:

तालिका १

(रुपये करोड में)

	सार्वजनिक क्षेत्र		निजी क्षेत्र		योग	
	वैदेशिक विनिमय	योग	वैदेशिक विनिमय	योग	वैदेशिक विनिमय	योग
नवीन विनियोग						
खनिज विकास	२००	४७८	२८	६०	२२८	५३८
औद्योगिक विकास	६६०	१,३३०	४५०	१,१२५	१,११०	२,४५५
योग	८६०	१,८०८	४७८	१,१८५	१,३३८	२,९९३
प्रतिस्थापन	—	—	५०	१५०	५०	१५०

प्रतिस्थापन पर किये जाने वाले विनियोग का अनुमान, जैसा कि तालिका १ मे दिखाया गया है, सूती वस्त्र, जूट वस्त्र तथा ऊनी वस्त्र आदि उद्योगो की न्यूनतम आवश्यकताओ से कम था। इन उद्योगो की आवश्यकताओ के सम्बन्ध मे हाल मे ही अध्ययन किया गया है। केवल इन तीन उद्योगो की दशा मे ही प्रतिस्थापन के सम्बन्ध मे १६९ करोड रुपये कम था। तृतीय योजना मे १५० करोड रुपये का प्रतिस्थापन पर विनियोग के सम्बन्ध मे अनुमान द्वितीय योजना के अन्तर्गत वास्तविक उपलब्धियो के अनुरूप रखा गया था। इस अनुमान को

भी इस दृष्टिकोण से आशापूर्ण माना गया था कि (१) निजी उपक्रमो तथा सस्थागत एजेंसी के पास जितना उपलब्ध साधन है उस पर भी अत्यधिक दबाव है, (२) ऐसी मिले, जहाँ प्रतिस्थापन की अत्यधिक आवश्यकता थी, इस स्थिति मे है कि वे आवश्यकता के अनुरूप साधन एकत्र कर सकती है, और (३) तृतीय योजना मे राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम को साधन प्रदान किया गया है जिससे कि वह इन कार्यक्रमो के लिये वित्तीय सहायता प्रदान कर सके।

आवश्यकताओ के अनुमान के अपेक्षाकृत सार्वजनिक तथा निजी दोनो ही क्षेत्रो के कार्यक्रमो के लिये उपलब्ध साधन कम थे। सार्वजनिक क्षेत्र मे उद्योगो तथा खनिज पर चालू विनियोग तथा निजी क्षेत्र के कार्यक्रम के लिये उपलब्ध साधनो का अनुमान केवल २,७२० करोड रुपया ही था—इसमे से १,४७० करोड रुपये सार्वजनिक क्षेत्र के लिये तथा १,२५० करोड रुपये निजी क्षेत्र के लिये था। यह आशा की जाती थी कि युद्ध से पूर्व स्थापित कुछ उद्योगो मे प्रतिस्थापन तथा आधुनिकीकरण के लिये १५० करोड रुपये प्राप्त हो जायेगे। योजना आयोग ने तृतीय योजना मे यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया और इस बात का उल्लेख किया कि यह सभव है कि तृतीय योजना मे दोनो ही क्षेत्रो मे कार्यक्रम पूर्ण रूप से कार्यान्वित न हो सके और तृतीय योजना के अन्त तक भौतिक लक्ष्यो की पूर्ति न हो सके।

सार्वजनिक क्षेत्र केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत प्रायोजनाओ को तीन वर्गो मे बाँटा गया (अ) ऐसी प्रायोजनाये जो कार्यान्वित की जा रही हो और जिन्हे द्वितीय योजना से लाया गया हो, (ब) नवीन प्रायोजनाये जिनके लिये विदेशी पूंजी के सम्बन्ध मे पूर्णतया अथवा अशत. आश्वासन प्राप्त हो चुका हो, और (स) नवीन प्रायोजनाये जिनके लिये विदेशी पूंजी की व्यवस्था अभी करनी हो। इस बात पर बल दिया गया कि वर्ग (अ) के अन्तर्गत आने वाली सभी प्रायोजनाओ को तृतीय योजना के अन्तर्गत ही कार्यान्वित किया जायेगा। वर्ग (ब) के अन्तर्गत आने वाली अधिकाश प्रायोजनाओ के सम्बन्ध मे भी यही बात निश्चित की गई थी, परन्तु उनमे से कुछ निर्माण की प्रारभिक अवस्था मे ही थी, जैसे प्रिसीजन इक्विपमेट प्रोजेक्ट तथा दो भारी विद्युत प्रोजेक्ट, जिन्हे कुछ सीमा तक चतुर्थ योजना मे ले जाना पड सकता था। वर्ग (स) मे आने वाली प्रायोजनाओ के सम्बन्ध मे सबसे अधिक अनिश्चितता थी।

सार्वजनिक क्षेत्र मे अधिकाश औद्योगिक प्रायोजनाये लोहा एव इस्पात, औद्योगिक मशीन, भारी विद्युत उपकरण, मशीन टूल, खाद, आधारभूत रसायन, आवश्यक औषधि तथा पेट्रोल शोधन आदि थी।

सार्वजनिक क्षेत्र मे अधिकाश औद्योगिक प्रायोजनाओ के लिये कोष की व्यवस्था, द्वितीय योजना की ही तरह, सरकार को करनी थी। साथ ही, कुछ उपक्रमो को अपने आन्तरिक साधनो द्वारा भी पर्याप्त मात्रा मे साधन जुटाने थे। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो के उत्पादन के सम्बन्ध मे पूर्वानुमान के आधार पर यह अनुमान लगाया गया था कि औद्योगिक विनियोग के लिये वित्त के रूप मे ३०० करोड रुपये उनके आन्तरिक साधनो से ही उपलब्ध हो सकेगा। इसमे से अधिकाश राशि सार्वजनिक क्षेत्र मे स्थापित इस्पात के कारखानो तथा खाद के कारखानो से प्राप्त होनी थी। हिन्दुस्तान मशीन टूल कारखाने को अपने ही सगठन के अन्तर्गत एक अथवा दो मशीन टूल कारखानो की स्थापना करनी थी जिसके लिये वित्त की व्यवस्था उसे अपने ही आन्तरिक साधनों से करनी थी।

जहाँ तक राज्य सरकारो का सम्बन्ध है, वित्त की व्यवस्था केवल योजना के अन्तर्गत विभिन्न प्रायोजनाओ के लिये ही नही करनी थी अपितु राज्य वित्त निगम तथा औद्योगिक विकास क्षेत्र योजना के लिये भी वित्त की व्यवस्था करनी थी। औद्योगिक विकास क्षेत्र योजना को कार्यान्वित करके यह आशा की जाती थी कि उन क्षेत्रो मे भी उद्योगो का विकास हो सकेगा जो कि औद्योगिक दृष्टिकोण से पिछडे हुए है।

निजी क्षेत्र तृतीय योजना मे निजी क्षेत्र मे सकल स्थायी सम्पत्ति निर्माण के लिये विनियोग योग्य कोष की पूर्ति के लिये अनुमानित विभिन्न प्रकार के साधन निम्नलिखित थे .

(रुपया करोड मे)

सस्थागत एजेसी	१३०
केन्द्रीय तथा राज्य सरकार द्वारा प्रत्यक्ष ऋण/सहभागिता	२०
नवीन निर्गमन	२००
आन्तरिक साधन	६००
पूंजी मे प्रत्यक्ष विदेशी साख/सहभागिता	३००
योग	१,२५०

इन अनुमानो के अनुसार, निजी क्षेत्र के कार्यक्रम के लिये जितने कोष की आवश्यकता थी, जिसका अनुमान १,३३५ करोड रुपये था, उससे यह उपलब्ध

कोष, १२५० करोड रुपये, कम है। वित्तीय साधनो मे कमी होने के अतिरिक्त, सभी लक्ष्यो की पूर्ति के हेतु जितनी वैदेशिक विनिमय की आवश्यकता थी उससे भी कम मिलने की सभावना थी और यह समस्या अधिक जटिल थी। यह प्रयत्न किया जाना था कि उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगो के सम्बन्ध मे लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य हो जाय। इसके लिये, यह निश्चय किया गया कि औद्योगिक कार्यक्रमो का नियमित रूप से मूल्याकन किया जाय और प्रत्येक उद्योग को वैदेशिक विनिमय/साख केवल छ माह के लिये दी जाय। उसे देते समय उस उद्योग की प्रगति तथा प्राथमिकताओ को ध्यान मे रखा जाय।

निजी क्षेत्र मे १,३३५ करोड रुपये के विनियोग (१,१८५ करोड रुपये नवीन प्रायोजनाओं के लिये और १५० करोड रुपये आधुनिकीकरण तथा प्रतिस्थापन के लिये) का यह तात्पर्य था कि विद्यमान उद्योग पर्याप्त मात्रा मे सचय एकत्र कर पायेगे और उससे अपना विस्तार करेगे। साथ ही, नवीन उद्योग पूंजी बाजार से पूंजी प्राप्त कर सकेगे। परन्तु यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि उपलब्ध बचत मे से पूंजी प्राप्त करने के लिये सरकार तथा निजी क्षेत्र दोनो की स्थिति प्रतिस्पर्द्धात्मक होगी क्योकि उपलब्ध बचत तो सीमित होगी और उसी मे से दोनो को कोष प्राप्त करना होगा। इसका तात्पर्य यह है कि विनियोग के लिये उचित वातावरण को बनाये रखा जाय और उस की समय-समय पर या सतत् जॉच भी करते रहा जाय।

प्रगति का मूल्यांकन　तृतीय योजना मध्यकालीन मूल्याकन रिपोर्ट (तृतीय पचवर्षीय योजना की प्रगति के सम्बन्ध मे प्रथम सरकारी जॉच) के अन्तर्गत योजना के प्रथम दो वर्षो, यथा १९६१-६२ एव १९६२-६३, मे हुई प्रगति के विषय को ही लिया। उस समय तक हुई उन्नति की जॉच करते हुए, रिपोर्ट ने यह इगित किया कि अक्टूबर १९६२ से तृतीय योजना को राष्ट्रीय सुरक्षा का भय तथा सतत् सकट कालीन स्थिति की पृष्ठभूमि मे ही कार्यान्वित किया गया। वैसे तृतीय योजना को कार्यान्वित किया जाना राष्ट्रीय सुरक्षा का अग माना गया। राष्ट्रीय-आय मे उन्नति के दृष्टिकोण से, योजना के प्रथम दो वर्षो मे इसमे २ ५ प्रतिशत प्रति वर्ष की वृद्धि (१९६३-६४ मे यह ४ प्रतिशत थी) ५ प्रतिशत प्रति वर्ष के निर्धारित लक्ष्य से बहुत कम थी। विनियोग के दृष्टिकोण से, उपलब्धियाँ अत्यन्त उत्साहजनक रही थी। आशिक आँकडों को, जो कि उपलब्ध थे, देखने पर यह ज्ञात हुआ कि विनियोग सामरिक क्षेत्रो मे केवल अधिक ही नही था अपितु अत्यधिक दर से उस मे वृद्धि भी हो रही थी।

सम्पूर्ण विनियोग-आय तथा बचत-आय अनुपात मे पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी।

तृतीय योजना के प्रथम तीन वर्षो के लिये सार्वजनिक क्षेत्र मे उद्योगो तथा खनिज पर विनियोग का अनुपात उन पर पाँच वर्ष के लक्ष्य के अनुपात मे कम था। तृतीय योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र मे उद्योगो तथा खनिज पर कुल विनियोग तो १,५२० करोड़ रुपये था परन्तु १९६१-६२, १९६२-६३ (सशोधित), १९६३-६४ (बजट) मे विनियोग क्रमश १८६ करोड रुपये, २५८ करोड रुपये तथा ३६५ करोड रुपये था जिसका योग ८०९ करोड रुपये था या पूर्ण लक्ष्य पर विनियोग का ५३ प्रतिशत था।

यदि भौतिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो औद्योगिक क्षेत्र की प्रगति उत्साह जनक ही रही थी जैसा कि औद्योगिक उत्पादन के सूचनाक को देखने से ज्ञात होता है। प्रथम दो वर्षों मे औद्योगिक उत्पादन मे वृद्धि क्रमश. ६·५ तथा ८·० प्रतिशत हुई थी, जब कि लक्ष्य ११ प्रतिशत प्रति वर्ष का था। पूंजीगत तथा माध्यमिक पदार्थों के उत्पादन मे वृद्धि सभी उद्योगो की अपेक्षाकृत अधिक थी। इस्पात, अल्युमूनियम, मशीन टूल, विद्युत ट्रासफार्मर, खाद तथा कॉस्टिक सोडा के उद्योगो मे उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि हुई थी। परन्तु उपभोक्ता पदार्थ के उद्योगो मे अतिरिक्त उत्पादन अपेक्षाकृत कम था। वैसे, तृतीय योजना के आरभ के वर्षों मे जो कठिनाइयाँ रही है, जैसे यातायात के साधन की कमी, कोयले का अभाव, शक्ति का अभाव, वैदेशिक विनिमय की कठिनाइयाँ आदि, और जिनके कारण अर्थव्यवस्था सकट मे रही थी, औद्योगिक क्षेत्र की उपलब्धियो की जाँच करते समय उनको भी ध्यान मे रखना अति आवश्यक है।

मूल्याकन के सम्बन्ध मे दी गई रिपोर्ट मे निजी क्षेत्र मे औद्योगिक उन्नति के लिये उपलब्ध वित्त के विषय मे विवरण नही दिया गया था।

चतुर्थ योजना मे कम्पनी क्षेत्र के लिये कोष की आवश्यकता. अप्रैल, १९६४ मे, रिजर्व बैंक ने योजना आयोग को एक आलेख प्रस्तुत किया था जिसमें कम्पनी क्षेत्र के लिये कोष की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया था। उसमें यह अनुमान लगाया गया कि चतुर्थ योजना के लिये इस क्षेत्र मे ४,४५० करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी जब कि तृतीय योजना मे यह २,८०० करोड रुपये ही था। इस पूर्वानुमान पर कि खान तथा फैक्टरी से उदित होने वाली आय १० से ११ प्रतिशत वार्षिक औसत चक्रवृद्धि की दर से बढेगी, रिजर्व बैंक ने यह आशा व्यक्त की कि नवीन निर्गमन मे पर्याप्त वृद्धि होगी। यह वृद्धि नवीन

कम्पनियो के प्रवर्तन तथा विद्यमान कम्पनियो के विस्तार दोनो ही कारणो से १९६६-६७ से १९७०-७१ तक होगी।

रिजर्व बैंक का यह पूर्वानुमान था कि भविष्य मे छोटे विनियोक्ता, जीवन बीमा निगम तथा अन्य सस्थागत विनियोक्ता अश पूँजी मे अधिक भाग लेगे। परन्तु कम्पनी के क्षेत्र मे अधिकाश वित्त उन्हे अपने आन्तरिक साधनो से ही प्राप्त होगा। कम्पनी क्षेत्र के लिये आवश्यक धनराशि का आधे से अधिक अविभाजित आय तथा ह्रास सचय से प्राप्त होगा। द्वितीय योजना मे ह्रास पूर्वोपाय (कोष के स्रोत के रूप मे) सकल स्थायी सम्पत्ति का ४३ प्रतिशत रहा था और यह अनुमान लगाया गया था कि यही अनुपात अन्य योजनाओ मे भी रहेगा।

रिजर्व बैंक का यह अनुमान कम्पनी वित्त के अध्ययन तथा हाल के अनुभवो पर आधारित था। कम्पनी क्षेत्र के लिये वित्त के स्वरूप के सम्बन्ध मे यह आशा की गई थी कि १२५ करोड रुपये विदेशी पूँजी सहायता के रूप मे प्राप्त किया जा सकेगा।

प्रदत्त पूंजी (कम्पनी क्षेत्र के द्वारा किये गये योगदान के अतिरिक्त) द्वितीय योजना मे १५० करोड़ रुपये थी। तृतीय तथा चतुर्थ योजना मे इसके लिये क्रमश ४५० करोड रुपये तथा १,००० करोड रुपये का अनुमान लगाया गया। इसमे से घरेलू क्षेत्र से तृतीय योजना मे ३७५ करोड रुपये तथा चतुर्थ योजना मे ८५० करोड रुपये प्राप्त होने की आशा थी। घरेलू क्षेत्र का कम्पनी की प्रदत्त पूँजी मे वार्षिक औसत योगदान १९५९ से १९६१ तक ५० करोड़ रुपये था। १९६२-६३ तथा १९६३-६४ मे यह उत्साहजनक नही रहा। उस आलेख मे यह आशा व्यक्त की गई थी कि नवीन कम्पनियो के प्रवर्तन तथा विद्यमान कम्पनियो के विस्तार के लिये पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता रहेगा।

इसमे यूनिट ट्रस्ट पर अधिक विश्वास इसलिये प्रदर्शित किया गया कि यह अश पूँजी मे विनियोग के लिये पर्याप्त मात्रा मे बचत को सचारित कर सकेगा। चतुर्थ योजना के आरभ तक यूनिट ट्रस्ट पूर्णतया स्थापित हो चुका होगा और वह कम्पनी क्षेत्र की पूँजीगत आवश्यकताओ के हेतु समुचित धनराशि का योगदान कर सकेगा।

वित्त निगमों से ऋण द्वितीय योजना मे २० करोड रुपये से बढकर तृतीय योजना में ८० करोड़ रुपये तथा चतुर्थ योजना मे १२५ करोड रुपये तक हो जाने की आशा थी। हाल के वर्षो मे, वे पर्याप्त मात्रा में ऋण प्रदान करते रहे हैं

और चूंकि सरकार की सामान्य नीति उनके कार्यकलापो को बढाते रहना है अतः उनके द्वारा दिये जाने वाले ऋण की मात्रा मे प्रचुर वृद्धि होने की आशा की जा सकती है।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना

योजना आयोग ने मई १७ तथा १८, १९६८ की होने वाली राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक मे चर्चा करने के लिये एक पर्चा "Approach to the Fourth Plan" तैयार किया। इसका प्रमुख उद्देश्य इस परिषद से चतुर्थ योजना के लिये मार्ग निर्देशन प्राप्त करना था। चतुर्थ योजना का प्रमुख उद्देश्य स्थिरता के साथ विकाम लाना है। इस पर्चे मे इस बात को इगित किया गया है कि चतुर्थ योजना मे कृषि क्षेत्र मे विकास ५ प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से हो सकता है तथा उद्योग मे ८-१० प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से हो सकता है। सभी बातो को ध्यान मे रखते हुए यह सोचा गया कि सम्पूर्ण विकास ५-६ प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से हो सकता है।

इसमे इस बात पर बल दिया गया कि १९६९-७० से १९७३-७४ तक जो विनियोग किया जाना है उसमे से अधिकाश पर विचार किया जा चुका है। या तो उन प्रायोजनाओ को कार्यान्विन किया जा रहा है या उन्हे स्वीकृत किया जा चुका है।

साधन अतिरिक्त साधन जुटाने के लिये ऋण, सार्वजनिक उपक्रमो के लाभ, लघु बचत मे वृद्धि, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्र मे, तथा अतिरिक्त कर आदि पर निर्भर रहना पडेगा। केन्द्रीय वित्त मत्री तथा मुख्य मत्रियो ने वैसे अतिरिक्त कर लगाने के विचार का विरोध किया।

औद्योगिक विकास की नीति. इसमे यह उल्लेख किया गया है कि चतुर्थ योजना मे विकास के लिये औद्योगिक नीति प्रस्ताव १९५६ के अन्तर्गत ही होगी। चतुर्थ योजना मे औद्योगिक विकास के उद्देश्य होगे : (१) उन अवस्थाओ को लाना जिनमे अब तक प्राप्त क्षमता का अधिकतम उपयोग हो सके, (२) यह देखना कि नवीन विनियोग योजना की प्राथमिकताओ के अनुरूप हो, (३) सभी क्षेत्रो मे नवीन उद्यमियो को प्रोत्साहित करना तथा उद्योगो के स्वामित्व तथा नियत्रण का विकेन्द्रीयकरण, तथा (४) इन सभी उद्देश्यो की पूर्ति न्यूनतम नियत्रण के साथ करना।

चतुर्थ योजना मे औद्योगीकरण के कार्यक्रम को इस प्रकार से कार्यान्वित किया जाना चाहिये कि (अ) आत्म-निर्भर सतत औद्योगिक विकास के लिये,

औद्योगिक तथा टैक्नालॉजिकल क्षमता प्राप्त हो सके, (ब) उन दिशाओ मे क्षमता प्राप्त हो सके जो निर्यात बढा सके तथा आयात को कम कर सके, तथा (स) पूंजी तथा व्यक्तियो को इस प्रकार से सगठित किया जाय कि देश भर मे यथासभव औद्योगीकरण हो सके।

इसमे इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया गया कि सार्वजनिक क्षेत्र की बडी प्रायोजनाओं की क्षमता का अधिकतम उपयोग होना चाहिए। निजी तथा सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्रों के उपक्रमो को उत्पादकता तथा लाभ पर विशेष तथा तुरन्त ध्यान देना चाहिए। सार्वजनिक क्षेत्र मे इसे प्राप्त करने के लिये यह अति आवश्यक है कि वहाँ पर्याप्त पहल देने की व्यवस्था की जाय तथा प्रबन्ध को स्वतन्त्रता प्रदान की जाय।

उन सभी प्रमुख उद्योगो के लिये सावधानी के साथ योजना बनाई जानी चाहिए जिनमे बहुत अधिक विनियोग तथा वैदेशिक मुद्रा की आवश्यकता हो। इन उद्योगो के विकास पर समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए। इनके लिये उचित तथा आवश्यक लाइसेसिग की भी व्यवस्था करनी चाहिए।

इस पर्चे मे यह भी व्यक्त किया गया है कि ऐसे उपाय अपनाये जाने चाहिए जिससे कि वित्तीय सस्थाये साख का वितरण आवश्यक दिशाओ मे उचित ढग से करे और ऐसा न हो कि बडे-बडे औद्योगिक गृहो को ही साख उपलब्ध हो।

अध्याय १८

विदेशी पूंजी तथा सहयोग

विश्व के प्राकृतिक साधनो के विकास मे पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह से विशेष सुविधा मिली है। औद्योगिक क्रान्ति के प्रत्यक्ष प्रभावो को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे पहुँचाने मे विदेशी पूँजी का बहुत बडा हाथ रहा है। आज जो उन्नत देश है उनका आरभिक औद्योगिक विकास विदेशी पूँजी के ही कारण हो पाया। वास्तव मे, लगभग सभी देशो को अपनी बचत पूर्ति के लिए विदेशी पूँजी पर निर्भर रहना पडा है। १७ वी तथा १८ वी शताब्दी मे इगलैड ने हालैण्ड से बहुत बडी मात्रा मे उधार लिया। सयुक्त राज्य अमेरिका ने, जो आज सबसे अधिक धनी देश है, १९ वी शताब्दी मे अपने विकास के लिए विदेशो से अत्यधिक पूँजी प्राप्त की। आरभ मे, रूस को अमेरिका की सहायता पर निर्भर रहना पडा। चीन की प्रगति इतनी तेजी से इस कारण हो पाई कि रूस ने उसकी सहायता उदारता के साथ की।

अल्प-विकसित अथवा विकासशील देशो के लिए योग्यता एव उद्यम सहित विदेशी पूँजी विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है क्योकि उन देशो मे पूँजी एकत्र करने के अवसर का असमान वितरण है। विदेशी पूँजी प्राप्त होने से अनेक उद्देश्यो की पूर्ति होती है। प्रथम, अल्प-विकसित देशो मे बचत की दर इतनी कम होती है कि आत्म-निर्भरता के साथ आर्थिक विकास होना सभव नही। न्यून आय होने के कारण न्यून पूँजी-निर्माण होने का जो सकुचित दायरा है उससे अल्प-विकसित देश स्वयमेव छुटकारा पाने मे समर्थ नही है। उसके साथ ही, श्रम की उत्पादकता कम होने के कारण आय न्यून होती है। इसलिए यह अत्यधिक आवश्यक है कि घरेलू बचत की पूर्ति विदेशी साधनो से की जाय। दूसरे, अल्प-विकसित देशो मे केवल पूँजी की ही कमी नही है अपितु योग्य, शिक्षित तथा अनुभवी व्यक्तियो का भी अभाव पाया जाता है। विदेशी पूँजी के साथ ऐसे व्यक्ति भी प्राप्त हो जाते है जिनसे औद्योगीकरण के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने मे सहायता मिलती है। तीसरे, विदेशी पूँजी विकसित देशो द्वारा उपलब्ध वैज्ञानिक एव औद्योगिक शोध के परिणामो को इन देशो को हस्तान्तरित करने की व्यवस्था करती है। चौथे, औद्योगिक सरचना को सुदृढ करने के लिए भारी मात्रा मे पूँजीगत वस्तुओ तथा उपकरणो के आयात करने से जो भुगतान के शेष मे कमी आती है उसे पूरा करने

मे भी विदेशी पूँजी से पर्याप्त सहायता मिलती है। अन्त मे, विदेशी पूँजी की सहायता से अल्पतम मुद्रास्फीति के साथ तीव्रतम आर्थिक विकास भी किया जा सकता है। वास्तविकता यह है कि विदेशी पूँजी स्वभाव से ही मुद्रा-स्फीति विरोधी है।

अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग करने से सहायता करने वाले उन्नत देशो को भी लाभ पहुँचता है क्योकि इन औद्योगिक देशो की आर्थिक सरचना पूँजीगत वस्तुओ के निर्यात पर निर्भर है। उसके साथ ही, इन अल्प-विकसित क्षेत्रो मे विनियोग करने से विकसित देशो को पूँजी पर अत्यधिक प्रतिफल प्राप्त हो सकता है जो कि उन्हे अपने ही देश मे उसे विनियोजित करने पर प्राप्त होना सभव नही। विश्व के विभिन्न देशों की आर्थिक विकास की अवस्था भिन्न-भिन्न है। कछ देशो के पास विकास के लिए पर्याप्त बचत है परन्तु उसके उपयोग का पर्याप्त अवसर नही। उसकी अपेक्षाकृत कुछ देश ऐसे है जहाँ बचत की मात्रा तो कम है परन्तु बचत के लाभप्रद विनियोग के लिए अवसर अधिक है। इस प्रकार यदि प्रत्येक देश विकास के लिए अपने ही साधनो पर निर्भर रहे तो विश्व की सम्पूर्ण बचत का समुचित उपयोग न हो पायेगा और परिणाम स्वरूप वह कम विकसित ही रह जायगा।

पॉल हाफमैन ने, जो कि सयुक्त राष्ट्र के विकास-कार्यक्रम के प्रशासक है, अपनी Global Partnership नामक रिपोर्ट मे १९६८ मे यह व्यक्त किया था कि यदि अल्प-विकसित देशो को न्यूनतम विकास की दर प्राप्त करनी है तो इन देशो को दी जाने वाली सहायता दूनी करनी होगी। दूसरे शब्दो मे, १९७० तक उसे ७·५ बिलियन डालर से बढाकर १५ बिलियन डालर करनी होगी। तथ्य यह है कि अधिकाश अल्प-विकसित देशो मे विकास की दर ४ प्रतिशत प्रतिवर्ष से भी कम है। यह दर अपर्याप्त है क्योकि जनसख्या मे वृद्धि की दर इन देशो मे अत्यधिक है। १९६० से वार्षिक विदेशी सहायता कम रही है और सयुक्त राष्ट्र द्वारा निर्धारित १ प्रतिशत प्रतिवर्ष के लक्ष्य से भी कम रही है।

नीति सम्बन्धी वक्तव्य. विदेशी पूँजी की आवश्यकता के प्रति दृष्टिकोण मे १९४९ मे परिवर्तन हुआ जबकि प्रधान मत्री पडित नेहरू ने ६ अप्रैल को इस सम्बन्ध मे एक वक्तव्य दिया। उन्होने कहा कि विगत वर्षो मे विदेशी पूँजी को नियमित करने की आवश्यकता थी परन्तु परिस्थितियाँ बदल गई है। अब इसके नियमन का उद्देश्य देश के लिए विदेशी पूँजी को सबसे अधिक उपयोगी बनाना है। भारतीय पूँजी की पूर्ति विदेशी पूँजी से करना है, केवल इसी लिये नही कि हमारी राष्ट्रीय बचत तीव्र विकास के लिये अपर्याप्त है अपितु इसलिये भी कि अनेक दशाओ मे वैज्ञानिक, तकनीकी तथा औद्योगिक ज्ञान तथा पूँजीगत उपकरणो को विदेशी पूँजी के साथ ही प्राप्त किया जा सकता है। उन्होने कहा कि भारत सरकार यह आशा

करती है कि सभी उपक्रम, देशी तथा विदेशी, औद्योगिक नीति की सामान्य आवश्यकताओ के अनुरूप ही कार्य करेगे। उसके साथ ही उन्होने यह आश्वासन दिया कि भारतीय तथा विदेशी हितो मे कोई विभेद नही किया जायगा। उन्होने यह इगित किया कि विद्यमान विदेशी हितो पर सरकार ऐसा कोई प्रतिबन्ध अथवा नियत्रण नहो लगायेगी जो भारतीय उपक्रमो पर लागू न होता हो। दूसरे, विदेशी हितो को लाभ कमाने की छूट होगी तथा उस सम्बन्ध मे केवल वे ही नियत्रण होगे जो कि सब के ऊपर लागू होगे। तीसरे, जब कभी किसी विदेशी उपक्रम को सरकार अनिवार्य रूप से लेगी तो बदले मे उन्हे न्यायोचित आधार पर पर्याप्त मुआवजा दिया जायगा। लाभ को प्रेषित करने के सम्बन्ध मे वर्तमान सुविधाओ को चालू रखा जायगा तथा विदेशी पूँजी विनियोग के वापस लेने के सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध को लगाने का सरकार का कोई इरादा नही है।। लाभ प्रेषित करने की सुविधा वैसे वैदेशिक विनिमय सम्बन्धी मामलो पर निर्भर है। यदि सरकार किसी उपक्रम को अनिवार्य रूप से लेगी तो प्राप्त मुआवजे के भेजने की पर्याप्त सुविधा वह प्रदान करेगी।

पर्याप्त अधिक मात्रा मे विदेशी सहायता प्राप्त करने के साथ ही, भारतीय अर्थव्यवस्था मे विदेशी पूँजी की महत्ता के प्रति दृष्टिकोण मे भी परिवर्तन हो चुका है। यह परिवर्तन केवल सरकार के वक्तव्यो मे ही नही अपितु पूँजी निर्यात करने वाले देशो के दृष्टिकोण मे भी दृष्टिगोचर हो रहा है। प्रधान मत्री, वित्त मत्री तथा अन्य मत्रियो ने यह कई बार घोषणा की है कि केवल सैद्धान्तिक आधार पर ही उद्योगो एव सेवाओ का राष्ट्रीयकरण नही किया जायगा।

भारत सरकार केवल निजी क्षेत्र मे ही निजी विदेशी विनियोग को प्राप्त करने के लिए तत्पर नही है अपितु कुछ सार्वजनिक उपक्रमो मे सहयोग के लिये तैयार है। वैदेशिक विनिमय की बढती हुई कमी तथा विकास करने की उत्कट आवश्यकता के कारण सरकार विवश होकर विदेशी उद्यमकर्ताओ की ओर आशा लगाये हुए है।

खाद उद्योग मे विदेशी विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार ने दिसम्बर १९६५ मे यह निश्चित किया कि ३१ मार्च, १९६७ तक लाइसेस प्राप्त खाद के प्लाण्ट पर से (बाद मे बढाकर दिसम्बर ३१, १९६७ कर दिया गया) ७ वर्ष के लिए मूल्य एव वितरण सम्बन्धी नियत्रण हटा दिया जायेगा। उसके साथ सरकार को यह छूट रहेगी कि वह निश्चित किए हुए मूल्य पर उत्पादन का ३० प्रतिशत क्रय कर सकेगी। गैर-निवासी भारतीयो को भारतीय उद्योगो मे विनियोग करने के लिए प्रोत्साहन देने के विचार से सरकार ने १९६७ मे यह निश्चित किया कि

ऐसे व्यक्तियो द्वारा भारत की सार्वजनिक सीमित औद्योगिक सस्थाओ मे विनियोग अनिश्चित सीमा तक किया जा सकेगा ।

चारो पचवर्षीय योजनाओ के काल मे भारतवर्ष के आर्थिक विकास मे विदेशी पूँजी की महत्ता तालिका १ से स्पष्ट होती है ।

तालिका १

(रूपये करोड मे)

	पूर्ण विनियोग (सार्वजनिक क्षेत्र) (१)	पूर्ण विदेशी पूँजी (सार्वजनिक क्षेत्र) (२)	(२) का (१) पर प्रतिशत (३)
	रु०	रु०	
प्रथम योजना	२,०१२	२६३	१० १
द्वितीय योजना	४,६००	१,०००	२१ ७
तृतीय योजना	७,५००	२,२००	२६·३
चतुर्थ योजना	१५,६२८	३,२००	२० ४

सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आवश्यक विदेशी पूँजी की राशि मे प्रत्येक योजना काल मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है। जब तक कि हमारी अर्थव्यवस्था आत्म निर्भरता की अवस्था तक नही पहुँचेगी तब तक विदेशी पूँजी पर निर्भरता जनतान्त्रिक आयोजन के अन्तर्गत अपरिहार्य होगी ।

आलोचनायें. विदेशी पूँजी को प्राप्त करने के लाभ के सम्बन्ध मे समय-समय पर सन्देह व्यक्त किया गया है। बी० आर० शेनॉय का कथन है कि प्रथम योजना काल मे प्राप्त विदेशी पूँजी से स्वर्ण चोरी से लाया गया, द्वितीय योजना काल के प्रथम तीन वर्षों मे प्राप्त उससे अधिक सहायता का उपयोग मुख्य रूप से खाद्यान्न को गुप्त सचय करने मे, अ शत· स्मगलिग को वित्त प्रदान करने मे तथा उसका थोडा सा हिस्सा विदेशियो के स्वामित्व मे भारतीय सम्पत्तियो को क्रय करने मे लगा । उन्होने यह निष्कर्ष निकाला कि विदेशी पूँजी से पूँजी-निर्माण नही हुआ क्योकि उसका प्रयोग गलत दिशा मे किया गया। भारतवर्ष मे विदेशी पूँजी के आयात के विरुद्ध जो तर्क दिये जाते है उनका साराश निम्नलिखित है

(१) **शोषण.** सर जार्ज पेश द्वारा भारत मे विदेशी पूँजी के सम्बन्ध मे अनुमान लगाया गया था । उनके अनुसार १९१४ से पूर्व प्राप्त विदेशी पूँजी का

६७ प्रतिशत सरकार, यातायात, बागान तथा वित्त मे लगा था। दूसरे शब्दो मे, उसका उद्देश्य भारतवर्ष से व्यापारिक सम्बन्ध बढाना, कच्चे माल के स्रोत के रूप मे उसका शोषण करना तथा इगलैड द्वारा निर्मित माल के लिये बाजार प्रस्तुत करना था। परन्तु उसका सम्बन्ध किसी भी रूप मे औद्योगिक विकास से न था।

(२) विभेद का दृष्टिकोण. अन्तर्युद्ध काल मे अथवा १९२० से १९४० तक विदेशी व्यापारिक इकाइयो ने साख, बीमा तथा यातायात के सम्बन्ध मे जातीय तथा राजनीतिक विभेद की नीति अपनाई। भारतीयो के विरुद्ध इतना विभेद रखा गया कि अधिक वेतन वाले पदो पर उनकी नियुक्ति नही की जाती थी। अधिकाँशतया क्लर्क के रूप मे ही उनकी नियुक्ति होती थी।

(३) भारतीय उपक्रमो से प्रतिस्पर्द्धा विदेशी पूँजी का विरोध इसलिये भी किया जाता है कि उसकी प्रतिस्पर्द्धात्मक क्षमता अपेक्षाकृत अत्यधिक होती है। देश के उद्योगपतियो मे विदेशियो की तरह तकनीक का तथा सगठन का ज्ञान कम रहता है। "विदेशी पूँजी की जो आलोचनाये होती है वह इसके दोषो की नही अपितु इसके गुणो की होती है। घरेलू उद्योगपतियो द्वारा विदेशी फर्मो का विरोध इसलिए किया जाता है कि उनकी क्षमता अधिक होती है और कठिनाई के समय वे उसका सामना अच्छी तरह कर सकते है।"

(४) अधिक प्रतिफल विदेशी पूँजी की लागत अत्यधिक है। रिजर्व बैंक के द्वारा लगाये गये अनुमान के अनुसार, विनियोग पर प्रतिफल का प्रतिशत सयुक्त राज्य अमेरिका की दशा मे १९ २ तथा कनाडा की दशा मे ३३ ३ था। इगलैड द्वारा किये गये विनियोग पर प्रतिफल उचित था और वह ६ ५ प्रतिशत था। इस प्रकार अमेरिका से प्राप्त पूँजी अत्यधिक महँगी है और इसका तात्पर्य यह है कि यह हमारे सीमित साधनो पर एक बोझ है।

योजना आयोग के उप-अध्यक्ष, डा० गाडगिल ने मई १९६८ मे राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक मे यह कहा था कि पुराने ऋणो तथा उन पर देय ब्याज के भुगतान का भार धीरे-धीरे बढता जा रहा है और योजना आयोग को इस सम्बन्ध मे गभीरतापूर्वक विचार करना पड रहा है। इस समस्या का निदान आसान नही है। साथ ही, कितनी विदेशी पूजी प्राप्त होगी, उसकी मात्रा के सम्बन्ध मे भी प्रतिवर्ष अनिश्चितता रहती है। परिस्थितियाँ यह इगित कर रही है कि विदेशी सहायता पर निर्भरता को न्यूनतम किया जाना अति-आवश्यक है।

(५) चुने हुए क्षेत्रो मे विनियोग. निजी विदेशी विनियोग की हाल की प्रवृत्ति को देखने से यह ज्ञात होता है कि यह उन्ही उपक्रमो मे हो रहा है जिनका नियत्रण अधिक प्रभावपूर्ण ढग से पूँजी निर्यात करने वाले देशों के द्वारा है।

अधिकाशतया, विदेशो मे स्थापित कम्पनियो की शाखा या सहायक के रूप मे वे देश मे पाई जाती है। इसका अधिकाश भाग पेट्रोल मे जा रहा है और अन्य क्षेत्रो मे बहुत कम है। पेट्रोल तथा विनिर्माण उद्योगो मे १९४८ तथा १९५७ के मध्य कुल विनियोग का ७५ प्रतिशत हुआ।

(६) समय की अनिश्चितता. विदेशियो द्वारा हाल मे जो पूँजी वापस ले जायी गई है उससे विदेशी पूँजी पर निर्भर रहने का भय बढता जा रहा है। वैसे भी यह उचित नही है कि प्रमुख उद्योगो मे विदेशी पूँजी का विनियोग अधिक हो। विशेष रूप से, युद्ध काल मे विदेशी पूँजीपतियो पर विश्वास करना उचित कूटनीति नही है। वैसे तो उन पर विश्वास शान्ति काल मे भी नही करना चाहिए। सघ के वाणिज्य एव उद्योग मत्री ने नवम्बर १९५५ मे निर्यात व्यापार सलाहकार परिषद के समक्ष भाषण देते हुए यह भय प्रकट किया था कि इगलैंड के उद्योगपति चाय उद्योग को छोड न दे। छोडते समय ब्रिटिश प्रबन्धको ने फिर से बागान लगाने पर ध्यान ही न दिया और भारतीय उत्तराधिकारियो के लिए फिर से बागान लगाना सभव न रहा क्योकि बाग प्राप्त करने के लिए अत्यधिक मूल्य उन्हे देना पडा था।

(७) राजनीतिक बन्धन पूँजी देने वाले देश उसके साथ-साथ राजनीतिक प्रभुत्व भी स्थापित करना चाहते है। अब देश के प्रमुख अधिकारी इस नवीन प्रवृत्ति से सतर्क हो चुके है। सयुक्त राज्य अमेरिका ने सर्वप्रथम यह महसूस किया कि अल्प-विकसित देशो के आर्थिक विकास से लिए आर्थिक सहायता प्रदान की जानी चाहिए। परन्तु ऐसी सहायता रूस के प्रभुत्व को तथा उसके प्रसार को कम करने के लिए ही दी गई। ईरान, मिश्र, मलाया तथा इण्डो-चीन मे आज जो सघर्ष चल रहा है वह सर्वविदित है।

(८) वैदेशिक विनिमय पर अधिक भार प्रत्यक्ष लाभ तथा विदेशी विनियोग की लागत की तुलना प्राप्त पूँजी की राशि तथा प्रेषित लाभ को सबधित करके की जा सकती है। यदि प्राप्ति से भुगतान अधिक हो तो उसका तात्पर्य यह है कि पूँजी की प्राप्ति बहुत कम हुई और उसकी अपेक्षाकृत पुराने विनियोगो के सम्बन्ध मे अधिक लागत पडी।

भारतवर्ष मे विदेशी पूँजी का इतिहास अत्यधिक पुराना है। विदेशी पूँजी के साथ उद्यम, सफलता तथा अपूर्व दूरदर्शिता भी रही है। परन्तु दूसरी ओर शोषण, आर्थिक प्रभुत्व, तथा राजनीतिक दासता भी उसके कारण रही है। जूट, कोयला, चाय तथा कॉफी के बागान का आरभ उसी के कारण हुआ। प्रबन्ध अभिकर्ता की प्रशसनीय सेवायें भी उसी के माध्यम से प्राप्त हो सकी। भारतवर्ष मे विनिमय बैंक की स्थापना तथा प्रबन्ध बीमा कम्पनी और जहाजरानी कम्पनी का विकास

विदेशी पूँजी के माध्यम से ही हो सका। भूतकाल मे विदेशी पूँजी की जो भी भूमिका रही हो, आज हमारे आयोजित आर्थिक विकास मे इसकी अत्यधिक महत्ता है। हमारे साधन तथा आवश्यकताओ के मध्य बहुत बडा अन्तर है। १९७२-७३ तक प्रति व्यक्ति आय को दूना करने का ध्येय आन्तरिक साधनो के आधार पर पूरा नही किया जा सकता। हमारे पास पूँजीगत वस्तुओं की ही कमी नही है अपितु तक्नीक, योग्यता, तथा परिपाटियाँ भी नही है जो कि विदेशी फर्मों के साथ रहती है। घरेलू बचत की पूर्ति विदेशी सहायता से करनी ही है अन्यथा विनियोग के कार्यक्रम को काटना होगा या योजना की अवधि मे वृद्धि करनी होगी या जनता को अधिक त्याग करना होगा, अधिक कर देना होगा या उपभोग की वस्तुओं के लिये अधिक मूल्य देना होगा। ये सब हीनार्थ-प्रबन्धन से उत्पन्न मुद्रा-स्फीति के कारण होगा।

सरकार की नीति. भारत सरकार ने जून २, १९५० को यह घोषणा की कि जनवरी १, १९५० के पश्चात् सरकार की पूर्व-स्वीकृति से विनियोजित विदेशी पूँजी विनियोग की हुई धनराशि तक विदेश वापस भेजी जा सकती है। सरकार की स्वीकृनि के साथ जो कम्पनी की बचत को कम्पनी मे पुर्नविनियोजित किया गया हो उसे भी बाद मे प्रेषित किया जा सकेगा। विदेशी विनियोग के प्रत्येक मामले पर उसकी योग्यता के अनुसार विचार किया जायगा। ऐसे प्रार्थनापत्रो के सम्बन्ध मे निम्नलिखित सिद्धान्त अपनाये जायेगे (१) प्रार्थनापत्र विनिर्माण के यथार्थ कार्यक्रम से सम्बन्धित है, (२) विदेशी विनियोग उस क्षेत्र मे है जहाँ देशी पूँजी अपर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो, या तकनीकी ज्ञान वाले व्यक्ति न हों, (३) ऐसे विनियोग से वैदेशिक विनिमय की बचत होगी, आयात कम होगा अथवा विदेशो मे बिक्री की वृद्धि के कारण अधिक वैदेशिक विनिमय प्रत्यक्ष रूप मे प्राप्त होगा, तथा (४) प्रायोजना से उत्पादकता मे वृद्धि होगी।

विदेशी विनियोग के लिये कोई क्षेत्र पूर्व-निश्चित नही है। प्रत्येक प्रस्ताव पर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को प्राप्त होने वाली सामान्य उपयोगिता के आधार पर विचार किया जायेगा। उन विशिष्ट उद्योगो को प्राथमिकता दी जायगी जिनमे उच्च स्तर की तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता हो या उन उद्योगो को दी जायेगी जिनमे वर्षों से भारतीय पूँजी न लगाई गई हो जैसा कि पेट्रोलियम शोधन उद्योग मे हुआ हैं। इसका तात्पर्य यह नही है कि उन क्षेत्रो मे विदेशी पूँजी को स्वीकृति नही दी जायेगी जिनमे भारतीय पूँजी पर्याप्त मात्रा मे लगी हुई हो। यदि किस्म तथा तकनीक के दृष्टिकोण से आन्तरिक क्षमता अपर्याप्त हो, तो परिस्थिति भिन्न होगी। सरकार को उपभोक्ताओ के हित को भी ध्यान मे रखना होगा। उपभोक्ता पदार्थ

उद्योगो मे भी विदेशी विनियोग का स्वागत किया जायगा यदि प्रतिस्पर्द्धा अनुचित न हो और देश के अन्तिम हित के विरुद्ध न हो। साइकिल, टिन-खाद्य, बटन, औषधि, खेल का सामान, विद्युत मोटर्स, रेडियो, विद्युत लैम्प, ब्लेड, आवश्यक तेल, सीने का डोरा, आदि इसी वर्ग मे आते है। सरकार उन विदेशी विनियोगो को प्रोत्साहन नही देती जिनसे देश को स्थाई लाभ होने की सभावना न हो जैसे वित्तीय, व्यापारिक, तथा वाणिज्य का क्षेत्र। कुछ दशाओ मे व्यापारिक क्षेत्र मे भी विदेशी पूंजी को स्वीकृति प्रदान की गई है परन्तु केवल उन्ही दशाओ मे जब कि तकनीकी ज्ञान व्यापारिक सस्था के लिये अति आवश्यक हो जैसे, भारी अर्थ-मूविंग मशीन, खान सम्बन्धी उपकरण, बोरिंग करने के उपकरण आदि।

यद्यपि नवीन उपक्रमों के लिये साधारणतया जोर इसी बात पर दिया जाता है कि भारतीयो द्वारा ही उनका अधिकाश नियत्रण होगा परन्तु इस बात मे कभी-कभी छूट भी दी जाती है। १५ अगस्त, १९५८ को भारत सरकार ने यह स्पष्ट किया था कि, सिद्धान्त मे, आयात किये हुए पूंजीगत उपकरण को तभी लाने दिया जायगा जब कि न्यूनतम समता भागिता हो या अशत समता अश मे हो और अशत ऋण के आधार पर हो।

विदेशी विनियोग को स्वीकृत करने से पूर्व सरकार सामान्यतया उसकी पूरी जाँच करती है और प्रत्येक मामले की अलग-अलग जॉच करके योग्यतानुसार ही उसे अनुमति दी जाती है और प्रत्येक मामले के लिये अलग-अलग शर्तें भी निर्धारित की जाती है। उपक्रमो को, जिनमे निम्नलिखित सभी या कुछ विशेषतायें हो, सामान्यतया अनुमति दी जाती है (१) वे जो कि भारतवर्ष के आर्थिक विकास के लिए अति आवश्यक हो और जिनमे बहुत बडी मात्रा मे पूँजी के विनियोग की आवश्यकता हो या जिनमे टैक्निकल प्रक्रियाएँ आवश्यक हो; (२) वे जिनसे उद्योग मे लगे भारतीय व्यापारियो, टैक्नीशियन, तथा श्रमिको को प्रशिक्षण प्राप्त हो सके; तथा (३) वे जिनसे भारत की वैदेशिक विनिमय की स्थिति मे उन्नति हो सके।

ऐसे उपक्रम, जिन्हे इसके लिए अनुमति पाना अत्यन्त कठिन है, निम्नलिखित प्रकार के है (१) वे जिन्हे बिलासिता सम्बन्धी उपक्रम माना जाता है, (२) वे जो कि भारतीय उद्योग से प्रतिस्पर्द्धा करेंगे और विशेष रूप से कुटीर उद्योग धन्धो से, (३) वे जिन्हे सरकार यह समझती है कि केवल आयात की गई वस्तुओ का पैकिंग करेंगे अथवा उनको केवल जोडकर वस्तु बनायेंगे न कि उन वस्तुओ का निर्माण करेंगे, (४) वाणिज्य तथा वित्त के अनेक क्षेत्र जिनके लिये सरकार यह समझती है कि भारतीय उपक्रम स्वय उसे पूरा कर सकने मे समर्थ हैं।

विदेशी व्यापारिक विनियोग. निजी क्षेत्र मे विदेशी विनियोग अथवा विदेशी व्यापारिक विनियोग का तात्पर्य गैर-निवासियो द्वारा भारत के व्यापारिक उपक्रमों मे दीर्घकालीन विनियोग से है। इस प्रकार इसके अन्तर्गत निम्नलिखित बाते आती है: (अ) भारत मे कार्य कर रही परन्तु विदेश मे समामेलित कम्पनियो की शाखाओ का शुद्ध विदेशी दायित्व, तथा (ब) भारतीय सयुक्त-स्कध कम्पनियो मे विदेशियो द्वारा लिये गये अश (स्वतत्र सचय के अनुपात को लेकर) तथा ऋण पत्र। पहले तो इसके अन्तर्गत विदेशी निजी एजेसी द्वारा विनियोग ही होता था परन्तु अभी हाल मे भारत की कम्पनियो द्वारा विश्व बैंक से उधार लेना भी सम्मिलित है। १९६० के अन्त तक, भारत मे निजी क्षेत्र मे कुल विदेशी विनियोग ६९० ५ करोड रुपये था जिसमे से विदेशी निजी स्रोत से ५६६ ४ करोड रुपये प्राप्त हुआ था और शेष १२४.१ करोड रुपये सरकारी स्रोत से प्राप्त हुआ था।

विदेशी व्यापारिक विनियोग का पुस्तक मूल्य दिसम्बर ३१, १९६० को ६९० ५ करोड रुपये था। इसमे मे विनिर्माण तथा पेट्रोल उद्योगो मे ४४१ ८ करोड रुपये लगा था जो कि ६४ प्रतिशत था, बागान मे ९९ ५ करोड़ या १४ प्रतिशत था। विनिर्माण उद्योग मे विनियोग जून १९४८ मे ७० ७ करोड रुपये से बढ कर दिसम्बर १९६० मे २८९ ४ करोड रुपये हो गया और इस प्रकार इसमे ४०० प्रतिशत की वृद्धि हुई। १९५५-६० मे विदेशी व्यापारिक विनियोग मे जो वृद्धि हुई उसका ८८ प्रतिशत विनिर्माण तथा पेट्रोल के वर्ग मे हुई।

भारत मे विदेशी व्यापारिक विनियोग मे सब से अधिक भाग इगलैंड का है जिसने १९६० के अन्त तक ४४६ ४ करोड रुपये (लगभग ६४ प्रतिशत) का विनियोग किया था। उसके बाद दूसरा महत्वपूर्ण देश सयुक्त राज्य अमेरिका है जिसका कुल विनियोग ११२.७ करोड रुपये या लगभग १६ प्रतिशत था। १९५८, १९५९ तथा १९६० मे इगलैंड की अपेक्षाकृत सयुक्त राज्य अमेरिका से अधिक पूंजी आई। इगलैंड द्वारा विनियोग जून १९४८ मे २०६ करोड रुपये से बढ कर १९६० के अन्त तक ४४६.४ करोड रुपये हो गया था—११६ प्रतिशत बढ़ा, जब कि इसी अवधि मे अमेरिका द्वारा विनियोग मे वृद्धि ८६३ प्रतिशत हुई। इसके साथ ही, इस बढी हुई राशि मे से इगलैंड से सीधे रुपया बहुत कम आया और उसमे से अधिकाश रुपया स्थानीय ब्रिटिश कम्पनियों द्वारा लाभ में से ही पुर्नवि-नियोजित किया गया। दूसरी ओर अमेरिका की कम्पनियों से ताजी पूँजी प्राप्त हुई।

१९६० मे समाप्त होने वाले ५ वर्ष की अवधि मे विदेशी पूँजी का शुद्ध अन्तर्प्रवाह २३१.० करोड रुपये हुआ। १९५९ की अपेक्षाकृत १९६० में यह अधिक

रहा। इस पाँच वर्ष की अवधि मे (१९५६-६० मे) निजी क्षेत्र में प्राप्त कुल पूंजी द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत निर्धारित लक्ष्य २०० करोड रुपये से अधिक रही। इस अवधि मे जो विदेशी व्यापारिक विनियोग मे २३१ करोड रुपये की शुद्ध वृद्धि हुई, उसमे से सरकारी स्रोतो का भाग (जैसे विश्व बैंक तथा एक्जिम बैंक आदि) लगभग १२१.५ करोड रुपये था और इस प्रकार निजी स्रोत से १२१ ५ करोड रुपये ही प्राप्त हुए या इस पाँच वर्ष की अवधि का वार्षिक औसत २१ ६ करोड रुपये रहा । यह राशि पर्याप्त नहीं कही जा सकती । ये राशि और भी महत्वहीन दिखवाई देती है यदि हम यह देखते है कि १९५७ मे, केवल एक ही वर्ष मे, प्रमुख पूँजी देने वाले देशो द्वारा ५.७ बिलियन डालर या २,७५० करोड रुपये प्रदान किये गये। साथ ही, १९५५-५८ मे अल्प-विकसित देशों को औसतन २ बिलियन डालर अथवा लगभग ९५० करोड रुपये विदेशी व्यापारिक विनियोग के रूप मे प्राप्त हुआ और इसमे से भारत का भाग केवल २.४ प्रतिशत ही था।

विदेशी व्यापार के लिये स्वीकृति १९६४ मे २९.२ करोड रुपये की दी गई जब कि १९६३ मे ३२.९ करोड रुपये, १९६२ मे २६ ४ करोड रुपये और १९६१ मे २६ ४ करोड रुपये की दी गई। इस प्रकार इन तीन वर्षों का योग ८८ ५ करोड रुपये था। इस ८८ ५ करोड रुपये मे से इगलैंड का ३० करोड रुपये, सयुक्त राज्य अमेरिका का २९.३ करोड रुपये, पश्चिमी जर्मनी का ८ ८ करोड रुपये था। इस राशि को तथा विदेशी व्यापारिक विनियोग की दर को सन्तोषजनक नही माना जा सकता है।

ECAFE सर्वेक्षण, १९६६ मे इस बात की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया गया है कि इकॉफे क्षेत्र मे निजी विदेशी पूँजी की भूमिका बहुत कम तथा महत्वहीन रही है। १९६५-६६ मे सम्पूर्ण एशिया को (जापान को छोडकर) विनिर्माण के लिये अमेरिका से उतनी ही सहायता मिली जितनी कि इटली तथा स्पेन को प्राप्त हुई तथा जर्मनी को १९६५ मे सभी उन्नतिशील एशियाई देशो को प्राप्त सहायता का दूना प्राप्त हुआ। भारतवर्ष को दक्षिणी कोरिया को प्राप्त सहायता का एक तिहाई ही प्राप्त हुआ। इस सर्वेक्षण मे यह इगित किया गया कि भारतवर्ष के लिये ऋण का भार १९६०-६१ तथा १९६५-६६ के मध्य तीन-गुना हो गया जब कि निर्यात से प्राप्त आय मे एक-चौथाई वृद्धि ही हुई। अब निजी पूंजी के कम प्राप्त होने के कारणो का विश्लेषण किया जा सकता है।

बाधायें

विनियोग का वातावरण. विदेशी पूँजी के विश्वास पर उन्ही घटको का प्रभाव पडा है जिनका सम्पूर्ण निजी उपक्रमो—भारतीय एव विदेशी—पर विपरीत प्रभाव पडा है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् विनियोक्ताओ का जोश कम ही रहा है। यह सरकारी कार्यवाहियो के कारण उतना नही हुआ जितना कि सम्पूर्ण वातावरण के प्रभाव के कारण हुआ। बचत, विनियोग, तथा उद्यम के लिये उपयुक्त वातावरण नही है। सविधान के चौथे सशोधन के पश्चात् निजी सम्पत्ति को जो सुरक्षा प्राप्त थी वह भी समाप्त हो गई। कम्पनी अधिनियम, १९५६ मे अनेक प्रतिबन्ध तथा नियन्त्रण लगाये गये है जिससे पर्याप्त प्रतिफल प्राप्त करने के सम्बन्ध मे अनिश्चितता बढी है। समाजवादी समाज की ओर दृष्टिकोण मे जो परिवर्तन हुए है उसका भी विपरीत प्रभाव ही पडा है। राष्ट्रीयकरण की नीति तथा सार्वजनिक क्षेत्र के लिये क्षेत्रो को आरक्षित करने की नीति से भी इसके लिये प्रोत्साहन कम हुआ है।

परन्तु उपर्युक्त दृष्टिकोण वर्तमान परिस्थितियो को ध्यान मे नही रखता है। तथ्य तो यह है कि इतना सब होते हुए भी देश मे अब भी निजी क्षेत्र के लिये पर्याप्त क्षेत्र उपलब्ध है। वैसे विभिन्न नियत्रण लगाने का उद्देश्य भी विनियोक्ताओ मे विश्वास को बढ़ाना ही है। समाजवादी समाज की नीति से विदेशी पूँजीपतियो को कोई भ्रम नही होना चाहिए क्योकि यह तो ऐसी नीति है जो कि देश की परिस्थितियो को देखते हुए उपयुक्त है और जिसे स्वतन्त्रता के पश्चात् से ही किसी न किसी रूप मे जनता के हित के लिये अपनाया जा रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार से निजी क्षेत्र को कोई विशेष क्षति नही पहुच रही है और न ही प्रतिस्पर्द्धा बढ रही है। सार्वजनिक क्षेत्र मे विनियोग मुख्य रूप से उन्ही दिशाओ मे हो रहे है जिनसे निजी क्षेत्र को विशेष लाभ पहुँच रहा है। निजी उद्यमकर्ताओं को विशेष रूप से प्रोत्साहित करने के लिये देश मे अनेक प्रकार की सस्थाये कार्य कर रही है जो सर्वेक्षण, शोध, प्रशिक्षण, तकनीकी परामर्श तथा सूचनाये देने का सतत प्रयास कर रही है।

वास्तविकता तो यह है कि भारतवर्ष विदेशी व्यापारिक विनियोग के लिये एक उपजाऊ भूमि है। देश मे बडा एव सुरक्षित बाजार है तथा राजनीतिक स्थिरता भी पर्याप्त है। प्रशासन, जनता के विचार, निजी सम्पत्ति के सम्बन्ध मे कानून, न्यायालयो का स्वतन्त्र होना आदि सभी बाते विनियोग को सुरक्षित रखने मे सहायक है। साथ ही देश मे आवश्यक अन्य सहायक सुविधाये

पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है । यहाँ पर सस्ते तथा योग्य श्रमिक भी है। सभी बाते ऐसी है जो औद्योगिक कार्य-कलापो के लिये सहायक है ।

अपरिवर्तनशीलता का जोखिम. विदेशी विनियोक्ताओ को लाभाश, ब्याज तथा पूँजी का प्रेषण करने के लिये वैदेशिक विनिमय का आवश्यकतानुसार उपलब्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही, यदि अल्प-विकसित देश उनको यथावश्यक सुविधा देना चाहे तो उनको इस सम्बन्ध मे ऐसी अनेक नीतियो को बनाना होगा जो कि देश के हित मे न हो ।

भारतवर्ष मे वैदेशिक विनिमय पर नियत्रण १९३९ से ही है और वर्तमान नियत्रण वैदेशिक विनिमय नियमन अधिनियम, १९४७ पर आधारित है। वर्तमान परिस्थितियो को देखते हुए नियत्रणो को हटने की निकट भविष्य मे कोई भी सभावना नही है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य होने के नाते इसे अपने नियत्रणो को धीरे-धीरे कम ही करना है । वैसे, विदेशी फर्मों को सामान्यतया देश से अर्जित लाभ को प्रेषित करने मे किसी कठिनाई का सामना नही करना पड रहा है। इस सम्बन्ध मे भारतवर्ष का रिकार्ड अत्युत्तम रहा है।

सम्पत्तियो का राष्ट्रीयकरण. बिना पर्याप्त तथा शीघ्र मुआवजा दिये हुए सम्पत्ति को राज्य के द्वारा ले लेने का जोखिम भी महत्त्वपूर्ण है। यह कहा जाता है कि जब तक कि राष्ट्रीयकरण की नीति के सम्बन्ध मे अनिश्चितता बनी रहेगी, विदेशी विनियोक्ता इस दिशा मे कम से कम रुचि दिखायेगे । परन्तु इस सम्बन्ध मे भी भारत सरकार ने अपनी नीति पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दी है। नार्वे, स्वीडेन, तथा डेनमार्क के निवासियों के स्वामित्व मे जो पूँजी है उसे वे स्वतन्त्रतापूर्वक प्रेषित कर सकते है। अन्य देशो के सम्बन्ध मे यह है कि यदि विनियोग जनवरी १, १९५० के बाद का है और उस प्रायोजना के लिये है जिसकी स्वीकृति सरकार से प्राप्त हो चुकी है, तो मूल-विनियोग के बराबर राशि को प्रेषित किया जा सकता है। ऐसे विनियोग पर होने वाले पूँजी लाभ को प्रेषित करने की छूट भी मार्च ३, १९५३ से दे दी गई है। सयुक्त राज्य अमेरिका विनियोग गारन्टी कार्यक्रम पर भी भारत सरकार विचार कर रही है। इसके अन्तर्गत इस सम्बन्ध में होने वाली जोखिमो का बीमा हो सकेगा ।

सीमित प्रतिफल. लाभ प्राप्त करने के अनुपात तथा सम्पत्ति निर्माण के सम्बन्ध मे तुलनात्मक आकडो के देखने से यह ज्ञात होता है कि विदेशियो द्वारा नियत्रित कम्पनियो को भारतीयो द्वारा नियत्रित कम्पनियो की अपेक्षाकृत अधिक लाभ प्राप्त हुआ । १९६३-६४ मे विदेशियो द्वारा नियत्रित कम्पनियो के लिये कुल विनियोजित पूँजी पर सकल लाभ का प्रतिशत १३.८ था जब कि भारतीयो द्वारा

नियत्रित कम्पनियो के लिये यह १० प्रतिशत था। सकल सम्पत्ति निर्माण विदेशियो द्वारा नियत्रित कम्पनियो की दशा मे १२० प्रतिशत की दर से हुआ जब कि भारतीयो द्वारा नियत्रित कम्पनियों के लिये यह ९ २ प्रतिशत ही था।

साथ ही विदेशियों द्वारा अपने ही देश मे अर्जित लाभ की दर की तुलना भारतवर्ष मे उन्हे प्राप्त लाभ की दर से की जाय तो यह भारतवर्ष मे अधिक है। सयुक्त राज्य अमेरिका के वाणिज्य विभाग के अनुसार, विनिर्माण क्षेत्र मे अमेरिका के विनियोग पर भारत मे प्राप्त लाभ की दर १९६४ मे १४ ९ प्रतिशत थी जब कि विश्व के अन्य देशो के आधार पर यह १० ८ प्रतिशत थी। १९६२ मे इगलैंड के व्यापार परिषद के सर्वेक्षण से यह ज्ञात हुआ कि भारत मे अपेक्षाकृत अधिक लाभ उन्हे प्राप्त होता है। भारतवर्ष मे ब्रिटिश विनियोग पर लाभ की दर अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, ब्राजील, पाकिस्तान, फ्रास तथा इटली की अपेक्षाकृत ९ ४ प्रतिशत अधिक थी। उसी प्रकार भारत मे अमेरिका के व्यापारिक विनियोग पर लाभ की दर १९६० मे ८.८ प्रतिशत से बढ कर १९६२ मे १३ २ प्रतिशत हो गई जब कि पश्चिमी योरुप मे यह १९६० मे ११ ५ प्रतिशत से घट कर १९६२ मे १० ९ प्रतिशत हो गई।

कर का अधिक भार. यह कहा जाता है कि अल्पविकसित देशो मे कर का उच्च स्तर विदेशी पूँजी के मार्ग मे बहुत बडा बाधक है। परन्तु यह बात सत्य नही है। सयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा विदेशी विनियोग की १९५० की गणना के अनुसार प्राप्त आँकडो को देखने से यह ज्ञात होता है कि अमेरिका के निजी विनियोक्ताओ को उन्नत देशों मे अपने लाभ का ४० प्रतिशत कर के रूप मे देना पडा जब कि अल्प-विकसित देशो मे केवल २५ प्रतिशत देना पडा। आय पर दोहरा कर लगना एक दूसरी बाधा है। इस सम्बन्ध मे कुछ देशो ने आपस मे समझौता कर लिया है परन्तु अभी भी इस दिशा मे बहुत कुछ करना शेष है। इगलैंड, लका, अदन, युगाडा तथा कुछ अन्य देशो के सम्बन्ध मे यदि भारत मे अर्जित आय पर उन देशों मे भी कर लगता है तो भारत मे उन्हे कर पर कुछ छूट दी जाती हैं। १९५९ मे, भारत तथा अमेरिका के मध्य दोहरा-कर समझौता भी हुआ है।

विदेशी व्यापारिक विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिये विभिन्न कर सम्बन्धी प्रोत्साहन दिये गये हैं। प्रथम, भारतीय उद्योग टैक्निकल सहयोग उचित शर्तों पर पा सके इसके लिये विदेशी कम्पनियो द्वारा भारतीय उपक्रमो से प्राप्त अधिकार शुल्क (royalties) पर आय-कर की दर को ६३ प्रतिशत से घटा कर ५० प्रतिशत कर दिया गया। दूसरे, विदेशी टैक्नीशियन को दिये गये कर से मुक्ति को और भी बढा दिया गया। तीसरे, कम्पनियो द्वारा प्राप्त लाभांश पर देय कर में भी परिवर्तन किया गया और अब एक समान कर देय है। १९६४-६५ के बजट

मे कुछ रिआयते दी गई थी परन्तु १९६६-६७ के बजट मे विदेशी कम्पनियो पर कर की दर को ६५ प्रतिशत से बढा कर ७० प्रतिशत कर दिया गया। इसका विपरीत प्रभाव पड सकता है।

विनियोग के अवसर से अपरिचित होना विदेशी पूँजी के कम प्राप्त होने का एक और कारण यह रहा है कि भारत मे विनियोग के अवसरो के बारे मे या तो सूचनायें ही नही है और यदि है भी तो कुछ दशाओ मे गलत सूचनाये भी है। केवल उन्हे सूचना ही नही दी जानी चाहिए अपितु उन्हे आकर्षित करने के लिये प्रत्येक सभव प्रयत्न किये जाने चाहिए।

जून १९६० मे भारतीय विनियोग केन्द्र विदेशो से, विशेष रूप से सयुक्त राज्य अमेरिका से, निजी पूँजी आकर्षित करने के लिये खोला गया। इस केन्द्र के तीन प्रमुख उद्देश्य है (१) जिन सूचनाओ मे विदेशो विनियोक्ता रुचि रखते हो उन आर्थिक, वित्तीय, तथा वैधानिक सूचनाओ को एकत्र करना तथा भारत मे विनियोग के अवसर के सम्बन्ध मे सर्वेक्षण करना, (२) भारतीय तथा विदेशी उद्यमकर्ता के मध्य एजेण्ट के रूप मे कार्य करना और दोनो का एक दूसरे से सम्पर्क स्थापित कराने के लिये प्रयास करना, (३) विदेशी विनियोक्ताओ को आवश्यक निदेशन देना। प्रथम तीन वर्षो मे इस केन्द्र ने ५५ ६ करोड रुपये की पूँजी वाले ६६ उपक्रमो को लाने मे सहायता पहुचाई जिसमे विदेशी समता-भागिता ६ ५ करोड रुपये की थी। परन्तु केन्द्र की यह सफलता बहुत थोडी है। फिर भी केन्द्र ने भारत मे विदेशियो की रुचि बढाने का प्रयत्न किया है।

विदेशियों के स्थान पर भारतियों की नियुक्ति विदेशी व्यक्तियो की नियुक्ति तथा प्रवेश पर प्रतिबन्ध भी विदेशी पूँजी के मार्ग मे बाधक होता है। १९५२ मे भारत सरकार ने यह आज्ञा दी थी कि सभी विदेशी फर्मों मे बरिष्ठ पदो पर नियुक्तियों की गणना की जाय और तब से यह गणना समय-समय पर की जा रही है। भारत के विदेशी फर्मों मे नियुक्त भारतीयों का प्रतिशत जो १,००० रु० से अधिक पा रहे थे १९४७ मे ७ ९ से बढ कर १९५४ मे ३२ प्रतिशत तथा १९५६ मे ४२ प्रतिशत हो गया जब कि न्यूनतम वेतन वर्ग (३०० रु० से ४०० रु०) मे सभी भारतीय थे। विदेशी विनियोक्ता इसे पसन्द नही करते। परन्तु उनके द्वारा इस सम्बन्ध मे दी गई आलोचनायें स्वस्थ नही प्रतीत होती। प्रमुख तथा वरिष्ठ पदो पर विदेशियो का ही एकाधिकार होना उचित नही है।

भारतीय व्यापारियों द्वारा विरोध. विदेशी विनियोक्ताओं का कहना है कि भारतीय व्यापारी का विदेशी पूँजी के प्रति दृष्टिकोण स्वस्थ नही है। उदाहरण के लिये, साबुन उद्योग की दशा मे, भारतीय साबुन निर्माताओं ने भारत सरकार

से यह अपील की कि वह बडे विदेशी निर्माताओ को मूल्य गिराने तथा उत्पादन बढाने के लिये नई मशीनो का आयात करने से रोके। कुछ अन्य उदाहरण विद्युत लैम्प, फ्लैशलाइट बैटरी, रेडियो, विद्युत मोटर तथा कार निर्माताओ के बारे में भी दिये जाते है जिनमे विदेशी उपक्रमो ने अपने आप को उच्चस्तर की वस्तुओं के निर्माता के रूप मे प्रतिष्ठित कर लिया है। वे वस्तुओ का मूल्य कम रखते है और उनकी वितरण तथा बिक्री की प्रणाली अत्युत्तम है। भारत सरकार ने इस सम्बन्ध मे विभेद न करने की अपनी नीति अपना रखी है और उसे इस दृष्टि से इस नीति के न पालन करने का दोषी नही ठहराया जा सकता है। परन्तु उसके साथ ही भारतीय उद्यमकर्ताओ को भी, जो कि बाद मे इन क्षेत्रो मे आये और जिन्हे अधिक अनुभव नही है, कुछ न कुछ सरक्षण अवश्य प्रदान किया जाना चाहिए।

विदेशी विनियोगों को प्रोत्साहित करने के उपाय

भारत सरकार के वाणिज्य एव उद्योग मत्रालय ने मई १९६१ मे एक प्रेस विज्ञप्ति जारी की थी जिसमे विदेशियो से देश मे औद्योगिक इकाइयो की स्थापना करने के लिये प्राप्त प्रार्थनापत्रो पर विचार करने की विधियो को सरल बनाने तथा प्रशासनिक कमियो को दूर करने के सम्बन्ध मे ध्यान आकर्षित किया गया था।

प्रथम, यह विचार किया गया कि देश मे स्थापित करने के लिये प्रमुख योजनाओ के सम्बन्ध मे सभी बातो पर विचार करने के लिये एक ही एजेसी होनी चाहिए। उसे ही सभी प्रमुख बातो पर विचार करना चाहिए न कि उन विभिन्न अधिकारियो द्वारा जैसे, उद्योग अधिनियम के अन्तर्गत लाइसेंसिग, पूँजी निर्गमन, विदेशी सहयोग की शर्तें, विदेशी वस्तु प्राप्त करने के लिये आयात लाइसेंसिग आदि। एक वरिष्ठ अधिकारी को इसके लिये नियुक्त किया गया जो कि प्रमुख योजनाओ के लिये शीघ्र तथा विश्वसनीय निदेशन दे सके।

द्वितीय, उन उद्योगो की एक सूची तैयार की गई है जिनमे सामान्यतया विदेशी पूँजी का स्वागत किया जाता है। इस सूची मे उस क्षमता मे कमी के बारे मे भी विवरण दिया गया है जो कि वर्तमान काल मे योजना के लक्ष्य के सम्बन्ध मे हो। इस सूची को समय-समय पर परिवर्तित किया जाता है और इस सूची के अतिरिक्त सहयोग की योजनाओ पर उनके गुणो के आधार पर विचार किया जाता है।

तृतीय, उन क्षेत्रो की भी एक सूची बनाई गई है जिनमे विदेशी सहयोग की आवश्यकता नही है। इस सूची के अन्तर्गत बैंकिंग, बीमा, व्यापारिक क्रियाये तथा बागान है।

चतुर्थ, सरकार ने अनुसूची 'अ' मे दिये गये उद्योगो के सम्बन्ध मे कुछ उदारता दिखाई है, वैसे ये उद्योग सरकार के लिये आरक्षित है। वैसे तो नियमानुसार इन उद्योगो मे निजी उद्यमकर्ताओ को अनुमति नही दी जायगी परन्तु "विशेष परिस्थितियो" मे ऐसा किया जा सकता है यदि जनहित मे सम्पूर्ण बातो पर विचार करने के उपरान्त आवश्यक समझा जाय।

अन्तिम, वैसे तो बहुसख्या-धारिता भारतीय ही होनी चाहिये परन्तु किसी भी दशा मे विदेशियो को कितनी धारिता की अनुमति दी जायगी वह किसी भी मामले के गुण पर निर्भर होगा। विदेशी पूँजी के सम्बन्ध मे सरकार के इस दृष्टिकोण मे परिवर्तन का स्वागत किया गया है।

भारतीय उद्योगो मे विदेशी सहयोग

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का सर्वेक्षण हाल के वर्षों मे भारत के औद्योगीकरण की एक प्रमुख विशेषता विदेशी सहयोग व्यवस्था का प्रचुर विकास रहा है। पिछले दशक मे इसमे तेजी के साथ वृद्धि होने के कारण, रिजर्व बैंक ने १९६५ मे एक सर्वेक्षण प्रारभ किया जिसकी रिपोर्ट १९६९ मे प्रकाशित हुई। इस सर्वेक्षण के अन्तर्गत निजी क्षेत्र की ८२७ कम्पनियो को लिया गया जिसमे से २२४ सहायक, ३६७ अल्प-सख्यक भागिता (minority participation) कम्पनियाँ तथा २३६ टैक्निकल सहयोगी कम्पनियाँ थी। इसमे से ५८७ कम्पनियो ने टैक्निकल सहयोग सम्बन्धी समझौता कर रखा था। इसके अतिरिक्त इसके अन्तर्गत ७८ उन समझौते सहित ६९ कम्पनियाँ और थी जो मार्च ३१, १९६४ से लागू हुए। इस प्रकार इसके अन्तर्गत कुल १,०५१ समझौते सम्मिलित किये गये। ८२७ कम्पनियो मे से ७०% से अधिक कम्पनियो ने टैक्निकल सहयोग सम्बन्धी प्रबन्ध कर रखे थे। उनमे से ३०% कम्पनियो की कुल पूँजी प्रत्येक की दशा मे २५ लाख रुपये या उससे कम थी। ४७ बडी कम्पनियो मे से प्रत्येक के पास १० करोड से अधिक पूँजी थी जो कि सर्वेक्षण मे सम्मिलित कुल कम्पनियो की कुल पूँजी का लगभग आधा था। ६०% कम्पनियो के पास १ करोड़ रुपया या उससे कम प्रत्येक के पास पूँजी थी। इसका तात्पर्य यह है कि लघु तथा मध्यम आकार की कम्पनियों का स्थान विदेशी सहयोग के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण था।

विदेशी कम्पनियो का पूँजी मे भाग १९६०-६१ मे १४४ करोड रुपये से बढकर १९६३-६४ मे १९८ करोड रुपये हो गया। १९६३-६४ मे सहायक कम्पनियो का पूँजी मे भाग ६५ प्रतिशत था और अल्प सख्यक भागिता कम्पनियो का भाग शेष ३५ प्रतिशत था।

देश के दृष्टिकोण से इगलैड का भाग कुल सहयोग का ४० प्रतिशत था, सयुक्त राज्य अमेरिका का लगभग १९ प्रतिशत, पश्चिमी जर्मनी का लगभग १४ प्रतिशत था। अन्य देश स्विटजरलैड, जापान, फ्रास, नीदरलैड्स तथा स्वीडेन थे।

उद्योग के दृष्टिकोण से, मशीनरी तथा मशीन टूल्स, विद्युत पदार्थ, तथा रसायन पदार्थ का भाग कुल सहयोग का ५५ प्रतिशत था। शुद्ध टैक्निकल सहयोग, वस्त्र, मशीनरी तथा मशीन टूल्स, धातु एव धातु के बने पदार्थ की दशा मे अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण था। पेट्रोल, यातायात उपकरण, विद्युत पदार्थ तथा रसायनिक पदार्थ की दशा मे सहायक तथा अल्प सख्यक भाग लेने वाली कम्पनियो का प्रभुत्व अधिक था।

सर्वेक्षण से यह ज्ञात हुआ कि ७० प्रतिशत समझौतो मे एक विशिष्ट शर्त थी जिसके अन्तर्गत लाइसेस प्राप्त करने वालो को विशिष्ट अधिकार प्राप्त थे। यह भी ज्ञात हुआ कि लगभग ९० प्रतिशत कम्पनियो ने बिना पेटैण्ट वाले विशेषज्ञो के साथ समझौता किया। इससे यह भी पता चला कि केवल १३ प्रतिशत समझौतो की अवधि १० वर्ष से अधिक थी। सहायक द्वारा समझौतो की अवधि अपेक्षाकृत अधिक थी। कुछ दशाओ मे सरकार ने १० वर्ष से अधिक अवधि के लिये समझौतो की स्वीकृत 'विशिष्ट मामले' के रूप मे दी।

अधिकार शुल्क की दर को बिक्री के कुल मूल्य पर उत्पादन से जोड कर देखने यह पता चला कि १२ प्रतिशत दशाओ मे यह दर ५ प्रतिशत से अधिक थी। सहायक कम्पनियो की दशा मे ३ प्रतिशत से अधिक तथा अन्य दशाओ में ५ प्रतिशत से अधिक अधिकार शुल्क की स्वीकृति सामान्यतया नही दी गई। दो-तिहाई सहायक कम्पनियो की दशा मे यह दर ३ प्रतिशत से अधिक न थी।

जहाँ तक प्रतिबन्धो का सम्बन्ध है, १,०५१ समझौतो मे से ४५५ पर निर्यात सम्बन्धी प्रतिबन्ध था, १५४ पर पूर्ति के स्रोत के सम्बन्ध मे, ६५ पर उत्पादन के सम्बन्ध मे, ५५ पर अधिकार शुल्क सम्बन्धी प्रतिबन्ध थे। निर्यात सम्बन्धी उच्च स्तरीय प्रतिबन्ध यातायात उपकरण (६२%), मशीनरी तथा मशीन टूल्स, (६०%), विद्युत पदार्थ तथा मशीन (५०%) तथा औषधियो पर (५०%) था। निम्नस्तरीय निर्यात प्रतिबन्ध धातु तथा धातु से निर्मित पदार्थ पर (३९%), तथा प्रमुख औद्योगिक रसायन पर (२७%) था। खाद्य-पदार्थ, तम्बाकू तथा वस्त्र पर निर्यात सम्बन्धी प्रतिबन्ध का अनुपात कम था।

प्रेषित वार्षिक लाभाश १९६०-६१ मे ११ करोड रुपये से बढकर १९६६-६७ मे २२ करोड रुपये के होने का अनुमान था। शुद्ध लाभाश प्रेषण का अनुपात विदेशी शुद्ध मूल्य से निकाला गया। १९६०-६१ से १९६३-६४ की अवधि मे सहायक कम्पनियो के लिये यह अनुपात ६·१ प्रतिशत था जब कि अन्य कम्पनियों की दशा मे यह २·७ प्रतिशत था। निजी क्षेत्र की कम्पनियो द्वारा १९६०-६१ से १९६६-६७ की अवधि मे कुल प्रेषित राशि का औसत प्रति वर्ष ८ करोड रुपये रहा।

इस सर्वेक्षण के अन्तर्गत २४ सरकारी कम्पनियों को भी सम्मिलित किया गया था। इनके द्वारा प्रेषित अधिकार-शुल्क की राशि १९६०-६१ मे १५ लाख रुपये से बढ़कर १९६६-६७ मे ६४ लाख रुपये हो गई थी। टैक्निकल शुल्क के रूप मे प्रेषित राशि वर्ष-प्रति-वर्ष असमान रही और ७ वर्ष की अवधि मे इसका वार्षिक प्रतिशत ३·८ करोड रुपये रहा। सरकारी कम्पनियो मे विदेशियो की महत्ता इससे ज्ञात होती है। अधिकार-शुल्क तथा फीस के रूप मे प्रेषित राशि सरकारी तथा निजी कम्पनियो को मिला कर १९६०-६१ मे ९ करोड रुपये से बढ कर १९६६-६७ मे १५ करोड रुपये हो गई। इसमे से सरकारी कम्पनियो का भाग एक-तिहाई था। निजी क्षेत्र द्वारा अधिकार-शुल्क अधिक प्रेषित किया गया जबकि सरकारी कम्पनियो के द्वारा अपेक्षाकृत फीस अधिक प्रेषित की गई।

इकनामिक टाइम्स के शोध ब्यूरो ने २२ अक्टूबर, १९६७ को भारतीय उद्योगो मे विदेशी सहयोग के सम्बन्ध मे एक सर्वेक्षण प्रकाशित किया था। इसके अनुसार जनवरी १९५७ से जून १९६७ तक कुल २,७३० विदेशी सहयोग हुए। १९५७ से १९६१ तक इन समझौतो की सख्या मे वृद्धि होती रही परन्तु उसके बाद १९६२ तथा १९६३ मे कमी आती गई। १९६४ मे फिर तेजी के साथ वृद्धि हुई परन्तु १९६४ के पश्चात् फिर कम होने लगा। सबसे अधिक समझौते इजीनियरिंग तथा रसायनिक उद्योग मे हुए। इस अवधि के अन्तर्गत हुए समझौतो का ५० प्रतिशत से अधिक इजीनियरिंग, विद्युत मशीनरी, रसायनिक पदार्थ तथा यातायात उपकरणों के सम्बन्ध मे था।

विभिन्न देशो से हुए समझौतो के दृष्टिकोण से सबसे अधिक समझौते इगलैंड की कम्पनियो से (७४९) हुए। अमेरिका की कम्पनियो के साथ ४८९, पश्चिमी जर्मनी ४०७, जापान २३६ तथा स्विटजरलैंड के साथ १२९ समझौते हुए। इन पाँच देशो के साथ ही ७७ प्रतिशत से अधिक समझौते हुए।

भविष्य

यदि विदेशी पूँजी से पर्याप्त लाभ उठाना है तो इसके लिए उपयुक्त शर्तें प्रस्तुत करनी होगी। शर्तें ऐसी होनी चाहिए जिससे प्राप्त करने वाले देश की

इच्छाओ का भी ध्यान रहे और साथ ही विदेशियो को विनियोग करने का उचित अवसर रहे। विदेशियो को व्यापारिक सुरक्षा मिलनी चाहिए। देश मे वैधानिक, ईमानदर तथा स्थाई सरकार होनी चाहिए। उपयुक्त सस्थाये हो जो कि आवश्यक सहायता प्रदान कर सके। व्यक्तियो को पर्याप्त अधिकार प्राप्त हो तथा न्याय-प्रशासन उपयुक्त हो। साथ ही पूँजी निर्यात करने वाले देशो को भी अल्प-विकसित देशो के प्रति उत्तरदायित्व को नही भूल जाना चाहिए। उनको इस सम्बन्ध मे रूढिवादी नही होना चाहिए। उचित वातावरण का होना आवश्यक तो है परन्तु विदेशी पूँजीपतियो को स्वेज की घटना अथवा ऐंग्लो-ईरानियन तेल कम्पनी के राष्ट्रीयकरण के उदाहरण देकर सहायता देने का विरोध नही करना चाहिए। ऐसा करना अनुचित ही है। उपर्युक्त दोनो घटनाओ के पीछे तो ऐतिहासिक पृष्ठिभूमि रही है परन्तु ऐसा सदैव ही प्रत्येक देश मे हो यह आवश्यक नही है।

उन्नत देशो को सहायता देते समय आर्थिक उद्देश्यो से दी जाने वाली सहायता तथा गैर-आर्थिक या युद्ध सम्बधी सहायता मे अन्तर रखना चाहिए। प्राय विकास के लिए दी जाने वाली सहायता का उद्देश्य राजनीतिक होता है जिसका परिणाम यह होता है कि विकास के लिए वित्त निरन्तर नही प्राप्त हो पाता और विकास-प्रायोजनाओं का आयोजन करने मे कठिनाई होती है।

साथ ही, सहायता करने के कारणो पर भी समुचित विचार करने की आवश्यकता है। प्राय सहायता इसलिए दी जाती है कि इससे पूँजी देने वाले देश के निर्माताओ तथा व्यापारियो को नवीन व्यापार मिलने में सहायता मिलेगी। इस प्रकार यदि धनी देश निर्धन देशो को केवल इसी आशा से सहायता देते है कि वे और भी धनी हो जायँ तो यह उनकी भूल है। सम्पन्नता अविभाज्य है और कही की भी निर्धनता प्रत्येक स्थान की सम्पन्नता के लिए खतरे की बात है। विश्व मे स्थाई शान्ति स्थापित नही हो सकती यदि आय, रहन सहन के स्तर तथा अवकाश मे असमानता रहती है। धनी देशो को अपनी सम्पन्नता बनाये रखने के लिए अल्प-विकसित देशो को आर्थिक सहायता प्रदान करनी चाहिए न कि इस उद्देश्य से कि वे और भी धनी हो जायँ।

भारतवर्ष मे किस सीमा तक विदेशी विनियोग प्राप्त हो सकता है यह भारत सरकार की नीति तथा विदेशी विनियोक्ताओ की दूरदर्शिता पर निर्भर है। हाल मे ही भारत सरकार ने कुछ ऐसे उपाय अपनाये है जिससे विदेशी व्यापारिक विनियोग अधिक से अधिक हो सके (१) सयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, जर्मनी तथा अन्य अनेक देशो से सरकार ने दोहरे कर से छूट सम्बन्धी समझौता किया है। (२) लाभ को प्रेषित करने के लिए, पूँजी को वापस भेजने के लिए तथा राष्ट्रीय-

करण होने पर उचित मुआवजा देने के लिए सरकार ने सतोषजनक आश्वासन दिया है। (३) यद्यपि औद्योगिक नीति मे परिवर्तन नही किया गया है तथापि सरकारी प्रवक्ताओं ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उद्योगो का राष्ट्रीयकरण न होगा। (४) सरकार ने निजी उपक्रमो को उस क्षेत्र मे भी विनियोग की अनुमति दे दी है जिसे इसने औद्योगिक नीति प्रस्ताव की अनुसूची 'अ' के अन्तर्गत अपने लिए आरक्षित कर रखा था। (५) हाल के बजटो मे कुछ कर सम्बन्धी छूटे दी गई है। (६) भारतवर्ष की पचवर्षीय योजनाम्रो मे जो सीमित सफलता प्राप्त हुई है उससे विदेशी विनियोक्ताओ को यह विश्वास हो गया है कि भारतवर्ष आर्थिक विकास की समस्याओं को हल करने मे समर्थ है।

चतुर्थ योजना मे विकास कार्यक्रम के सम्बन्ध मे बहुत बडी मात्रा मे वैदेशिक विनिमय की आवश्यकता है। हम निर्यात को कितना ही अधिक बढाने का प्रयास करे, उससे हमारी आवश्यक मशीन तथा उपकरणो की आयात सम्बन्धी आवश्यकताये पूरी न हो पायेगी। उसके साथ ही, हमारे घरेलू साधन अत्यन्त सीमित है। हमे खाद्यान्न का आयात भी करना पड सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि हम अपने देश के आर्थिक विकास के लिए कब तक विदेशी सहायता पर निर्भर रहेगे ? इसका उत्तर यह है कि विदेशी पूंजी पर उस समय तक हमे निर्भर रहना होगा जब तक कि हमारा आर्थिक विकास इतना न हो जाय कि हमारी बचत विकास के लिए आवश्यक विनियोग के समान हो जाय। विदेशी सहायता की आवश्यकता अब और भी बढ गई है क्योकि चीन तथा पाकिस्तान के आक्रमण के पश्चात् हमे अपनी सुरक्षा के लिए बहुत बडी धनराशि की आवश्यकता है।

मुदालियर समिति (१९६७). भारत सरकार ने फरवरी १९६६ मे श्री रामास्वामी मुदालियर की अध्यक्षता मे एक समिति की नियुक्ति की। इसकी रिपोर्ट सितम्बर १९६७ मे प्रकाशित हुई। मुदालियर समिति के प्रमुख जॉच-परिणाम निम्नलिखित है :—

(१) उन उद्योगों मे, जिनमे पूंजी वस्तुओं के आयात की बहुत बडी मात्रा मे आवश्यकता हो और जिनमे सरकार की नीति के अनुसार विदेशी सहयोग सम्भव हो, विदेशी समता भागिता सहित सम्मिलित उपक्रम अन्य प्रकार के सहयोग की अपेक्षाकृत अधिक लाभप्रद सिद्ध होगा।

इसका लाभ यह है कि भुगतान तभी से प्रारभ होगा जब कि भारतीय उपक्रम लाभ कमाने लगे तथा लाभाश की घोषणा करे। साथ ही भारतीय उपक्रम के विकास मे विदेशी उद्यमी प्रत्यक्ष रूप से रुचि रखेंगे।

(२) विदेशी सहयोग की आवश्यकता तथा उसकी शर्तों के लिए डाइरेक्टरेट

जनरल ऑव टैक्निकल डेवलपमेट तथा कौसिल ऑव साइटिफिक ऐण्ड इडस्ट्रियल रिसर्च के मध्य पहले से ही वार्तालाप की आवश्यकता है।

(३) विदेशी सहयोग के प्रार्थनापत्रो पर विचार हो रहा है या नही यह देखने के लिए औद्योगिक विकास तथा कम्पनी सम्बधी मामले के मत्रालय मे एक केन्द्रीय समन्वय इकाई की आवश्यकता है।

(४) उन उद्योगो मे सहयोग के लिए, जिनका उत्पादन विशेष रूप से निर्यात किया जाता है, उदारपूर्ण नीति अपनाई जानी चाहिए।

(५) समिति ने यह नही माना कि विदेशी सहयोग के कारण देश के उद्यमकर्ताओ के उत्साह का हनन हुआ है या इसके कारण हमे कच्चे माल तथा उपकरणो के लिए विदेशो पर निर्भर रहना पडा है।

(६) भारतीय शोध के आधार को सुदृढ करने के लिये तथा एक ऐसी सस्था का विकास करने के लिये जो कि डिजाइन तथा इजीनियरिंग सेवाये प्रदान कर सके तथा देशी उद्यमकर्ताओ को देशी तकनीक का विकास करने के लिए आवश्यक पूंजी प्रदान कर सके, इस समिति ने अनेक सुझाव दिये हैं।

नवीन विदेशी विनियोग नीति. १९६८-६९ मे, भारत मे विदेशी विनियोग सम्बन्धी विधिओ मे आवश्यक परिवर्तन किये गये। विदेशी विनियोग सम्बन्धी प्रार्थनापत्रो पर विचार करने के लिए तथा उन पर शीघ्र निर्णय लेने के लिये, सरकार ने एक विदेशी विनियोग परिषद की स्थापना की है। परिषद को उन सभी निजी विदेशी विनियोग तथा सहयोग सम्बन्धी मामलो पर विचार करने का अधिकार है जिनमे कुल समता पूंजी २ करोड रुपये से अधिक न हो तथा विदेशी विनियोग निर्गमित समता पूंजी के ४० प्रतिशत से अधिक न हो। इस सीमा से अधिक वाले मामलो पर मत्रिमडल विचार करेगा। जिनमे अन्तिम निर्णय लेते समय केवल विदेशी टैक्निकल सहयोग पर ही विचार करना हो, उन मामलो पर सम्बन्धित मत्रालय ही विचार करेगे।

सरकार ने, साथ ही, उद्योगो की तीन सूचियाँ बनाई है (१) जिनमे विदेशी सहयोग की स्वीकृति टैक्निकल सहयोग के साथ या बिना उसके दी जायगी, (२) जिनमे केवल विदेशी टेक्निकल सहयोग के लिए ही स्वीकृति दी जायगी, (३) जिनमे कोई भी विदेशी टेक्निकल तथा विदेशी सहयोग की आवश्यकता नही है। इन सूचियो मे समय-समय पर परिवर्तन किया जाता रहेगा। इन सूचियो मे विभिन्न उद्योगो के लिए स्वीकृति अधिकार-शुल्क की श्रेणी मे इगित की गई है।

अध्याय १६

भारतवर्ष में औद्योगिक केन्द्रीयकरण*

भारतवर्ष मे, यूरोप तथा अमेरिका की तरह ही, नियत्रण का केन्द्रीयकरण आधुनिक औद्योगिक उपक्रमो के विकास का परिणाम है। आजकल उद्योग की स्थापना एव सचालन के लिये बहुत बडी मात्रा मे पूंजी, साहस तथा साधनो की आवश्यकता होती है जिन्हे लघु उद्यमियो के द्वारा प्राप्त करना सभव नही है। साथ ही, आज के प्रतिस्पर्द्धा से भरे हुए बाजार मे वे ही इकाइयाँ सफल हो पाती है जो कि सर्वाधिक सक्षम हो और व्यापार प्रबन्ध मे आवश्यक क्षमता लाने के लिये शक्ति का कुछ सीमा तक केन्द्रीयकरण आवश्यक सा हो जाता है। इससे बडे स्तर पर उत्पादन की मितव्ययिताये उपलब्ध हो जाती है और उत्पादकता भी बढती है। वैसे भी केन्द्रीयकरण का होना कोई बुरी बात नही है यदि इसके दोषो को दूर करने की व्यवस्था की जाती रहे। यदि आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण होने से एकाधिकार उत्पन्न होता है तो वह अनुचित है क्योकि एकाधिकारी ऐसा कार्य कर सकते है जो कि उपभोक्ताओ को नुकसान पहुचाये और साथ ही ऐसे नवीन आविष्कारो पर रोक लगाये जो कि जनसमुदाय के लिये लाभप्रद हो। शक्ति के ऐसे अस्वस्थ सयोगो को तो समाप्त ही कर दिया जाना चाहिए। ऐसे व्यावहारिक प्रयास भी किये जाने चाहिए कि शक्ति का केन्द्रीयकरण होने ही न पाये। उदाहरण के लिये, ऐसे प्रयत्न किये जाने चाहिए कि अश-पूँजी का स्वामित्व देश भर मे विसरित रहे। निजी उद्योगो की स्थिरता एव विकास मे जनता का हाथ होना चाहिए। दूसरे, उद्योग मे नवीन उपक्रमो के प्रवेश पर कोई भी अवरोध नही होना चाहिए। तीसरे, बडी-बडी इकाइयो के सयोग के लिये अनुमति नही दी जानी चाहिए जब तक कि उसके सभावित आर्थिक एव सामाजिक लाभ का अध्ययन न कर लिया जाय। अन्त मे, प्रबन्धको को चाहिए कि वे उचित आचार-सहिता का पालन दृढता के साथ करे। उन्हे ऐसी परिस्थिति नही उत्पन्न करनी चाहिए जिससे कि सरकार को बाध्य होकर उसके लिये 'विरोधी शक्ति'

*शक्ति के केन्द्रीयकरण को कम करने के लिये नवीन लाइसेंसिग नीति मे की गई व्यवस्थाओ की जानकारी के लिये अध्याय ७ का अवलोकन करे।

के रूप मे कार्य करना पडे । निजी उद्योग को अपने सामाजिक उत्तरदायित्वो को इस प्रकार से अपना लेना चाहिए कि सरकार के द्वारा हस्तक्षेप की आवश्यकता ही न रह जाय ।

हाल के वर्षो मे, सरकार के हाथो मे आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण दो विशेष कारणो से तेजी के साथ हुआ है। प्रथम, कुछ पूंजीपतियो के हाथ मे केन्द्रीयकरण न हो जाय, इस भय से भारत सरकार ने "विरोधी शक्ति" के रूप मे कार्य करना आरभ कर दिया। परन्तु इसका परिणाम केवल यही रहा कि केन्द्रीयकरण पूँजीपतियो के हाथ मे न रह कर सरकार के हाथ मे आ गया । द्वितीय, व्यापार एव उद्योग की दिशा मे सार्वजनिक क्षेत्र का तेजी के साथ विस्तार होने के कारण आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण का एक नवीन स्रोत उत्पन्न हो गया है । साथ ही, अनेक आर्थिक क्रियाओ के क्षेत्र मे, सरकार को वैसे ही एकाधिकार प्राप्त है। निजी पूँजीवाद के स्थान पर राज्य-पूँजीवाद जन्म ले रहा है । यदि निजी क्षेत्र मे शक्ति का केन्द्रीयकरण जनता के लिये हानिप्रद है तो मन्त्रियो एव अधिकारियो के हाथ मे भी यदि शक्ति का केन्द्रीयकरण होता है तो वह चिन्ता की बात है, विशेष रूप से भारत जैसे देश मे जहाँ की अधिकाश जनता अशिक्षित है और अपने अधिकारो की सुरक्षा कर पाने मे असमर्थ है। सार्वजनिक क्षेत्र मे एकाधिकार के विषय मे उल्लेख करते हुए, एकाधिकार जॉच आयोग ने यह ठीक ही कहा कि उनको विशेष छूटे नही दी जानी चाहिए और उनके ऊपर वही प्रतिबन्ध लगाये जॉय जो कि निजी क्षेत्र के ऊपर लगाये जाते है । आयोग ने यह स्पष्ट कर दिया कि क्षमताहीन सार्वजनिक क्षेत्र की इकाई का निजी क्षेत्र की इकाइयो पर विपरीत प्रभाव पड सकता है और यह उपभोक्ताओ एव सामान्य कर-दाता के लिए व्ययपूर्ण भी सिद्ध हो सकता है।

राजकीय नीति. भारतीय सविधान मे राज्य-नीति के निदेशी सिद्धान्तो की व्यवस्था की गई है जिनके अन्तर्गत राज्य को अपनी नीतियो को इस ढंग से निदेशित करना होगा कि (१) समुदाय के प्रमुख साधनो का स्वामित्व एव नियत्रण इस तरह से वितरित हो कि इससे जनता का हित हो; तथा (२) आर्थिक प्रणाली का सचालन ऐसा न हो कि उससे उत्पादन के साधनो तथा धन का केन्द्रीयकरण हो। १९५४ मे, इन सिद्धान्तो को और भी स्पष्ट किया गया जब कि संसद ने सामाजिक एव आर्थिक नीति के उद्देश्य के रूप मे समाजवादी समाज को स्वीकृत कर लिया। इसके अन्तर्गत निजी लाभ के स्थान पर सामाजिक लाभ को बल दिया गया है। राष्ट्रीय आय तथा रोजगार का विकास इस प्रकार से करना

होगा कि धन तथा आय का अधिक से अधिक समान वितरण हो सके । आर्थिक विकास का अधिकाधिक लाभ समाज के पिछडे हुए वर्ग को ही हो ऐसा प्रयत्न किया जाना चाहिए ।

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, १६५६ मे आय तथा धन की असमानता को कम करने पर बल दिया गया है । इसमे अल्प सख्या मे व्यक्तियो के पास विभिन्न क्षेत्रो मे आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोकने तथा निजी एकाधिकार के रोकने पर भी विशेष बल दिया गया है । तदनुसार, सरकार को नवीन औद्योगिक उपक्रमो की स्थापना के लिये अधिकाधिक प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व ग्रहण करना होगा ।

पचवर्षीय योजनाओ का भी एक उद्देश्य आय तथा धन की असमानताओ को कम करना तथा आर्थिक शक्ति के विभाजन को अधिक समान करना है । यह आवश्यक भी है क्योकि ऐसा अनुभव रहा है कि आर्थिक विकास के साथ-साथ आय तथा धन की असमानता बढती जाती है । पचवर्षीय योजनाओ मे इसी लिये विकास की ऐसी योजना बनाने की व्यवस्था की गई है कि और अधिक असमानता न बढे । इस बात पर भी बल दिया गया है कि असमानताओ को कम करने के लिये ऐसा प्रयास नही किया जाना चाहिए कि उससे उत्पादन प्रणाली को आघात पहुचे और विकास रुक जाय । असमानता को दूर करने के लिये दोनो ओर से प्रयास किया जाना चाहिए - प्रथम, ऐसे उपाय अपनाये जाने चाहिए कि उच्च स्तर पर आय तथा धन का केन्द्रीयकरण कम से कम हो, तथा दूसरे, आय मे सामान्य रूप से और नीचे स्तर पर विशेष रूप से वृद्धि हो । उत्पादन को सहकारिता के आधार पर करके, निजी एकाधिकार पर नियत्रण करके तथा आवश्यक क्षेत्रो मे सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करके इस दिशा मे प्रयास किया जाना चाहिए ।

योजनाओ मे जिस ढग का विनियोग प्रस्तावित है, सरकारी कार्यवाहियों द्वारा जो आर्थिक क्रियाओ को निदेशन दिया गया है, सामाजिक सेवाओ का जो विस्तार हुआ है, योजना के लिये आवश्यक साधनों का सचरण करने के लिये जो प्राशुल्किक उपाय अपनाये गये है उनका प्रभाव, सम्पत्ति के स्वामित्व एव प्रबन्ध के क्षेत्र मे जो औद्योगिक परिवर्तन हुए है, संयुक्त स्कध वाली कम्पनी का कार्य-सचालन, राज्य सरक्षण मे सहकारी क्षेत्र का विकास, ये सभी मिलकर आर्थिक शक्ति के सृजन तथा वितरण को नियमित करेंगे । इन उपायों को इस सतुलित एवं समन्वित ढग से अपनाया जाना चाहिए कि निम्न स्तर पर आय मे वृद्धि का अवसर बढ़े और उच्च स्तर पर धन का केन्द्रीयकरण कम हो ।

सरकारी नीति के दृष्टिकोण से, भारत मे औद्योगिक सयोग का दो शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता हैं । कुछ प्रकार के औद्योगिक सयोग ऐसे हैं

जिन्हे सरकार द्वारा प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, उदाहारणार्थ, १९५२ मे भारत सरकार ने इन्डियन आयरन ऐन्ड स्टील क० पर दबाव डाला कि वह कार्यक्षमता बढाने के लिये स्टील कार्पोरेशन ऑव बगाल को अपने मे सम्मिलित कर ले। उसी प्रकार भारतीय पूँजीपतियो तथा विदेशी उद्योगपतियो के मध्य सहयोग का सरकार कुछ सीमाओ मे समर्थन करती है। सरकार ने उन उद्योगो को भी सहायता पहुचाई है जिन्होने विवेकीकरण के लिये सक्रिय कदम उठाया, उदाहरण के लिये, छोटे-छोटे कोयले की खानो के समामेलन के लिये प्रयास किया गया है। निर्यात व्यापार के क्षेत्र मे, व्यापार सघ के रूप मे सयोग को भी सरकार ने प्रोत्साहित किया। दूसरी ओर, ऐसे सयोगो को, जिनसे एकाधिकार की स्थापना हुई अथवा जो असामाजिक कार्य-कलापो मे लगे थे, सरकार ने स्वीकृत नही किया, उदाहरण के लिये, १९५० मे सरकार ने शुगर सिंडीकेट की मान्यता वापस ले ली जब इसने कृत्रिम अभाव की स्थिति उत्पन्न करके उपभोक्ताओ का शोषण करने का प्रयत्न किया।

भारतीय कम्पनी अधिनियम १९५६ के अन्तर्गत सरकार को प्रबन्धकीय, प्रशासकीय तथा वित्तीय एकीकरण को नियमित करने का अधिकार प्राप्त है। इस अधिनियम के अन्तर्गत प्रबन्ध अभिकर्ताओ पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये थे जिनसे शक्ति का केन्द्रीयकरण न हो सके। प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के समाप्त करने का भी एक प्रमुख उद्देश्य यही रहा है। इस अधिनियम के अन्तर्गत अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये है जिनके कारण अन्तर्कम्पनी विनियोग अथवा अन्तर्कम्पनी ऋण नही दिया जा सकता है जिससे वित्तीय एकीकरण न हो सके।

प्रशासकीय एकीकरण को रोकने के लिये, अधिनियम मे यह प्रावधान है कि कोई भी व्यक्ति एक साथ २० कम्पनियो से अधिक का सचालक नही हो सकता है (धारा २७५)। यदि वह २० से अधिक कम्पनियों के सचालक का पद ग्रहण करता है तो २० से अधिक प्रत्येक कम्पनी के लिये उस पर ५,००० रुपया जुर्माना किया जा सकता है (धारा २७९)।

धारा २४७ के अन्तर्गत, केन्द्रीय सरकार किसी भी कम्पनी की सदस्यता की जाँच करके रिपोर्ट देने के लिये निरीक्षक नियुक्त कर सकती है। उसे यह भी पता लगाने के लिये कहा जा सकता है कि कम्पनी मे वित्तीय हित प्रमुख रूप से किसका है अथवा कौन-कौन कम्पनी की नीति को विशेष रूप से प्रभावित अथवा नियन्त्रित कर रहे है। एक नया प्रावधान और बनाया गया है जिसके अन्तर्गत कम्पनी के स्वामित्व की जाँच कराई जा सकती है।

यदि सरकार जन-हित मे यह उचित समझती है कि दो या दो से अधिक कम्पनियो का समामेलन हो जाना चाहिए तो ऐसा करने के लिये उसे धारा ३९६

के अन्तर्गत पूर्ण अधिकार प्राप्त है । इसके सम्बन्ध मे वह निश्चित आदेश दे सकती है और उसे उस आदेश की प्रतिलिपि ससद मे प्रस्तुत करनी होगी ।

नवम्बर १९५८ मे, राज्य सभा के एक कम्युनिस्ट सदस्य ने एक प्रस्ताव यह रखा कि ससद-सदस्यो की एक समिति नियुक्त की जाय जो देश में एकाधिकारी सस्थाओ की जाँच करे, परन्तु उस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया गया था। उद्योग मत्री का कथन था कि सरकार के पास धन का केन्द्रीयकरण रोकने के लिये समुचित अधिकार है ।

१९६० मे, ससद की अनुमान समिति ने सुझाव दिया था कि औद्योगिक क्षेत्र मे विभिन्न औद्योगिक दलो तथा व्यापारिक गृहों की धारिता का सर्वेक्षण किया जाय जिससे यह पता लग सके कि एकाधिकार की प्रवृत्ति क्या है । समिति ने सिफारिश की थी कि ऐसे ठोस एव व्यावहारिक उपायो को अपनाया जाय जिससे कि औद्योगिक साम्राज्य स्थापित हो पाये ।

अप्रैल १९६० मे, उद्योग मत्री को लोक सभा मे सरकार की औद्योगिक नीति का जोरदार समर्थन करना पडा क्योकि अनेक सदस्यो का कहना था कि सरकार आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को रोकने मे सफल नही रही है । मत्री ने सदस्यो के सम्मुख तथ्य रखकर यह सिद्ध किया कि यह अभियोग निराधार है । मुख्य बात जो उन्होंने सामने रखी वह यह थी कि उद्योग का बडा होना तथा औद्योगिक साम्राज्य दोनों ही दूसरी चीजे है। यदि किसी विशेष औद्योगिक गृह का आकार बडा होता जा रहा है तो इसका तात्पर्य यह नही है कि उसे किसी निर्मित वस्तु-विशेष मे एकाधिकार प्राप्त होता जा रहा है । उन्होने तो यह अवलोकन किया कि भारतवर्ष मे व्यावहारिक दृष्टिकोण से एकाधिकार है ही नही और उपभोक्ता उद्योग मे तो कोई भी एक ऐसा दल नही है जिसके पास राष्ट्रीय उत्पादन का तीन या चार प्रतिशत से अधिक का स्वामित्व हो । उन्होने, हालाँकि, यह स्वीकृत किया कि इसके चार अपवाद हैं । उनमे से एक है मेटल बाक्स कम्पनी ऑव इडिया, दूसरा है एसोशियेटेड सीमेण्ट कम्पनी, तीसरा है वेस्टर्न इडिया मैच कम्पनी और चौथा है इडियन आक्सीजन । परन्तु इन सभी दशाओ मे, उनका प्रभुत्व अपने-अपने क्षेत्र मे धीरे-धीरे कम होता जा रहा है क्योकि छोटे और बडे उद्यमियों के प्रवेश को प्रोत्साहित किया जा रहा है। उन्होने यह स्पष्ट कर दिया कि सरकार किसी भी प्रकार के एकाधिकार के विरुद्ध है और यदि कोई भी इस प्रकार का प्रयास करेगा तो सरकार उसके विरुद्ध उचित कार्यवाही करेगी । साथ ही यह भी कहा कि सरकार बड़े औद्योगिक गृहो की विरोधी नही है ।

बडे औद्योगिक एकाधिकार का, औद्योगिक साम्राज्य का तथा धन के केन्द्रीयकरण के भय का सामना उचित ढग से किया जा सकता है यदि इसे एक राजनीतिक विषय न बना दिया जाय। भारतवर्ष के तथाकथित औद्योगिक साम्राज्य इगलैड अथवा अमेरिका के बडे-बडे औद्योगिक गृहो के सामने तो बिल्कुल बौने के समान है। वैसे भी, यहाँ पर भविष्य मे भयप्रद केन्द्रीयकरण होने की सभावनाये निम्नलिखित कारणो से नही है (१) बडे औद्योगिक गृहो से बाहर और स्वतन्त्र अधिक से अधिक सख्या मे औद्योगिक सस्थाओ की स्थापना हो रही है। (२) सरकार सक्रिय रूप से विभिन्न प्रकार के लघु उद्योगों के विकास के लिये सतत प्रयास कर रही है। (३) औद्योगिक क्षेत्र मे सार्वजनिक क्षेत्र तेजी के साथ प्रगति कर रहा है। प्रथम योजना मे, उद्योगो मे सार्वजनिक क्षेत्र का विनियोग केवल ६० करोड रुपया था, द्वितीय योजना मे, यह ७२० करोड रुपये था जो कि बारह गुना अधिक था, तथा तृतीय योजना मे यह १५५० करोड़ रुपये से १६५० करोड रुपये था। निजी क्षेत्र के लिये ये आँकडे क्रमश ३३० करोड, ८५० करोड़ रुपये, १२०० करोड रुपये तथा १,३०० करोड रुपये थे। (४) सरकार के पास निजी क्षेत्र को नियमित करने के लिये अत्यधिक अधिकार है। मूल्य, लाभ, उत्पादन, माल का विभाजन सभी का नियत्रण सरकार के हाथ मे है। प्रबन्धको मे परिवर्तन तथा उनके पारिश्रमिक पर भी सरकार का नियत्रण है। (५) कर का भार अधिक है और उसमे पुर्नवितरण का तत्व भी पर्याप्त है।

महालानोबिस समिति

इस समिति की नियुक्ति अक्टूबर, १९६० मे योजना आयोग द्वारा की गई। इसके अध्यक्ष डा० पी० सी० महालानोबिस थे। इससे पूर्व पडित नेहरू ने लोक सभा मे यह वक्तव्य दिया था कि एक विशेषज्ञो की समिति की नियुक्ति यह पता लगाने के लिये की जानी आवश्यक है कि प्रथम तथा द्वितीय योजना मे जो अतिरिक्त आय उत्पन्न हुई उसका वितरण देश मे किस प्रकार हुआ। इस समिति का नाम "आय का वितरण तथा रहन-सहन का स्तर समिति" (Distribution of Income and Levels of Living Committee) रखा गया। योजना आयोग ने इसे निम्नलिखित कार्य सौपे थे .

(१) यह पता लगाना कि आर्थिक प्रणाली के सचालन से किस सीमा तक धन एव उत्पादन के साधनो का केन्द्रीयकरण हुआ है ;

(२) प्रथम तथा द्वितीय योजना-काल मे रहन-सहन के स्तर मे जो परिवर्तन हुए है उनकी जाँच करना,

(३) आय तथा धन के वितरण की हाल की प्रवृत्तियो का अध्ययन करना।

समिति से आशा की जाती थी कि वह इस बात का भी पता लगायेगी कि साख्यिकीय तथा आर्थिक आँकडो मे क्या कमिया है। इसका पता लगाना इस प्रकार के अध्ययन के लिये अति आवश्यक होगा।

इस समिति की रिपोर्ट का प्रथम भाग लोक सभा मे अप्रैल १९६४ मे प्रस्तुत किया गया। एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह था कि आँकडो को देखने से यह नही ज्ञात होता कि योजना के प्रथम दस वर्षो मे केन्द्रीयकरण की कोई निश्चित प्रवृत्ति है। उनसे, हालाँकि, यह ज्ञात हुआ कि आय, सम्पत्ति, तथा गैर-सरकारी क्षेत्र पर नियत्रण के क्षेत्र मे आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण है। यह केन्द्रीयकरण १९५१ तथा १९५८ के मध्य विशेष उल्लेखनीय रहा है। आँकडो से यह ज्ञात हुआ कि योजना के दस वर्ष के अन्त मे आर्थिक सम्पत्तियो के वितरण मे पर्याप्त मात्रा मे असमानता है और परिणामस्वरूप जनता के एक बहुत छोटे वर्ग के हाथ मे आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण है। आय के आकार एव वितरण से सम्बन्धित उपलब्ध आँकडो से यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष मे आय के वितरण मे असमानता अन्य विकसित एव अल्प-विकसित देशो की अपेक्षाकृत अधिक नही है। कम्पनी के अशों के रूप में जो निजी धन लोगों के पास है उसमे केन्द्रीयकरण की मात्रा, भूमि अथवा गृह की अपेक्षाकृत, अधिक है। आय के वितरण की अपेक्षाकृत धन के वितरण मे अधिक असमानता है।

कम्पनी के क्षेत्र में केन्द्रीयकरण. कम्पनी के क्षेत्र मे केन्द्रीयकरण के सम्बन्ध में समिति ने निम्नलिखित रिपोर्ट दी

(१) यद्यपि कम्पनी के आकार मे वृद्धि होना इस बात का द्योतक नही है कि कम्पनी के स्वामित्व मे केन्द्रीयकरण बढ रहा है, तथापि इससे नियत्रण एव आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण मे सहायता मिलती है। साथ ही, स्वामित्त्व के विकेन्द्रीयकरण के कुछ साक्ष्य उपलब्ध है।

(२) नियोजित अर्थव्यवस्था के सचालन से बडी कम्पनियों के विकास में सहायता मिली है और साथ ही एक सरक्षित बाजार भी उपस्थित रहा है। आवश्यक उपरिव्यय की सुविधाये प्रदान करके तथा कम मुद्रा-स्फीति वाले बजट को बना करके उद्योगो को प्रोत्साहित किया गया है। कर सम्बन्धी अनेक छूटों को देकर भी सरकार ने निजी उद्योग के विकास मे सहायता पहुचाई है।

(३) बैंक साख का अधिक लाभ बडे तथा मध्यम आकार के उपक्रमो को ही मिलता रहा है। बैंकिग क्षेत्र मे स्वय ही बहुत बडी मात्रा मे केन्द्रीयकरण है। १६५६ मे ३६३ भारतीय बैंको मे से १५ बडे बैंकों का भाग, जिनके पास २५ करोड रुपये से अधिक के निक्षेप थे, ७८% था।

(४) यह आवश्यक नही है कि यदि बडे व्यवसायो का विकास हो रहा है तो वे गैर-सामाजिक नीतियो को जान-बूझ कर अपना रहे है। उनका स्तर आर्थिक कारणो से ही बड़ा हुआ जिससे कि बडे स्तर की मितव्ययिताओ का वे लाभ उठा सके। इसके साथ ही, इसमे भी सन्देह नही कि उद्योग के स्थानीय केन्द्रीयकरण का, चाहे वह आर्थिक आधार पर उचित हो, परिणाम यह हो सकता है कि एकाधिकार की प्रवृत्ति बढे।

(५) भारतवर्ष के सदर्भ मे, पूरे औद्योगिक क्षेत्र मे नियंत्रण का केन्द्रीयकरण है न कि किसी एक उद्योग विशेष मे ऐसा है। यह आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण का सबसे खराब पक्ष है।

(६) हाल के वर्षों मे आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण का एक कारण सम्मिलित उपक्रमो मे विदेशी विनियोग का तथा तकनीकी ज्ञान का बड़ी मात्रा मे प्राप्त होना रहा है।

(७) सरकार के द्वारा प्रयास किये जाने के उपरान्त भी आर्थिक शक्ति का अधिकाधिक केन्द्रीयकरण हुआ।

(८) विभिन्न सार्वजनिक वित्तीय सस्थाओ द्वारा दी गई वित्तीय सहायता से भी निजी क्षेत्र मे उद्योग, विशेष रूप से बडी कम्पनियो, के विकास को सहायता मिली है। रिपोर्ट मे यह उल्लेख किया गया है कि जीवन बीमा निगम ने भी स्टाक एक्सचेंज प्रतिभूतियों को लेकर निजी उद्योग मे बडे व्यापारियो को सहायता पहुचाई है। दूसरे शब्दों मे, बडी कम्पनियो तथा बडे उपक्रमो की पूँजी बाजार में अधिक पहुच है। आर्थिक प्रणाली के सचालन ने तथा ऋण देने के लिये साख तथा प्रतिभूति की अवश्यकता ने भी बडे तथा स्थापित उद्योगो को समर्थन दिया और उनकी अपेक्षाकृत छोटे तथा सघर्षरत उद्यमियों को लाभ न मिल पाया।

कम्पनी क्षेत्र मे, नियत्रण के केन्द्रीयकरण के विषय पर विचार करते हुए, समिति ने यह उल्लेख किया कि २० बड़े ग्रुप का १६५१ मे ६८३ कम्पनियों में हित था जिनके पास २३८ करोड रुपये की अश पूँजी थी। १६५८ में यह बढकर १७३ कम्पनियो मे हो गया जिनकी अश पूँजी ३५२ करोड़ रुपये थी। उनकी शुद्ध स्थायी सम्पत्ति ५०१ करोड रुपये थी, शुद्ध पूंजी स्टाक ८१४ करोड रुपये थी तथा

सकल पूंजी स्टाक १,१०२ करोड रुपये था। इन आँकडो से यह ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण कम्पनी के निजी क्षेत्र मे केन्द्रीयकरण है। प्रबन्ध अभिकर्ता द्वारा मिले-जुले सचालक द्वारा तथा अन्य प्रकार से नियत्रण रखा जाता था और इस प्रकार इन उपक्रमो के दिन-प्रति-दिन के सचालन मे सक्रिय रूप से अपना प्रभाव रख पाते थे।

समिति ने अन्य महत्वपूर्ण मामलो पर अपने निश्चित विचार नही प्रकट किये। इसने भविष्य मे अध्ययन के लिये तीन प्रमुख समस्याये रखी। ये निम्नलिखित है

(१) किस सीमा तक बडे व्यापार की उन्नति विकास की प्रक्रिया का अपरिहार्य अग है ?

(२) किस सीमा तक इसे स्तर की मितव्ययिता के अनुसार न्यायोचित समझा जा सकता है ?

(३) किस सीमा तक यह घोषित उद्देश्यो के विपरीत रहा है ?

नियोजित अर्थव्यवस्था मे निजी क्षेत्र की भूमिका पर समिति ने बल दिया है। समिति को यह नही वताना था कि केन्द्रीयकरण को कम करने के लिये किन उपायो को अपनाया जाना चाहिए। फिर भी, इसने यह सुझाव दिया कि इसके विरुद्ध अपनाये जाने वाले उपायो का क्षेत्र और विस्तृत किया जाना चाहिए और यह आर्थिक विकास के उद्देश्यो के अनुरूप भी होगा। इसने यह विचार प्रकट किया कि निजी क्षेत्र मे आर्थिक शक्ति एव नियत्रण के विषय मे पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिये और अधिक तथा विस्तार-पूर्ण आँकडो तथा सूचनाओ का उपलब्ध होना आवश्यक है। ऐसी सूचनाये किसी पूर्ण-कालिक एजेसी द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। उस एजेसी के पास आवश्यक वैधानिक अधिकार होने चाहिए तथा इस कार्य के लिये आवश्यक स्टाफ भी होना चाहिए।

एकाधिकार जॉच आयोग

केन्द्रीय सरकार ने अप्रैल १९६४ मे एक पॉच सदस्यो का आयोग आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण के बारे मे जाँच करने के लिये नियुक्त किया। इसके अध्यक्ष सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री के० सी० दास गुप्ता थे। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट अक्टूबर १९६५ मे प्रस्तुत की। इसे निजी क्षेत्र तथा वित्तीय सस्थाओ के सचालन सम्बन्धी लगभग सभी बातो के बारे मे तथा अर्थव्यवस्था पर उनके प्रभाव के बारे मे जॉच कर पता लगाना था। एकाधिकारी प्रवृत्ति के अतिरिक्त, आयोग को प्रतिबन्धक व्यवहारो के बारे मे भी परीक्षण करना था।

एक कम्पनी द्वारा दूसरी स्वतन्त्र कम्पनी के अशो तथा सम्पत्तियो को प्राप्त करने के लिये अपने कोष का विनियोग करना एक दूसरा कारण रहा है। प्रबन्ध अभिकर्ता अपने द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नियत्रित सहायक कम्पनी के अतिरिक्त उस सहायक कम्पनी की सहायक कम्पनियो पर भी अपना नियत्रण रख पाने मे समर्थ होते थे।

एक ही उत्पादन मे लगी कम्पनियो मे तथा उन कम्पनियो मे जो उनके उत्पादन के वितरण मे लगी है या उन कम्पनियो मे जो कच्चे माल का अथवा तत्सम्बन्धित उत्पादनो मे लगी है मिले-जुले सचालको के होने के अथवा उनके अन्तर्ग्रथन के कारण भी केन्द्रीयकरण रहा है। बिना अन्तर्कम्पनी विनियोग किये हुए ही, सचालको का अन्तर्ग्रथन रहा है।

केन्द्रीयकरण को प्रोत्साहित करने वाले विभिन्न घटको को द्वितीय महायुद्ध की आवश्यकताओ ने और अधिक प्रेरित किया। युद्ध काल मे कुछ उद्योगपतियो ने अत्यधिक धनराशि अर्जित कर ली थी उससे स्वतन्त्रता के पश्चात् नये उद्योगो को वित्त प्रदान करने मे अत्यधिक सहायता मिली जब भारत सरकार ने तीव्रता के साथ औद्योगीकरण के कार्यक्रम को कार्यान्वित करना आरभ किया। इसके साथ ही स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त जब कुछ ब्रिटिश उद्योगपतियो ने भारत छोड़ा तो उनके व्यापार को कुछ भारतीय धनी उद्योगपतियो ने ले लिया जिससे धन का और अधिक केन्द्रीयकरण हुआ।

नियोजित अर्थव्यवस्था मे, औद्योगिक लाइसेंसिंग, पूँजी निर्गमन पर नियत्रण, आयात के नियमन तथा विनिमय पर नियत्रण की आवश्यकता हुई और इन सब उपायो के अपनाने पर केन्द्रीयकरण को और अधिक प्रोत्साहन मिला। बडे व्यापारियो तथा उद्योगपतियो को नवीन उपक्रम की स्थापना के लिये अथवा स्थापित उद्योग के विस्तार के लिये आसानी से लाइसेस प्राप्त हो जाता था। इसके निम्नलिखित कारण थे. (१) बड़े व्यापारी उद्योग की स्थापना अथवा विस्तार के लिये आवश्यक पूँजी आसानी से एकत्र करने मे समर्थ थे। इससे लाइसेस के उपयोग न होने का जोखिम कम था। (२) लाइसेसिग अधिकारी लाइसेंस प्रदान करने मे बडे उद्योगपतियो को ही प्राथमिकता देते थे क्योकि विगत वर्षों मे उन्हे सफलता मिल चुकी होती थी और वे अपनी योग्यता सिद्ध कर चुके थे। उनकी अपेक्षाकृत नवीन उद्यमियों के विषय मे अनिश्चितता थी। (३) बडे व्यापारियो को इसलिये भी लाइसेंस आसानी से मिल जाता था कि वे विदेशी सहयोग प्राप्त करने मे समर्थ थे। (४) लाइसेस प्राप्त करने की विधि भी इतनी जटिल तथा व्ययपूर्ण थी कि छोटे व्यापारी अथवा उद्योगपतियों के लिये उसका प्राप्त करना कठिन सिद्ध होता

था । बहुत से उद्यमी तो इसी से हतोत्साहित हो जाते थे। एकाधिकार जाँच आयोग का यह निश्चित विचार था कि औद्योगिक लाइसेंसिंग के रूप मे नियत्रण की प्रथा ने उद्योग मे प्रवेश की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा रखा है और इससे केन्द्रीयकरण को प्रोत्साहन मिलता है ।

छोटे व्यापारियो की अपेक्षाकृत बडे व्यापारियो को बैक तथा अन्य वित्तीय सस्थाओ से आर्थिक सहायता इतनी सुलभता से प्राप्त हो जाती है कि इस कारण से भी केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

केन्द्रीयकरण की सीमा एकाधिकार जाँच आयोग ने उत्पादन के दृष्टिकोण से केन्द्रीयकरण के विषय मे विस्तृत अध्ययन किया तथा १०० चुने हुए पदार्थों के बारे मे केन्द्रीयकरण का विचार किया, जैसे, शिशु दुग्धाहार, चाय, चीनी, अनेक प्रकार के वस्त्र, घरेलू वस्तुएँ जैसे, लालटेन, रेफ्रिजरेटर्स, थर्मस फ्लास्क, दियासलाई, सिगरेट, जूते, अनेक प्रकार की औषधियाँ, परिवहन सम्बन्धी माल जैसे, टायर, कार, पिस्टन, मकान निर्माण सम्बन्धी वस्तुएँ जैसे सीमेण्ट, सैनिटरी सम्बन्धी वस्तुएँ आदि । १०० मे से ६५ वस्तुओ मे उच्च सीमा मे केन्द्रीयकरण पाया गया। यह इस अर्थ मे था कि तीन प्रमुख निर्माताओ का वस्तु विशेष के कुल उत्पादन मे ७५ प्रतिशत से अधिक भाग था ।

आयोग ने यह पाया कि दो प्रमुख वस्त्र उद्योग मे—सूती एव जूट—कोई भी केन्द्रीयकरण नही था । दोनो ही उद्योग मे अत्यधिक सख्या मे उपक्रम लगे हुए है। उनमे से कुछ का नियत्रण अनेक वस्त्र की मिलो पर था। बिडला का ६, टाटा का ४, मफतलाल का १० मिलो पर नियत्रण था परन्तु किसी का भी भाग ८ प्रतिशत से अधिक न था । जूट वस्त्र के उत्पादन मे ७० इकाइयाँ लगी हुई हैं। सर्वाधिक भाग सूरजमल नागरमल वर्ग की मिलो का था जिनका प्रतिशत १० २ था। अन्य बडे वर्ग जैसे बर्ड-हीगलर्स, बॉग्र्स, गोयकाज, तथा जार्डिन हण्डर्सन आदि का भाग और कम था ।

ऊनी वस्त्र उद्योग मे परिस्थिति दूसरे ढग की थी। ऊन की कार्बिग की अवस्था मे अत्यधिक केन्द्रीयकरण था और उसमे केवल २ निर्माता थे । अधिक प्रमुख प्रकार के सूत के उत्पादन मे केन्द्रीयकरण कुछ कम था। सूती वस्त्र के उत्पादन मे भी केन्द्रीयकरण बहुत कम था । सश्लिष्ट पदार्थो से बने फाइबर के उत्पादन मे केन्द्रीयकरण उल्लेखनीय था। सर सिल्क, जो बिडला की सस्था थी, एसिटेट रेयन सूत का एकमात्र उत्पादक था, ग्वालियर रेयन, जो बिडला की दूसरी सस्था थी, विस्कोज स्टेबिल फाइबर के कुल उत्पादन का ८९ प्रतिशत उत्पादित करता था । पोलियस्टर फाइबर का एकमात्र उत्पादक आई० सी० आई० की एक इकाई थी जिसने १९६५ मे उत्पादन आरभ किया ।

चाय के विनिर्माण मे कोई केन्द्रीयकरण नही पाया गया और इसमे भी कई निर्माता लगे हुए थे। दो प्रमुख निर्माता—डकन ब्रदर्स तथा जेम्स फिनले—का भाग क्रमश १०२ और ७७% था। परन्तु बँधी हुई चाय की बिक्री मे, जो देश मे उपभोग का ५० प्रतिशत था, उच्च मात्रा मे केन्द्रीयकरण था। ब्रुक बाण्ड का भाग ७०% तथा लिप्टन का भाग लगभग १०% था। कॉफी के विनिर्माण मे भी केन्द्रीयकरण था—तीन प्रमुख निर्माताओ का भाग लगभग ४०% था।

चीनी उद्योग मे भी कोई केन्द्रीयकरण न था। सगठित क्षेत्र मे १६६ इकाइयाँ थी यद्यपि कुछ उद्योगपतियो का एक से अधिक इकाइयो पर नियत्रण था। वैसे प्रमुख उद्योगपति, बिडला, पैरीज, बजाज, बी० आई० सी०, का कुल भाग १५% से भी कम था। बनस्पति उद्योग मे ६ निर्माता लगे थे। उसमे सबसे अधिक भाग हिन्दुस्तान लीवर का था जो १६% था, उसके बाद डी० सी० एम० केमिकल वर्क्स का भाग १०% तथा गनेश फलोर मिल्स का भाग ६% था।

पेट्रोल उद्योग मे उत्पादन का अधिकाश बर्मा शेल, इसो, काल्टेक्स, तथा आसाम आयल कम्पनी के पास था। बर्मा शेल का भाग ४२% था। मिट्टी के तेल के उत्पादन मे बर्मा शेल का भाग ५१%, इसो का २५%, काल्टेक्स तथा आसाम आयल कम्पनी का भाग क्रमश १२% तथा ६% था। डीजल आयल की दशा मे भी यही स्थिति थी।

लोहा एव इस्पात की दिशा मे, अधिकाश भाग हिन्दुस्तान स्टील की तीन सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयो का तथा मैसूर आयरन वर्क्स के पास (दूसरी सार्वजनिक क्षेत्र की इकाई) था। निजी क्षेत्र मे केन्द्रीयकरण कुछ प्रकार के अर्द्ध-निर्मित इस्पात के उत्पादन के सम्बन्ध मे था।

कोयला के उत्पादन मे कोई केन्द्रीयकरण न था। उसमे सैकडो उपक्रम लगे हुए थे। नेशनल कोल डेवलपमेण्ट कार्पोरेशन, जो सार्वजनिक क्षेत्र की इकाई है, का भाग कुल उत्पादन का १२ ८% था। किसी भी निजी क्षेत्र के उपक्रम का भाग अधिक न था।

कुछ खनिज पदार्थो की दशा मे उच्चस्तर का केन्यद्रीकरण था। भारतीय ताँबा निगम ताँबे का एकमात्र निर्माता था। भारतीय धातु निगम जस्ता, सीसा तथा चाँदी का ६०% उत्पादन कर रहा था। मैगनीज धातु तथा अभ्रक के उत्पादन मे कोई केन्द्रीयकरण न था।

देश के अनुसार केन्द्रीयकरण. आयोग ने देश के अनुसार केन्द्रीयकरण का भी विस्तृत अध्ययन किया। इसके लिए २,२५६ कम्पनियो के सम्बन्ध मे आँकड़े विस्तार सहित प्राप्त किये जो कि देश के ८३ बडे व्यापारिक वर्ग से सम्बन्धित

थे। इन कम्पनियो का वर्गो से सम्बन्ध के विषय मे निर्णय लेने के लिए स्वामित्व तथा नियत्रण दोनो ही बातो पर विचार किया गया और अन्त मे, ७५ वर्गो की एक सूची बनाई गई जिनकी कुल सम्पत्ति (उनके द्वारा नियत्रित कम्पनियो की सम्पत्तियो का योग) ५ करोड रुपये से कम न थी।

इन ७५ वर्गों के अन्तर्गत, जिनकी कुल सम्पत्ति ५ करोड से कम न थी, १,५३६ कम्पनियाँ थी जिनकी कुल सम्पत्ति २,६०६ करोड रुपये थी ,और प्रदत्त पूँजी ६४६ करोड़ रुपये थी। उन वर्गो की सूची मे सबसे ऊपर टाटा का नाम था जिनके अन्तर्गत ५३ कम्पनियाँ थी जिनकी कुल सम्पत्ति ४१७ करोड़ रुपये की थी। उसके बाद बिडला का दूसरा नम्बर था जिसके अन्तर्गत १५१ कम्पनियाँ थी जिनकी कुल पूंजी २९२ करोड रुपये थी।

केन्द्रीयकरण के परिणाम. आर्थिक केन्द्रीयकरण के परिणाम के विषय मे विवेचना करते हुए आयोग ने यह उल्लेख किया कि जनता बडे व्यापारियो को पसन्द नही करती। यह विचार इस सन्देह पर आधारित था कि बडे व्यापार अपनी श्रृखला इतनी दूर तक फैला सकने मे समर्थ हैं कि वे जनतत्र की जड़ तक काट सकते है। इस बात को बल इस तथ्य से मिलता है कि देश के बडे-बडे उद्योगपति सत्तारुढ दल को समय-समय पर अपार धन देते रहते हैं, विशेष रूप से सामान्य निर्वाचन के समय ये उन्हे अत्यधिक सहायता प्रदान करते है। उनके पास नेताओ को भ्रष्ट करने की शक्ति है और कुछ व्यापारी तो सरकारी अधिकारियो को भी भ्रष्ट करने मे नही हिचकिचाते है। इस आयोग का विचार था कि इस तरह का विचार कि शक्ति का दुरुपयोग होता है काल्पनिक नही है। इस केन्द्रीयकरण का दूसरा सामाजिक प्रभाव सामाजिक तथा शैक्षणिक मूल्यो को गिराना भी है, विशेषरूप से युवक वर्ग पर पर इसका बुरा प्रभाव पडता है। धनी लोग इस तरह का विलासमय जीवन व्यतीत करते है और रहन-सहन का इतना ऊँचा स्तर रखते है कि उसका जनता पर विपरीत प्रभाव पडता है।

आर्थिक परिणामो के बारे मे विचार करते हुए आयोग ने यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया कि आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण से देश के आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिला है। परन्तु इस विचार का समर्थन आयोग के एक सदस्य ने नही किया। अधिकाश सदस्यो का विचार था कि बहुत कुछ कमियो के होने के उपरान्त भी, बडे व्यापार ने विगत वर्षो मे अत्यधिक अनुभव एव योग्यता रखने वाले प्रबन्धको की पूर्ति की है। परन्तु एक सदस्य का विचार था कि बड़े व्यापारिक गृहो ने अधिकाश लोगो को उत्तरदायी स्थान ग्रहण करने का अवसर

प्रदान नही किया और इस प्रकार जनता मे प्रबन्धकीय गुण का प्रसार होने से रोका, अत व्यावसायिक प्रबन्ध के लिए गुणवान व्यक्तियो का विकास होने से रुक गया।

उचित कार्यवाही के लिये सुझाव आयोग ने विस्तृत अध्ययन करके विचार की पुष्टि की कि केन्द्रित आर्थिक शक्ति से होने वाले भय निराधार एवं काल्पनिक नही है। अत इसने सिफारिश की कि सरकार तथा संसद को ऐसे भय को दूर करने का अथवा उसे न्यूनतम करने का प्रयास करना चाहिए। आयोग का विचार था कि सरकार के पास पर्याप्त अधिकार नही हैं कि वह निजी हाथो मे आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को रोक सके। अत, इसने एक स्थायी निकाय की स्थापना की सिफारिश की जिसके कर्त्तव्य एव उत्तरदायित्व उपर्युक्त बुराइयो को रोकना तथा दूर करना हो। इस स्थायी निकाय को जाच करने का अधिकार होना चाहिये या तो सरकार के द्वारा शिकायत आने पर अनुसधान के उस निदेशक द्वारा हवाला दिये जाने पर जो कि इस निकाय से सम्बद्ध होगा तथा सामान्य जनता से शिकायत प्राप्त होने पर उसकी जाच करेगा। न्यायिक जाच के उपरान्त यदि यह उचित समझे तो आदेश जारी कर सके कि वह पार्टी जिसके विरुद्ध शिकायत की गई हो उसे करना बन्द कर दे। ऐसा आदेश अन्तिम होगा और उसमे प्रादेश प्राप्त शक्ति होनी चाहिये जिसकी अपील केवल सर्वोच्च न्यायालय मे ही हो सके। इस स्थायी निकाय को बडे उपक्रमो के समामेलन के सम्बन्ध मे स्वीकृति देने का भी अधिकार होना चाहिए। किसी भी प्रमुख तथा बडे उपक्रम के विस्तार के प्रस्ताव की भी स्वीकृति इसी के द्वारा होनी चाहिए। इस आयोग के एक सदस्य इस विचार से सहमत न थे कि विस्तार, सम्मिलन तथा समामेलन की स्वीकृति देने का अधिकार इस निकाय के पास रहे।

यह स्थायी निकाय सभी प्रमुख उपक्रमो पर दृष्टि रखेगा और यदि कोई जनता के विरुद्ध एकाधिकारपूर्ण व्यवहार करे तो उसके लिये उचित कार्यवाही भी करे। आयोग का विचार था कि देश के अनुसार जो केन्द्रीयकरण होता है उसे रोकने के लिये सरकार के पास अधिकार पर्याप्त है। इस प्रस्तावित निकाय को भी इस सम्बन्ध मे अतिरिक्त अधिकार देने की आवश्यकता न होगी।

विधायी सिफारिशो के अतिरिक्त भी, आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशें की। (१) राजनीतिक जनतन्त्र को आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को जो खतरे हैं उनको राजनीतिक दलो द्वारा ही रोका जा सकता है। उन्हे यह अनुशासन अपना लेना चाहिए कि वे किसी भी व्यापारिक गृह से किसी प्रकार की सहायता न ले, विशेष रूप से निर्वाचन के समय ऐसा न करें। यदि राजनीतिज्ञ स्वय अपने को

उनसे मुक्त कर लेगे तो सरकारी अधिकारियो को भ्रष्ट होने से रोका जा सकेगा। (२) लाइसेंसिग नीति को उदार बना दिया जाना चाहिए जिससे कि छोटे उद्यमियो को लाइसेंस आसानी से, शीघ्र ही और बिना व्यय किये प्राप्त हो सके। (३) आयात लाइसेंस के निर्गमन के सम्बन्ध मे, यह सावधानी बरतनी चाहिए कि ऐसे उपक्रम, जिन्हे एकाधिकार प्राप्त हो, उपभोक्ताओ का शोषण न कर सके। (४) निजी क्षेत्र मे केन्द्रीयकरण के विरुद्ध कार्यवाही सार्वजनिक क्षेत्र मे उपक्रम स्थापित करके की जा सकती है। इसने इसके लिये सावधान किया कि यदि सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम क्षमताहीन होगे तो उसका निजी क्षेत्र पर विपरीत प्रभाव पडेगा और वह उपभोक्ताओ तथा सामान्य करदाता के लिये व्ययपूर्ण सिद्ध होगा। (५) लघु उद्योगो तथा उपभोक्ता सहकारी सस्थाओ को प्रोत्साहित करने से आर्थिक केन्द्रीयकरण का विकास रुक सकेगा।

योजना आयोग द्वारा प्रकाशित Approach to the Fourth Plan मे इस बात पर बल दिया गया कि लघु उद्यमियो के देशव्यापी विस्तार को प्रोत्साहित किया जाय तथा उद्योगो के नियत्रण तथा स्वामित्व को अधिकाधिक विकेन्द्रित किया जाय। निजी क्षेत्र मे कुछ इकाइयो के पास जो एकाधिकारी अधिकार हैं तथा आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण की समस्या को इसमे मान्यता दी गई है। जिस सीमा तक प्रवेश मे स्वतत्रता प्रदान की जायगी और प्रतिस्पर्द्धा बढेगी, उस सीमा तक केन्द्रीयकरण एव एकाधिकार कम होगा। फिर भी, गुटबन्दी तथा समामेलन की सभावना तो रहेगी ही। ऐसा माना गया है कि एकाधिकार तथा प्रतिबन्धित व्यापारिक व्यवहार आयोग चतुर्थ योजना काल मे कार्य करेगा। अनुचित केन्द्रीयकरण को दूर करने के लिये निम्नलिखित अन्य सुझाव दिये गये है :

(१) नवीन आयोगिक लाइसेंस किसी औद्योगिक गृह को देने से पूर्व उसके द्वारा पहिले से प्राप्त लाइसेंस को किस प्रकार से कार्यान्वित किया गया उस पर विचार किया जाना चाहिए।

(२) वित्तीय सस्थाओ की साख सम्बन्धी नीतियो में आवश्यक परिवर्तन किया जाना चाहिए जिससे कि उपलब्ध साख अनुचित मात्रा में बडे औद्योगिक तथा व्यापारिक गृहो को ही न प्राप्त हो।

(३) अर्थव्यवस्था मे साख की पूर्ति के नियमन तथा निदेशन के लिये राष्ट्रीय साख परिषद महत्वपूर्ण एजेंसी होगी।

(४) सार्वजनिक वित्तीय सस्थाओं को, जिनके पास निजी सस्थाओ के अश पर्याप्त मात्रा मे है, उन सभी अधिकारो को प्रयोग मे लाना चाहिए जो कि उन्हें इस स्वामित्व से प्राप्त हो।

(५) प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली को समाप्त करने का विचार हो रहा है (३ अप्रैल १९७० से यह समाप्त हो गया है) । अत यह सावधानी रखी जानी चाहिए कि इसका उन्मूलन प्रभावपूर्ण हो और इसका केवल यही परिणाम न हो कि नाम बदल जाय ।

एकाधिकार एव प्रतिबधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम

एकाधिकार जॉच आयोग ने अपनी रिपोर्ट तथा सिफारिशे एक बिल के रूप मे १९६५ मे प्रस्तुत की थी। इसी बिल के आधार पर एकाधिकार तथा प्रतिबन्ध के व्यापारिक व्यवहार बिल को राज्यसभा मे अगस्त १९६७ मे प्रस्तुत किया गया। ससद ने इसे दिसम्बर १९६९ मे स्वीकृत किया जो १ जून, १९७० से लागू हुआ। इस अधिनियम के उद्देश्य है --(१) यह देखना कि आर्थिक प्रणाली का कार्य-सचालन इस प्रकार से न हो कि उससे जनहित के विरुद्ध आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण हो, तथा (२) ऐसे एकाधिकारपूर्ण तथा प्रतिबन्धित व्यवहारो का नियत्रण करना जो जनता की भलाई के विरुद्ध हो। इसके अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार को पर्याप्त अधिकार प्रदान किये गये है जिनके अनुसार वह सम्मिलन तथा विस्तार की जॉच तथा नियन्त्रण कर सकती है।

इस अधिनियम के अन्तर्गत एक स्थायी तथा साविधिक आयोग, एकाधिकार तथा प्रतिबन्धित व्यापारिक व्यवहार आयोग (MRPTC), की स्थापना का प्रावधान है। इसमे अध्यक्ष सहित कम से कम २ और अधिक से अधिक ८ सदस्य हो सकते है। इसके दो प्रमुख कार्य होगे एकाधिकार तथा सभी प्रतिबन्धित व्यापारिक व्यवहारों की जॉच तथा नियत्रण। आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण से सम्बन्धित मामलो पर सलाह भी इससे ली जा सकेगी। एकाधिकारपूर्ण व्यवहारो के लिये आयोग केवल परामर्श दे सकता है उसे कार्यान्वित नही कर सकता। प्रतिबन्धित व्यापारिक व्यवहारो के लिये इसकी स्थिति न्यायालय के रूप मे कार्यान्वित करने के अधिकार सहित होगी। आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण से सम्बन्धित मामलों के लिये इसका जाँच करने तथा कार्यान्वित करने का अधिकार केवल सरकार को होगा जो इस आयोग को भी किसी मामले विशेष को परामर्श लेने के लिये सौप सकती है परन्तु उसका स्वीकृत किया जाना अनिवार्य न होगा ।

इस अधिनियम के अन्तर्गत दो अधिकारियो, जाँच का सचालक तथा प्रतिबन्धित व्यापारिक व्यवहारो के रजिस्ट्रार, की नियुक्ति का प्रावधान रखा गया है जो आयोग को सहायता पहुँचायेगे। सचालक का कार्य प्रतिबन्धित व्यवहारो से सम्बन्धित शिकायतो की आरंभिक छान-बीन करना होगा और रजिस्ट्रार

प्रतिबधित व्यापारिक समझौतो के पजीकरण से सम्बन्धित मामलो को मुख्य रूप से देखेगा।

अधिनियम का मूल्याकन

(१) सरकार के द्वारा नियन्त्रित अथवा प्रबन्धित सभी सार्वजनिक उपक्रमो पर इस अधिनियम के प्रावधान लागू न होगे। यह उचित नही है कि उन्हे इससे मुक्त कर दिया जाय। ऐसे उपक्रमो की निजी उपक्रमो से प्रतिस्पर्द्धा है तथा लाभ कमाना इनका भी उद्देश्य है और अनेक उत्पादन की दशा मे उनकी भी एकाधिकार की सी स्थिति है। ऐसी स्थिति मे उन्हे केवल इस लिये मुक्त कर देना कि उनका स्वामित्व सरकार के पास है और इस लिये वे बाजार मे अपनी स्थिति का लाभ न उठायेगे उचित नही है। इसका परिणाम यह हो सकता है कि वे अपनी कार्य-क्षमता तथा उत्पादकता बढाने का प्रयत्न न करें जैसा कि निजी क्षेत्र के एकाधिकार की स्थिति वाले उपक्रम करते है। वास्तव मे, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो को भी निजी क्षेत्र के उपक्रमो की तरह ही इस सबध मे माना जाना चाहिए।

(२) सरकार ने इस बात पर विस्तार से विचार नही किया कि इस अधि-नियम के प्रावधानो तथा सरकार की अन्य आर्थिक नीतियो मे सामजस्य स्थापित करना आवश्यक है। यह हो सकता है कि इस अधिनियम को कार्यान्वित करने मे सरकार को लज्जास्पद स्थिति का सामना करना पडे। उदाहरण के लिये, यह इस अधिनियम के प्रावधानो तथा उपभोक्ताओ के एसोसियेशन द्वारा स्वेच्छा से मूल्य निर्धारण की नीति (जैसा वनस्पति की दशा मे है) तथा सम्मिलित प्लाण्ट समिति के इस्पात की दशा मे कार्य-सचालन के मध्य सामजस्य कैसे स्थापित करेगी ?

(३) संसद के सम्मुख यह अधिनियम २½ वर्ष तक रहा। व्यापार-समुदाय तथा अर्थशास्त्रियो ने इस के प्रभाव के विषय मे कोई भी विचार-विमर्श नहीं किया।

(४) इस अधिनियम के प्रशासन सम्बन्धित जो प्रमुख कठिनाई सामने आयेगी वह यह है कि हमे व्यापारिक केन्द्रीयकरण के आर्थिक प्रभावों का कोई ज्ञान नही है। जैसा कि अधिनियम का उद्देश्य केन्द्रीयकरण को पूर्णरूपेण नियत्रित करना न होकर केवल उसी सीमा तक इसे नियन्त्रित करना है जहाँ तक इसका प्रभाव जनहित के विरुद्ध हो, आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण के आर्थिक प्रभावो के विषय मे आवश्यक सूचनाओ का प्राप्त करना तथा विश्लेषण करना आवश्यक होगा। केन्द्रीयकरण से सम्बन्धित विचार-विमर्श बहुत स्पष्ट नही रहा

है। इस प्रश्न का उत्तर देने का कोई भी प्रयत्न नही किया गया है कि, यदि यह मान लिया जाय कि निजी उद्योग एव व्यापार का अधिकाश भाग थोडे से बडे व्यापारिक गृहो के हाथ मे केन्द्रित हो जाय और ऐसा केन्द्रीयकरण बढता रहे, तो उस केन्द्रीयकरण मे क्या दोष है? यह प्रवृत्ति किस प्रकार से समुदाय के आर्थिक हितों के लिए सहायक अथवा हानिप्रद होगी? हजारी के "निजी कम्पनी क्षेत्र की सरचना" मे भी केन्द्रीयकरण के अर्थशास्त्र का विश्लेषण नही किया गया है। केन्द्रीयकरण का उद्यमी योग्यता अथवा प्रबन्धकीय योग्यता के विकास पर या टैक्नालाजिकल विकास की दर पर क्या प्रभाव पडता है। निजी औद्योगिक विनियोग के स्वरूप तथा विकास तथा ऐसे विनियोग की उत्पादकता पर या बैंक साख के विकास पर क्या प्रभाव पडता है, इन सब बातों के विषय मे कोई भी सूचना उपलब्ध नही है।

इस अधिनियम के अन्तर्गत जो नीति अपनाई गई है वह ब्रिटिश माडेल की तरह है और अमेरिका मे बनाये गये न्यास के विरुद्ध अधिनियमो की तरह नही है। यह 'दुरुपयोग के सिद्धान्त' पर आधारित है क्योकि यह एकाधिकारपूर्ण शक्ति के प्राप्त करने के विरुद्ध नही है अपितु उसके दुरुपयोग के विरुद्ध है। इस प्रकार की नीति के अन्तर्गत यह आवश्यक है कि एकाधिकार की प्रत्येक स्थिति के बारे मे पूर्ण जाच अलग से की जाय जिससे कि जनहित पर इसके प्रभाव का मूल्याकन किया जा सके। मोटे तौर पर जनहित का मूल्य के औचित्य, लागत एव लाभ, उत्पादन तथा विनियोग के विकास, उत्पादन की किस्म, टेक्निकल क्षमता, निर्यात आदि से सम्बन्ध है। इस दुरुपयोग के सिद्धान्त के अन्तर्गत, अत केवल एकाधिकार अथवा प्रतिस्पर्द्धा पर प्रतिबन्ध के तथ्य के साक्ष्य की ही आवश्यकता नही है अपितु उससे जनता को होने वाली हानियो के साक्ष्य का भी पता लगाना होगा।

अध्याय २०

प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली

प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली को भारतवर्ष मे औद्योगिक विकास की आधारशिला माना जाता था । "औद्योगीकरण के प्रारम्भिक दिनो मे, जबकि न ही पर्याप्त पूँजी थी और न ही उद्यमी, प्रबन्ध अभिकर्ता ने दोनों ही प्रदान किये और सूती वस्त्र, जूट तथा इस्पात आदि भारत के प्रमुख स्थापित उद्योगो की वर्तमान स्थिति अनेक प्रसिद्ध प्रबन्ध अभिकर्ता गृहो के अग्रगामी उत्साह एव पोषण करने वाली देख-रेख के कारण ही प्राप्त हुई है ।"[१] इस प्रणाली का प्रारभ भी प्राय. उसी समय हुआ जबकि भारतवर्ष मे कम्पनी का विकास होना प्रारभ हुआ । उस समय यहाँ की जनता जोखिम उठा कर कम्पनी मे पूँजी लगाने की अभ्यस्त न थी और देश मे सस्थागत विनियोक्ता नही थे । बैंकिग प्रणाली का भी पर्याप्त विकास नही हुआ था । बैंक इस योग्य न थे कि नवीन उद्योगो को पूँजी प्रदान कर सकते और न ही ऐसा करने के लिये वे तत्पर ही थे । उन दिनो, बिना किसी औद्योगिक गृह के समर्थन के किसी भी कम्पनी का प्रवर्तन असभव सा था । प्रत्येक कम्पनी को, जो कि अपनी अश-पूँजी को जनता मे निर्गमित करती थी, किसी न किसी प्रबन्ध अभिकर्ता का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक होता था ।

प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली का विकास देश मे अग्रेज व्यापारियो के अग्रगामी प्रयासों के परिणामस्वरूप हुआ । उन्होने ही इस बात पर सबसे पहले ध्यान दिया कि इस देश मे आर्थिक विकास की सभावनाये अधिक हैं । इस प्रणाली के विकास मे भौगोलिक कारण विशेष रूप से सहायक रहा क्योकि कम्पनी का मुख्य कार्यालय इगलैड मे होता था तथा वे कम्पनियाँ भारतवर्ष मे अपना कार्य सचालन करती थी और दोनो देशो के मध्य दूरी अत्यधिक थी । देश मे उस समय पूँजी बाजार अविकसित था और इस कारण से भी इस प्रणाली के विकास मे सहायता मिली । "इस प्रकार, इतिहास, भूगोल सबने मिलकर उस प्रणाली को जन्म दिया और उसका विकास किया जिसमे अब भी उसकी अनोखी विशेषताये विद्यमान हैं ।"

[1] Report of the Fiscal Commission (1949-50), p. 217.

प्रबन्ध अभिकर्ता एकल व्यापारी, साझेदारी फर्म या कम्पनी—निजी अथवा सार्वजनिक—हो सकती थी। आरभ मे प्रबन्ध अभिकर्ताओ ने अपने व्यापार सगठन के लिए साझेदारी फर्म को ही चुना था। बाद मे अधिकाशतया निजी कम्पनियो के रूप मे उनका विकास हुआ और सार्वजनिक कम्पनियो के रूप मे भी वे सगठित हुई।

५६० प्रबन्ध अभिकर्ताओ मे से, जो कि अप्रैल १९६६ मे थे, २९३ या तो एकल व्यापारी या साझेदारी फर्म के रूप मे ३१६ कम्पनियो का प्रबन्ध कर रहे थे जिनकी प्रदत्त पूँजी ७७ करोड रुपये थी। निजी सीमित कम्पनी, जिनकी सख्या २२७ थी और जिनकी प्रदत्त पूँजी लगभग ११ करोड रुपये थी, ३५९ कम्पनियों का प्रबन्ध कर रही थी जिनकी प्रदत पूँजी लगभग २६८ करोड रुपये थी। ७० सार्वजनिक सीमित कम्पनिया थी जो कि १९४ कम्पनियो का प्रबन्ध कर रही थी और जिनकी प्रदत्त पूँजी १४७ करोड रुपये थी।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि ५९० प्रबन्ध अभिकर्ताओ मे से ५३१ प्रत्येक १ से २ कम्पनियो का प्रबन्ध कर रहे थे। केवल २ प्रबन्ध अभिकर्ता ही ऐसे थे जो कि १० कम्पनियो का प्रबन्ध कर रहे थे (अधिनियम के अन्तर्गत यह अधिकतम सख्या है)। शेष ५७ कम्पनियों मे प्रत्येक ३ से ९ कम्पनियो का प्रबन्ध कर रहे थे।

प्रबन्ध अभिकर्तागण मुख्य रूप से पश्चिमी बगाल, बम्बई तथा मद्रास मे ही केन्द्रित थे। इन तीनो ही राज्यो मे कुल प्रबन्ध अभिकर्ताओ के तीन-चौथाई पजीकृत थे। पश्चिमी बगाल मे सबसे अधिक सख्या मे प्रबन्ध अभिकर्ता थे जो कि सबसे अधिक कम्पनियो का प्रबन्ध कर रहे थे जब कि बम्बई मे पजीकृत प्रबन्ध अभिकर्ताओ का उन कम्पनियो पर नियत्रण था जिनकी प्रदत्त पूँजी सबसे अधिक थी।

अप्रैल १, १९६८ को प्रबन्धित कम्पनियो की सख्या ६७४ थी जब कि गत वर्ष में उनकी सख्या ७२० थी। नई कम्पनियाँ अब प्रबन्ध अभिकर्ता के स्थान पर अन्य प्रकार के प्रबन्ध-प्रारूपो को ही प्रधानता प्रदान कर रही थी। १९६६—६७ मे १,०२१ कम्पनियों का पजीकरण हुआ जिनमे से ७२१ कम्पनियो ने सचालक परिषदों के द्वारा प्रबन्ध कराना निश्चित किया और २९६ कम्पनियों ने प्रबन्ध सचालको को चुना, जब कि एक-एक कम्पनी ने ही प्रबन्ध-अभिकर्ता तथा मत्री एवं कोषाध्यक्ष को चुना और केवल २ कम्पनियो ने प्रबन्धको को चुना।

प्रवर्तन (Promotion)

प्रबन्ध अभिकर्ता प्राय किसी भी योजना को कार्यान्वित करने से पूर्व और प्रवर्तन से पूर्व पर्याप्त प्रारभिक अनुसधान कराते थे। यदि उद्योग नवीन तथा जोखिम वाला होता था तो यह अनुसधान कई वर्षो तक चलता था और इसके लिये प्रबन्ध अभिकर्ता आवश्यक धन की व्यवस्था करते थे। लोहा एव इस्पात, जल-विद्युत तथा रसायन उद्योगो की स्थापना कई वर्ष तक प्रारभिक अनुसधान के पश्चात् ही हुई थी। कभी-कभी कोई योजना कार्यान्वित हो पाती और अनुसधान के पश्चात् उसका प्रवर्तन सभव हो पाता, ऐसी दशा मे प्रबन्ध अभिकर्ता को सभी जोखिम उठाने पडते थे। यह कहा जाता है कि भारत मे औद्योगीकरण का इतिहास प्रमुख प्रबन्ध अभिकर्ता गृहो के अग्रगामी उद्यम का इतिहास है। उन्होंने कम्पनी के प्रवर्तन के सम्बन्ध मे सभी जोखिम उठाये और उसके आर्थिक एव अन्य सकट के समय उसका पूरा-पूरा साथ दिया। औद्योगिक उपक्रमो के प्रवर्तन के लिये भारतवर्ष मे उस प्रकार की विशिष्ट सस्थाये न थी जैसी कि सयुक्त राज्य अमेरिका, इगलैड तथा जर्मनी मे थी, अत ऐसी परिस्थिति मे प्रबन्ध अभिकर्ताओ का योगदान देश के औद्योगीकरण मे सराहनीय रहा है।

कुछ उद्योगपति अथवा उनके एसोसियेशन देश मे औद्योगीकरण का पूरा श्रेय अपने ऊपर लेते हैं। ऐसा करते समय वे यह भूल जाते है कि कुछ प्रबन्ध अभि-कर्ताओ द्वारा प्रवर्तन-कार्य आवश्यक रहा होगा, परन्तु उनमे से अधिकांश स्वार्थवश घृणित कार्यो मे भी लगे हुए थे। यदि प्रबन्ध अभिकर्ता न होते, तो भी देश मे उद्योगो का विकास होता ही जैसा कि अन्य देशो मे हुआ। साथ ही, प्रबन्ध अभि-कर्ताओ के कारण देश मे समुचित रूप से पूँजी बाजार का विकास नही हो पाया। अव्यावहारिक कम्पनियो का सट्टेबाजी के लिये प्रवर्तन करके देश मे औद्योगिक विकास की दिशा मे अवरोध उत्पन्न किया। इनका प्रमुख उद्देश्य शीघ्र ही आसानी से रुपया कमाना था और इसके लिये वे कुछ भी करने के लिये तत्पर रहते थे।

प्रवर्तन से सम्बन्धित दोष. भारतवर्ष मे नवीन औद्योगिक इकाइयो के प्रवर्तन मे प्रबन्ध अभिकर्ताओ का प्रभुत्व होने के कारण, कई दोष आ गये थे। उन्हे अनेक बुराइयो के लिये दोषी ठहराया जाता है।

(१) ऐसा कहा जाता है कि प्रबन्ध अभिकर्ता द्वारा प्रवर्तन की लागत अत्यधिक होती थी जो कि नवीन उपक्रमो की अर्जन क्षमता से कही अधिक होती थी। प्रायः वे इस बात मे रुचि रखते थे कि वे अपनी सम्पत्तियो को उन नवीन प्रवर्तित उपक्रमो को हस्तान्तरित कर दे और उसके लिये अत्यधिक मूल्य प्राप्त

करने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार कम्पनी की पूँजी का अधिकाश भाग आरभ से ही इसी मे लग जाता था और उसके बदले मे उसे बढे हुए मूल्य पर सम्पत्तियाँ प्राप्त होती थी। कुछ अमूर्त सम्पत्तियाँ भी हो जाती थी और परिणामस्वरूप आरभ से ही कम्पनी की पूँजी-सरचना पर अधिक भार पडने लगता था।

(२) हाल के विकास को छोडकर, प्रबन्ध अभिकर्ताओ ने (भारतीय एव विदेशी) निर्यात सम्बन्धी वस्तुओ तथा उपभोक्ता वस्तुओ से सम्बन्धित उद्योगो के प्रवर्तन तक ही अपने को सीमित रखा। इससे देश की औद्योगिक व्यवस्था मे विशेष दोष आ गये और अर्थ-व्यवस्था असतुलित रही।

(३) नवीन उपक्रमो की स्थापना कर स्वय ही अपने आप को वे प्रबन्ध-अभिकर्ता नियुक्त कर लेते थे और तत्पश्चात् हर सभव प्रयास के द्वारा लाभ का अधिक से अधिक भाग स्वय लेने का प्रयत्न करते थे। वे गुप्त रूप से लाभ कमाते थे और अत्यधिक पारिश्रमिक लेते थे और उसके अनुरूप न ही उतनी लागत लगाते थे और न ही प्रयास करते थे ।

वित्त व्यवस्था

भारतवर्ष मे औद्योगिक उपक्रमो के लिये वित्त व्यवस्था प्रदान करने मे प्रबन्ध अभिकर्ताओ ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी और इसके लिये निम्नलिखित प्रमुख कारण थे :

(१) अल्प विकसित पूँजी बाजार. प्रबन्ध अभिकर्ताओ ने देश मे औद्योगिक विकास के लिये पूँजी की व्यवस्था ऐसे समय मे की जब कि देश मे सगठित पूँजी बाजार न था। उन्होने वित्त सम्बन्धी कठिन उत्तरदायित्व को विनियोक्ताओ के रूप मे सँभाला और साथ ही अपने द्वारा प्रबन्धित कम्पनियो मे दूसरों के द्वारा विनियोग के लिये ट्रस्टी के रूप मे भी कार्य किया। विकसित देशो मे वित्त व्यवस्था विशिष्ट सस्थाये करती है परन्तु भारतवर्ष मे उन सस्थाओ की अनुपस्थिति मे प्रबन्ध अभिकर्ताओ ने ही वित्त व्यवस्था की। पाश्चात्य देशों मे जो कार्य अभिगोपनकर्ता तथा निर्गमन गृहो द्वारा सम्पादित किया जाता था उनका उत्तरदायित्व भी देश मे प्रबन्ध अभिकर्ताओ ने ही निभाया।

(२) भारतीय पूँजी का सकुचित होना भारतवर्ष मे औद्योगिक उपक्रमों के लिये पर्याप्त पूँजी नही उपलब्ध हो पाती थी। प्रबन्ध अभिकर्ताओं ने स्वयं ही बहुत बडी मात्रा मे ऐसे उपक्रमो के अशो को क्रय करके जनता मे उनके प्रति विश्वास जागृत किया। अधिकाश विनियोक्ता अशो का क्रय करने मे पूर्व प्रवि-

वरण मे यह देखते थे कि किसी प्रबन्ध अभिकर्ता का नाम उसमे दिया है अथवा नही।

(३) दृढ वित्तीय स्थिति. प्रबन्ध अभिकर्ताओ की वित्तीय स्थिति अत्यन्त सुदृढ होती थी और इस कारण वे प्रबन्धित कम्पनियो पर अपना अधिक प्रभुत्व रखने मे समर्थ होते थे । इनके द्वारा वित्त प्रदान किये जाने के कारण, उद्योगो मे वित्तीय समस्याओ पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था और अन्य महत्वपूर्ण औद्योगिक घटको पर कोई भी विचार नही किया जाता था ।

(४) बैको का दृष्टिकोण. भारतीय बैको ने यह नीति बना ली थी कि वे उसी कम्पनी को ऋण अथवा अधिविकर्ष प्रदान करते थे जिसकी गारण्टी कोई प्रबन्ध अभिकर्ता देता था । परिणाम-स्वरूप, प्रबन्ध-अभिकर्ताओ की स्थिति और भी अपरिहार्य हो गई थी । इस प्रकार से गारण्टी मॉगने की प्रथा का आरभ इम्पीरियल बैक ऑव इडिया ने किया था और बाद मे अन्य बैको ने भी इसका अनुसरण किया । इस प्रकार इस प्रथा का लाभ प्रबन्ध अभिकर्ताओ ने उठाया और प्रबन्धित कम्पनियो की वित्त सरचना मे अपनी महत्वपूर्ण स्थिति बना ली ।

(५) विदेशी पूँजी का अन्तर्वाह. औद्योगिक उपक्रमो की विदेशी पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये भी प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली एक उपयुक्त साधन थी । जब देशी पूँजी आवश्यकतानुसार प्राप्त नही हो पाती थी, भारत मे औद्योगिक विकास के लिये जो विदेशी पूँजी आती थी वह प्रतिष्ठित प्रबन्ध अभिकर्ताओ के माध्यम से ही आती थी ।

प्रबन्ध अभिकर्ता केवल नवीन प्रायोजनाओ के लिये प्रारभिक पूँजी ही नही प्रदान करते थे अपितु स्थापित उपक्रमो के विस्तार एव आधुनिकीकरण के लिये भी वित्तीय व्यवस्था करते थे। प्रारभिक पूँजी की व्यवस्था वे स्वय अशो या ऋणपत्रो का क्रय करके करते थे या अपने सम्बन्धियो एवं मित्रो को उसके लिये प्रोत्साहित करते थे और साथ ही अशो का अभिगोपन भी करते थे । प्रविवरण मे उनका नाम रहने पर विनियोक्ताओ मे विश्वास का सृजन होता था । प्रबन्ध अभिकर्ता नवीन तथा पुराने उपक्रमो की चालू पूँजी की भी पूर्ति करते थे और कभी-कभी तो यह कहा जाता था कि प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली का अस्तित्व ही चालू पूँजी प्रदान करने से था । स्थाई पूँजी प्रदान करने की दिशा मे हाल के वर्षो मे उनकी महत्ता कम होती गई थी । नवीन तथा चालू उपक्रमो को वित्त प्रदान करने के लिये वे अनेक तरीके अपनाते थे : (१) अपनी पूँजी प्रदान करके, (२) जनता से निक्षेप प्राप्त करके, (३) ऋण तथा अग्रिम की गारण्टी

प्रदान करके, (४) विनियोग कम्पनी के रूप मे कार्य करके, (५) कोष को अन्तर्विनियोजित करके, तथा (६) सम्मिलित व्यापार मे सहयोग देकर।

दोष एव अनाचार (१) कोषो का दुरुपयोग प्रबन्ध अभिकर्ताओ ने प्रबन्धित सस्थाओ के कोषो का अनुचित उपयोग करने के लिये अनेक तरीके अपना रखे थे। वे अपने सम्बन्धियो एव मित्रो को गैर-व्यावसायिक प्रकार के ऋण तथा अग्रिम प्रदान करते थे। उनको आर्थिक सहायता पहुचाने के लिये प्रबन्धित कम्पनियो की सम्पत्तियो तक को ये बन्धक रख देते थे। दूसरे, यह साधारण अनुभव रहा है कि प्रबन्ध अभिकर्ता प्रबन्धित कम्पनियो की वित्त व्यवस्था करने के स्थान पर उन कम्पनियो से अपने लिये वित्त लिया करते थे। उन कम्पनियो के नाम पर अधिकाधिक अग्रिम प्राप्त कर लेते थे और उसका उपयोग स्वय करते थे। तीसरे, अवैध उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सम्बन्धित सस्थाओ को या तो अग्रिम प्रदान करते थे या उनमे विनियोग करते थे, उद्देश्य या तो मत-नियत्रण प्राप्त करना होता था या उन सस्थाओ मे प्रबन्ध अभिकर्ता सम्बन्धी अधिकार प्राप्त करना होता था। आर्थिक इकाइयों के कोषो को अनार्थिक इकाइयो मे विनियोजित कर देते थे जिससे कि प्राय आर्थिक इकाइयो मे भी वित्तीय सकट उपस्थित हो जाता था। चौथे, सम्बन्धित इकाइयो से प्राय ऋण नही वसूल किया जाता था। अन्त मे, प्रबन्धित सस्थाओं के पक्ष मे ये अनुपयोगी पूँजीगत व्यय करते थे जिससे कि वे अधिक से अधिक कमीशन प्राप्त कर सके अथवा सम्बन्धित उपक्रमो के लिये बाजार प्रदान कर सके।

(२) वित्त-व्यवस्था की अधिक लागत. कुछ लोगो का यह विचार है कि वित्त प्रदान करने के लिये प्रबन्ध अभिकर्ता एक सस्ते साधन के रूप मे रहे थे परन्तु ऐसा सोचते समय यह भुला दिया जाता है कि वे गुप्त ढग से अनेक प्रकार से लाभ कमाते थे। आय-कर अनुसन्धान आयोग की प्रशासन रिपोर्ट में उन कई ढगो का उल्लेख किया गया है जो कि प्रबन्ध अभिकर्ता अपनाते थे, विशेष रूप से सूती वस्त्र उद्योग मे। वे कच्चे माल के उस क्रय का लेखा करते थे जिसे कभी भी क्रय न किया गया हो या जिसका क्रय उन कई सस्थाओ से किया गया हो जो कि उन प्रबन्ध अभिकर्ताओ के ही बेनामीदार होते थे। लागत उससे बढती जाती थी क्योकि प्रत्येक अपना-अपना लाभ उसमे जोडता जाता था। इस प्रकार प्रमुख कम्पनी के लाभ की मात्रा कम हो जाती थी। विक्रय को अशत कम दिखाया जाता था और ऐसा करने के लिये उत्पादन को भी कम दिखाया जाता था। स्टोर की वस्तुओ का वास्तविक से अधिक उपयोग दिखा दिया जाता था और इस प्रकार दिखाये गये अधिक उपयुक्त माल को काले बाजार मे बेच दिया जाता था

या उसी कम्पनी को पुन बेच दिया जाता था। कुछ वस्तुओ का क्रय एव उपयोग भी दिखाया जाता था जिसकी आवश्यकता सस्था को कभी भी न पडी हो। माल के छीजन को बढा-चढा कर दिखाया जाता था। कभी-कभी ऐसा भी पाया गया कि प्रबन्धित सस्था के अतिरिक्त कोष को न्यून दर पर वे ले लेते थे और बाद में उसी कोष को उसी सस्था को अधिक दर पर उधार लेने के लिये विवश करते थे। ऐसे उदाहरण भी उपलब्ध है जब कि सस्था को आर्थिक सकट का सामना इस लिये करना पडा क्योकि प्रवन्ध अभिकर्ता ने अधिक कमीशन लेकर स्वय वित्त की व्यवस्था की थी।

(३) वित्त-व्यवस्था की प्रधानता प्रबन्ध अभिकर्ताओ द्वारा वित्त की व्यवस्था होने के कारण, उद्योग वित्तीय मामलो पर तो अत्यधिक ध्यान देते थे और अन्य महत्वपूर्ण मामलो पर कुछ भी ध्यान न देते थे। उदाहरण के लिये, बम्बई तथा अहमदाबाद के सूती वस्त्र उद्योग मे एजेसी का हस्तान्तरण इस कारण से हुआ कि कुछ फर्म दूसरे की अपेक्षाकृत आर्थिक दृष्टि से कम सम्पन्न थी।

(४) अत्यधिक सट्टेबाजी एव छल-कपट अपनी नियोक्ता सस्थाओ से आसानी से धन प्राप्त हो जाने के कारण प्रबन्ध अभिकर्ता अपनी क्षमता से अधिक सट्टेबाजी करने लगते थे। यह कहा जाता है कि प्रबन्ध अभिकर्ताओ को इसके लिये दोषी नहीं ठहराया जाना चाहिये क्योकि वे प्रमुख रूप से व्यापारी थे न कि उद्योगपनी। परन्तु यह बात तर्कपूर्ण नही लगती है। अपितु इससे यह बात और प्रबल होती है कि ऐसे व्यापारियो को औद्योगिक उपक्रमो के प्रबन्ध मे इतनी स्वतन्त्रता पर छूट नही दी जानी चाहिये। अत्यधिक सट्टेबाजी से तो प्रबन्ध अभिकर्ताओ की भी आर्थिक स्थिति बिगड जाती थी और परिणामस्वरूप उनके द्वारा प्रबन्धित सस्थाओ की आर्थिक स्थिति पर भी इसका प्रभाव पडता था। साथ ही, चूंकि सस्था की आन्तरिक बातो का उन्हे पूर्ण ज्ञान रहता था अत वे उसका दुरूपयोग करते थे और स्वार्थ के लिये लाभाश की दर मे परिवर्तन कर के अशो के मूल्य मे परिवर्तन लाने मे सफल होते थे। अशो का मूल्य कम होने पर क्रय कर लेते थे और फिर लाभाश की दर बढने पर अशो का मूल्य जब बढ जाता था तो उन्हे बेचकर अनुचित लाभ कमाते थे। परिणामस्वरूप विनियोग करने वाली जनता अधकार मे पडी रहती थी और उसे हानि उठानी पडती थी।

(५) स्वतन्त्र वित्तीय नीति का न होना यह सर्वविदित है कि आन्तरिक सचय के सृजन से, लाभाश की घोषणा करने से, आयगत अथवा पूँजीगत व्यय करने से सम्बन्धित वित्तीय नीतियो का निर्धारण प्रबन्ध अभिकर्ता

की इच्छा के अनुकूल ही होता था। प्रबन्धित कम्पनी की अपनी कोई स्वतन्त्र नीति नही रह पाती थी और उन्हे बाध्य होकर ऐसे उपायो को अपनाना पड जाता था जो कि उनके हित मे न होते थे। उदाहरण के लिये, प्रबन्ध अभिकर्ता अधिक दर पर लाभाश की घोषणा करने मे रुचि रखते थे जो कि कम्पनी के हित मे हो। ये उद्देश्य हो सकते थे (१) अपने उन मित्रो एव सम्बन्धियो को सन्तुष्ट रखना जो कि प्रबन्धित कम्पनी के अशधारी हो, (२) जनता के समक्ष यह सिद्ध करना कि उनका प्रबन्ध अत्यन्त सुदृढ है जिससे कि भविष्य मे वे इसके प्रभाव का लाभ उठा सके, (३) भविष्य मे कम्पनी को वित्त के दृष्टिकोण से अपने ऊपर निर्भर कर देना। जब कभी कम्पनी लाभ का कुछ भाग सचय के रूप मे बचाने मे सफल भी हो पाती थी, उस सचय को ये कम्पनी के हित मे प्रयोग न होने देते थे।

प्रबन्ध

भारतवर्ष मे औद्योगिक विकास की प्रारभिक अवस्था मे ऐसे व्यक्तियो का पर्याप्त अभाव था जो कुशल, योग्य एव अनुभवी प्रबन्धक हो। इस अभाव की पूर्ति यूरोप के प्रबन्ध अभिकर्ताओ ने की। ऐसे अभिकर्ताओं द्वारा प्रबन्धित औद्योगिक उपक्रमो को सुयोग्य व्यक्तियो से विशेषज्ञो का परामर्श प्राप्त हो जाता था। इस सस्था ने प्रबन्ध का एक ऐसा रूप उन सभी इकाइयो के लिये प्रस्तुत किया जो कि उनके द्वारा प्रबन्धित होनी थी, जिसके अन्तर्गत उन्हे विस्तार के उदग्र (vertical) तथा क्षैतिज (horizontal) प्रारूप की मितव्ययितायें उपलब्ध हो जाती थी और साथ ही साथ उन्हे अपनी वैधानिक एव कार्य-सम्बन्धी स्वतन्त्रता भी नही खोनी पडती थी। ये प्रवृत्ति बढती ही गई क्योकि देश मे साहसी योग्यता तथा औद्योगिक नेतृत्व का अभाव ही रहा। विभिन्न औद्योगिक इकाइयो का प्रबन्ध करने के लिये अथवा एक उद्योग मे विभिन्न विभागो के लिये भी, प्रबन्ध अभिकर्ता विशिष्ट विभाग रखते थे। इस प्रकार कोई भी औद्योगिक इकाई जो कि इस योग्य न होती थी कि विशेषज्ञो की मूल्यवान राय को प्राप्त कर सकती इनके विशेषज्ञो की राय का लाभ उठा सकती थी। साथ ही, वे उन इकाइयो के दिन-प्रति-दिन प्रशासन मे भी भाग लेते थे जो कि उनके नियन्त्रण मे होते थे। परन्तु ऐसा कहा जाता है कि हाल के वर्षो मे उन्होने प्रबन्ध के स्थान पर छल कपट करना अधिक प्रारंभ कर दिया था।

दोष. प्रबन्ध सम्बन्धी दोष निम्नलिखित थे ·

(१) गतिहीनता कुछ को छोडकर अधिकाश प्रबन्ध अभिकर्ताओ के पास पहले के प्रतिष्ठित गृहो की विशेषताये नही रह गई थी। "अनेक प्रबन्ध अभिकर्ता के फर्म प्रशासन व्यवस्था मे, फैक्टरी के प्रबन्ध मे, क्रय तथा विक्रय सगठन मे, लेखा रखने की पद्धति आदि मे उन्नति लाने मे असफल रहे हैं।" नवोदित प्रबन्ध अभिकर्ताओ के पास विनिर्माण सम्बन्धी इजीनियरिंग, तकनीकी तथा वैज्ञानिक ज्ञान नही था। उनके पास क्रय अथवा विक्रय सम्बन्धी विशेषज्ञो का अनुभव नहीं था। कम्पनी की लागत पर क्रय करने के लिये एजेण्ट नियुक्त किये जाते थे और विक्रय का कार्य अकुशल थोक व्यापारियो को सौप दिया जाता था जो कि एजेण्ट के रूप मे कार्य करते थे और जिन्हे कम्पनी द्वारा कमीशन दिया जाता था। सचालक मण्डल द्वारा प्रबन्ध एवं अभिकर्ताओ द्वारा प्रबन्ध की क्षमता मे कोई विशेष अन्तर नही रह गया। यह सत्य नही रह गया था कि देश की प्रबन्धकीय योग्यता बस केवल प्रबन्ध अभिकर्ताओ तक ही सीमित है। व्यापार-प्रबन्ध सम्बन्धी प्रशिक्षण अब थोडे से ही व्यक्तियो तक सीमित नही रह गया है।

(२) पद का हस्तान्तरण प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली मे दूसरा दोष जो आ गया था वह पद का हस्तान्तरण था। पिछले कुछ वर्षो मे, देश भर मे अनेक औद्योगिक सस्थाओ का प्रबन्ध, जिनमे करोडो रुपये की पूंजी लगी थी, बढे-चढे मूल्य पर दूसरो को हस्तान्तरित कर दिया गया। प्रबन्धकीय अधिकारो सहित बहुत बडी मात्रा मे अशो का प्रत्यक्ष क्रय-विक्रय किया गया। मैनेजिंग एजेंसी अधिकार को विपणन योग्य वस्तु मानकर उन व्यक्तियो को बेचा जाने लगा जो कि उसका सर्वाधिक मूल्य लगा सकते थे और बेचते समय यह ध्यान मे नहीं रखा गया कि क्रेता की आर्थिक स्थिति क्या है या उसकी प्रसिद्धि क्या है या उसके पास आवश्यक प्रबन्ध-कुशलता है या नही या इससे अशधारियो के हित की रक्षा हो सकेगी या नही। अधिकाश दशाओ मे क्रेताओ ने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये उन सस्थाओ का शोषण करना आरभ कर दिया और उसके लिये उचित या अनुचित सभी सभव उपाय अपनाये। कम्पनी के कोष मे से अधिकाधिक धनराशि अग्रिम के रूप मे अपने द्वारा मनोनीत व्यक्तियो को अथवा व्यापारिक सम्बन्धियो को दिलाई। उन कम्पनियो से विविध रूप मे बहुत बडी मात्रा मे क्षतिपूर्ति के रूप मे भी धनराशि ली। इस प्रकार के व्यवहार के कारण इतनी बुराइयाँ फैलने लगी कि जुलाई २१, १९५१ को राष्ट्रपति को एक अध्यादेश जारी करना पडा जिसके अन्तर्गत बिना केन्द्रीय सरकार की अनुमति के पद के हस्तान्तरण पर रोक लगा दी गई थी। कम्पनी अधिनियम की धारा ३४३ मे भी इस सम्बन्ध मे रोक लगा दी गई थी।

उन्मूलन

प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के उन्मूलन के पक्ष तथा विपक्ष मे अनेक तर्क प्रस्तुत किये गये। इस जटिल समस्या पर अनेक आयोगो (प्रशुल्क आयोग, आय-कर अनुसन्धान आयोग तथा योजना आयोग) तथा समितियो (भारतीय केन्द्रीय बैंकिग जॉच समिति, कम्पनी विधि समिति तथा प्रबन्ध अभिकर्ता जाँच समिति, १९६६) ने विशेष रूप से विचार किया और इसकी ओर जनता का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया।

प्रबन्ध अभिकर्ता जाँच समिति की रिपोर्ट लोक सभा मे मई १९६६ मे प्रस्तुत की गई। इस समिति की नियुक्ति जून १९६५ में की गई थी और इसके अध्यक्ष आई० जी० पटेल थे। इस समिति को प्रबन्ध अभिकर्ताओ के उन्मूलन के औचित्य के विषय मे जाँच करके अपनी रिपोर्ट देनी थी। इस समिति ने चीनी, सूती वस्त्र, सीमेन्ट, जूट तथा कागज उद्योगो मे इस प्रथा के उन्मलन की समस्या की जाँच की। इसने चीनी, सूती वस्त्र तथा सीमेन्ट उद्योगो मे इस प्रथा को समाप्त करने के लिये सिफारिश की। इसका विचार था कि ये उद्योग देश मे दीर्घकाल से स्थापित हैं और विस्तार एव परिवर्तन की समस्या का निवारण आसानी से कर सकेगे। जूट तथा कागज के सम्बन्ध मे इस प्रथा का उन्मूलन न करने की सिफारिश की।

समिति ने इस भय को निराधार बताया कि इसके यकायक उन्मूलन का परिणाम यह होगा कि लोग अपने निक्षेप को हटा लेगें। इसका विचार था कि प्रबन्ध अभिकर्ताओ द्वारा प्रबन्धित कम्पनियो मे ऐसे निक्षेप से अन्य कम्पनियो की अपेक्षाकृत विशेष लाभ नही होता है। प्रबन्धित कम्पनियो द्वारा ऋण लेने पर प्रबन्ध अभिकर्ताओ द्वारा व्यक्तिगत गारन्टी देने की जो प्रथा है उस पर उन्मूलन का क्या प्रभाव होगा इसका भी अध्ययन इस समिति ने किया। इसका विचार है कि उनका उन्मूलन होने के पश्चात् बैंक स्वयमेव प्रबन्ध अभिकर्ताओ के स्थान पर प्रबन्ध सचालको तथा अन्य संचालको द्वारा गारन्टी माँगने लगेंगे।

समिति ने इस बात का उल्लेख किया कि इस प्रथा को समाप्त करने या उसके उन्मूलन की समस्या पर विचार-विमर्श बहुत समय से किया जा रहा है। अत. यदि इस सम्बन्ध मे सरकार कोई निर्णय लेती है तो विश्वास पर अधिक प्रभाव पड़ने की सभावना नही है। सरकारी बैंक तथा वित्तीय सस्थाओ को चाहिए कि वे बाजार को समुचित समथन देने के लिये तथा आवश्यक वित्त प्रदान करने के लिये तैयार रहें।

इस समिति ने प्रबन्ध सचालको द्वारा प्रबन्ध की बात का समर्थन किया क्योकि कम्पनी अधिनियम मे उनके द्वारा प्रबन्ध किये जाने वाली कम्पनियो की सख्या पर सीमा है तथा उनके पारिश्रमिक पर भी सीमा लगी हुई है। फिर भी, प्रबन्ध सचालको के अधिकारो को सीमित करने की, उनकी योग्यता निर्धारित करने की तथा उनके पारिश्रमिक की समस्या पर विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता है।

समिति ने इस समस्या के व्यावहारिक पक्ष पर भी विचार किया। इसने अवलोकन किया कि सभी वर्गों से अधिक से अधिक सख्या मे प्रबन्ध के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए। सरकारी तथा अर्द्धसरकारी सस्थाओ के वित्तीय साधनो का उद्देश्यपूर्ण विकास किया जाना चाहिए। प्राशुल्किक एव अन्य उपायो के द्वारा बैंको तथा वित्तीय सस्थाओ को प्रबन्ध से मुक्त कर देना चाहिए।

इस प्रथा के उन्मूलन का प्रवर्तन पर प्रभाव के बारे मे विचार करते हुए समिति ने इस बात पर जोर दिया कि प्रबन्ध अभिकर्ता द्वारा प्रबन्ध उन नये लोगो को प्रवर्तन का कार्य करने के लिये या जोखिम उठाने के लिये प्रेरित कर सकता है जो कि अन्यथा ऐसा करने मे सकोच करते हो। ऐसी दशा मे, समिति ने यह सिफारिश की कि प्रबन्ध अभिकर्ता को कम्पनी के आरभिक विकास की अवधि तक के लिये नियुक्त किया जा सकता है। परन्तु यह समझौता न तो दीर्घकालिक होना चाहिए और न ही आनुवशिक अथवा पुश्तैनी होना चाहिए।

यद्यपि इस समिति ने इस प्रथा का सामाजिक तथा आर्थिक आधार पर उन्मूलन का समर्थन किया तथापि इस विषय पर शीघ्रता के साथ कोई निर्णय न लेनें की भी चेतावनी दी। इसने इस तथ्य को स्वीकार किया कि इसका यकायक समापन नही किया जाना चाहिए। साथ ही, समिति ने इस बात का समर्थन नही किया कि वित्त प्रदान करने मे प्रबन्ध अभिकर्ता की भूमिका मूल-भूत अथवा निर्णायक नही है और इस बात की ओर इगित किया कि बैंक तथा वित्तीय सस्थायें उन इकाइयो की वित्तीय आवश्यकताओ की अधिकाधिक पूर्ति कर रहे है जो प्रबन्ध अभिकर्ताओ से सम्बद्ध नही है।

प्रबन्ध अभिकर्ता जॉच समिति की सिफारिशो पर यथावश्यक विचार करने के पश्चात् सरकार ने सितम्बर ५, १९६६ को प्रबन्ध अभिकर्ता के भविष्य पर अपनी नीति की घोषणा की। यह विज्ञप्ति निकाली गई कि सूती वस्त्र, सीमेन्ट, जूट वस्त्र, चीनी, तथा कागज एव लुग्दी उद्योगो मे अप्रैल २, १९६७ के पश्चात् प्रबन्ध अभिकर्ताओ को नियुक्त अथवा पुनर्नियुक्त नही किया जा सकेगा। इस विज्ञप्ति का

यह भी आशय था कि इन पाँचो उद्योगो मे वर्तमान प्रबन्ध अभिकर्ताओ की अवधि अप्रैल १, १६७० को समाप्त हो जायगी, यदि अवधि सामान्यरूप से इससे पूर्व समाप्त न हुई हो।

कम्पनी (सशोधित) अधिनियम (१६६६) मे अप्रैल २, १६७० से प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के पूर्ण उन्मूलन का प्रावधान है। मत्री एव कोषाध्यक्ष द्वारा प्रबन्ध की प्रथा भी प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के साथ ही साथ समाप्त हो गई। आरभ मे मत्री एव कोषाध्यक्ष को प्रबन्ध अभिकर्ता के विकल्प के रूप मे सोचा गया था। परन्तु व्यवहार मे इस परिवर्तन से कोई भी लाभ न हुआ। इसीलिये इस प्रथा को भी समाप्त कर दिया गया।

अध्याय २१

श्रम संघ

सिडनी एव वेब ने श्रम सघ की परिभाषा इस प्रकार से दी थी कि यह "श्रमिको का एक अविच्छिन्न सघ है जिसका उद्देश्य अपने श्रमिक जीवन की दशा को बनाये रखना एव उसमे उन्नति करना है।" परन्तु अब श्रम सघ के उद्देश्यो मे पर्याप्त वृद्धि हो गई है। केवल उनके श्रमिक जीवन से ही अब उनका सम्बन्ध नही रह गया है अपितु अब उनके जीवन की सामान्य दशाओ मे भी वे पर्याप्त रुचि रखते है। "आजकल श्रम सघ प्रकृति मे अनेकवादी हैं और विधि मे व्यावहारिक है, यदि वे ऐसा नही है, तो उस दशा मे वे उन माँगो को पूरा नही कर सकते है जो कि तेजी से बदलते हुए वातावरण के द्वारा उनके समक्ष रखी जाती है।" सघ की समस्याये अब जटिल है और वे आर्थिक, वैधानिक, नैतिक एव सामाजिक पक्षो से सम्बद्ध है। इन समस्याओ का समाधान सगठित रूप से ही किया जा सकता है। साथ ही साथ बढते हुए सामाजिक स्तर एव दशाओ के सदर्भ मे ही उन्हे देखना होगा।

श्रमिको के आन्दोलन का प्रमुख कारण मशीन का जन्म होना और उसका प्रभुत्व दिन-प्रति-दिन बढते जाना है क्योकि इससे श्रमिको की व्यक्तिगत सुरक्षा खतरे मे पड गयी और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप सघ के माध्यम से मशीन की बुराइयो के विरुद्ध आत्म-सुरक्षा का बीडा उन्होने उठाया। आधुनिक उद्योग की १८वी शताब्दी से प्रगति ने ऐसी परिस्थितियो को जन्म दिया जिनमे श्रम-सघ अति आवश्यक हो गये। व्यक्तिवाद के उस युग मे, जब कि अहस्तक्षेप के सिद्धान्त का बोलबाला था, श्रमिको को विषम कठिनाइयो का सामना करना पड रहा था। औद्योगिक क्रान्ति द्वारा जो टैक्नालॉजिकल परिवर्तन हुये उससे समाज के सस्थागत एव सामाजिक स्वरूप मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए और परिणामस्वरूप घोर अव्यवस्था फैली। श्रमिको ने उसी काल मे श्रम सघ बनाना प्रारभ किया जिससे कि वे मिल-जुलकर तेजी से बढते हुए उद्योग की इस दुनिया मे अपनी सुरक्षा कर सके।

किसी भी देश की राजनीतिक, आर्थिक एव बौद्धिक उन्नति ही उस देश के श्रम सघ के विकास और उसके कार्यो को अधिकाशतया निर्धारित करती

है। श्रम सघ का विभिन्न देशो मे पर्याप्त विकास हो चुका है, उनके अनुभव मे भी वृद्धि हो चुकी है और सुरक्षा की अवस्था से अब वह आगे बढकर व्यावहारिक एव निर्माण की अवस्था तक पहुच चुका है। "आज के श्रम सघ अपने पूर्व के सघो की अपेक्षाकृत कही अधिक विकसित है, अब वे अनेक प्रकार के कार्य करते है और अपने अन्तिम लक्ष्य का अब उन्हे अधिक स्पष्ट ज्ञान है।" अब वे उस बडे आन्दोलन के अग बनाये गये है जो कि सक्रिय रूप से श्रमिको की आर्थिक, सामाजिक एव राजनीतिक स्थिति मे उन्नति लाने के लिये तत्पर है। सामाजिक अशान्ति की ओर तो वे इगित करते ही है, साथ ही वे सामाजिक उन्नति के प्रतीक भी है। औद्योगिक शान्ति को बनाये रखने मे वे महत्वपूर्ण योगदान देते है।" आज श्रम सघ आन्दोलन श्रमिको की दशाओ एव मजदूरी की सुरक्षा एव उन्नति लाने से ही सन्तुष्ट नही है, यह उन सभी बातो मे रुचि रखता है जो कि श्रमिको को चाहे उत्पादक या उपभोक्ता, चाहे औद्योगिक जन-शक्ति की इकाई या नागरिक के रूप मे प्रभावित करते है।"

उद्देश्य श्रम सघ के उद्देश्य विभिन्न आदर्शो एव सिद्धान्तो से प्रभावित होते रहे है। मार्क्स एव एजिल ने श्रम सघ को उस माध्यम के रूप मे देखा जो कि पूँजीवाद को समाप्त कर राज्य-शक्ति को ग्रहण कर सके और वर्गहीन समाज की स्थापना कर सके। उसके विपरीत वेब्स ने श्रम सघवाद पर विचार दूसरे ढग से किया। उन्होने इसे उद्योग के क्षेत्र मे जनतात्रिक सिद्धान्तो के विस्तार के रूप मे देखा। श्रम सघ आन्दोलन के विभिन्न उद्देश्य सक्षेप मे निम्नलिखित हैं: (१) आन्दोलन का प्रत्यक्ष एव तात्कालिक उद्देश्य अपने सदस्यो को अधिक मजदूरी दिलाना तथा उनकी दशा मे सुधार करना है परन्तु श्रम सघ का अन्तिम उद्देश्य श्रमिको द्वारा उद्योग पर नियत्रण प्राप्त करना है। (२) श्रम संघ न ही केवल श्रमिको को सामूहिक रूप से खडा करके उनकी असहायता को न्यूनतम करता है और सामूहिक सौदेबाजी के माध्यम से उनकी विरोध-शक्ति को बढाता है, अपितु अपने सदस्यो की मिल-मालिको के अन्याय एव अत्याचार से भी सुरक्षा करता है। (३) श्रम सघ एक श्रमिक को आत्म-विश्वास प्रदान करता है और यह भावना उनमे जागृत करता है कि वे केवल मशीन के अग नही है। उनके मस्तिष्क से असुरक्षा के भय को दूर करके आदर के साथ आगे बढने मे उनकी सहायता करता है। (४) श्रमिको मे यह अनुशासन, सच्चाई एव ईमानदारी की भावना जागृत करता है। (५) श्रमिको का नैतिक उत्थान करने के लिये यह प्राय. उनके कल्याणार्थ प्रयास करता है। (६) किसी भी नियोजित अर्थव्यवस्था मे श्रम सघ एक निष्क्रिय दृष्टा के रूप मे अपने को वचित नही

रख सकता है। वे औद्योगिक उपक्रमो के प्रबन्ध मे श्रमिको के अधिकाधिक भाग की मॉग करते है। समाज के नागरिक के रूप मे तथा उद्योगो के साझीदार के रूप मे श्रमिको की स्थिति मे उन्नति लाने के लिये यह पर्याप्त सहायता प्रदान करते हैं।

इन उद्देश्यो की पूर्ति वे पारस्परिक बीमा प्रणाली, सामूहिक सौदेबाजी तथा वैधानिक अधिनियमन प्रणालियो के माध्यम से करते है। पारस्परिक बीमा प्रणाली के अन्तर्गत एक सम्मिलित कोष का सृजन किया जाता है जिसमे सघ के सभी सदस्यो को चन्दा देना पडता है। इस कोष का प्रयोग हडताल के लिये, कल्याणकारी उपायो के लिये तथा पारस्परिक लाभ की योजनाओ के लिये किया जाता है। सामूहिक सौदेबाजी प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिको का सामूहिक कार्य आता है। कार्य करने की दशाओ एव शर्तो को निर्धारित करने के लिये मिल-जुलकर प्रयास किया जाता है। इस प्रणाली के प्रयोग का उद्देश्य यह होता हैं कि श्रमिको को भी अपेक्षाकृत सौदेबाजी की अधिक शक्ति प्राप्त हो जाय जिससे कि वे मालिको के समक्ष समान शक्ति से सौदेबाजी कर सके। वैधानिक अधिनियमन प्रणाली इन सघो को अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिये एक दूसरा मार्ग बताती है। इसके अन्तर्गत सरकार द्वारा अधिनियमो को पारित कराके ही उद्देश्यो की पूर्ति की जाती है। परन्तु इसमे समय अधिक लगता है क्योकि किसी भी अधिनियम को शीघ्र ही पारित नही कराया जा सकता है।

श्रम सघो का विकास द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् से श्रम सघ आदोलन मे तेजी के साथ प्रगति हुई। पजीकृत श्रम सघो की सख्या १९४७-४८

तालिका १

वर्ष	सख्या		विवरणी प्रस्तुत करने वाले सघो की सदस्यता
	पजीकृत श्रम सघ	विवरणी प्रस्तुत करने वाले सघ	
१९४७-४८	२,६६६	१,६२०	१६,६२,९२९
१९५०-५१	३,७६६	२,००२	१७,५६,९७१
१९५५-५६	८,०९५	४,००७	२२,७४,७३२
१९६०-६१	११,३१२	६,८१३	४०,१३,०००
१९६४-६५	१२,८७४	७,१५५	४०,८२,०००

Source. *Indian Labour Statistics*, 1968, p 163.

मे २,६६६ से बढ कर १९५०-५१ मे ३,७६६, १९६०-६१ मे ११,३१२, तथा १९६४-६५ मे १२,८७४ हो गई। विवरण भेजने वाले सघो की सदस्यता की सख्या १९४७-४८ मे १६ ६३ लाख से बढ कर १९५०-५१ मे १७ ५७ लाख, १९६०-६१ मे ४० लाख तथा १९६४-६५ मे ४० ८२ लाख हो गई (तालिका १)।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि श्रमिक अपने अधिकारो के प्रति अधिकाधिक जागरुक होते जा रहे है और साथ ही सामूहिक रूप से कार्य करने की आवश्यकता एव महत्ता भी, विशेष रूप से देश मे हाल मे हुई सामाजिक एव आर्थिक उथल पुथल के कारण, बढती जा रही है। हाल के वर्षो मे तेजी के साथ श्रम सघवाद मे प्रगति निम्नलिखित प्रमुख कारणो से रही है

(१) युद्ध की समाप्ति पर श्रमिको की आर्थिक दशा मे उन्नति नही हुई, अपितु रहन-सहन की लागत मे युद्धोत्तर काल मे सतत् वृद्धि ही होती रही। मुद्रा-स्फीति की लहर के साथ-साथ चोर-बाजारी, भ्रष्टाचार तथा भाई-भतीजावाद भी बढता रहा और इन सब कारणो से श्रमिको के कष्ट मे भी वृद्धि होती रही। इस काल मे उनकी वास्तविक मजदूरी मे पर्याप्त मात्रा मे कमी आ गई और इस कमी के कारण श्रमिको मे अपने वर्ग के प्रति जागरुकता बढी। उन्होने यह अनुभव किया कि अपने उद्देश्यो की पूर्ति वे सामूहिक रूप से ही कर सकते है।

(२) इस अवधि मे राजनीतिक एव श्रम के क्षेत्र मे तेजी के साथ अनेक गतिविधियाँ रही। अनेक राजनीतिक दल श्रमिक वर्ग पर अपना-अपना प्रभुत्व जमाने मे अधिकाधिक रुचि दिखाने लगे। प्रत्येक राजनीतिक दल श्रम आन्दोलन मे अपना स्थान प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करने लगा। मई १९४७ मे भारतीय राष्ट्रीय श्रम सघ काग्रेस की स्थापना हुई। इसकी स्थापना भारतीय राष्ट्रीय कॉग्रेस के प्रमुख नेताओ के प्रभुत्व के अन्तर्गत हुई। शीघ्र ही इसकी शक्ति बढती गई और यह इस बात का दावा करने लगा कि देश मे सगठित श्रम का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व वाला ये सघ है। सरकारी जॉच के पश्चात् सरकार ने १९४८ मे इसे श्रमिको का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व वाला सगठन मान लिया। १९४८ मे हिन्द मजदूर सभा की स्थापना हुई और इसमे भारतीय श्रम फेडरेशन सम्मिलित हो गया। यह एक केन्द्रीय श्रम एसोसियेशन है जिसका निर्देशन एव स्वामित्व समाजवादी दल करता है। मई १९४९ मे, युनाइटेड ट्रेड यूनियन काग्रेस का सगठन के० टी० शाह के द्वारा किया गया। इसका उद्देश्य भारत मे समाजवादी समाज की स्थापना करना तथा श्रम सघ आन्दोलन मे एकता लाना था। परन्तु श्रमिकों के मध्य यह अधिक जनप्रिय नही है और इसकी उन्नति भी असंतोषजनक रही है।

(३) युद्धोत्तर काल मे जो विभिन्न अधिनियम पारित किये गये उन्होने श्रम सघो को अधिक अधिकार प्रदान किये। बदली हुई परिस्थितियो मे श्रमिको की भूमिका की महत्ता का केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो दोनो ने ही अनुभव किया। चूँकि भारतवर्ष मे समाजवादी समाज की स्थापना का बीडा उठाया जा चुका है अत सगठित श्रम की सहायता प्राप्त करना इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अति आवश्यक है। सरकार की औद्योगिक सह-सम्बन्ध नीति के परिणामस्वरूप पजीकृत श्रम सघो की सख्या मे वृद्धि हुई। इसके अन्तर्गत सम्मिलित परामर्श, मध्यस्थता, विवाचन तथा पच-निर्णय की व्यवस्था की गई है। अपजीकृत श्रम सघ इस नीति का लाभ नही उठा सकते है। साथ ही, श्रम सघ (सशोधित) अधिनियम, १९४७ के अन्तर्गत श्रम सघो को मालिक से स्वीकृति प्राप्त करने का अधिकार है यदि वे कुछ निश्चित शर्तो को पूरा करें। पजीकृत श्रम सघ विभिन्न ट्रिब्युनल तथा परिषदो के समक्ष श्रमिको का प्रतिनिधित्व कर सकती है। इन सब कारणो से अनेक सघो ने अपने को पजीकृत करा लिया है।

इस समय चार अखिल-भारतीय सगठन है। इनमे से भारतीय राष्ट्रीय श्रम सघ काग्रेस को सरकार की ओर से देश का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व वाला सगठन माना गया है। ३१ दिसम्बर, १९६६ को चारो केन्द्रीय श्रम सघ सगठनो की सदस्यता निम्नलिखित थी

भारतीय राष्ट्रीय श्रम सघ काग्रेस	१४,०५,४६५
हिन्द मजदूर सभा	४,३३,०१५
अखिल भारतीय श्रम सघ काग्रेस	४,३२,८५२
युनाइटेड ट्रेड युनियन काग्रेस	९३,४५४

भारतीय राष्ट्रीय श्रम सघ काग्रेस की सदस्यता अन्य तीनो केन्द्रीय सगठनों की सदस्यता के योग से भी अधिक है।

देश मे श्रम सघ आदोलन के सम्पूर्ण विकास तथा वर्तमान स्थिति की जॉच करने पर यह ज्ञात होता है कि इस आन्दोलन का इतिहास ४० वर्ष से भी पुराना है और इस अवधि मे इसने पर्याप्त प्रगति की है। विकास की दर द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विशेष रूप से तेज रही है। इस आन्दोलन को अनेक घटको से सहायता मिलती रहती है, जैसे आरभ मे ही वैधानिक स्वीकृति प्राप्त होना जिससे श्रम सघ की स्थिति ऊँची हुई, आर्थिक एव राजनीतिक जागरुकता जिससे असतोष एव सामाजिक अशान्ति के वातावरण का सृजन हुआ, तथा राजनीतिक दलो का इससे सम्बद्ध होना जिससे कि इस आन्दोलन को स्थायित्व एव प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इन अनुकूल घटको के उपरान्त भी यदि सापेक्षिक दृष्टिकोण से देखा

जाय तो अब भी यह आन्दोलन अपनी शैशवास्था मे है । यह कमजोर, अस्थायी एव असमन्वित है ।

श्रम संघवाद की कमियाँ (१) सीमित सदस्यता—भारतवर्ष मे श्रम सघ केवल नगर के क्षेत्र तक ही सीमित है और उनकी पूर्ण सदस्यता सम्पूर्ण श्रमिको की कुल सख्या का एक अल्प भाग ही है। दूसरे शब्दों मे, श्रम सघो का प्रभाव भारत के बहुत सीमित श्रमिको मे ही है। सगठित क्षेत्रो मे भी, जहाँ पर सबल श्रम सघों की स्थापना की गई है, अनेक श्रमिक किसी भी श्रम सघ मे सम्मिलित नही होते। कुछ उद्योगो को छोडकर, जहाँ पर श्रम सघवाद ने पर्याप्त उन्नति की है, अधिकाश उद्योग श्रम सघ के कार्य-कलापो से वचित है। वस्त्र उद्योग मे भी श्रम सघवाद की मात्रा केवल १२ ५ प्रतिशत है। अन्य वर्गों मे निम्न प्रतिशत है : प्रारभिक उद्योग ५ प्रतिशत, खान एव पत्थर २३ ५ प्रतिशत, प्रोसेसिंग तथा विनिर्माण ७ ७ प्रनिशत। लोहा एव इस्पात उद्योग मे यह ७२ प्रतिशत है। सम्पूर्ण श्रम सघ सदस्यता का अनुमान ४० लाख लगाया गया था और १९५१ की जनगणना के अनुसार उन श्रमिकों की सख्या, जिन्हे श्रम सघ के अन्तर्गत सगठित किया जा सकता था, लगभग १४०० लाख थी। इस प्रकार श्रम सघवाद की मात्रा केवल २ ९ प्रतिशत ही आती है।

(२) श्रम सघ का लघु आकार हाल के वर्षो मे, लघु आकार वाले श्रम सघो की सख्या मे तेजी के साथ वृद्धि होती रही है। यह एक स्वस्थ विकास नही है। श्रम सघ जितने ही छोटे होंगे उनकी शक्ति उतनी ही क्षीण होगी और वे सामूहिक सौदेबाजी प्रभावपूर्ण ढग से नही कर सकते। अपने सदस्यो मे अनुशासन बनाये रखने मे भी वे समर्थ नही हो सकते। साथ ही पारस्परिक लाभ के लिए योजनाओ को कार्यान्वित करने के योग्य वे नही होते। श्रमिक सरकार एव मालिक को तभी प्रभावित कर सकते हैं जब उनका श्रम सघ सुदृढ हो। भारतवर्ष मे अनेक श्रम सघ वास्तव मे हडताल कराने वाली सस्था मात्र हैं। उनका विस्तार उस समय तेजी से होता है जब कोई विरोध उत्पन्न होता है परन्तु उनका समापन भी उसी तेजी के साथ होता है जब कि हडताल समाप्त हो जाती है।

(३) अल्प कोष. श्रम सघ के पास केवल सीमित मात्रा मे ही कोष है। इसी कारण से वे पूर्णकालिक कर्मचारियो को नियुक्त नही कर सकते जो कि सगठन, शोध एवं समझौते की बातचीत कर सकें और न ही वे अपने सदस्यों को पर्याप्त सुविधा ही प्रदान कर सकते हैं। साथ ही वे सामाजिक हित की योजनाओ को भी सुचारु रूप से नही कार्यान्वित कर सकते। उनकी रुचि केवल विरोध करने तक ही सीमित रह जाती है।

(४) प्रवासी प्रकृति भारतीय श्रमिक की प्रवासी प्रकृति होने के कारण, वह श्रमिक सघ के कार्य-कलापों मे सतत रुचि नही रख पाता है। इसके कारण उसे स्थायित्व नही प्राप्त होता है। स्वस्थ श्रम सघवाद तो स्थायी औद्योगिक जनसख्या पर ही आधारित है। श्रमिको का गाँवो से सम्बद्ध रहना दृढ एव स्थायी श्रम सघ की अनुपस्थिति के लिये मुख्य रूप से उत्तरदायी है, हालाकि स्थायी श्रम-वर्ग अब धीरे-धीरे उभर रहा है। अधिक उचित आवास की सुविधा प्राप्त होने पर, काम करने की दशाओ मे उन्नति होने पर, तथा सामाजिक सुरक्षा सम्बधी सुविधाओ का प्रसार होने पर, अधिकाधिक श्रमिक औद्योगिक क्षेत्र मे स्थायी रूप से निवास करने लगेगे।

(५) न्यून आय भारतवर्ष मे स्वस्थ श्रम सघवाद के विकास के मार्ग मे गरीबी और न्यून बचत क्षमता भी बाधक रही है। श्रमिक श्रम सघ के कोष के लिए चन्दा नही दे पाते है और अनेक श्रमिक केवल इसी कारण से किसी भी सघ के सदस्य नही बनते। साथ ही चन्दे का नियमित रूप से भुगतान नही हो पाता जिसके परिणामस्वरूप सघ को वित्तीय कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है।

(६) श्रमिको की नियुक्ति की दोषपूर्ण प्रणाली श्रमिको की नियुक्ति की प्रणाली श्रम सघवाद के विकास को प्रोत्साहित नही करती है। मध्यस्थ श्रमिकों के सगठन का विरोध करते है। दूसरी ओर, वे ही श्रमिको की बडी मात्रा मे नौकरी छोड़ने के लिये भी उत्तरदायी हैं।

(७) मालिको का दृष्टिकोण. अधिकाश दशाओ मे, मालिको का दृष्टिकोण तथा उनकी भावना श्रम सघ के सगठन के विरुद्ध पाया गया हैं। मालिकों ने तो श्रमिकों की एकता को भग करने के लिये अनुचित उपायों का प्रयोग तक किया है। श्रम सघ के कार्यकर्ताओं पर अनुचित दबाव डाला है और उन्हे डराते धमकाते भी हैं। उनमे से कुछ तो सघ के कार्य-कलापों को भग करने के लिए जासूसो, गुंडों तथा हड़ताल भग करने वालों को भी नियुक्त करते रहे हैं। मालिक उनकी एकता समाप्त करने के लिये प्रतिद्वन्दी सघ की स्थापना भी कराते रहे हैं। इस प्रकार मालिक श्रमिकों की अज्ञानता तथा निरक्षरता का लाभ उठाते हैं।

(८) श्रमिको की असगत प्रकृति अथवा अनेकरूपता श्रम सघ के विकास के मार्ग मे भारतीय श्रमिको की असगत प्रकृति के कारण वर्ग एकता की कमी भी बहुत बडी एव महत्वपूर्ण बाधक रही है। श्रमिको मे आपस मे जाति, धर्म, भाषा आदि के कारण भेद-भाव पाया जाता है और इसका लाभ मालिक लोग उठाते है।

(९) अपर्याप्त अवकाश. श्रमिको मे अवकाश की कमी होने के कारण भी वे श्रम सघ के कार्य-कलापो मे सक्रिय रूप से रुचि नही ले पाते। आवास की

अपर्याप्त व्यवस्था का होना तथा श्रमिको के निवास-स्थान एव फैक्टरी मे पर्याप्त दूरी होने से स्थिति और भी गभीर हो जाती है। श्रमिको को अधिक समय तक कार्य करना पडता है और परिणामस्वरूप उन्हे न ही पर्याप्त अवकाश मिल पाता है और न ही उनके पास उतनी शक्ति ही रह जाती है कि वे श्रम सघ द्वारा सगठित कार्यो मे सक्रिय रूप से रुचि ले सके। श्रमिक अपने निवास-स्थान पर थके हुए से पहुँचते है और उसके बाद वे श्रम संघ मे पर्याप्त रुचि रखने मे अपने को असमर्थ पाते है।

(१०) निरक्षरता भारतीय श्रमिक पाय आधुनिक श्रम सघवाद का आशय नही समझते है। उनकी अनभिज्ञता और उदासीनता के कारण सघो के नेतृत्व पर बाहरी व्यक्तियो का ही प्रभुत्व रहता है। अधिकाशतया श्रमिक भाग्यवादी होते है और अपनी परिस्थिति मे सुधार लाने के लिए स्वय ही आवश्यक प्रयास नही करते हैं। उनके अन्दर दासता की भावना आ जाती है और उनकी भावनाये जटिल सी हो जाती है। उचित एव प्रबुद्ध दृष्टिकोण का अभाव श्रम सघ की प्रगति मे पर्याप्त बाधक रहा है।

(११) बाहरी नेतृत्व भारतवर्ष मे श्रम सघ मे आत्म-निर्भरता की विशेष कमी पाई जाती है क्योकि इनका नेतृत्व श्रमिकों के हाथ मे न रह के बाहरी लोगो के हाथ मे है जिनका उद्देश्य एव हित श्रमिको के समान ही नही होता है। ये नेता प्राय वकील, सामाजिक एव राजनीतिक कार्यकर्ता होते हैं। प्राय उन्हे उद्योग विशेष का समुचित ज्ञान नही होता है। श्रमिको की समस्याओ का न ही उन्हे पर्याप्त अनुभव होता है और न ही वे उसे गहराई के साथ समझा पाते हैं। प्राय ऐसा भी पाया गया है कि एक ही कार्य-कर्ता कई-कई सघो का नेता होता है। अत वे सघ के कार्यो पर विशेष ध्यान भी नही दे पाते है। साथ हीं, वे उत्तरदायित्वो को अच्छी तरह निभा नही पाते है।

(१२) राजनीतिक प्रभाव भारतवर्ष मे श्रम सघ पर विभिन्न राजनीतिक विचारो का समुचित प्रभाव पडता रहा है। प्राय. ये विचार एक दूसरे के विरोधी होते हैं। विभिन्न राजनीतिक दल इस देश मे श्रम आन्दोलन पर अपना प्रभुत्व पाने के लिये विशेष प्रयास करते रहे हैं और इसके माध्यम से राजनीतिक शक्ति को बढाने का प्रयत्न करते रहे है। यह असाधारण बात नही है कि ये दल बड़ी-बडी प्रतिज्ञायें करते हैं और ऊँची-ऊंची आशाये दिलाते है और हड़ताल की व्यवस्था स्वार्थ की भावना से राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति करने के लिये करते है। इसके कारण आन्दोलन बिखरता सा रहा है और प्रत्येक केन्द्रीय सघ एक दूसरे के विरोधी भी रहे हैं। परिणामस्वरूप इस आन्दोलन मे एकता और स्थिरता का

अभाव सा रहा है। प्रतिद्वन्दी सघो से सम्बद्ध श्रमिक अपनी शक्ति एव एकता को बढाने मे असमर्थ होते है और इस प्रकार अपने हितो की रक्षा करने मे असफल रहते है। अनेक नेता केवल अवसरवादी होते है और अपने स्वार्थ की सिद्धि मे ही लगे रहते है। आज के श्रम सघ के नेता के लिये श्रम सघवाद तो केवल एक माध्यम मात्र है जिसके द्वारा वे अपने निजी उद्देश्यो की, अपने स्वार्थ की या अपने राजनीतिक दल के उद्देश्यो की पूर्ति करते है। ऐसे वातावरण मे श्रम सघ का विकास तेजी तथा दृढता के साथ उचित दिशा मे होना सभव नही है।

स्वस्थ विकास के लिये सुझाव. श्रमिको के हितो की सुरक्षा के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि श्रम सघ सुदृढ़ हो और उसके पास सौदेबाजी की उतनी ही शक्ति हो जितनी कि प्रबन्धको के पास है। इससे श्रमिको को तो लाभ होता ही है, साथ ही उत्पादन के लक्ष्य की पूर्ति के लिए भी इसका सुदृढ होना आवश्यक है। भारतवर्ष मे जब तक श्रम सघ आदोलन मे एकता और सुदृढता नही होगी औद्योगिक संरचना के आधार को भी स्थायित्व नही प्राप्त होगा। "उनकी आवश्यकता उस सामूहिक सौदेबाजी की प्रणाली की रचना करने के लिये है जो कि श्रमिको के अधिकारो एव हितो की रक्षा कर सके और राजनीतिक जनतत्र को स्थिरता प्रदान करने के लिये उनकी आवश्यकता है।" अत. भारतवर्ष मे औद्योगिक जनतत्र को सुचारू रूप से सचालित करने के लिये स्वस्थ एव सुदृढ श्रम सघ आन्दोलन की परम आवश्यकता है। केवल कुछ ही शक्तिशाली सघो को छोड़ कर भारतवर्ष मे सघ अभी पिछडे हुए हैं। इस आन्दोलन के दोषो को दूर करने के लिये कुछ दिये गये सुझावो का परीक्षण नीचे किया जा रहा है।

(१) एक उद्योग मे एक सघ भारतवर्ष मे एक उद्योग मे एक ही सघ के आदर्श को कार्यान्वित किया जाना चाहिए। एक ही से उपक्रमो मे विविध सघो के होने के कारण आपस मे द्वेष-भावना उत्पन्न होती है और वे एक दूसरे के प्रतिद्वन्दी हो जाते है। परिणामस्वरूप इस आन्दोलन की जड ही कमजोर पड जाती है। इससे सघो की सामूहिक सौदेबाजी की क्षमता कम हो जाती है और इस प्रकार वे अपने वैध अधिकारो को प्राप्त करने मे असमर्थ रह जाते है। श्रमिको एव मालिको मे आपसी सहयोग मे वृद्धि हो सकती है यदि एक उद्योग मे एक ही सघ हो। मई, १९५८ मे १६ वी भारतीय श्रम सम्मेलन मे भाषण देते हुए केन्द्रीय श्रम मत्री ने इस बात पर जोर दिया था कि 'एक उद्योग मे एक सघ' के विचार को तब तक पूरी तरह से कार्यान्वित नही किया जा सकता है जब तक कि श्रम सघो पर से दलगत राजनीति का प्रभुत्व समाप्त न हो जाये। उन्होने राजनीतिक दलो से कहा कि वे श्रम सघो को राजनीतिक सबधों से दूर रखें। उन्होंने यह भी कहा कि यदि

श्रमिक केवल एक ही सस्था मे सगठित हो जॉय और उनमे एकता हो जाय तो उनके आकार और शक्ति दोनो मे ही वृद्धि होगी।

(२) अन्तर्सघीय प्रतिद्वन्दिता को समाप्त करना मई १९५८ मे, केन्द्रीय श्रम मत्री ने चार केन्द्रीय श्रम सघ सगठनो (INTUC, AITUC, HMS एव UTUC) के प्रतिनिधियो की एक सभा बुलाई। इसका उद्देश्य अतर्सन्घीय प्रतिद्वन्दिता को समाप्त करने के लिये एक आचार-सहिता तैयार करना था जिससे कि देश मे स्वस्थ श्रम सघ आन्दोलन का विकास हो सके। इस सहिता के प्रमुख सिद्धान्त है (१) किसी भी उद्योग अथवा इकाई के कर्मचारी को स्वतन्त्रता है कि वह अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी सघ मे सम्मिलित हो सकता है। इस सम्बन्ध मे उसके ऊपर कोई भी अनुचित दबाव नही डाला जायगा। (२) सघो की दाहरी सदस्यता नही होगी। (३) श्रम सघो के जनतत्र के आधार पर सचालन को बिना किसी शर्त के स्वीकार किया जायगा और उसका आदर करना होगा। (४) श्रम सघो के पदाधिकारियो का तथा कार्यकारिणी समितियो का नियमित एव जनतात्रिक चुनाव होगा। (५) कोई भी सगठन श्रमिको की अनभिज्ञता, निरक्षरता एव उनके पिछडेपन का लाभ उठा कर उन का शोषण नही करेगा। कोई भी सगठन आवश्यकता से अधिक मॉग भी नही करेगा। (६) सभी सघो को जातिवाद, समुदायवाद, तथा प्रान्तीयता की भावना से परे रहना होगा। (७) अन्तर्सन्घीय व्यवहारो मे कोई भी हिंसा, अनुचित दबाव, डराना-धमकाना तथा व्यक्तिगत अपवाद या निन्दा नही होगी।

उस सभा मे यह विचार किया गया कि इस सहिता को कार्यान्वित करने के लिये कोई उचित सस्था बनाई जाय जिसमे चारो केन्द्रीय श्रम सगठनो के प्रतिनिधि हो और एक स्वतन्त्र अध्यक्ष हो। यह भी सुझाव रखा गया कि केन्द्रीय श्रम मत्री समय-समय पर सम्बन्धित व्यक्तियो को आमत्रित करते रहे जो कि सहिता पर स्पष्ट रूप से विचार करके उसमे आवश्यक परिवर्तन कर सकें। दिसम्बर १९५८ मे, भारतीय राष्ट्रीय श्रम सघ कांग्रेस के अध्यक्ष ने यह सन्देह व्यक्त किया कि श्रम सघो मे एकता आना सभव नही लगता क्योकि उनके उद्देश्य, प्रणाली तथा निदेशन मे बहुत अन्तर है। उन्होने अखिल भारतीय श्रम सघ काग्रेस को सहिता को भग करने के लिये दोषी ठहराया। उन्होने यह भी सुझाव दिया कि हिन्द मजदूर सभा तथा युनाइटेड ट्रेड यूनियन काग्रेस को अपनी इच्छानुसार किसी बडे सगठन मे सम्मिलित हो जाना चाहिए। साथ ही उन्होने यह भी विचार प्रकट किया कि भारतीय राष्ट्रीय श्रम सघ काग्रेस तथा हिन्द मजदूर सभा दोनो ही इण्टरनेशनल कानफेडरेशन ऑव फ्री ट्रेड यूनियन से सम्बद्ध है अत. उनके

सम्मिलन की सभावना कम नही है। यद्यपि आचार-सहिता के बनाने के उद्देश्य अच्छे थे तथापि सहिता अपने उद्देश्यो की पूर्ति करने मे असफल रही है। कुछ तो इस कारण से कि इसमे स्वय ही कुछ कमियाँ थी और कुछ इस कारण से कि श्रम सघो ने एव उनके नेताओ ने इसको कार्यान्वित करने मे पूरा-पूरा सहयोग नही दिया है। प्रतिद्वन्दी सघो मे आपस मे सहयोग बढाने मे यह असफल रहा है। इस आचार सहिता के प्रावधानो का पालन न करने के लिये किसी भी दण्ड की व्यवस्था नही की गई है। इसका परिणाम यह रहा है कि उन प्रावधानो को बार-बार भग किया जाता है।

(३) बाहरी लोगो की उपस्थिति यह सच है कि भारतवर्ष में श्रम आन्दोलन न ही इतनी प्रगति करता और न ही इतना सुदृढ होता यदि बाहरी लोगो ने इसका नेतृत्व न किया होता। परन्तु फिर भी उन बाहरी लोगो मे, जो कि पूर्णकालिक श्रम सघ कार्यकर्ता है और जो श्रम सघ कार्य को अपने अन्य कार्य-कलापो का एक अग मानते है, अन्तर समझना आवश्यक है। प्रथम प्रकार के कार्यकर्ता का तो श्रम सघ सगठन मे स्थान है परन्तु यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि उन पर अनुचित सीमा तक निर्भर रहना उपयुक्त नही है क्योंकि जब तक वह व्यक्ति श्रमिको मे से ही एक न हो, उसकी श्रमिको को सगठित करने की क्षमता पर्याप्त न होगी। होना तो यह चाहिए कि श्रमिको मे से ही कोई उनका नेता बने जो कि आत्म-निर्भरता की भावना जगा सके, उत्तरदायी हो और स्वतन्त्र हो।

(४) राजनीति का स्थान श्रम सघ आन्दोलन को विरोधी आदर्शो एवं विचारो से दूर ही रहना चाहिये और एक ऐसी स्वतन्त्र नीति अपनानी चाहिए जो श्रमिकों के हित की सुरक्षा कर सके। श्रमिको को अपने को राजनीतिक दलो के चगुल मे नही छोड देना चाहिए। श्रम सघ नेताओ तथा दल के नेताओ को चाहिए कि वे ऐसे उपाय अपनाये जिससे कि श्रमिको को हानिप्रद राजनीतिक झुकावो से परे रखा जा सके तथा देश मे विशुद्ध श्रम सघवाद प्रस्फुटित हो सके।[1] इसका तात्पर्य यह नही है कि श्रम आन्दोलन को पूर्णतया राजनीति से बाहर रहना चाहिए और श्रमिको को राजनीति मे बिल्कुल भी भाग नहीं लेना चाहिए। एक जनतान्त्रिक देश मे जब तक श्रमिको को मत देने का तथा एसोसियेशन बनाने का अधिकार है, श्रम सघवाद को राजनीति से परे नही रखा जा सकता है। परन्तु श्रमिको को व्यक्तिगत रूप मे ही राजनीति मे भाग लेना

[1] cf V V. Giri, *Labour Problems in Indian Industry*, p 51.

चाहिए। इस प्रकार आन्दोलन मे कोई विखण्डन न होगा परन्तु यह तभी सभव होगा जब कि श्रम सघों का आन्तरिक सचालन जनतात्रिक हो और राजनीतिक दलो को यह अवसर प्राप्त न हो कि वे इन सघो को अपने स्वार्थ मे राजनीतिक उद्देश्यो की प्राप्ति का माध्यम बना सके। साथ ही, सत्तारुढ दल को यह नही करना चाहिए कि श्रमिको को लाभ केवल उनसे समर्थन प्राप्त सघ के माध्यम से ही प्राप्त हो।

(५) श्रम सघ कार्यकर्ताओ का प्रशिक्षण आधुनिक औद्योगिक समाज मे श्रमसघवाद का तेजी से विकास होने के कारण, श्रम सघ कार्यकर्ताओ का उत्तरदायित्व विभिन्न दिशाओ मे अत्यधिक बढ गया है। श्रम सघ का नेतृत्व उन्ही कार्यकर्ताओ को करना चाहिए जो कि उद्योग विशेष का विशद ज्ञान रखते हो, साथ ही विद्यमान आर्थिक शक्तियो का, वित्त का, विधि का, व्यापारिक सिद्धान्त एव मनोविज्ञान का समुचित ज्ञान रखते हो। उनका मस्तिष्क उतना ही विकसित होना चाहिए जितना कि मालिको का हो जो कि सौदा करने के लिये उनके साथ बैठते हो। श्रमिको मे से ही नेतृत्व को प्रोत्साहित करने के लिये यह आवश्यक है कि उनको उचित प्रशिक्षण देने की सुविधा प्रदान की जाय। इस दिशा मे आक्सफोर्ड के रस्किन कालेज की तरह ही श्रम कालेज खोले जाने चाहिए। यह हर्ष की बात है कि भारत सरकार ने कलकत्ता मे एशियन ट्रेड यूनियन कालेज की स्थापना कर इस दिशा मे शुभारभ किया है। "उचित औद्योगिक सम्बन्ध एव उचित श्रम सघ व्यवहार एव प्रणालियो के लिये, शिक्षा की इस प्रकार से व्यवस्था करनी होगी जिससे कि श्रमिको को औद्योगिक सगठन से सम्बन्धित सम्पूर्ण बातो की जानकारी तथा ऐसे सगठन मे उनकी अपनी भूमिका की जानकारी प्राप्त हो सके। मालिको एव समुदाय के सम्बन्ध मे उनके अधिकारो एव उत्तरदायित्वो को उन तक पहुचाना ही होगा।" श्रम सघ शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार से करनी होगी कि राजनीति से स्वतन्त्र एव जनतात्रिक श्रम सघ सगठन का विकास हो सके और इसकी कार्यक्षमता उच्चतर हो सके। श्रम सघ के कार्यकर्ताओ को उचित प्रशिक्षण देने के हेतु द्वितीय योजना मे ६० लाख रुपये की व्यवस्था की गई थी। उसका उद्देश्य उन्हे श्रम सघ दर्शन एव प्रणाली, श्रम सघ प्रशासन, सामूहिक सौदे बाजी एव सामाजिक कल्याण का प्रशिक्षण देना था। मई १९५८ मे इसी प्रकार के एक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम का उद्घाटन विक्टोरिया जुबिली टैक्निकल इस्टीट्यूट, बम्बई मे किया गया था।

(६) विभिन्न श्रम सघ कार्यकलाप श्रम सघ के द्वारा किये जाने वाले कार्य-कलापो का विस्तार करना अत्यन्त आवश्यक है। श्रम सघो को शिक्षा,

स्वास्थ्य, आमोद-प्रमोद, आवास, तथा अन्य कल्याणकारी कार्यों को अधिक से अधिक विस्तार के साथ कार्यान्वित करना चाहिए। उन्हे अपने सदस्यो के साथ शांति-काल मे ही उतना सम्पर्क बनाये रखना चाहिए जितना कि औद्योगिक अशान्ति अथवा हडताल के समय रखा जाता है। अपने सदस्यो के ज्ञान-वर्द्धन के हेतु समय-समय पर सभाओ, सामूहिक चर्चा, तथा भाषण आदि की व्यवस्था करनी चाहिए। उन्हे केवल हडताल कराने वाली समितियो के रूप मे ही कार्य नही करना चाहिए अपितु श्रमिको के मध्य उत्तरदायित्व एव अनुशासन की भावना जागृत करने का प्रयत्न करना चाहिए। श्रमिको को समय-समय पर यह समझाना चाहिए कि उनके नैतिक उत्तरदायित्व क्या है और उचित मजदूरी प्राप्त करने के लिये उन्हे उचित कार्य भी करना होगा। प्रत्येक श्रमिक मे सहनशक्ति एव सहयोग की भावना जागृत करनी चाहिए। "समाजवाद के अन्तर्गत औद्योगिक जनतत्र की स्थापना करने की आवश्यकता है, जो एक ओर तो अनुशासन की और दूसरी ओर सक्षम कार्य की माँग करता है।"

(७) श्रम सघ को सुदृढ करने के लिये सुझाव (क) छोटे-छोटे श्रम सघो का आपस मे सम्मिलन कर देना चाहिए जिससे कि भारतवर्ष मे श्रम सघ आन्दोलन सुदृढ हो सके। छोटे आकार के सघो मे उचित सगठन, पर्याप्त वित्त एव सक्रिय नेतृत्व की कमी पाई जाती है। वे आन्दोलन को कमजोर बना देती है और इस प्रकार से श्रमिको का श्रम सघवाद पर से विश्वास उठता जाता है। ऐसे कमजोर श्रम सघो को अपना अस्तित्व समाप्त करके अपने साधनो का एकीकरण कर देना चाहिए जिससे कि आन्दोलन को गति, स्थायित्व एव सुदृढता प्राप्त हो सके।

(ख) इस आन्दोलन को सुदृढ बनाने के लिये यह आवश्यक है कि श्रम सघो के वित्त मे आन्तरिक साधनो से उन्नति की जाय। प्राय. श्रम सघ अधिक से अधिक सख्या मे श्रमिको को सदस्य बनाने के लिये सदस्यता शुल्क की अत्यन्त अल्प राशि रखते है और उसे भी वसूल करने मे असफल रहते है। साथ ही, सघ शुल्क न देने वालो की सदस्यता भी समाप्त नही करते हैं। जुलाई १९५९ मे, सत्रहवी भारतीय श्रम सम्मेलन मे इस प्रस्ताव को स्वीकृत किया गया था कि चार आना प्रति माह की न्यूनतम सदस्यता शुल्क निर्धारित कर दी जाय और इस उद्देश्य से एक साविधिक प्रावधान बनाया जाय।

(ग) मालिको तथा नियोक्ताओ के दृष्टिकोण में आवश्यक परिवर्तन होना चाहिए और उन्हे दृढ श्रम सघ सगठन के लाभो पर विचार करना चाहिए क्योकि इससे उत्पादन मे वृद्धि होने की सभावना अधिक होती है और साथ ही औद्योगिक शान्ति भी रह सकती है। श्रम सघो को केवल उनके अधिकारो का

विरोध करने वाला सगठन मानने का जो वर्तमान दृष्टिकोण है उसे बदल देना चाहिए।

(८) श्रम सघो की मान्यता. भारतवर्ष मे सुदृढ श्रम सघ आन्दोलन चलाने की दिशा मे श्रम सघो को मान्यता प्रदान करना एक महत्वपूर्ण प्रयास है। सामान्यत मान्यता तभी प्रदान की जाती है जब कि चन्दा देने वाली पर्याप्त सदस्यता हो यद्यपि मान्यता प्रदान करने के लिये विभिन्न राज्यो मे शर्तें अलग-अलग है। मालिको अथवा नियोक्ताओ द्वारा अनिवार्य रूप से मान्यता प्रदान करना हाल के वर्षो मे एक महत्वपूर्ण तथा जटिल प्रश्न रहा है। राज्य विधान सभाओ मे इसके सम्बन्ध मे अनेक बिल प्रस्तुत किये जा चुके है परन्तु सरकार ने उनका समर्थन नही किया। फिर भी, १९४७ मे श्रम सघ अधिनियम मे सशोधन किया गया और उसमे मालिकों द्वारा प्रतिनिधि श्रम सघ की अनिवार्य मान्यता की व्यवस्था की गई है। इस सशोधित अधिनियम मे मालिको अथवा श्रम सघो द्वारा किये गये कुछ कार्यो को अनुचित माना गया है और उसमे यह प्रावधान है कि मालिको के उन कार्यों के किये जाने पर उन पर जुर्माना किया जायगा और श्रम सघो द्वारा ऐसा किये जाने पर उनकी मान्यता वापस ले ली जायगी। यह सशोधित अधिनियम व्यवहार मे नही लाया गया।

श्रम अध्ययन दल पर राष्ट्रीय आयोग की रिपोर्ट मे यह विचार व्यक्त किया गया है कि भारतवर्ष मे श्रम सघो को मान्यता प्रदान करने के लिये कुछ साविधिक प्रावधान होना चाहिए क्योकि यही एक ऐसा प्रमुख माध्यम है जिसके द्वारा श्रमिको एव प्रबन्धको के मध्य उचित सम्बन्ध स्थापित हो सकता है।

(९) व्यापक विधान की आवश्यकता उचित एवं व्यापक अधिनियम बनाकर, सरकार एक ऐसे उचित वातावरण का सृजन करने मे सहायता प्रदान कर सकती है जिससे कि देश मे श्रम सघवाद का स्वस्थ एव सुदृढ विकास हो सके। इस विषय पर व्यापक अधिनियम का बनाया जाना आवश्यक है जो कि श्रम सघो का पजीकरण ही न करे अथवा उन्हे मान्यता ही न प्रदान करे अपितु श्रमिको के हित की सुरक्षा एव विकास कर सके। वर्तमान श्रम सघ अधिनियम १९२६ मे पारित किया गया था और यह तभी से बिना प्रमुख सशोधन हुए कार्यान्वित किया जा रहा है। इसमे मुख्य रूप से श्रम सघो के पजीकरण के लिये शर्तें दी हैं, पजीकृत सघो को दिये गये अधिकार, वे उत्तरदायित्व जिनका पालन पजीकरण के पश्चात् सघों को निभाना है, प्रशासन तथा दण्ड के लिये आवश्यक कार्यवाही सम्बन्धी प्रावधान है। इसके अन्तर्गत पजीकृत श्रम संघों को

कम्पनी की तरह अस्तित्व तथा अविच्छिन्न उत्तराधिकार का अधिकार दिया गया है और वे सम्पत्तियो पर स्वामित्व रख सकते है और प्रसविदा करने का अधिकार भी उन्हे प्राप्त है। अधिनियम का प्रशासन राज्य के आधार पर है और प्रत्येक राज्य को श्रम सघो का एक रजिस्ट्रार नियुक्त करना होता है।

१९५० मे भारत सरकार ने भारतीय श्रम सघ बिल प्रस्तुत किया जो कि पर्याप्त रूप से व्यापक था। इसमे श्रम सघो के पजीकरण के लिये अधिक शर्तें रखी गई थी। इसके अन्तर्गत श्रम सघो को अधिक उत्तरदायित्व सौपा गया था। इसमे यह प्रस्ताव रखा गया था कि उन श्रम सघो की कार्यकारिणी का कोई भी बाहरी व्यक्ति सदस्य न हो जो कि पूर्ण रूप से या अशत. सरकारी कर्मचारियो के सघ हो। अन्य श्रम सघो के लिये, बाहरी व्यक्तियो की सख्या या तो अधिक से अधिक चार हो सकती थी या कार्यकारिणी के सदस्यो की कुल सख्या का एक-चौथाई या इन दोनो मे से जो भी कम हो। इस बिल का एक प्रमुख प्रावधान निरीक्षको की नियुक्ति करने से सम्बन्धित था जिन्हे पजीकृत श्रम सघो का निरीक्षण करना था। इसके अन्तर्गत पजीकृत श्रम सघो के लिये यह आवश्यक था कि वे सदस्यो की सूची तैयार करे, एक रजिस्टर रखे जिसमे प्रत्येक सदस्य के द्वारा दिये गये चन्दे का ब्योरा रखा जाय, निर्दिष्ट रूप मे खाता, बही एव कार्यवाही पुस्तिकाये भी रखे। परन्तु इससे पूर्व कि बिल को ससद स्वीकृत करता ससद की अवधि समाप्त हो गई और अन्त मे बिल को पारित न किया जा सका। सरकार इस बिल पर फिर से विचार कर रही है क्योकि इसमे जनता ने अत्यधिक रुचि दिखाई थी।

(१०) सरकार का दृष्टिकोण श्री एन० एच० टाटा ने अप्रैल, १९६६ मे मद्रास में हुई भारतीय मालिकों के सघ (Employers' Federation of India) की ३३ वी वार्षिक सभा मे अपने अध्यक्षीय भाषण मे इस बात पर पर्याप्त प्रकाश डाला था कि केन्द्रीय एव राज्य सरकारो का दृष्टिकोण ऐसा नही है जिससे कि देश मे स्वस्थ श्रम सघ आन्दोलन दृढता के साथ पनप सके। "सरकार द्वारा दिखाई गई कोई भी भावनात्मक सुरक्षा एक सीमा तक ही अपना प्रभाव डाल सकती है, जिसके परे असैद्धान्तिक एव अनुत्तरदायी सघो को केवल अनैतिक प्रोत्साहन ही प्राप्त होगा, जो कि श्रम सघवाद के सुरक्षित छत्र के नीचे केवल सत्तारु: दल को गिराने के राजनीतिक उद्देश्य मे ही सुरुचि रखते है।" उन्होने इस बात पर बल दिया कि जब तक सरकार उन श्रम सघो के सम्बन्ध मे अपनी नीति स्पष्ट नही करती जो कि देश-भक्तिपूर्ण नही है तो ऐसी हडतालो की प्रवृत्ति बढती ही जायगी जिनका औद्योगिक झगडो से सम्बन्ध तो कोई न

रहेगा परन्तु यह बहाना अवश्य रहेगा कि वे श्रम संघ अधिकारों के लिये लड़ रहे हैं। इस अनुचित प्रवृत्ति को रोकने के लिये कुछ भी प्रयास न करके सरकार श्रम संघ के नेताओं को पर्याप्त छूट देती रही है। ऐसे नेता स्वार्थ अथवा व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के लिये अधिक जागरुक हैं और श्रमिकों के हित को ध्यान में नहीं रखते हैं।

श्री टाटा ने राज्य सरकारों की इस प्रवृत्ति की भी भर्त्सना की कि वे उन संघों के साथ भी संधि कर लेती हैं जो कि मान्यता प्राप्त नहीं हैं और इस प्रकार उन्हें सौदा करने वाले एजेण्ट की स्थिति प्रदान करते हैं। जब परिस्थितियों के कारण, मालिक को इन अमान्य संघों से व्यवहार करने के लिये विवश कर दिया जाता है, तो बाद में सरकार ऐसे कार्यों को अनुचित श्रम व्यवहार घोषित कर देती है। यदि कुछ राज्यों द्वारा इस प्रकार का दोहरा स्तर अपनाया जाता रहा तो आचार-संहिता को तो भुलाना पड़ेगा और श्रम अधिनियमों के अन्तर्गत दिये गये दायित्वों को पूरा करने का प्रयत्न नहीं किया जायगा और न ही सामूहिक सौदेबाजी के सिद्धान्त को मान्यता मिल पायेगी।

(११) मालिकों का दृष्टिकोण. श्रम संघवाद के सम्बन्ध में मालिकों को भी अपना दृष्टिकोण बदलना आवश्यक है। उन्हें अधिक दूरदर्शिता से काम करना चाहिए। अब तक वे इस ओर अधिक जागरुक नहीं हैं। उन्हें श्रम संघों के साथ मिल-जुलकर सहयोग की भावना को बढ़ावा देना चाहिए जिससे कि श्रमिक सन्तुष्ट हो सकें। उन्हें बात-बात पर अपने अधिकारों के लिए न्यायालय की शरण नहीं लेनी चाहिए। उन्हें ऐसा भी नहीं करना चाहिए कि जिससे वामपंथी वर्ग को श्रमिकों पर अपना अधिकार जमाने के लिए प्रोत्साहन मिल सके।

अध्याय २२

औद्योगिक सम्बन्ध

औद्योगीकरण आधुनिक रूप मे जहाँ एक ओर वरदान है वहाँ दूसरी ओर अभिशाप भी है। इसने प्रबन्धको एव श्रमिको के मध्य एक बहुत बडी खाई बना दी है क्योकि उत्पादन के साधनो पर श्रमिको का स्वामित्व नही है। बड़े पैमाने पर औद्योगिक उपक्रमो का तेजी के साथ विकास होने के कारण आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण होता रहा है और श्रमिको को इस बहुचर्चित तथ्य पर विचार करने और इसका अनुसरण करने के लिये विवश कर दिया है कि 'एकता मे ही बल है, विभाजित होने पर हम गिर पडेगे।' अपने वैध अधिकारो एव हितो की सुरक्षा के लिये सामूहिक सौदेबाजी (collective bargaining) तथा सघो की स्वतन्त्रता की महत्ता को वे अच्छी तरह समझ गये है। दूसरी ओर, मालिक अथवा नियोक्ता सगठित श्रमिको की माँगो का विरोध करते रहे हैं। परिणाम-स्वरूप, इसके कारण औद्योगिक सघर्ष तथा अशान्ति बढती जा रही है। औद्योगिक अशान्ति इस बात का द्योतक है कि "मनुष्य पर्याप्त सतुष्टि प्राप्त करने की अपनी भावनाओ एव इच्छाओ को पूरा करने मे असफल रहा है और जो अन्त मे औद्योगिक सघर्ष के रूप मे फूट पडा है।" हडताल, तालाबन्दी, धीमे काम करने का प्रयत्न, अधिक अनुपस्थिति आदि औद्योगिक सघर्ष के कुछ महत्वपूर्ण रूप है जिसका उचित निदान आवश्यक है जिससे कि औद्योगिक शान्ति तथा विकास के लिये उचित परिस्थितियो का सृजन हो सके। औद्योगिक अशान्ति एक ऐसे रोग का सूचक है जिसको रोकने की व्यवस्था की जानी चाहिए तथा जिसका निदान ढूंढा जाना चाहिए परन्तु इसका दमन नही किया जाना चाहिए।

कोई भी अर्थव्यवस्था, जिसका सगठन नियोजित उत्पादन तथा विभाजन के लिये किया गया हो और जिसका उद्देश्य जनता के लिये सामाजिक न्याय तथा कल्याण उपलब्ध कराना हो, प्रभावपूर्ण ढग से केवल औद्योगिक शान्ति के वातावरण मे ही कार्य कर सकती है। यदि तीव्र राष्ट्रीय विकास लाना हो और साथ ही सामाजिक न्याय भी प्राप्त करना हो तो प्रबन्धको एव श्रमिको के मध्य शान्तिमय सद्भावपूर्ण सम्बन्ध होना आवश्यक है। यह तभी सभव हो पायेगा जब कि प्रत्येक दूसरे के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझ सके और तदनुसार व्यवहार करे। श्रमिको को उत्साह के साथ कार्य करना चाहिए परन्तु यह तभी हो सकेगा जब कि उनके

अन्दर मालिक के साथ ऐक्य अथवा एकत्व की भावना हो। उसी प्रकार, मालिकों को यह विचार अवश्य करना चाहिए कि उद्योग से होने वाला लाभ केवल उन्ही के लिये नही है अपितु उसका उचित भाग न्यायसगत एव उदारपूर्ण ढग से श्रमिको को भी दिया जाना चाहिए। प्रत्येक श्रमिक को यह आभास करना चाहिए कि वह उस उद्योग का सह-स्वामी है जिसमे वह कार्य कर रहा है और प्रत्येक स्वामी को यह विचार-करना चाहिए कि वह भी सह-कार्यकर्ता है और वह अपने श्रमिको के साथ मिल-जुल कर कार्य कर रहा है। दूसरे शब्दो मे, उन सभी के मध्य, जो उद्योग से सलग्न है, विचार एव कार्य मे पूर्ण ऐक्य होना चाहिए। केवल सहयोग के साथ मिल-जुल कर कार्य करने से ही आवश्यक परिणाम उपलब्ध कर सफलता प्राप्त की जा सकती है और उस दशा मे सभी प्रयत्न विश्वासयुक्त एव न्यायपूर्ण भी होगे।

उद्योग मे शान्ति का होना विश्व शान्ति के लिये भी एक सूचक है यदि हम इस समस्या को व्यापक दृष्टिकोण से देखे। यदि उद्योग मे दृढतर मानवीय सम्बन्धो को बनाने मे हम सफल हो जाते है तो वर्ग-विरोध एव विश्व-सघर्ष की समस्या बहुत कुछ हल हो जाय। "औद्योगिक एव अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आधुनिक विश्व-ससर्ग का ताना-बाना है। मानवीय सम्बन्धो की विश्व समस्या का वह प्रतिपक्ष एव विपक्ष है जिसमे राजनीतिक एव औद्योगिक बाते आपस मे अन्तर्बद्ध है।" इस प्रकार औद्योगिक सम्बन्ध केवल मालिको एव कर्मचारियो के बीच की ही बात नही है अपितु यह जन-समुदाय से सम्बन्धित महत्वपूर्ण समस्या है। उस समुदाय मे, जो कि सभी सदस्यो की भलाई एव सामाजिक न्याय के लिये सगठित है, समाज के सभी वर्गों के मध्य आपस मे सतत समाधान होता रहना चाहिए। बार-बार औद्योगिक सघर्ष के होते रहने से जन-समुदाय पर बुरा प्रभाव पडता है और यह विचार कि ऐसे सघर्ष का सम्बन्ध केवल मालिकों एव श्रमिकों से ही नही है, स्पष्ट सा हो जाता है। "दैनिक सघर्षो की उष्मा मे, श्रमिक एव मालिक यह भूल जाते है कि वे राजनीति रूपी शरीर मे केवल दो अग के रूप मे है और सदैव एक तीसरा साझीदार भी है, और वास्तव मे वह अत्यन्त महत्वपूर्ण साझीदार है, यथा, पूरा जन-समुदाय, जिस पर ध्यान देना आवश्यक है।"

औद्योगिक सम्बन्धों का केवल आर्थिक पक्ष ही नही है अपितु इनका मानवीय एव सामाजिक पक्ष भी है। औद्योगिक सघर्ष श्रमिको पर स्थायी दुख का बोझ डाल सकता है क्योकि इससे उनकी जीविका तक समाप्त हो सकती है या यह उनके बच्चों के स्वास्थ्य के लिये स्थायी खतरे का कारण भी हो सकता है क्योकि इसके कारण वे विवश होकर अपने बच्चो का पर्याप्त ढंग से पोषण नही कर पाते। काम के अधिक समय तक बन्द हो जाने से उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय पर प्रभाव

पडता है। इससे वस्तुये नष्ट होती है, वर्गो मे आपस मे घृणा फैलती है, आपसी व्यवहार बुरे हो जाते है और इस प्रकार राष्ट्र के विकास मे यह बाधक सा बन जाता है। यदि सघर्ष अनेक क्षेत्रो तक फैल जाता है या आवश्यक वस्तुओ एव सेवाओ से सम्बद्ध होता है तो उससे अधिक हानि होने की सभावना ही रहती है।

औद्योगिक शान्ति तो तभी उपलब्ध हो सकती है जब कि श्रमिको एव मालिको के दृष्टिकोण मे आवश्यक परिवर्तन हो जाय। सच्चे जनतन्त्र के हित मे, नवीन सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य श्रमिको का तथा मालिको के नताओ का तथा सरकार का है। श्रमिको एव मालिको के मध्य सम्बन्ध इस प्रकार का होना चाहिए कि जैसे वे आपस मे साझीदार हो और मिल-जुल कर जन-समुदाय की आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे यथासभव लगे हो। परन्तु साथ ही ऐसी साझीदारी मे श्रमिको की भूमिका एव उनकी महत्ता को पूर्णतया स्वीकार करना चाहिए। "श्रमिको से व्यवहार करते समय केवल यही ध्यान मे नही रखना चाहिए कि शक्ति एव योग्यता राष्ट्र की सर्वाधिक मूल्यवान सम्पत्तियो मे से है अपितु यह भी देखना चाहिए कि उनका व्यक्तित्व ऐसा है कि उसका आदर किया जाय, वह भी समुदाय के अन्य किसी भी अग के साथ बराबर की महत्ता एव योग्यता के साथ की जाय।"

सरकार ने औद्योगिक सघर्षो को शान्तिमय ढग से हल करने मे अधिक से अधिक रुचि ली और इस सम्बन्ध मे अधिनियम पारित किये गये जिनके अन्तर्गत औद्योगिक सघर्षो मे सरकार द्वारा हस्तक्षेप करने की व्यवस्था की गई। श्रम की समस्याओ पर विचार करने के लिये त्रिदलीय सस्थाये राष्ट्र एव राज्य के स्तर पर बनाई गईं। निस्सन्देह, औद्योगिक शान्ति प्रस्ताव से स्वस्थ वातावरण उत्पन्न हुआ जिससे कि सघर्षों की सख्या मे कमी आई और इस प्रकार औद्योगिक सम्बन्धो मे विशेष उन्नति हुई। साथ ही औद्योगिक सघर्ष अधिनियम, १९४७ के अन्तर्गत सघर्षों का विवाचन एव अनिवार्य न्यायपूर्ण-निर्णय द्वारा निपटारा करने के लिये उचित व्यवस्था की गई।

१९४७ के औद्योगिक शान्ति प्रस्ताव के पश्चात, १९४८ और १९४९ मे पर्याप्त सुधार हुआ था परन्तु १९५० मे इसने पुन गम्भीर स्थिति धारण कर ली और उस वर्ष जन-दिन हानि की सख्या बढ कर १२८ लाख हो गई (तालिका १)। यह स्थिति औद्योगिक सम्बन्धो मे सर्वव्यापी अवनति के कारण नही आई थी, अपितु सूती वस्त्र के कारखानो मे हुई हडताल के कारण आई थी जिसके कारण ९४ लाख जन-दिन की हानि हुई। १९५१-५४ के मध्य जन-दिन मे हुई हानि विशेष अधिक न थी परन्तु यह १९५५-५८ के मध्य धीरे-धीरे बढती गई और १९५९ मे

तालिका १

भारतवर्ष मे औद्योगिक सघर्ष (१९४६-६८)

वर्ष	सघर्षो की सख्या	सलग्न श्रमिको की सख्या ('०००)	जन-दिन हानि की सख्या (दस लाख मे)	योग का प्रतिशत		
				सफल अथवा आशिक सफल	असफल	अनिश्चित
१९४६	१,६२९	१,९६२	१२ ७२	३४	४३	
१९४७	१,८११	१,८४१	१६.५६	३४	३९	
१९४८	१,६३९	१,३३३	९ २१	३१	४४	
१९४९	९२०	६८६	६ ६०	३१	४९	
१९५०	८१४	७२०	१२ ८१	२६	४२	
१९५१	१,०७१	६९१	३ ८२	२८	४०	
१९५२	९६३	८०९	३ ३४	३७	४५	
१९५३	७७२	४६७	३ ३८	३२	४२	
१९५४	८४०	४४७	३ ३७	२९	३८	
१९५५	१,१६६	५२८	५ ७०	२६	२६	
१९५६	१,२०३	७१५	६.९९	३७	४०	
१९५७	१,६३०	८८९	६ ४३	४६	३३	२१
१९५८	१,५२४	९२९	७.८०	४८	२८	२४
१९५९	१,५३१	६९४	५ ६३	३८	३२	३०
१९६०	१,५८३	९८६	६ ५४	४४	३१	२५
१९६१	१,३५७	५१२	४ ९२	४८	३०	२२
१९६२	१,४९१	७०५	६ १२	४८	३१	२१
१९६३	१,४७१	४५८	३.२०	४१	४१	१८
१९६४	२,१२५	१,००३	७ ७२	४३	३७	२०
१९६५	१,८३५	९९१	६.४७	४४	३६	२०
१९६६	२,५५६	१,४१०	१३.८५	४८	३१	२१
१९६७	२,८१५	१,४९०	१७.१५	४९	३५	१६
१९६८	२,७७६	१,६६९	१७.२४	४८	३६	१५

तो यह अत्यधिक थी जब कि जन-दिन हानि की सख्या १९५४ की अपेक्षाकृत दूनी हो गई। जन-दिन हानि की सख्या जब १९५८ मे ७८० लाख से घट कर १९५९ मे ५६ ३ लाख ही रह गई तो इस कमी का स्वागत किया गया परन्तु १९६० मे यह पुन बढ कर ६५ ४ लाख हो गई। यह वृद्धि मुख्य रूप से केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियो द्वारा किये गये हडताल के कारण तथा अन्य कारणो से हुई थी और केवल इसी कारण से १३ लाख जन-दिन की हानि हुई थी। यदि इस घटक को ध्यान मे रखे, तो यह ज्ञात होगा कि जुलाई १९५८ मे अनुशासन सहिता के अपनाने के पश्चात् से औद्योगिक सघर्षों के कारण होने वाली जन-दिन की हानि मे कमी आई थी। जन-दिन हानि की सख्या घट कर १९६१ मे ४९ २ लाख हो गई थी परन्तु १९६२ मे यह पुन. बढ कर ६१ २ लाख हो गई। अक्टूबर, १९६२ मे सकटकालीन स्थिति की घोषणा करने के पश्चात् से जन-दिन हानि की सख्या एव औद्योगिक सघर्षों की सख्या मे पर्याप्त कमी आई। परिणामस्वरूप १९६३ मे जन-दिन हानि की सख्या घट कर ३२ ० लाख ही रह गई।

नवम्बर १९६२ मे, चीन द्वारा आक्रमण किये जाने के पश्चात्, श्रमिको एव मालिको के प्रतिनिधियो ने मिल कर एकमत से औद्योगिक शान्ति प्रस्ताव को स्वीकृत किया था। इस प्रस्ताव को अपनाने के पश्चात् से जन-दिन हानि की सख्या मे विशेष कमी आई।

परन्तु १९६४ मे पुन स्थिति मे परिवर्तन पाया गया। यह एक ऐसा वर्ष था जब कि मूल्य-स्तर एव रहन-सहन की लागत मे १२-१३ प्रतिशत से वृद्धि हुई थी। यह वृद्धि योजनाबद्ध विकास के आरभ होने के पश्चात् से सबसे अधिक थी। वैसे १९६५ मे औद्योगिक सम्बन्धो के वातावरण मे पुन उन्नति हुई। उस वर्ष जन-दिन हानि की सख्या ६५ लाख थी जब कि १९६४ मे यह ७७ लाख थी।

यद्यपि १९६५ मे हडताले हुईं, तालाबन्दी एव अशान्ति रही, फिर भी सभी वर्गों के श्रम सघो ने अपने-अपने मनमुटाव को समाप्त करके एक साथ होने का प्रयत्न किया और इस प्रकार मिल कर पाकिस्तान द्वारा आक्रमण का सामना करने के लिये और देश की स्वतन्त्रता की सुरक्षा करने के लिये वे कटिबद्ध हुए। उन्होने लोगो से अपील की और आश्वासन दिया कि वे उत्पादन की गति को चालू रखेंगे। हडताल सम्बन्धी दिये गये नोटिस को वापस ले लिया गया और लोगो ने अतिरिक्त कार्य करने के लिये अपना प्रस्ताव रखना आरभ कर दिया और साथ ही राष्ट्रीय सुरक्षा कोष मे श्रमिको ने उदारता के साथ योगदान दिया। फिर भी, आर्थिक स्थिति के गिरने के साथ ही, जो कि खाद्य सामग्री एव कच्चे माल मे विशेष कमी

के कारण हुई थी, श्रमिको की छटनी एव तालाबन्दी भी हुई और इस प्रकार १९६
के अन्तिम माहो मे औद्योगिक सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गये ।

तृतीय योजना की सम्पूर्ण अवधि मे, जन-दिन हानि की सख्या के दृष्टिको
से, औद्योगिक सम्बन्ध द्वितीय योजना की अपेक्षाकृत अधिक अच्छे थे । यदि
तृतीय योजना काल मे रोजगार मे वृद्धि की ओर भी ध्यान दे तो जन-दिन हानि
की सख्या मे कमी और भी महत्वपूर्ण थी । इस काल मे स्थिति मे सुधार होने का
अशत कारण १९६२ एव १९६५ मे श्रमिको द्वारा देश की सुरक्षा के लिये स्वत
कटिबद्ध होना था ।

औद्योगिक सम्बन्ध (१९६६-६८) १९६६ और उसके पश्चात् औद्योगिक
अर्थव्यवस्था मे अद्वितीय तनाव एव अशान्ति पाई गई तृतीय योजना काल मे
अपेक्षाकृत कम सफलता प्राप्त होना, कृषि-क्षेत्र मे उत्पादन मे विशेष कमी आना,
अनियमित एवं अनिश्चित ढग से विदेशी पूँजी का प्राप्त होना, तथा उद्योगो के लिये
आवश्यक आयात का न प्राप्त होना, इन सभी कारणो से आर्थिक असन्तुलन रहा
और मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्ति भी बढी । उसके बाद रुपये के अवमूल्यन से परि-
स्थिति और भी गभीर एव जटिल होती गई । आर्थिक स्थिति बिगडने के कारण
तथा असन्तोष के बढते जाने के कारण अनुत्तरदायी राजनीतिक व्यक्तियो एव दलो
को आगे बढने का अवसर मिला । ऐसी परिस्थिति मे सगठित औद्योगिक श्रमिक
भी सघर्ष-रत हो गया और इसका यह परिणाम हुआ कि देश मे औद्योगिक सम्बन्धो
के दृष्टिकोण से १९६६ सबसे खराब वर्ष रहा ।

१९६७ एवं १९६८ मे आर्थिक स्थिति और भी खराब रही और साथ ही
राजनीतिक स्थिति मे भी पर्याप्त उथल-पुथल रही। एक वर्ष के बाद दूसरे वर्ष दो
बार सूखा पडने के कारण आर्थिक योजना से जो लाभ प्राप्त हुए थे वह भी अदृश्य
से हो गये । इससे केवल मुद्रा-स्फीति सम्बन्धी दबाव ही नही बढे अपितु उद्योग
के कुछ क्षेत्र मे तो पश्चायन (recession) की प्रवृत्ति बढने लगी । एक साथ
अनेक शक्तियो के कारण देश की अर्थव्यवस्था मे विरोधाभास की सी स्थिति आ
गई जब कि एक ओर तो मुद्रा-स्फीति की स्थिति थी और दूसरी ओर पश्चायन की
प्रवृत्ति थी । कुछ औद्योगिक इकाइयों मे, विशेष रूप से इजीनियरिग एव धातु-
उद्योग के क्षेत्र मे, श्रमिको की अस्थायी एव स्थायी छटनी आरभ हो गई ।

पश्चिमी बंगाल एव बिहार के श्रम सघ के एक वर्ग के द्वारा सम्पूर्ण स्थिति
का दोषपूर्ण अध्ययन करने के कारण औद्योगिक स्थिति को बिल्कुल गलत ढग से
दिग्दर्शित किया गया । कुछ राज्य के श्रम मन्त्रियो ने श्रम सघ के कुछ अवैधानिक
कार्य-कलापो का तथा अन्यायपूर्ण औद्योगिक सघर्षों का भी समर्थन किया । पश्चिमी

बगाल के पूर्व श्रम मत्री ने तो यहाँ तक कहा कि "घेराव" श्रम सघो का वैध कार्य है अत उनकी सरकार श्रमिको के द्वारा किये गये घेराव के विरुद्ध हस्तक्षेप नही करेगी। परिणामस्वरूप, यह घेराव का आन्दोलन सारे देश मे तेजी के साथ फैल गया। केवल ६ माह मे, सितम्बर १९६७ तक १३ राज्यों मे घेराव की सख्या ९२८ रही और पश्चिमी बगाल मे इसकी सख्या ८४१ थी जो कि सर्वाधिक थी।

१९६७ मे औद्योगिक सम्बन्ध और भी खराब रहे और उस वर्ष जन-दिन हानि की सख्या १७१ ५ लाख रही। १९६८ मे स्थिति और भी गभीर रही जब कि जन-दिन हानि की सख्या बढ कर १७२.४ लाख रही। हडताल एव तालाबन्दी एक साधारण सी बात हो गई। प्रबन्धको के साथ बुरा व्यवहार करना, आपस मे लडना, काम बन्द कर देना या धीरे-धीरे करना आदि ढगो को निर्बाध गति से अपनाया गया। और यह केवल निजी क्षेत्र तक ही सीमित न रहा। इस हडताल के ज्वर का प्रभाव सार्वजनिक क्षेत्र की अनेक इकाइयो पर तथा पोर्ट ट्रस्ट एव एयर-लाइन्स पर भी पडा। कुछ राजकीय उपक्रमो को तालाबन्दी करना पडा। शायद, देश के श्रम आन्दोलन के इतिहास मे प्रथम बार सरकार के तत्वावधान मे केरल एव पश्चिमी बगाल मे 'बन्ध' को कार्यान्वित किया गया। राज्य सरकार तथा बीमा निगम के कर्मचारियो ने भी अपना हथियार प्रयोग किया। सबसे खराब बात तो यह रही कि पुलिस, इजीनियरो तथा वायुयान चालको ने भी समय-समय पर हडताले की। वास्तव मे, यह वैधानिक समाधानो के प्रति आदर की कमी थी जिसके कारण औद्योगिक सम्बन्ध हाल के वर्षो मे इतने खराब रहे।

कारण. मजदूरी एव बोनस के भुगतान में अपर्याप्तता औद्योगिक अशान्ति का सर्व प्रमुख कारण रहा है। १० वर्षो (१९४८-५७) के सम्मिलित औसत प्रतिशत को यदि देखे तो केवल इन दो कारणो का प्रतिशत ३७ ४ था (तालिका २)। अगले आठ वर्षों मे (१९५८-६६) यह औसत प्रतिशत बढ कर ४२ ७ हो गया। १९६७ तथा १९६८ मे यह ५० प्रतिशत के लगभग रहा है। जब कभी भी श्रमिक अपने को आर्थिक सकट मे पाते है, वे हडताल करते है। इस प्रकार श्रमिको की अशान्ति का प्रमुख कारण यह रहा है कि सरकार एक निश्चित मजदूरी सम्बन्धी नीति तैयार करने मे असफल रही है और साथ ही मूल्य को भी एक निश्चित सीमा पर स्थायी रखने मे असमर्थ रही है। अत यदि औद्योगिक शान्ति स्थापित करना है तो उस दशा में मूल्य को स्थिर रखना अति आवश्यक है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि बोनस, जिसे पहले मालिको के द्वारा इच्छा-नुसार लाभ मे से भुगतान की बात समझा जाता था, अब श्रमिको की नियमित आय का अग है।

तालिका २

औद्योगिक सघर्षों के कारण

कारण	१९४८-५७ औसत	१९५८	१९५९	१९६१	१९६२	१९६५	१९६६	१९६७	१९६८
मजदूरी एव भत्ता	२८२	३०५	२७१	३०.४	३०२	३३५	३५८	३९९	३८.४
बोनस	९२	११५	१०३	६९	१२३	९९	१३२	१०९	९४
कार्मिक तथा छटनी	३०९	३३०	२९१	२९३	२५२	२७३	२५३	२३६	२८२
अवकाश तथा कार्य के घन्टे	७३	३२	३७	३०	०७	२५	२४	१०	१९
अन्य	२४४	२१८	२९८	३०४	३१६	२६८	२३३	२४६	२२१
	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००

औद्योगिक सघर्ष जो कि कर्मचारियो से सम्बधित कारणो से होते हैं अधिकाशतया अहभाव, साथियो की भावना, तथा दलगत भावना से होते है। "स्वीकृति, प्रशसा एव मान्यता के वातावरण की कमी, तथा छटनी, निलम्बन (suspension) तथा नौकरी से निकाल देने के कारण असुरक्षा की जटिल भावना आदि ऐसे सघर्षो के प्रमुख कारण है।" हडताल, फोरमैन को, मिस्त्री को तथा प्रबन्धको को निकालने की माँग आदि, मशीनो को तोडना, अनुशासन भग करना तथा जानबूझ कर आज्ञा का पालन न करना ऐसे सघर्षों के परिणाम है। बहुत बडी सख्या मे हडताल श्रमिको की छँटनी, निलम्बन या पदच्युति के कारण हुई है। श्रमिको पर अत्याचार करने के कारण तथा श्रमिको के सघो को मालिको द्वारा मान्यता न दिये जाने के कारण भी सघर्ष हुए हैं। १९४८-५७ मे 'कर्मचारियो मे तथा छँटनी से सम्बन्धित' कारणो का औसत प्रतिशत ३० ९ था। १९६८ मे यह २८·२ प्रतिशत था।

'अवकाश एव कार्य के घण्टो' के लिये औद्योगिक सघर्ष या तो काम के घन्टो को कम कराने के लिये हुए हैं या किसी सामाजिक एव धार्मिक अवसर पर छुट्टी प्राप्त करने के लिये या छुट्टी के दिन कारखाने को खोलने के विरुद्ध या छुट्टी के लिये बिना विचार किये मना कर देने के लिये हुए है। ऐसी हडताले प्राय: अल्प-काल के लिये ही होती है। १० वर्षों का (१९४८-५७) इस कारण से औसत प्रतिशत ७ ३ था परन्तु १९६८ मे यह घट कर १ ९ हो गया।

प्राय सघर्ष बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के भी होता है। वे श्रमिकों के नैराश्य की भावना प्रदर्शित करते हैं। ऐसी हडतालो के विरुद्ध यह आलोचना की जाती है कि उनमे कोई विशेष माँग नही रखी जाती है। १९४८-५७ के मध्य "अन्य कारणो" से हुए सघर्ष का औसत प्रतिशत २४ था जो कि १९६८ मे घट कर २२·१ हो गया। यह तो प्रबन्धको का उत्तरदायित्व है कि वे अपने श्रमिको को उसी प्रकार से निकट से समझे जैसा कि वस्तुओ को जानते है। अधिकाश प्रबन्धक अपना उत्तरदायित्व ऐसे व्यक्तियो को सौप देते हैं जो कि विश्वसनीय नही होते है। कभी-कभी सघर्ष श्रमिको के नेताओ द्वारा, राजनीति से सम्बद्ध होते हैं, प्रोत्साहित होते है और जिनका उद्देश्य राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति करना होता है। कभी-कभी श्रमिक अन्य स्थानो पर चल रहे राजनीतिक एव श्रम आन्दोलन के समर्थन मे हडताल करते हैं। कभी-कभी पुलिस के द्वारा किये गये अत्याचार के विरुद्ध भी हडताल करते है।

परिणाम. यह ध्यान देना चाहिए (तालिका १) कि भारतवर्ष मे सफल तथा अशत सफल हडतालो का प्रतिशत न्यून है। १९६०-६२ की अवधि मे सफल

एव अशत सफल हडतालो का प्रतिशत अधिक रहा। सफल एव अशत सफल औद्योगिक सघर्षो का प्रतिशत घट कर १९६३ मे ४१ रह गया था, फिर बढ कर १९६४ मे ४३ हो गया और १९६८ मे ४८ हो गया, परन्तु अधिक सख्या मे सघर्ष या झगडे "असफल" रहे। अनेक औद्योगिक सघर्ष अनुचित माँगो को लेकर होते रहे है और उनमे कुछ श्रम सघ के नेताओ का अपना स्वार्थ ही अधिक रहा है। हडताल करने से पूर्व वे अपनी माँगो के पक्ष एव विपक्ष मे पूर्णतया विचार नही करते है।

सफल एव अशत सफल औद्योगिक झगडो का प्रतिशत न्यून होने के निम्नलिखित कारण है (१) उचित सगठन की कमी तथा श्रमिको की ठहराव शक्ति मे कमी, (२) उग्र श्रमिक नेतागणो के द्वारा शीघ्रता के साथ हडताल का कराया जाना जो आरभ से ही हडताल करने के पक्ष मे होते है और झगडे को निपटाने के लिये अन्य तरीको को अपनाने के पक्ष मे नही होते है और न ही उस प्रकार का कोई भी प्रयास करते है, (३) हडताल के लिये उचित कारण का न होना, (४) श्रम सघ नेताओ द्वारा हडताल की घोषणा कर देना और ऐसा कार्य करने के पूर्व उस पर कुछ भी विचार न करना। वे यह भी ध्यान नही देते कि उन की शक्ति क्या है, उन्हे आवश्यक समर्थन प्राप्त है अथवा नही। यह ध्यान देने योग्य बात है कि हडताल के असफल होने से श्रमिको का केवल नैतिक पतन ही नही होता अपितु साथ-साथ श्रम सघ सगठन की शक्ति भी क्षीण हो जाती है।

निपटारे के लिये उपाय

सरकार द्वारा किये जाने वाले कार्य. द्वितीय महायुद्ध काल मे, औद्योगिक सघर्षो या झगडों का अनिवार्य अधिनिर्णय (compulsory adjudication) ही सामान्य रूप से किया जाता था क्योकि केन्द्रीय सरकार ने भारतीय सुरक्षा नियम के नियम ८१ (अ) के अन्तर्गत यह अधिकार ले रखा था कि वह हडताल या ताला बन्दी के विरुद्ध सामान्य अथवा विशिष्ट आज्ञा जारी कर सकती थी। वह मालिको एव श्रमिको को नौकरी से सम्बन्धित निश्चित शर्तो को मानने के लिये भी बाध्य कर सकती थी। सरकार को यह भी अधिकार था कि वह किसी भी व्यापारिक सघर्ष को विवाचन अथवा अधिनिर्णय के लिये प्रस्तुत कर सकती थी और अधिनिर्णायक की आज्ञा मानने के लिये विवश कर सकती थी। हड़ताल को उस समय तक के लिये वैधानिक घोषित कर दिया गया था जब तक अधिनिर्णय अथवा विवाचन सम्बन्धी कार्यवाही चल रही हो और उस समय के लिये भी जब

कि निर्णय को कार्यान्वित किया जा रहा हो । सरकार ने अपने अधिकारो का प्रयोग स्वतत्रता पूर्वक किया और अनेक सघर्षों को अधिनिर्णय के लिये प्रस्तुत किया और उनके निर्णयो को वैधानिक रूप से कार्यान्वित कराया ।

औद्योगिक सघर्ष अधिनियम, १९४७ इसने व्यापारिक सघर्ष अधिनियम १९२९ (Trade Disputes Act, 1929) तथा भारतीय सुरक्षा नियम के नियम ८१ (अ) के प्रावधानो मे सुधार करके उन्हे इस नवीन अधिनियम मे सैमामेलित किया, विशेष रूप से उन प्रावधानो को जो कि औद्योगिक सघर्षो को रोकने तथा निबटारा करने की व्यवस्था से सम्बन्धित थे । इस अधिनियम मे अनिवार्यत: वर्क्स समितियो की स्थापना की व्यवस्था उन औद्योगिक इकाइयो के लिये है जहाँ १०० या उससे अधिक श्रमिक कार्य करते हो । इन समितियो का कार्य ऐसे उपायो को अपनाना है जिनसे कि मालिक एव श्रमिको के मध्य अच्छे सम्बन्ध बने रहे । उनके हितो से सम्बन्धित मामलो पर विचार करना है और यह प्रयत्न करना है कि ऐसे मामलो मे जो मत मे विभिन्नता हो उसे दूर किया जा सके । इन समितियो मे मालिक एव श्रमिको के बराबर-बराबर प्रतिनिधि होगे । श्रमिको को अपने प्रतिनिधि श्रम सघ के परामर्श द्वारा चुनने होते है। यह नवीन अधिनियम की एक प्रमुख विशेषता है और यह प्रावधान इसलिये महत्वपूर्ण है कि यह श्रमिकों को बातचीत एव समझौता करने मे सहायता पहुँचाता है और इस प्रकार सामूहिक सोदेबाजी के लाभ श्रमिक प्राप्त कर सकते है । इस अधिनियम मे अनिवार्य समझौते (compulsory conciliation) की भी व्यवस्था है जिसके अनुसार सरकार सार्वजनिक उपयोगी सेवा सस्थाओ के झगडो या सघर्षो को विवाचन के अधिकारियो को सौप सकती है । अन्य सघर्षों के विवाचन की भी व्यवस्था की गई है। विवाचन सम्बन्धी कार्यवाही को १४ दिन की अवधि मे पूरा करना होता है, और यदि वे असफल हैं तो सरकार को अधिकार है कि वह झगडो को या तो निपटारे के लिये विवाचन परिषद को सौप दे या अधिनिर्णय के लिये औद्योगिक ट्रिब्युनल को सौंप दे । इस अधिनियम मे विवाचन अथवा अधिनिर्णय कार्यवाही की अवधि मे हडताल अथवा तालाबन्दी पर रोक लगा दी गई है ।

वर्क्स समितियो से सम्बन्धित प्रावधान मे इन समितियो के कार्यो का उल्लेख नही किया गया है जिसका तात्पर्य यह है कि कोई भी बात, जो कि श्रमिको के फैक्टरी के जीवन से सम्बन्धित हो, इन समितियो के क्षेत्र मे आ सकती है। १९६० मे भारतीय श्रम सम्मेलन द्वारा एक त्रिदलीय समिति बनाई गई जिसने औद्योगिक इकाइयो मे इन वर्क्स समितियो को सौंपने के लिये कार्यों की एक सूची तैयार की ।

इसने उन कार्यों की एक दूसरी सूची भी तैयार की जिन्हे ये समितियाँ नही कर सकती है। दोनो ही सूचियाँ निर्देशी या दृष्टान्त के रूप मे है क्योकि कार्यों की सम्पूर्ण सूची बनाना सभव न हो पाया। इन वर्क्स समितियो द्वारा किये जाने वाले कार्यों की सूची मे काम की दशाये, सुविधाये, सुरक्षा, आकस्मिक घटना से बचाव, कल्याण सम्बन्धी तथा अन्य कोषो का प्रशासन, शिक्षा तथा मनोरजन सम्बन्धी कार्यकलार्प तथा बचत प्रोत्साहन करना आदि कार्य सम्मिलित है। इन समितियो के कार्य केवल परामर्श के रूप मे होते है और मालिको के ऊपर कोई भी वैधानिक उत्तरदायित्व नही है कि वे उन्हे कार्यान्वित ही करे। साथ ही, ये समितियाँ यह दावा नही कर सकती कि वे उपक्रम के सभी श्रमिको के पक्ष पर बोल रही है। यह तो केवल श्रम सघो का ही पूर्ण अधिकार है। इन वर्क्स समितियो की स्थापना का उद्देश्य एक ऐसी व्यवस्था करना था जो कि श्रम सघ के प्रभाव को प्रभावहीन कर सकता। यह कहा जाता है कि ये समितियाँ ही औद्योगिक जनतन्त्र के सिद्धान्त की भावी सफलता-असफलता को निश्चित करेगी।

औद्योगिक सघर्ष (सशोधित) अधिनियम, १९५६ इस अधिनियम के अन्तर्गत जो नई व्यवस्था बनाई गई है उसमे तीन प्रकार की अर्द्ध-न्यायिक सस्थाये है। राज्य के स्तर पर औद्योगिक ट्रिब्युनल को तो बनाये रखा गया और नवीन व्यवस्थाये—श्रम न्यायालय तथा राष्ट्रीय ट्रिब्युनल—की स्थापना की गई है। इस अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित ये तीनो सस्थाये अलग-अलग कार्य करती है और एक के निर्णय के विरुद्ध दूसरे मे अपील नही की जा सकती है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अपिलेट ट्रिब्युनल से तो अपील का अधिकार ले लिया गया है परन्तु हाई कोर्ट एव सुप्रीम कोर्ट मे अपील की जा सकती है यदि निर्णय अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत न दिया गया हो या निर्णय प्राकृतिक न्याय के अनुकूल न हो। इस अधिनियम मे तीन प्रकार के मूलभूत ट्रिब्युनल है—श्रम न्यायालय, औद्योगिक ट्रिब्युनल तथा राष्ट्रीय ट्रिब्युनल।

समझौता (Conciliation) समझौता-कार्यवाही के माध्यम से अनेक औद्योगिक सघर्षो का निबटारा किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत, कोई भी तटस्थ व्यक्ति, बिना किसी बल का प्रयोग किये हुए, मालिको एव श्रमिको के मध्य पारस्परिक समझौते का मध्यम मार्ग अपनाने का प्रयत्न करता है। ऐसे मध्यस्थ का कार्य अत्यन्त कठिन होता है क्योकि इसके अन्तर्गत आर्थिक एव सामाजिक दोनो ही प्रकार की नीतियाँ आती है। उसका कार्य पच-निर्णायक (arbitrator) तथा अधिनिर्णायक के कार्यों से अत्यन्त भिन्न होता है। उसका उद्देश्य दोनो ही विरोधी दलो के मनमुटाव को समाप्त करना है और यदि वह ऐसा करने मे सफल नही होता

है तो उसे यह प्रयत्न करना होता है कि दोनो ही अपने भेद-भाव को कम से कम कर दे जिससे कि वे आपस मे निबटारा कर सके। समझौता अधिकारी अथवा समझौता परिषद के अध्यक्ष द्वारा दिये गये सुझाव अथवा सिफारिशे दोनो ही दलो के द्वारा दी गई सम्पूर्ण सूचनाओ पर आधारित होनी चाहिए। उसे दोनो को ही अपने विश्वास मे ले लेना चाहिए तथा शान्ति एव सद्भाव के वातावरण का सृजन करना चाहिए। समझौताकार को कभी-कभी "उडन एम्बुलेस दस्ता' के नाम से पुकारा जाता है। जब कभी और जहाँ कही मालिको एव श्रमिको के मध्य सघर्ष अथवा झगडे की सभावना होती है वह उसी समय और वही पर उपस्थित हो जाता है। औद्योगिक विवादो का निबटारा करने के लिये अथवा उन्हे रोकने के लिये समझौता सर्वाधिक महत्वपूर्ण ढग है। समझौता सम्बन्धी व्यवस्था का कार्य उसी समय आरभ हो जाता है जब कभी सघर्ष की सभावना दिखाई देती हो या उस समय भी जब कि हडताल अथवा तालाबन्दी की घोषणा की जा चुकी हो। समझौते का तात्पर्य ही सम्बन्धित लोगो को एक-साथ लाना है जिससे कि वे अपने-अपने झगडो का सद्भावना के साथ निबटारा कर ले।

सरकारी अधिकारियो का विचार है कि समझौता सम्बन्धी कार्यवाहियाँ अत्यधिक प्रभावकारी है। ऐसा कहा जाता है कि "अनेक मामले नौजवान, अनुभवहीन तथा प्रशिक्षणहीन समझौता अधिकारी के पास ले जाये जाते है जो यह नही जानते कि किस प्रकार से मध्यस्थता की जाय। वे दोनो ही दलो को एक ही कमरे मे एक-साथ बिठाते है और प्रत्येक को अपनी-अपनी बात बताने के लिये कहते हैं जो कि स्थिति को और भी बिगाड देता है। वे रबर स्टाम्प की तरह हैं और प्राय· मामले को सीधे अधिनिर्णय के लिये प्रस्तुत कर देते है।" निस्सन्देह, समझौता सम्बन्धी सेवाओ मे समुचित उन्नति करना आवश्यक है तभी प्रत्यक्ष सामूहिक सौदेबाजी का विकास हो पायेगा। समझौता अधिकारी की रिपोर्ट, जहाँ तक सभव हो, तथ्य पर आधारित होनी चाहिए और उसमे किसी ट्रिब्युनल मे उस झगडे को प्रस्तुत करने के लिये सिफारिश नही होनी चाहिए। समझौता अधिकारी के रूप मे पूर्ण उत्तरदायित्व ग्रहण करने से पूर्व, उसे पर्याप्त प्रशिक्षण प्राप्त कर लेना चाहिए।

पचनिर्णय या विवाचन विवाचन निम्नलिखित मे से किसी एक प्रकार का हो सकता है (१) ऐच्छिक विवाचन, निर्णय की ऐच्छिक स्वीकृति सहित—यह मध्यस्थता से थोडा ही अधिक है, (२) ऐच्छिक विवाचन, निर्णय की अनिवार्य स्वीकृति सहित—साधारणतया इसे ऐच्छिक विवाचन के नाम से जाना जाता है, (३) अनिवार्य विवाचन, निर्णय की ऐच्छिक स्वीकृति सहित—प्रभाव मे यह केवल

अनिवार्य अनुसधान है, (४) अनिवार्य विवाचन, निर्णय की अनिवार्य स्वीकृति सहित—साधारणतया इसे अनिवार्य विवाचन, के नाम से जाना जाता है।

भारतवर्ष मे अनिवार्य विवाचन का सिद्धान्त पहली बार युद्धकालीन सकट-काल मे अपनाया गया था परन्तु इसके बाद भी आर्थिक अनिश्चितता तथा सकट की अवधि मे अपरिहार्य उपाय के रूप मे इसे चालू रखा गया। ऐसा कहा जाता है कि इससे देश मे श्रम सघवाद के विकास को अत्यधिक धक्का लगा है। साथ ही यह उपाय जनतात्रिक नही है और आर्थिक प्रणाली के लोच को समाप्त करता है। स्थायी औद्योगिक शान्ति इसके माध्यम से प्राप्त नही हो सकती और जब तक यह अनिवार्य अधिनिर्णय की प्रणाली चालू रहेगी ऐच्छिक प्रणाली की सफलता की आशा नही की जा सकती है। "जब तक कि अनिवार्य अधिनिर्णय को साविधिक पुस्तको को पूर्णरूपेण समाप्त नही कर दिया जाता, सम्बन्धित दल पारस्परिक समझौता या ऐच्छिक विवाचन की अवधि मे, मेज पर सभी कार्ड नही रखेगे अपितु 'इक्का' को अनिवार्य अधिनिर्णय के लिये आरक्षित रखेगे।"

अक्टूबर १९५३ मे, श्री वी० वी० गिरि, तत्कालीन केन्द्रीय श्रम मन्त्री, ने भारतीय श्रम सम्मेलन के १२वे सत्र मे इस बात पर बल दिया कि अनिवार्य विवाचन की दशा मे जब एक दल विजयी होता है और दूसरा पराजित, विजयी तथा पराजित दोनो ही अपने कार्य के लिये सद्भावना सहित वापस नही लौटते हैं और न ही वे एक-दूसरे को भुला पाते है या क्षमा कर पाते है। वे एक-दूसरे से अप्रसन्न ही रहते है। जो पराजित होता है वह सदैव ही एक ऐसे अवसर की तलाश मे रहता है कि वह इससे हुई अपनी हानि की पूर्ति कर ले। उसी प्रकार, जो विजयी होता है वह विजय की भावना लेकर गर्व से अपना कार्य प्रारभ करता है जिससे वह दूसरे दल से सहयोग करना भुला देता है और इस प्रकार आपसी वैमनस्य के पनपने का अवसर बढ जाता है। ऐसी परिस्थिति मे स्थायी शान्ति की स्थापना सम्भव नही हो सकती।

भारतीय श्रम सम्मेलन के १६वे सत्र मे, मई १९५८ मे, एक वाद-विवाद हुआ और यह सुझाव दिया गया कि औद्योगिक सघर्षों का निबटारा करने के लिये उपाय के रूप मे अनिवार्य अधिनिर्णय को निलम्बित कर देना चाहिए। केन्द्रीय श्रम मत्री ने कहा कि सरकार के इस अधिकार को हटाने के लिये वे तैयार है यदि मालिक एव श्रमिक ऐसा समझते हो कि वे अपने झगडो को आपसी सद्भाव, समझौता तथा विचार-विमर्श करके निपटारा कर सकने मे समर्थ है। उन्होने यह भी कहा कि अभी इसके निलम्बन के लिये समय उपयुक्त नही है परन्तु सभी संभव प्रयत्न किये जायँगे कि झगडो का निबटारा ऐच्छिक विवाचन के

माध्यम से ही किया जाय जिससे स्वस्थ परिपाटी का सृजन हो सके और अन्त मे वह स्वयमेव अनिवार्य अधिनिर्णय की आवश्यकता का अन्त कर दे। सम्मेलन मे इस विचार एव दृष्टिकोण का समर्थन किया गया और इस बात से सभी सहमत थे कि अभी वह समय नही आया है कि अनिवार्य अधिनिर्णय को निलम्बित कर दिया जाय ।

विवाचन परिषद १९६५ मे भारतीय श्रम सम्मेलन के समक्ष राष्ट्रीय विवाचन प्रवर्द्धन परिषद (National Arbitration Promotion Board) के सगठन का प्रश्न उठाया गया परन्तु समयाभाव के कारण इस पर बहस को स्थगित कर दिया गया था। फिर फरवरी १९६६ मे राष्ट्रीय स्तर पर विवाचन प्रवर्द्धन परिषद के सगठन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। अगस्त १९६७ मे केन्द्रीय कार्यान्विन एव मूल्याकन समिति ने इस प्रस्तावित परिषद के सघटन, कार्यो एव मॉडल सिद्धान्तो के विषय मे विचार किया। सरकार ने बाद मे इस परिषद की स्थापना की घोषणा की। यह एक त्रिदलीय सस्था है जिसमे सरकार द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि के अतिरिक्त, श्रमिको एव मालिको के प्रतिनिधि भी है। इस परिषद के कार्य है समय-समय पर मालिको एव श्रमिको द्वारा ऐच्छिक पचनामा के स्वीकृत किये जाने की सीमा की जॉच करना, ऐसे मामलो का अध्ययन करना जिनमे विवाचन को न अपनाया गया हो और यह पता लगाना कि उसके मार्ग मे कौन-कौन से घटक बाधक रहे और उन्हे कैसे दूर किया जा सकता है, उपयुक्त व्यक्तियो का पैनेल बनाना जो कि विवाचन के लिये कार्य कर सकते हो, विवाचको तथा अन्य व्यक्तियो के निर्देश हेतु सिद्धान्तो, आदर्शो तथा कार्य-प्रणालियो का विकास करना ।

निवारक उपाय

अनुशासन सहिता (Code of discipline) १९५७ मे, भारतीय श्रम सम्मेलन के १५वे अधिवेशन मे उद्योगो मे एक अनुशासन सहिता तैयार की गई। इसका उद्देश्य यह था कि स्वेच्छा से मालिक एव श्रमिक, सभी सघर्षों का निवारण आपसी समझौता, समाधान तथा ऐच्छिक विवाचन या पचनिर्णय के माध्यम से करे। सक्षेप मे, इस सहिता मे निम्नलिखित बाते हैं (१) सूचना दिये बिना कोई भी हडताल तथा तालाबन्दी नही होनी चाहिए, (२) किसी भी औद्योगिक मामले मे एकपक्षीय कार्यवाही नही की जानी चाहिए, (३) धीरे-धीरे काम करने के उपाय को नही अपनाया जाना चाहिए, (४) सयत्र तथा सम्पत्ति का जानबूझ कर नुकसान नही किया जाना चाहिए, (५) हिंसा, डराना-धमकाना, अनुचित

दबाव या उकसाहन जैसे कार्य नही किये जाने चाहिए, (६) झगडो के निपटारा करने की वर्तमान व्यवस्था का उपयोग किया जाना चाहिए, (७) समझौता तथा निर्णयो को तेजी के साथ कार्यान्वित किया जाना चाहिए, तथा (८) कोई भी ऐसा कार्य नही किया जाना चाहिए जिससे औद्योगिक शान्ति भग हो।

इस सहिता का सभी केन्द्रीय श्रम सगठनो ने तथा मालिको के प्रमुख सगठनो ने अनुमोर्दन किया है और इस प्रकार औद्योगिक सम्बन्धो को स्थायित्व प्रदान करने की दिशा मे यह एक महत्वपूर्ण प्रयास है। इस सहिता की महत्ता इसकी शैक्षणिक उपादेयता मे है। इसने "औद्योगिक शान्ति के लिये व्यावहारिक वातावरण" का सृजन करने मे सहायता पहुँचाई है। १९५८ मे इस सहिता के अपनाने के पश्चात् से श्रम की अशान्ति, जो कि काम समाप्त होने के कारण जन-दिन की हानि से ज्ञात होता है, कमी आती गई है।

अनुशासन सहिता, जिसे पुन १९६२ मे औद्योगिक शान्ति प्रस्ताव के द्वारा सुदृढ किया गया, देश मे औद्योगिक सम्बन्धों का पथप्रदर्शन अब भी कर रही है। इस सहिता को १७० उन मालिको तथा ११० श्रमिक सघो ने स्वेच्छा से स्वीकृत कर लिया है जो कि किसी केन्द्रीय मालिको तथा श्रमिको के सगठन के सदस्य नही है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस सहिता के सिद्धान्तो एव विचारों की आलोचना श्रमिक नही कर रहे है अपितु इसे कार्यान्वित करने से सम्बन्धित जो दोष है उन्ही की आलोचना वे करते है। साथ ही, यह सहिता सार्वजनिक क्षेत्र के उन उपक्रमो पर भी लागू होती है जो कि कम्पनी के रूप मे चलाये जा रहे हो परन्तु वे कम्पनियाँ नही आती जो कि सुरक्षा, रेलवे, तथा बन्दरगाहो एव डाक के मत्रालय के अन्तर्गत आते है। यह भी शिकायत है कि सहिता के सचालन के प्रति कुछ राज्यो मे उदासीनता है। इसके प्रति असतोष इसलिये भी है कि कोड के आधारभूत विचारो को सयत्र के स्तर पर पूरी तरह से नही अपनाया गया है। श्रमिको के नेताओ तथा माध्यमिक प्रबन्धको को अभी भी इस सहिता के अन्तर्गत निर्धारित उत्तरदायित्वो के विषय मे जागरूक होना है। इस सम्बन्ध मे मालिको तथा श्रमिको के सगठनो को यह प्रयत्न करना चाहिए कि वे अपने सदस्यो को इस संहिता के अन्तर्गत निहित उत्तरदायित्वो के विषय मे उचित शिक्षा प्रदान करे।

अनुशासन सहिता के सचालन पर आयोजित अगस्त, १९६५ की विचार-गोष्ठी मे लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि सामान्यतया सहिता का सचालन सतोषप्रद रहा है और इससे औद्योगिक सम्बन्धो मे सुधार हुआ है। परन्तु साथ ही यह भी आवश्यकता है कि इस सहिता का पालन सुचारू रूप से करने के लिये

और भी अधिक प्रयत्न किये जाने चाहिए। अगस्त १९६७ मे, केन्द्रीय कार्यान्वन एव मूल्याकन समिति ने अनुशासन सहिता के कार्य-सचालन की जाँच की। इसने केन्द्रीय विवाचन सबर्द्धन परिषद के कार्यों को स्वीकृत किया तथा अनुशासन सहिता के अन्तर्गत सघर्षो या झगडो को ऐच्छिक विवाचन या पचनिर्णय के लिये प्रस्तुत करने के लिये आदर्श सिद्धान्तो को भी स्वीकृत किया।

सामूहिक सौदेबाजी बीसवी शताब्दी के आरभ मे वेब (Webbs) ने "सामूहिक सौदेबाजी" शब्द का प्रचलन आरभ किया। औद्योगिक सम्बन्ध को शान्तिपूर्ण बनाये रखने के लिये यह उपाय श्रम सघ आन्दोलन का ही परिणाम है। दोनो ही अपने विकास काल मे एक दूसरे को प्रभावित करते है। अधिकाश उन्नत देशो मे यह एक अत्यन्त शक्तिशाली माध्यम है जो कि श्रमिको की मजदूरी तथा उनके काम करने की दशाओ को निर्धारित करता है। परन्तु अल्प-विकसित देशो मे, कुछ दशाओ को छोड़कर, इनका निर्धारण या तो सरकार करती है या बाजार की दशाओ के आधार पर होता है। सामूहिक समझौता फैक्टरी के स्तर पर, उद्योग के स्तर पर, क्षेत्र या राष्ट्रीय स्तर पर, हो सकता है। यह श्रमिको एव मालिको के मध्य अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने मे सहायक होता है क्योकि यह मजदूरी की दर, कार्य के घण्टे तथा नौकरी की शर्तो को निर्धारित करने मे सहायता पहुँचाता है। इससे आपसी सघर्ष तो कम होते ही हैं अपितु साथ ही साथ औद्योगिक उपक्रमो की उन्नति होती है और श्रमिको का कल्याण होता है।

एक श्रम सघ कार्यकर्ता को जो सर्वोत्तम शिक्षा प्राप्त हो सकती है वह समझौते की मेज पर बैठकर ही प्राप्त होती है। जिन इकाइयो मे सामूहिक सौदेबाजी का प्रयोग होता है वहाँ श्रम-सघ सुदृढ एव उत्तरदायी होते जाते है। वे अपना समय उच्च उत्पादकता लाने की विधियो का अध्ययन करने मे, जैसे कार्य अध्ययन, भृत्ति पद्धति, कार्य-मूल्याकन आदि, लगाते है जिससे कि वे मालिको के साथ सफलता सहित सौदेबाजी कर सके। परिणाम यह होता है कि वे सघर्ष करने के स्थान पर आपसी समझौता पर अधिक बल देने लगते है।

सामूहिक सौदेबाजी की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि सौदेबाजी के लिये केवल एक ही एजेण्ट हो। यह उपाय अधिक से अधिक प्रचलित होगा यदि श्रमिक आपस मे पूर्ण सगठित हो और उसके साथ ही मालिकगण भी उचित औद्योगिक सम्बन्ध बनाये रखने के लिये तत्पर हो। उसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि कुछ कानूनी प्रावधान भी हो जो कि सौदेबाजी करने वाले एजेण्ट की उपयुक्तता निर्धारित कर सके और समझौतो को सुचारु रूप से कार्यान्वित करा सके।

इसकी सफलता अधिकाशतया इस बात पर निर्भर है कि श्रम सघ का प्रतिनिधित्व कितना दृढ है अत सुदृढ सघ का निर्माण अति आवश्यक है। सरकार को यह चाहिए कि वह उन्ही श्रम सघो को मान्यता प्रदान करे जिनमे श्रमिको की सख्या अत्यधिक हो। साथ ही, सरकार को सदैव ही जागरूक रहना होगा कि स्वस्थ प्रवृत्तियाँ ही पनपे।

भारतीय उद्योगों के लिये सामूहिक सौदेबाजी अत्यधिक आवश्यक है क्योकि इनके सम्मुख आधुनिकीकरण, उत्पादकता, एव औद्योगिक शान्ति की प्रमुख समस्याये है। अहमदाबाद, बम्बई, तथा जमशेदपुर मे एव अन्य औद्योगिक नगरो मे, जो हाल में सामूहिक समझौते हुए है उनसे यह आशा की जाती है कि वे इस दिशा मे प्रगति लाने के लिये समुचित वातावरण बनाने मे सहायक रहे है।

श्रम परिषद (Wage Boards) औद्योगिक सघर्षों के आँकडो को देखने से यह ज्ञात होता है कि श्रमिको एव मालिको के मध्य सघर्ष के प्रमुख कारण मजदूरी तथा तत्सम्बन्धी मामले रहे है। श्रम न्यायालय तथा औद्योगिक न्यायालय की व्यवस्था से यह समस्या सुलझ नही पाई है और इससे दोनो दलो को सन्तोष नही प्राप्त हो पाया है। इसके लिये तो ऐसी व्यवस्था को ही स्वीकृति मिल सकती है जिसमे उन दोनो का भी हाथ निर्णय लेने मे हो। त्रिदलीय श्रम परिषदो की स्थापना इसी उद्देश्य से की गई है। इसमे मालिको तथा श्रमिको का बराबर-बराबर प्रतिनिधित्व होता है और उसका एक स्वतत्र अध्यक्ष होता है। अतः इसके द्वारा लिये गये निर्णय सभी को मान्य हो सकते है। १९६७-६८ तक १९ उद्योगो के लिये ऐसे परिषदो की स्थापना की जा चुकी थी। कुछ उद्योगो मे, जैसे सूती वस्त्र, चीनी एव सीमेण्ट श्रम परिषदो की स्थापना दो बार की जा चुकी हैं।

परिनिर्णय का प्रवर्तन जो भी समझौता, परिनिर्णय या पचनिर्णय द्वारा लिया जाय उसका भलीभाति पालन किया जाना चाहिए। प्राय ऐसा पाया जाता है कि श्रमिको एव मालिको के मध्य इन समझौतो या परिनिर्णयो को कार्यान्वित न किये जाने के कारण सघर्ष होता है। कुछ ऐसे भी मामले पाये गये है जिन दशाओ मे सरकार द्वारा बार-बार आदेश दिये जाने पर उन्हे कार्यान्वित नही किया गया। इसका कारण यह है कि इनको कार्यान्वित करने के लिये या बाध्यकरण के लिये कोई भी उचित वैधानिक प्रावधान नही है। औद्योगिक सघर्ष अधिनियम (१९४७) के अन्तर्गत परिनिर्णय को प्रवर्तित या कार्यान्वित न करने पर मालिको को केवल २०० रु० तक दण्ड के रूप मे देना पड सकता है। अभी तक का अनुभव यह रहा हैं कि यह धनराशि इतनी अधिक नही है कि मालिकगण बाध्य

हो कर परिनिर्णयो को लागू करे। वे दण्ड का भुगतान सहर्ष कर देते हैं क्योकि प्राय परिनिर्णयो के प्रवर्तन (enforcement of awards) मे अधिक व्यय ही करना होता है।

१९५७ मे नई दिल्ली मे राज्य श्रम मत्रियो के सम्मेलन मे केन्द्र श्रम मत्री ने यह बताया कि "ऐसे अनेक मामले है जिनमे समझौतो पर ध्यान नही दिया गया और परिनिर्णयो को बार-बार भग किया गया।" उस सम्मेलन मे यह निश्चित किया गया कि श्रम-परिनिर्णयो को परिवर्तित न करने पर मालिको पर अधिक दण्ड लगाये जाने की व्यवस्था की जानी चाहिए। उसमे यह भी निश्चित किया गया कि यदि परिनिर्णयो को लागू न किया जाय तो उस दशा मे पहिले मामले को गैर-वैधानिक ढग से सुलझाने के लिये श्रमिको के तथा मालिको के सगठनो को प्रस्तुत किया जाय।

श्रम एव रोजगार मत्रालय मे एक विशेष अनुभाग, मूल्याकन एव कार्यान्विन विभाग, की स्थापना की गई है। यह समय-समय पर जॉच करता है कि श्रम-अधिनियमो, समझौतो एव परिनिर्णयो को शीघ्रता के साथ कार्यान्वित किया जा रहा है अथवा नही। १९६८ मे, केन्द्र के स्तर पर इसने अनुशासन सहिता के भग करने से सम्बन्धित ६९१ शिकायते प्राप्त की, ११५ मामले प्रत्यक्ष कार्यवाही से सम्बन्धित, जिनमे से ६ मामले अन्तर्सघीय आचार-सहिता को भग करने से सम्बन्धित थे प्राप्त किये।

अध्याय २३

प्रबन्ध में श्रमिकों का भाग

प्रबन्ध मे-श्रमिको का भाग होने से 'औद्योगिक जनतन्त्र' की स्थापना होती है जो कि समाजवादी समाज की स्थापना के लिये अत्यन्त आवश्यक है। औद्योगिक प्र जातन्त्र के माध्यम से 'प्रति व्यक्ति-घन्टे उत्पादन' मे वृद्धि होती है, 'अन्तर्दलीय तनाव' दूर होता है, 'श्रमिको को सन्तोष' मिलता है। यह श्रमिको मे यह भावना जागृत करता है कि वे उन औद्योगिक प्रक्रियाओ एव विधियो को समझते है जिनमें वे भाग ले रहे है तथा औद्योगिक निर्णयो मे प्रत्यक्ष रूप से वे भाग ले रहे हैं यह भावना उनमे बढती है। प्रबन्ध मे श्रमिको के भाग को व्यवहार मे कई अर्थों मे प्रयोग मे लाया जाता है और उसके कई रूप मिलते है। प्रबन्ध मे श्रमिको के भाग की योजना वैसे इसलिये बनाई जाती है कि उनसे उन सभी मामलो पर सलाह ली जा सके जो कि उनसे सम्बन्धित हो। इसका विचार मूलत मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग-सिद्धान्त के भय से उत्पन्न हुआ और साथ ही इस भावना से कि प्रजातन्त्र के विचार को राजनीति के क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र तक बढा दिया जाय। १९१७ मे व्हिटले समिति (इगलैंड) की सिफारिशो ने इस विचार को आगे बढाने के लिये प्रोत्साहित किया। प्रथम महायुद्ध के समाप्त होते ही यूरोप के अनेक देशो मे कार्य परिषदो (Work Councils) की स्थापना के लिये अधिनियम बनाये गये जिसके अनुसार निश्चित सख्या मे नियुक्त कर्मचारियो वाले उपक्रमो मे इसकी स्थापना की व्यवस्था की गई। परन्तु इस दिशा मे उन्नति द्वितीय महायुद्ध तक धीमी ही रही। युद्ध-काल मे पुन इसकी आवश्यकता हुई और बडे पैमाने पर सम्मिलित उत्पादन समितियो की स्थापना की जाने लगी।

विदेशो मे इस सम्बन्ध मे जो प्रणालियाँ विकसित हुईं उनके रूप मे ही भिन्नता नही पाई जाती अपितु श्रमिको के भाग लेने की सीमा मे भी अन्तर पाया जाता है। इगलैण्ड तथा स्वीडेन मे श्रमिको द्वारा प्रबन्ध मे भाग सम्मिलित समितियो द्वारा लिया जाता है परन्तु वे केवल सलाहकारी ही है और उनके पीछे कोई वैधानिक अनिवार्यता नही है। बेल्जियम, फ्रास तथा जर्मनी मे, दूसरी ओर, भाग लेने के लिये व्यवस्था वैधानिक स्वीकृति पर आधारित है और फ्रास तथा जर्मनी मे तो श्रमिको

का प्रतिनिधित्व प्रबन्ध-परिषदो मे भी है। यूगोस्लाविया मे श्रमिक स्वय ही एक निर्वाचित परिषद तथा प्रबन्ध परिषद के माध्यम से उपक्रमो को चलाते है।

यह कहा जाता है कि यदि अन्तिम शक्ति मालिको के पास रहती है तो यह नही कहा जा सकता कि श्रमिक प्रबन्ध मे भाग ले रहे है चाहे सलाह लेने की व्यवस्था कितनी ही सुदृढ हो तथा मालिक चाहे कितने ही ध्यान से श्रमिको के विचार को सुनते हो। परन्तु निर्णय लेने की शक्ति निरपेक्ष अथवा एकान्तिक नही होती। "प्रश्न केवल सीमा का है और यदि व्यावहारिक व्यवस्था पूर्व-परामर्श तथा सम्मिलित बातचीत की सुरक्षा प्रदान करती है और यदि दृष्टिकोण सहयोग का तथा एक दूसरे के विचारो पर ध्यान देने का है, तो ऐसी स्थिति मे, श्रमिक भाग लेने वाले होगे और केवल सलाह देने वाले न होगे।"

श्रमिको द्वारा भाग लेने की बात से श्रमिको द्वारा नियत्रण का भ्रम नही होना चाहिए। सिडनी वेब ने ठीक ही व्यक्त किया है कि कोई भी श्रम सघ अथवा व्यावसायिक एसोसिएशन प्रशासन को सफल नही बना सकता है यदि प्रबन्धको अथवा प्रशासको को निर्वाचित करने अथवा उनको निकाल देने का अधिकार उनके नीचे काम करने वाले कर्मचारियो को सौप दिया जाय। अत. श्रमिको द्वारा नियत्रण के स्थान पर श्रमिको द्वारा भाग का नारा लगाया जाना चाहिए। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि सचालक परिषद मे एक या दो श्रमिको के नियुक्त कर देने से विशेष लाभ न होगा क्योकि सचालक मण्डल मुख्य रूप से विनियोग, वित्त एव विक्रय जैसे विषयो मे ही व्यस्त रहते हैं जिनमे श्रमिको की कोई विशेष रुचि नही होती। यदि वे रुचि लेना भी चाहे तो उन विषयो की जटिलता को समझ नही सकते। ऐसी स्थिति मे वे परिषद मे केवल निष्क्रिय दृष्टा के रूप मे ही रह जाते है और वहाँ पर उनके अस्तित्व का होना अथवा न होना न के बराबर होता है। दूसरी ओर श्रमिकगण सचालक परिषद मे अपने प्रतिनिधियो से अत्यधिक आशा लगाये रखते हैं और जब उनकी आशा की पूर्ति नही होती तो वे या तो यह शिकायत करने लगते हैं कि उनके प्रतिनिधि प्रबन्धको के हाथ के खिलौने बन गये हैं या यह कहते हैं कि पूँजीपतियो ने उन्हे खरीद लिया है।

जब तक १९४७ मे भारतवर्ष मे औद्योगिक सघर्ष अधिनियम नही पारित किया गया था, कुछ उपक्रमो को छोड़ कर, प्रबन्ध मे श्रमिको के भाग लेने के विचार का प्रचार करने के लिये कोई भी प्रयास विधिवत नही किया गया था। इस अधिनियम के अन्तर्गत सरकार आज्ञा द्वारा उन उपक्रमो को कार्य-समितियो की नियुक्ति के लिये कह सकती है जिनमे १०० या उससे अधिक श्रमिक कार्य करते हो। इन समितियो मे मालिक एव श्रमिको के प्रतिनिधि होगे। इनका

उद्देश्य मालिक एव श्रमिको के मध्य उचित सम्पर्क एव सम्बन्ध बनाना है। परन्तु ये अपने उद्देश्य को पूरा करने मे सफल नही हो पायी है। इसका कारण यह है कि श्रमिको अथवा मालिको किसी के भी दृष्टिकोण तथा हृदय मे आवश्यक परिवर्तन नही हो पाया है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना मे इस सम्बन्ध मे उत्साहपूर्ण कार्यक्रम अपनाया गया और श्रम-प्रबन्ध सम्बन्धो के दर्शन को निम्नलिखित शब्दो मे व्यक्त किया गया "एक समाजवादी समाज का निर्माण पूर्ण रूप से मौद्रिक प्रोत्साहनो पर नही होता परन्तु समाज को सेवा प्रदान करने के विचार पर तथा समाज द्वारा उस सेवा की स्वीकृति पर होता है। इस सदर्भ मे यह आवश्यक है कि श्रमिको के अन्दर यह भावना उत्पन्न की जाय कि वे अपने ढग से विकासशील राज्य के निर्माण मे सहायता दे रहे है। अत. औद्योगिक प्रजातन्त्र का सृजन समाजवादी समाज की स्थापना के लिये आवश्यक है।" योजना को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिये, प्रबन्ध मे श्रमिको के भाग को अधिक बढ़ाने के विचार को इस योजना मे स्वीकृत किया गया। इस उपाय को अपनाने से निम्नलिखित दिशाओ मे सहायता पहुचेगी: (१) उपक्रम, कर्मचारी तथा जन समुदाय के सामान्य लाभ के लिये उत्पादकता मे वृद्धि होगी, (२) श्रमिको को उद्योग के कार्य-सचालन तथा उत्पादन की प्रक्रियाओ के सम्बन्ध मे अपनी भूमिका को अधिक समझने का अवसर मिलेगा; (३) श्रमिको की आत्म-अभिव्यक्ति की इच्छा की सतुष्टि होगी जिससे औद्योगिक शान्ति बढेगी, सम्बन्धो मे सुधार होगा तथा आपसी सहयोग मे वृद्धि होगी। श्रमिको का प्रबन्ध मे भाग लेने के उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्रबन्ध-परिषदो की स्थापना की व्यवस्था की गई जिनमे प्रबन्धको, टैक्नीशियन तथा श्रमिको के प्रतिनिधि होगे।

श्रम-प्रबन्ध सह-सम्बन्धो के सम्बन्ध मे योजना आयोग के दृष्टिकोण को सरकार तथा ससद ने स्वीकृत कर लिया है। यह व्यावहारिक तथा लोचपूर्ण है। सैद्धान्तिक वाद-विवाद से परे रह कर यह उस मानवीय इच्छा को अपनाता है जिसके अनुसार मनुष्य जिस कार्य को कर रहा है उसके निर्णय मे भाग लेना चाहता है। उद्योग मे उत्पादकता को बढ़ाने के लिये तथा औद्योगिक शान्ति को बनाये रखने के लिये इस स्वाभाविक प्रवृत्ति की पूर्ति करना आवश्यक है। परन्तु यह विषय उतना आसान नही है जितना दिखाई देता है अपितु जटिल है। अत. इस सम्बन्ध मे सभी बातो का विस्तृत अध्ययन करने के लिये सरकार ने १९५६ मे एक स्टडी ग्रुप को विदेशो मे भेजा। उसमे मालिक, श्रमिको एव सरकार के प्रतिनिधि थे। उसके अध्यक्ष श्री विष्णु सहाय थे जो भारत सरकार के श्रम मत्रालय के सचिव थे। इस

दल ने इगलैड, फ्रास, बेल्जियम, स्वीडेन, जर्मनी, तथा यूगोस्लाविया मे जाकर इस विषय का गहन अध्ययन किया। इस दल ने अपनी रिपोर्ट १९५७ मे दी जिसमे इस सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण व्यावहारिक सुझाव दिये गये थे।

भारतीय श्रम सम्मेलन प्रबन्ध मे श्रमिको के भाग लेने के विषय को भारतीय श्रम सम्मेलन के १५वे सत्र के कार्य-विवरण मे रखा गया था जो कि जुलाई १९५७ मे नई दिल्ली मे हुआ था। इसमे भाषण देते हुए सघ के श्रम, रोजगार तथा आयोजन मत्री ने यह अवलोकन किया था कि "इस प्रयोग की सफलता से औद्योगिक जनतत्र मे हमारा विश्वास बढेगा जिसके बिना भारत के लिये समाजवादी ढाचे का कोई भी अर्थ नही हो सकता है। हमारा प्रथम प्रयास दृढ एव निश्चित होना चाहिए। हमे भव्य व्यवस्था के बारे मे नही सोचना चाहिए।" इसके बारे मे वैसे तो इस सम्मेलन मे सामान्य सहमति प्रकट की गई थी परन्तु इस पर वाद-विवाद हुआ कि इस विचार को वैधानिक ढग से कार्यान्वित किया जाय अथवा आपसी समझौते के आधार पर कुछ चुने हुए उपक्रमो मे ही आरभ किया जाय। यह निष्कर्ष निकला कि चूकि इसे कुछ ही औद्योगिक उपक्रमो मे ही आरभ किया जाना है अत. वैधानिक उपायो की आवश्यकता वर्तमान स्थिति मे नही सोचनी चाहिए। यह निश्चित किया गया कि अगले दो वर्षो तक इस सम्बन्ध मे कोई भी कानून न बनाया जाय तथा इसे मालिको की इच्छा पर छोड दिया जाय कि वे इसे कार्यान्वित करे या नही। यह भी सिफारिश की गई कि इसे आरभ मे निजी एव सार्वजनिक क्षेत्र के ५० उपक्रमो मे ही आरभ किया जाय। यदि इसे मालिको की स्वेच्छा से कार्यान्वित किया जाता है तो अधिक सफलता मिलने की सभावना है। चार व्यक्तियो की एक छोटी सी उप-समिति की नियुक्ति विस्तार के साथ इस विषय पर विचार करने के लिये बनाई गई।

उप-समिति की बैठक नई दिल्ली मे अगस्त १९५७ मे हुई जिसमे निजी एव सार्वजनिक क्षेत्र के उन औद्योगिक उपक्रमो की एक सूची बनाई गई जिनमे प्रबन्ध मे श्रमिको के भाग लेने की योजना का आरभ किया जा सकता था। निजी क्षेत्र से चुने गये उद्योग थे. सूती वस्त्र, तम्बाकू, जूट, इजीनियरिंग, रसायन, कागज, चीनी, सीमेण्ट, खदान तथा बागान। सार्वजनिक क्षेत्र से चुने गये उद्योग थे रेलवे वर्कशाप तथा यार्ड, डाक एव तार विभाग, बन्दरगाह, पोत-निर्माणशाला, परिवहन वर्कशाप, खदान, मुद्रण एव विद्युत उपक्रम तथा कुछ चुने हुए सरकारी उपक्रम। समिति ने प्रबन्ध की सम्मिलित परिषद के सम्बन्ध मे एक समझौते को भी स्वीकृत किया। समिति द्वारा निश्चित कसौटियाँ, जिनके माध्यम से इस कार्य के लिये किसी उपक्रम को चुना जाना था, निम्नलिखित थी: (१) उपक्रम मे प्रतिष्ठित,

सुदृढ तथा सक्रिय श्रम सघ होना चाहिए, (२) उसमे कम से कम ५०० श्रमिक कार्य कर रहे हो, (३) उसके मालिक को देश के प्रमुख मालिको के सगठन का सदस्य होना चाहिए तथा श्रमिको का सघ किसी केन्द्रीय श्रम सघ से सम्बद्ध होना चाहिए, तथा (४) उपक्रम ऐसा होना चाहिए जिसमे औद्योगिक सह-सम्बन्धो का उत्तम रिकार्ड हो।

श्रम-प्रबन्ध सहयोग विचार-गोष्ठी, १९५८ श्रम-प्रबन्ध सहयोग पर एक विचार गोष्ठी फरवरी १९५८ मे हुई जिसमे उन उपक्रमो से चुने हुए मालिको एव श्रमिको ने भाग लिया जिनको सम्मिलित प्रबन्ध परिषद की स्थापना के लिये चुना गया था तथा मालिको एव श्रमिको के केन्द्रीय सघो के प्रतिनिधि एव केन्द्रीय मत्रालय और राज्य सरकार ने भाग लिया। इस विचार-गोष्ठी मे ऐसे परिषद की स्थापना उसके सघठन तथा कार्य के सम्बन्ध मे विचार किया गया और कुछ निष्कर्ष निकाले गये। कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निम्नलिखित थे (१) सम्मिलित परिषद मे अधिक से अधिक १२ प्रतिनिधि होने चाहिये और मालिको एव श्रमिको का प्रतिनिधित्व बराबर-बराबर होना चाहिए। सभी निर्णय एकमत होने चाहिए। (२) उपक्रम के श्रम सघ को ही श्रमिको का प्रतिनिधि मनोनीत करना चाहिए, श्रम सघ अधिक से अधिक २५ प्रतिशत तक गैर-कर्मचारी को भी मनोनीत कर सकता है। प्रत्येक दशा मे सम्मिलित परिषद को इकाई-स्तर पर ही स्थापित किया जाना चाहिए। यदि किसी इकाई मे कई विभाग हो तो सहायक सम्मिलित परिषदो को भी स्थापित किया जा सकता है। एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत उपक्रमो के समूह के लिये एक केन्द्रीय सम्मिलित परिषद की भी स्थापना की जा सकती है। (३) अखिल भारतीय स्तर पर विशेषज्ञो का एक पैनल बनाया जाना चाहिए जिनको श्रमिको एव मालिको द्वारा मनोनीत किया जाना चाहिए और जो अपनी विशेषज्ञ राय इन परिषदो को दे सके। मालिको एव श्रमिको के प्रतिनिधियो को प्रबन्ध मे भाग लेने के सम्बन्ध मे आवश्यक प्रशिक्षण लेना चाहिए। (५) परिषद द्वारा सर्वसम्मत से लिये गये निर्णयो को बिना किसी देरी के कार्यान्वित किया जाना चाहिए। यदि उन्हें निश्चित समय तक कार्यान्वित नही किया जाता तो उसका कारण दिया जाना चाहिए।

सम्मिलित परिषदो एव कार्य समितियो के, जो कि कुछ उपक्रमो मे है, सापेक्ष कार्यो को निश्चित करने के सम्बन्ध मे पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ। अधिकाश लोगो का मत था कि चूँकि सम्मिलित परिषदे नीति-निर्माण स्तर पर कार्य करेगी अत वे अपना कार्य कार्य-समितियो के कार्यो मे हस्तक्षेप किये बिना ही कर सकती है। अत यह स्वीकृत कर लिया गया कि सम्मिलित परिषदो की स्थापना

की जा सकती है चाहे वहाँ पर पहले से ही कार्य-समितियाँ अपना कार्य कर रही हो, यद्यपि इस सम्बन्ध मे बेलोचपूर्ण नीति अपनाना उपयुक्त नही है।

यह स्वीकृत किया गया कि परिषदे कल्याण-सम्बन्धी कार्यक्रमो का प्रशासन करेगी, सुरक्षा सम्बन्धी उपायो का काम एव छुट्टियो की अनुसूची का पर्यवेक्षण करेगी। सस्था की आर्थिक स्थिति, उत्पादन एव विक्रय के कार्यक्रम तथा उपक्रम को सामान्य रूप से चलाना, निर्माण की विधियो, वार्षिक चिटठा तथा उसका स्पष्टीकरण, विस्तार के लिये दीर्घकालीन योजना तथा अन्य ऐसी बाते जो आपस मे तय की जाँय आदि के बारे मे वे विचार-विमर्श कर सकती है और अपने सुझाव दे सकती है। इस बात पर सन्देह व्यक्त किया गया था कि ऐसा भी हो सकता है कि कुछ तथ्यो को बता देना सस्था के हित मे न हो। इस बात को स्पष्ट करते हुए सघ के श्रम मत्री ने यह कहा कि इन परिषदो को केवल वही सूचनाये दी जानी चाहिए जो कि सस्था के अशधारियो को दी जाती हैं। इस विचार-गोष्ठी मे इस बात पर जोर दिया गया कि मालिको एव श्रमिको दोनो को चाहिए कि वे इस सम्बन्ध मे शैक्षणिक कार्य को चालू रखे जिससे कि उनमे आवश्यक दृष्टिकोण पनप सके जो इस योजना को सफल बना सके।

इस योजना की सफलता नियमावली पर नही अपितु उस भावना पर निर्भर है जिससे उसे कार्यान्वित किया जाता है। इसके कार्यक्रम को कितनी ही सावधानी के साथ क्यो न बनाया जाय वह सफल नही हो सकता जब तक कि उचित रूप से मालिक एव श्रम-सघ इस प्रयोग को सफल बनाने के लिये तत्पर न हो। जून १९५८ मे, रानीखेत मे आयोजित श्रमिको के शिविर मे भाषण देते हुए श्री वी० वी० गिरि ने कुछ आवश्यक तथ्यो का वर्णन किया था जो इस योजना को सफल बनाने के लिये आवश्यक है। प्रथम, एक सुदृढ श्रम सघ का होना अति आवश्यक है जो कि इस मामले को गभीरता तथा उत्तरदायित्व के साथ लेने के लिये तत्पर हो। दूसरे, इस सुसगठित श्रम सघ के स्टाफ मे कुछ तकनीकी विशेषज्ञो का होना आवश्यक है जो उद्योग की तकनीक तथा वित्त को अच्छी तरह समझ सकते हो और जो श्रमिको की माँगो का वैज्ञानिक ढग से मूल्याकन कर सकते हो और साथ ही मालिक के विशेषज्ञो के साथ, बराबरी की स्थिति मे, सभी मामलो पर विचार-विमर्श करने के लिये इच्छुक एव तत्पर हो। श्री गिरि ने कहा कि प्रत्येक उद्योग मे, चाहे वह निजी क्षेत्र मे हो या सार्वजनिक क्षेत्र मे, श्रमिको एव मालिको का यह प्रयास होना चाहिए कि वे आपस मे मिल कर उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित करे तथा उद्योग को सुचारु रूप से चलाने के लिये उचित प्रणालियो के विषय मे विचार-विमर्श करके सुधार लाये।

अक्टूबर १९५८ मे, स्थायी श्रम समिति के १८वे सत्र मे भाषण देते हुए, सघ श्रम मत्री ने कहा कि केवल श्रमिको एव मालिक के मध्य शुद्ध साझेदारी के द्वारा ही उद्योग मे सही एव स्थायी शान्ति स्थापित की जा सकती है श्रमिको एव प्रबन्ध के मध्य नवीन सहसम्बन्धो के माध्यम से हम केवल यही प्रयास नही कर रहे है कि सघर्ष समाप्त हो जाय अपितु देश के उद्योग एव कम्पनी के स्तर को उच्चतर उठाने के लिये व्यावहारिक सहयोग हो।" उन्होने इस बात पर जोर दिया कि वह इस बात को मान कर चल रहे है कि प्रबन्ध मे श्रमिको का भाग देश के औद्योगिक सगठन का एक प्रमुख अग बन जायगा।

भारतवर्ष मे श्रमिको के प्रतिनिधि इस बात के इच्छुक है कि प्रबन्ध मे श्रमिको के भाग लेने के कार्यक्रम के लिए वैधानिक स्वीकृति तथा समर्थन प्राप्त हो। वे मालिको द्वारा स्वेच्छा से अपनाये गये इस कार्यक्रम को भी मानने के लिए तैयार है। परन्तु इस दिशा मे प्रगति बहुत धीमी रही है। देने ध्यान देने योग्य है कि इसकी प्रगति की गति इतनी महत्वपूर्ण नही है जितनी इसकी सफलता।

प्रबन्ध मे श्रमिको के भाग लेने के कार्यक्रम की सफलता के लिए अन्य शर्तें, जो कि टाटा आयरन ऐण्ड स्टील कम्पनी तथा इडियन अल्युमूनियम कम्पनी मे किये गये अध्ययन पर आधारित है, निम्नलिखित है (१) प्रबन्ध मे श्रमिको का भाग प्रत्येक स्तर पर होना चाहिए तभी यह प्रभावपूर्ण हो सकता है, (२) कल्याण के स्थान पर उत्पादन पर ही अधिक जोर दिया जाना चाहिए जिससे कि सम्मिलित परिषदे अपना कार्य उचित ढंग से कर सके, तथा (३) इस व्यवस्था के विभिन्न अगो के कर्तव्य, अधिकार तथा कार्यो को स्पष्ट रूप से निश्चित किया जाना चाहिए जिससे कोई भ्रम न रहे और मालिक एव श्रमिक इसके प्रति अनुदार न हो सके।

द्वितीय विचार-गोष्ठी. मार्च १९६० मे केन्द्रीय श्रम मत्रालय के तत्वावधान मे प्रबन्ध मे श्रमिको के भाग लेने के सम्बन्ध मे एक दूसरी विचार-गोष्ठी हुई। इसमे केन्द्रीय मत्रालय, राज्य सरकार, श्रमिको एव मालिको के केन्द्रीय सगठन के प्रतिनिधियो ने भाग लिया। इसके अतिरिक्त उन २४ औद्योगिक इकाइयो के प्रतिनिधियो ने भी भाग लिया जहाँ पर इस सम्बन्ध मे सम्मिलित प्रबन्ध परिषदो की स्थापना की जा चुकी थी। १९५७ मे ५० इकाइयो मे ऐसी परिषदो की स्थापना का लक्ष्य निर्धारित किया गया था परन्तु उसमे से केवल २४ इकाइयो मे ही इसे लागू किया गया। केन्द्रीय श्रम मत्री ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया कि यह योजना गुणात्मक दृष्टिकोण से ही नही अपितु परिमाणात्मक दृष्टिकोण से भी सफल नही रही। इस योजना मे भाग लेने वाली इकाइयो द्वारा उचित अनुक्रिया न होने

की भी उन्होने आलोचना की। श्रम मत्रालय ने, उन्होने कहा, इन इकाइयो से यह सूचना मॉगी थी कि यह योजना किस ढग से चलाई जा रही है। परन्तु उनकी ओर से प्रत्युत्तर केवल इतना आया कि इन परिषदो के सचालन मे किसी कठिनाई का सामना नही करना पड रहा है। इसकी सफलता आदि के विषय मे उन्होने कोई सूचना न दी। मत्रालय ने परिषदो को सहायता पहुचाने के लिए एक विशेषज्ञो के पैनेल का सगठन किया था परन्तु उससे सहायता लेने के लिए कोई भी प्रार्थना नही श्राई। उनकी उदासीनता इस बात का द्योतक है कि योजना को सही ढग से और गभीरता के साथ नही अपनाया गया।

विचार गोष्ठी का यह विचार था कि केन्द्रीय एव क्षेत्रीय स्तरो पर उपयुक्त व्यवस्था की जानी चाहिए जो यह देखे कि सम्मिलित प्रबन्ध परिषदें अपना कार्य प्रभावपूर्ण ढग से कर रही हैं और साथ ही यह योजना और अधिक इकाइयो में फैले। इसमे यह विचार प्रस्तुत किया गया कि इसके लिए वैधानिक कार्यवाहियो की आवश्यकता नही है। इस प्रकार की योजना तभी सफल होगी जब कि वह स्वेच्छा के आधार पर हो। साथ ही, यह स्वीकृत किया गया कि एक त्रिदलीय समिति का सघटन किया जाना चाहिए जो इस योजना की जॉच समय-समय पर करे और जो कठिनाइयॉ इसके मार्ग मे आ रही हो उनका पता लगाकर उन्हे सुलझाने के लिए प्रयास करे। एक अधिकारी नियुक्त किया जाना चाहिए जो इस योजना को चलाने वाली इकाइयो से सूचना प्राप्त करे और अन्य इकाइयो को इस सम्बन्ध मे सूचनाये प्रदान करे। इसी तरह की व्यवस्था राज्य स्तर पर भी होनी चाहिए। यदि ये सम्मिलित परिषदे प्रभावपूर्ण ढग से कार्य करती रहे तो उत्पादन को ३० से ५० प्रतिशत तक, बिना किसी अतिरिक्त साधन का प्रयोग किये, बढाया जा सकता है। इस योजना को तेजी के साथ लागू करने के लिए इसकी मुख्य सिफारिशे निम्नलिखित हैं: (१) केन्द्र द्वारा इस योजना को प्रोत्साहित करने के लिए उपयुक्त व्यवस्था की जानी चाहिए और ऐसी ही व्यवस्था राज्य के स्तर पर भी होनी चाहिए, (२) विभिन्न इकाइयो में कार्य कर रही इन सम्मिलित प्रबन्ध परिषदों के कार्य-सचालन के विषय मे सूचना प्राप्त करने के लिए उपयुक्त व्यवस्था की जानी चाहिए, तथा (३) समय-समय पर चल रही योजना की जाँच करने के लिए एक त्रिदलीय समिति की स्थापना की जानी चाहिए जो कि उनके मार्ग मे श्रा रही कठिनाइयो का पता लगाये तथा उनको दूर करने के लिए उपयुक्त सुझाव दे।

इस योजना से सम्बन्धित सभी मामलो का निपटारा करने के लिए भारत सरकार ने श्रम एव रोजगार मत्रालय मे एक विशिष्ट इकाई की स्थापना की।

श्रमिको एव मालिको के केन्द्रीय सगठनो से प्रार्थना की गई कि वे उन उपयुक्त इकाइयो के नाम का सुझाव दे जहाँ सम्मिलित प्रबन्ध परिषदो की स्थापना की जा सके। उन इकाइयो के चुनाव के लिए, जहाँ इस योजना को लागू किया जा सकता हो, राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद से भी सहायता ली गई। राज्य सरकारो से भी कहा गया कि इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए उपयुक्त व्यवस्था करे। श्रम-प्रबन्ध सहयोग पर एक समिति की स्थापना विचार-गोष्ठी की सिफारिशों के आधार पर की गई। इसे सम्मिलित प्रबन्ध परिषदो की योजना से सम्बधित सभी मामलो के लिये, सूचना प्राप्त करने तथा प्रदान करने के लिए इस कार्यक्रम को गहन बनाने की सभावनाओ का पता लगाने के लिए स्थापित किया गया है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन. १९६०-६१ तक, सार्वजनिक क्षेत्र में ११ इकाइयो मे तथा निजी क्षेत्र मे १७ इकाइयो मे सम्मिलित प्रबन्ध परिषदो की स्थापना की जा चुकी थी। प्रबन्ध मे श्रमिको के भाग लेने से आन्दोलन की गति इस प्रकार अत्यन्त धीमी रही। १५वे भारतीय सम्मेलन मे लक्ष्य यह रखा गया था कि निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र मे मिलाकर ५० इकाइयो मे इस योजना को चालू किया जाय परन्तु केवल २८ इकाइयो ने ही इसे कार्यान्वित किया।

सम्मिलत प्रबन्ध परिषदो के कार्य-सचालन के सम्बन्ध मे एक सरकारी जॉच के द्वारा इनके सामने आई व्यावहारिक कठिनाइयाँ ज्ञात हुई है। वैसे, सार्वजनिक क्षेत्र मे यह परिषदे सतोषजनक ढग से कार्य नही कर रही थी। इस जॉच के अनुसार यह ज्ञात हुआ कि सार्वजनिक क्षेत्र की उपक्रमो के श्रमिको मे इस योजना से विश्वास उठता जा रहा था क्योंकि कई मामलो मे सम्मिलित परिषदो के निर्णय पर अन्तिम आज्ञा के लिए सरकार के पास भेजना पडा। दूसरी ओर सार्वजनिक क्षेत्र के अन्य उपक्रमो मे इसके लागू होने की भी कोई विशेष आशा नही दिखाई दे रही थी, हालाकि सम्बन्धित मत्रालयो ने यह निश्चित किया कि सार्वजनिक क्षेत्र की नवीन इकाइयो मे इस योजना को तेजी के साथ बढाया जाय।

१९६८-६९ मे, ८९ औद्योगिक इकाइयो मे सम्मिलित प्रबन्ध समितियाँ कार्य कर रही थी। इनमे से सार्वजनिक क्षेत्र की ३४ इकाइयो मे तथा निजी क्षेत्र की ५५ इकाइयो मे ये थी। १९६१-६२ मे ऐसी परिषदे केवल २९ इकाइयो मे ही थी, जिसमे से ११ सार्वजनिक क्षेत्र मे तथा १८ निजी क्षेत्र मे थी। अनुभव यह रहा है कि इन सम्मिलित प्रबन्ध परिषदो के सफलतापूर्वक चलने के कारण परिणाम अच्छे रहे है। इससे औद्योगिक सम्बन्धो में सुधार हुआ, श्रम बल को स्थायित्व प्राप्त हुआ, उत्पादकता बढी, बरबादी कम हुई, लाभ अधिक हुआ तथा प्रबन्धको एव श्रमिकों के मध्य आपसी व्यवहारो मे सुधार हुआ। परन्तु, यह

ध्यान देने योग्य बात है कि इन परिषदो की स्थापना उन्ही इकाइयो मे की गई है जिनका औद्योगिक सह सम्बध मे रिकार्ड बहुत अच्छा रहा है।

इस योजना को अधिक सफलता नही प्राप्त हुई है। इसके अनेक कारण रहे है। प्रथम, भारतवर्ष मे सामूहिक सौदेबाजी अभी भी अपनी शैशवावस्था मे है और इस प्रकार की योजना की सफलता के लिए इसका विकास होना अति आवश्यक है। द्वितीय, श्रमिको मे इसके लिए कोई विशेष उत्साह नही है। श्रमिको का ध्यान पहिले तो अधिक मजदूरी, काम करने की उचित दशाओ की ओर, घटनाओ से सुरक्षा आदि की ओर ही रहता है। प्रबन्ध मे वास्तव मे भाग लेने की बात तब तक सभव नही हो सकती जब तक कि इन मामलो को आसानी से सुलझाया नही जाता। तृतीय, इस योजना के विचार, उद्देश्य तथा इससे होने वाले लाभो की पूरी-पूरी जानकारी श्रमिको तथा प्रबन्धको को होनी चाहिए जिसका अभाव अनेक दशाओ मे पाया जाता है। इस योजना के प्रति न तो श्रमिक ही और न प्रबन्धक ही सजग है। दोनो ही इसमे कोई विशेष रुचि दिखाने के लिए तत्पर नही है। मालिकगण यह सोचते है कि ये परिषदे उनके अधिकारो पर हस्तक्षेप करना चाहती है और श्रमिकगण सोचते है कि यह उनकी सामूहिक सौदेबाजी की शक्ति को भग करने का एक साधन मात्र है। चतुर्थ, उद्योगो मे अन्तर्संघीय प्रतिद्वन्दिता पाई जाती है और जब कभी किसी समस्या को सुलझाने के लिए एक श्रम-सघ तैयार हो जाती है तो दूसरी सघ उसे मानने के लिए नही तैयार होती। पचम, अहमदाबाद की आठ इकाइयो मे चल रही सम्मिलित प्रबध परिषदो के कार्य सचालन की जॉच करने मे यह पता लगा है कि इससे न तो श्रमिको की उत्पादकता मे वृद्धि होती है और न ही भाग लेने वाले श्रमिको मे सामाजिक रूप से भाग लेने की भावना उत्पन्न होती है।

अध्याय २४

विवेकीकरण[1]

अर्थ एव परिभाषा. Rationalisation शब्द की उत्पत्ति जर्मन शब्द rationalisierung से हुआ है जिसका तात्पर्य 'नूतन औद्योगिक क्रान्ति' है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् वाल्टर राथेनाउ ने सर्वप्रथम इस शब्द का उपयोग नवीन औद्योगिक दर्शन के लिये किया था। युद्ध के पश्चात् जर्मनी मे इस शब्द का प्रयोग औद्योगिक समुत्थान तथा पुनर्सगठन की प्रणाली के रूप मे किया जाने लगा अत. कुछ लोग विवेकीकरण को 'नवीन औद्योगिक क्रान्ति' के नाम से पुकारने लगे।

विवेकीकरण शब्द का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसके सम्पूर्ण अर्थ को परिभाषा की परिधि मे नही बाँधा जा सकता है। इसके उद्देश्य, क्षेत्र तथा प्रक्रियाओ के विषय मे लोगो का मत अलग-अलग है। डा० सी० एस० मायर्स का कथन है कि 'विवेकीकरण' शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसके प्रथम प्रयोग के विषय मे कुछ भी ज्ञात नही है। कुछ लोगो का मत है कि यह शब्द 'राशन' (ration) शब्द से बना है जिसका तात्पर्य पूर्ति अथवा सम्भरण पर प्रतिबन्ध से है। लोगो का ऐसा विचार इस कारण से हुआ क्योकि युद्धोपरान्त जर्मनी के उद्योगो के सगठन की योजना के अन्तर्गत उनके उत्पादन को सीमित कर दिया गया था। परन्तु वास्तव मे यह शब्द rational शब्द से बना है जिसका तात्पर्य उद्योग मे वैज्ञानिक निर्णय अथवा कारण के प्रयोग से है। इस प्रकार विवेकीकरण का तात्पर्य ऐसी प्रणाली से है जो कि विज्ञान तथा विवेक पर आधारित हो न कि परम्परागत, विधिहीन अथवा बेढगी विधियो पर आधारित हो।

१९२७ मे जिनेवा मे हुये विश्व आर्थिक सम्मेलन मे इस शब्द की परिभाषा इस प्रकार से दी गई . "विवेकीकरण तकनीक एव सगठन की वह प्रणाली है जिससे प्रयासो अथवा पदार्थों की बेकारी न्यूनतम हो। इसके अन्तर्गत श्रम का वैज्ञानिक सगठन, कच्चे एव उत्पादित दोनो मालो का प्रमापीकरण, विधियो का

[1] भारतीय उद्योगों मे, विशेष रूप से सूती वस्त्र, जूट तथा कोयला उद्योगो मे, विवेकीकरण की समस्या का अध्ययन सम्बन्धित उद्योग के अध्याय मे किया गया है।

सरलीकरण, तथा यातायात एव विपणन के साधनो मे सुधार सम्मिलित है।" इस सम्मेलन मे सभी ने एकमत होकर विवेकीकरण के लाभो को स्वीकार किया तथा इस क्षेत्र मे अधिकाधिक तथा समन्वित प्रयास करने पर जोर दिया। इसने विचार किया कि इससे श्रमिको की कार्यक्षमता में पर्याप्त वृद्धि होती है तथा साथ ही पदार्थ भी न्यूनतम नष्ट होता है। सावधानी के साथ इसका उपयोग करके रहन-सहन के स्तर को बढाया जा सकता है तथा समाज मे अधिकाधिक स्थिरता लाई जा सकती है। इससे उपभोक्ताओ को कम मूल्य पर अच्छे पदार्थ प्राप्त होंगे तथा उत्पादको को अधिक तथा स्थिर लाभ प्राप्त होगा।

मई १९३७ मे, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन ने प्रबन्ध पर सलाहकार समिति को विवेकीकरण की एक उचित परिभाषा देने के लिये कहा। इस समिति मे सरकार, मालिको तथा श्रमिको के प्रतिनिधि थे और इसमे विशेषज्ञों ने भी सहायता दी थी। इसने निम्नलिखित परिभाषा दी· "(१) **साधारण अर्थ** मे विवेकीकरण एक ऐसा सुधार है जिसके द्वारा पुरानी, परम्परागत प्रणालियो के स्थान पर नियमित तथा विवेकपूर्ण साधनो अथवा विधियो का प्रयोग किया जाता है; (२) **अत्यन्त सकुचित** अर्थ मे विवेकीकरण किसी सस्था, प्रशासन अथवा अन्य सेवाओ, सरकारी अथवा निजी, मे एक ऐसा सुधार है जिसके द्वारा पुरानी, परम्परागत प्रणालियो के स्थान पर नियमित तथा विवेकपूर्ण साधनो अथवा विधियो का प्रयोग किया जाता है, (३) **विस्तृत** अर्थ मे विवेकीकरण एक ऐसा सुधार है जिसमे व्यापार सस्थाओ के किसी समूह को इकाई मान लिया जाता है तथा व्यवस्थित विवेकपूर्ण तथा सगठित प्रयास के द्वारा अनियत्रित प्रतिस्पर्द्धा से होने वाली बरबादी तथा हानि को रोका जाता है; (४) **अति विस्तृत** अर्थ मे विवेकीकरण एक ऐसा सुधार है जिसमे विशाल आर्थिक तथा सामाजिक समूहो की सामूहिक क्रियाओ मे नियमित तथा विवेकपूर्ण विधियो का प्रयोग किया जाता है।"

यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रकार से विस्तृत अर्थ मे विवेकीकरण की जो परिभाषा दी गई है उसके अन्तर्गत आर्थिक एव सामाजिक योजना भी आ जाती है। यहाँ पर हम इसका तात्पर्य विस्तृत अर्थो मे ही लेंगे।

प्रो० सार्जेंट फ्लोरेंस के अनुसार "विवेकीकरण किसी उद्योग के अन्तर्गत सभी फर्मों के एक प्रकार के सामूहिक आन्दोलन प्रयत्न से वैज्ञानिक एव तर्कपूर्ण रीति से बर्बादी एव अकुशलता दूर करने का आन्दोलन है।" 'वैज्ञानिक' शब्द पर जोर देने का तात्पर्य औद्योगिक इकाइयो के सगठन के लिये वैज्ञानिक प्रबन्ध का प्रयोग करने से है तथा 'तर्कपूर्ण' का तात्पर्य उन इकाइयो द्वारा सहकारिता के आधार पर तथा सामूहिक प्रयासो से है।

१९५६ मे, कानपुर सूती वस्त्र उद्योग विवेकीकरण जाँच समिति के अनुसार, "विवेकीकरण विस्तृत रूप मे अपने सभी अगो—मनुष्य, कच्चा माल, मशीन, प्रबन्ध, व मुद्रा—का विवेकपूर्ण एव वैज्ञानिक आधार पर सुधार है जिससे, बिना गहनता किये ही, कम से कम लागत एव प्रयत्नो से अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त हो सके।"

विवेकीकरण के पहलू

विवेकीकरण का सही आर्थिक अर्थ समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। विवेकीकरण की तकनीक तथा प्रक्रियाओं के अन्तर्गत जो विशेष बाते आती है उनको स्पष्ट रूप से समझने के लिये हम विवेकीकरण के पहलुओ को चार वर्गों में बाँटते है (१) टैक्नालॉजिकल पहलू, (२) सगठन सम्बन्धी पहलू, (३) वित्तीय पहलू, तथा (४) सामाजिक अथवा मानवीय पहलू। किसी भी उद्योग के विवेकीकरण मे इनमे से कोई एक या एक से अधिक पहलू विद्यमान हो सकते है। विभिन्न उद्योगो मे इसका अर्थ भिन्न-भिन्न हो सकता है या उसी उद्योग मे भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न हो सकता है।

टैक्नालॉजिकल पहलू. विवेकीकरण का प्रधान पहलू टैक्नालॉजिकल ही है जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित प्रक्रियाये आती है—प्रमापीकरण, सरलीकरण, यत्रीकरण, गहनीकरण, विशिष्टीकरण तथा कर्मश विभाजन आदि। दूसरे शब्दो मे, बहुत कुछ सीमा तक विवेकीकरण का सम्बन्ध औद्योगिक इजीनियरिंग से है।

(१) प्रमापीकरण प्रमापीकरण पदार्थ, आकार तथा उत्पादन के सतर्क, न्यायिक तथा उचित ढग से चुनाव की प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत परम्परागत, अप्रचलित तथा अव्यवस्थित प्रमापो के स्थान पर उन प्रमापो को अपनाया जाता है जो कि सतत शोध, विश्लेषण तथा प्रयोगो पर आधारित होते है। इसके अन्तर्गत स्वेच्छा से अथवा वैधानिक रूप से आकार, विधि, किस्म तथा उत्पादनो के निश्चित प्रमापों को निर्धारित करना आता है। इसका उद्देश्य उत्पादन के विभिन्नताओ को कम करना होता है जिससे प्रयास, पूंजी तथा पदार्थ की बर्बादी कम हो तथा उत्पादन तथा वितरण की लागत कम हो सके। सक्षम तथा आर्थिक उत्पादन के लिये यह अति आवश्यक है क्योकि यह उत्पादनो तथा आकार को घटाकर प्लाण्ट की उत्पादन क्षमता बढाने मे सहायक होता है। पूँजीगत लागत को भी यह कम करता है क्योकि प्रमापित उपकरणो तथा उत्पादनो मे पूँजी के फँसे रहने की सभावना कम होती है। निरीक्षण, जाँच तथा पर्यवेक्षण की लागत भी कम हो

जाती है। विपणन के क्षेत्र मे भी लागत मे कमी आती है। प्रमापीकरण स्थिर नही होता है अपितु नवीन परिस्थितियो मे उसमे आवश्यक परिवर्तन करते रहने तथा नवीन प्रमापो को सतत खोजते रहने की आवश्यकता होती है। कुछ औद्योगिक उपक्रमो मे इन प्रमापो को निश्चित करने की लागत अधिक हो सकती है परन्तु प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से इससे जो बचत होती है वह अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण नही होती। हमारे देश के अनेक उद्योगो मे उचित प्रमापीकरण नही है जो कि उनके उत्पादन को बढाने का मूलभूत आधार है।

(२) सरलीकरण सरलीकरण सादा तथा सरल बनाने की अथवा कम कठिन तथा कम जटिल बनाने की कला है। सरलीकरण का तात्पर्य कुछ सीमित प्रकार के उत्पादनो का ही निर्माण करना है। दूसरे शब्दो मे, उत्पादन के जटिल कार्य-क्रमो को घटाना है जिससे कि तकनीक तथा सगठन मे सुधार लाया जा सके। इससे उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि होती है तथा बरबादी कम होती है क्योकि इसके अन्तर्गत उत्पादन-विधि को सरल करके क्षमता मे वृद्धि की जाती है, लागत-प्रणाली को सरल बनाया जाता है तथा पदार्थों एव फुटकर पुर्जो मे पूँजी को फँसे रहने से बचाया जाता है। फुटकर व्यापारियो के लिये इसका अर्थ है कम स्टॉक रखना। साथ ही विक्रय-विधि भी कम जटिल हो जाती है। उपभोक्ताओ को भी इससे लाभ होता है क्योकि उन्हे अच्छे किस्म का माल घटे हुए मूल्य पर उपलब्ध होता है और उनकी क्रय-शक्ति मे वृद्धि होती है।

(३) यत्रीकरण. यत्रीकरण के अन्तर्गत उत्पादन की लागत कम करने के लिये, प्रमापीकरण मे सहायता पहुचाने के लिये तथा उद्योगपतियो को अधिक लाभ प्रदान करने के लिये श्रमिको के स्थान पर मशीन पर अधिक से अधिक निर्भरता होती है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि विवेकीकरण के अन्तर्गत सदैव अधिक से अधिक यत्रीकरण करना ही नही आता है क्योकि कभी-कभी उत्पादन-क्षमता को बढाने के लिये यत्रो के स्थान पर अधिक से अधिक श्रमिको की आवश्यकता होती हैं। भारतवर्ष की परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए यह आवश्यक है कि यहाँ विवेकीकरण श्रम बचाने वाले यत्रो के स्थान पर श्रम का उपयोग करने वाले यत्रो के द्वारा ही होना चाहिए क्योकि यहाँ बेरोजगारी की समस्या वैसे ही जटिल है। अल्पविकसित देशो मे विकसित देशो की अपेक्षाकृत यत्रो की भूमिका भिन्न है। इसका तात्पर्य यह नही है कि विकसित टैक्नालॉजी तथा यत्रीकृत उपकरणो का प्रयोग ही न किया जाय। हमारे देश के सगठित उद्योगो में यत्रो के उपयोग की भी आवश्यकता हैं क्योकि विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का उन्हे सामना करना पडता है। दूसरे शब्दों मे, उन्हे सदैव सुरक्षित बाजार मे ही नही पनपने

दिया जाना चाहिए। साथ ही इन वृहत उद्योगो मे यत्रो का प्रयोग इस प्रकार से किया जाना चाहिए जिससे देश के असख्य बेरोजगारो को रोजगार मिल सके।

(४) गहनीकरण गहनीकरण का तात्पर्य औद्योगिक मशीन तथा श्रमिको मे बिना किसी टैक्नालाजिकल उन्नति किये अधिक से अधिक गति लाना है। इसके अन्तर्गत मशीनो को अधिक गति से चला कर, मशीन मे बिना पर्याप्त परिवर्तन किये हुए श्रमिको की कार्यक्षमता को बढा कर मशीन तथा विद्यमान सगठन की गति बढाना तथा उनका गहन उपयोग करना आता है। इससे श्रमिको को प्रोत्साहित करके उनकी कार्यक्षमता को बढाया जाता है और उनकी काम करने मे सुस्ती तथा ढिलाई दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। भारतवर्ष मे प्राय. ऐसा पाया जाता है कि बिना पूर्ण रूप से नवीन मशीन का अथवा प्रक्रिया को प्रयोग किये बिना सम्पूर्ण प्लान्ट का नवीनीकरण कर दिया जाता है तथा काम की दशाओं, पदार्थ तथा पर्यवेक्षण मे कोई भी सुव्यवस्थित सुधार लाने का प्रयत्न नही किया जाता है। अन्य क्षेत्रो मे सुधार किये बिना काम की गति को बढा दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि श्रमिको का स्वास्थ्य गिरने लगता हैं, आकस्मिक घटनाये बढने लगती है तथा अनुपस्थिति भी बढने लगती है। भारतीय उद्योगों में इसी प्रकार से विवेकीकरण लाने का प्रयत्न किया जाता है और वास्तव मे वह विवेकीकरण न होकर गहनीकरण होकर ही रह जाता है परन्तु यह उचित नही है। इससे औद्योगिक सह-सम्बन्धों को तथा देश के आर्थिक विकास को अत्यधिक हानि पहुंच सकती है।

(५) विशिष्टीकरण विशिष्टीकरण का अर्थ यह है कि एक ही प्रकार की वस्तुओ का अनेक उपक्रमो द्वारा निर्माण न करके उनका उत्पादन विशिष्टीकरण के आधार पर विभिन्न इकाइयो को सौप दिया जाय। उत्पादनो के विशिष्टीकरण के अतिरिक्त, विवेकीकरण का उद्देश्य बाजार, प्रबन्ध तथा श्रमिको के कार्य का भी विशिष्टीकरण करना है। बाजार का विभाजन उत्पादन के अनुसार, अथवा क्षेत्र के अनुसार विभिन्न औद्योगिक इकाइयो मे किया जा सकता हैं। विभिन्न वस्तुओ के स्थान पर विशिष्ट वस्तुओ के उत्पादन से उपभोक्ताओ की उनके चुनाव के प्रति स्वतत्रता कम हो जाती है। श्रमिको के लिये इसका अर्थ यह है कि उन्हे किसी वस्तु का पूरा निर्माण नही करना होता है अपितु उसके एक सूक्ष्म भाग का ही निर्माण करना होता है।

(६) कर्मंश· विभाजन (Functionalisation). इसका तात्पर्य विशिष्टीकरण के सिद्धान्त का प्रयोग प्रबन्ध तथा पर्यवेक्षण के लिये करना है। दूसरे शब्दो मे, यह किसी उपक्रम विशेष के आन्तरिक सगठन मे वैज्ञानिक प्रबन्ध का आरभ

करना है। इसके अन्तर्गत कार्य-विधि की योजना वैज्ञानिक ढग से बनाई जाती है, श्रमिको का चुनाव उचित ढग से करके उनको कार्य के परिणाम के अनुसार भुगतान किया जाता हैं। मजदूरी सम्बन्धी प्रोत्साहन देकर कार्य की गति को अधिकतम बढाने का प्रयास किया जाता है। इसके द्वारा मनुष्य, मशीन, पदार्थ, तथा द्रव्य का अधिक से अधिक उपयोग करने का प्रयत्न किया जाता है। पर्यवेक्षण के कार्य को कई विशिष्ट भागो मे बॉट कर प्रत्येक भाग को एक नायक को सौप दिया जाता है और उसे पूरा कार्य-सम्बन्धी अधिकार दे दिया जाता हैं और वह केवल सलाहकार के रूप मे नही रहता है। इससे पर्यवेक्षण की कार्यक्षमता मे वृद्धि होती है। वैसे कर्मश विभाजन का विरोध केवल श्रमिक ही नही जिन्हे अनेक नॉयको की आज्ञा का पालन करना पडता है अपितु उन नायको द्वारा भी इसका विरोध किया जाता है। उचित ढग से सगठन की व्यवस्था कर, सभी की राय लेकर प्रबन्ध करके इस विरोध को कम किया जा सकता है।

सगठन सम्बन्धी पहलू. प्रो० एच० डी० मैकग्रेगर के अनुसार विवेकीकरण के सगठन सम्बन्धी पहलू के अन्तर्गत उद्योग का ऐसा सगठन आता है जो कि एक सरकार की तरह चलाया जाता है। उसमे निर्माणकर्ताओं की ऐसी स्थिति होनी चाहिए कि वे ऐसी नीतियो को अपना सकें जैसे कार्य मे विशिष्टीकरण, कमजोर इकाइयो का स्वस्थ ढगो से समाप्त करना तथा नवीन इकाइयो के प्रवेश पर नियत्रण। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस प्रकार से विवेचन का तात्पर्य उद्योग मे अनियंत्रित प्रतिस्पर्द्धा को कम करना है। प्रतिस्पर्द्धात्मक दशाओ मे औद्योगिक उपक्रमो का एकीकरण तथा सम्मिलन धीरे-धीरे ही होता है। कभी-कभी कमजोर इकाइयाँ अपनी स्थिति बनाये रखती हैं परन्तु उसका प्रभाव उद्योग के लिये अच्छा नही होता। बालफोर समिति ने यह सुझाव दिया था कि मृत वृक्ष को काट देना अधिक सक्षम शाखाओ के विकास के लिये आवश्यक हो सकता है। अतः उचित तथा व्यवस्थित ढंग से कमजोर औद्योगिक इकाइयो को समाप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

उद्योग में विवेकीकरण का उद्देश्य उत्पादन को सभावित उपयोग के बराबर समायोजित करना है तथा मूल्य को इस प्रकार से नियंत्रित करना है कि उसमे अधिक उतार-चढ़ाव होने के स्थान पर स्थिरता रहे। इससे आर्थिक असन्तुलन की सभावना कम होती हैं। अनेक अनार्थिक तथा क्षमताहीन इकाइयो के स्थान पर इसके अन्तर्गत कुछ बडे उपक्रमो को ही रखने की व्यवस्था की जाती हैं जिनका प्रबन्ध एव नियन्त्रण केन्द्रित हो और जिस दशा मे प्रत्येक प्लान्ट की क्षमता का पूर्ण उपयोग हो और जो थोडी सी उन वस्तुओ का ही उत्पादन करे जिसके लिये वह उपयुक्त हो।

सगठन सम्बन्धी पहलू के अन्तर्गत, विवेकीकरण इस तथ्य की ओर इगित करता है कि स्थिर तथा स्वय साम्य स्थापित करने वाली अर्थ-व्यवस्था का विचार उचित नही है। यह व्यक्तिगत प्रयासो के स्थान पर सहकारिता के आधार पर सामूहिक प्रयत्नो को ही अधिक महत्ता देता है। विवेकीकरण के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के पूर्व प्रतिस्पर्द्धा को नियमित करना आवश्यक है। विवेकीकरण का यह पक्ष इस बात पर बल देता है कि जिस क्षमता के साथ उद्योगपति अपने व्यवसाय का प्रबन्ध करते है वह इतना महत्वपूर्ण नही है जितना कि उनकी वह तत्परता जिसके साथ वे आपस मे सहयोग करते है या उनकी वह दूरदर्शिता जिससे वे प्रतिस्पर्द्धा का नियन्त्रण करते है।

वित्तीय पहलू. औद्योगिक उपक्रमो की प्रतिस्पर्द्धात्मक क्षमता बनाये रखने के लिये पर्याप्त पूँजी तथा वित्तीय सुदृढता आवश्यक है। तकनीकी सगठन सम्बन्धी सुधार सभी असफल हो सकते है यदि उद्योग का वित्तीय पुनर्संगठन साथ-साथ न किया जाय। वित्तीय कमजोरी के सभावी परिणाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। व्यवसाय की प्रशासन सम्बन्धी नीति पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है यदि धन की कमी हो। वित्तीय पहलू के अन्तर्गत, विवेकीकरण का सम्बन्ध इस बात से है कि उद्योग मे विभिन्न इकाइयो मे न तो अल्प-पूँजीकरण हो, न ही अति-पूंजीकरण हो अपितु उचित-पूँजीकरण ही हो। साथ ही, यह इस आवश्यकता पर भी बल देता है कि उपकरणो का आधुनिकीकरण आत्म-वित्तीयकरण द्वारा ही हो। इसका तात्पर्य यह है कि लाभाश का भुगतान उदारता के साथ न किया जाय और पर्याप्त मात्रा मे सचय को बनाया जाय।

सामाजिक पहलू. यह ठीक ही कहा गया है कि विवेकीकरण द्वारा सामाजिक सेवा के दावे का अधिकार केवल भौतिक विकास के आधार पर ही नही करना चाहिए। केवल उत्पादन की लागत मे कमी तथा उसकी मात्रा मे वृद्धि ही सामाजिक दृष्टिकोण से लाभदायक नही होता जब तक कि स्वास्थ्य सम्बन्धी, सास्कृतिक तथा नैतिक उत्थान के अनुरूप वे न हों जिससे कि सम्पूर्ण मानव जाति का शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास हो सके। विवेकीकरण का मानवीय पहलू श्रमिको की नियुक्ति, श्रम अशाति के कारणों को दूर करने मे, पर्याप्त प्रत्यक्ष प्रोत्साहन देने मे, अच्छे तथा राजनीति से परे श्रमिको को स्वीकार करने मे, उन्नति तथा पारिश्रमिक की योजना को बना कर कार्यान्वित करने आदि मे अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। प्राय सामाजिक पहलू की अवहेलना की जाती है और साधारणतया यह समझा जाता है कि विवेकीकरण केवल तकनीकी ज्ञान, विवेक तथा बुद्धि पर ही निर्भर करता है। विवेकीकरण केवल एक यात्रिक विज्ञान ही

नही अपितु एक मानवीय कला भी है । मालिक तथा कर्मचारी के मध्य पहिले जो प्रत्यक्ष सम्पर्क रहता था अब सभव नही क्योकि अब सगठन का रूप बहुत बडा हो गया है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि कर्मचारियो को भी एक यत्र के रूप माना जाय और उसकी जब तक उपयोगिता हो प्रयोग करे और जब उपयोगिता समाप्त हो जाय तो उसे व्यर्थ मान कर फेक दिया जाय।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन की विशेषज्ञ समिति ने विवेकीकरण के सामाजिक पहलू नामक अपनी रिपोर्ट मे यह स्वीकृत किया था कि "लाभ की दृष्टि से निजी पूँजीवाद द्वारा सचालित विवेकीकरण को सामाजिक नियत्रण के अन्तर्गत ले लेने की आवश्यकता है जिसका दीर्घकाल मे अन्तर्राष्ट्रीय होना आवश्यक है।"

विवेकीकरण का महत्व. विवेकीकरण का महत्व वर्ष-प्रतिवर्ष बढता जा रहा है क्योकि इससे उद्योगपतियो, श्रमिको, उपभोक्ताओ तथा समुदाय को समान्यतया लाभ पहुचता है । विवेकीकरण द्वारा उत्पादन की विभिन्नताओ के समाप्त होने के कारण, उत्पादन की विधि के सरलीकरण होने से, तकनीक तथा सगठन मे उन्नति होने से उत्पादनक्षमता तथा स्थिरता बढती है जिससे उद्योगपतियो को लाभ पहुचता है। इसके माध्यम से स्थापित क्षमता का पूर्णतम उपयोग सभव हो पाता है । अनार्थिक इकायो के बन्द होने से तथा प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण होने से बरबादी तथा काम का दोहरापन समाप्त होता है, साथ ही साथ वृहत-स्तरीय उत्पादन से मितव्ययिताओ की प्राप्ति होती है तथा हानिप्रद प्रतिस्पर्द्धा समाप्त होती है । इन सबका परिणाम यह होता है कि व्यापार चक्र से होने वाली हानियो का भी प्रभाव कम पडता है । विवेकीकरण द्वारा वित्त का केन्द्रीयकरण होने से उद्योग की इकाइयो की साख बढती है और इस प्रकार उनके अशधारियो को स्थिर तथा उचित लाभाश प्राप्त होने की सभावना भी बढ जाती है । वित्त का उचित विभाजन सभव हो पाता है । विपणन तथा वितरण की लागत कम हो जाती है और विज्ञापन मे अनुचित व्यय होने से बच जाता है । वैज्ञानिक तथा औद्योगिक शोध का समन्वित उपयोग सभव हो पाता है । उद्योग के विभिन्न क्षेत्रो मे शोध के लिये अधिक कोष उपलब्ध हो पाता है । इस प्रकार विवेकीकरण व्यावसायिक उच्चावचन के विरुद्ध बीमा के रूप मे कार्य करता है ।

श्रमिको को भी इससे लाभ होता है क्योकि वैज्ञानिक नियुक्तियो द्वारा, कार्य के उचित विभाजन द्वारा, पर्याप्त गति को बनाये रख कर, मजदूरी सम्बन्धी प्रोत्साहन देकर तथा कार्य की उचित दशाओ एव वातावरण को बनाये रख कर यह उनकी कार्य क्षमता मे वृद्धि करता है। यदि विवेकीकरण के कार्यक्रम को उचित

ढग से कार्यान्वित किया जाता है तो उसका परिणाम यह होता है कि श्रमिको को अधिक मजदूरी प्राप्त होती है और उनके रहन-सहन के स्तर मे सुधार होता है।

विवेकीकरण से उपभोक्ताओ को भी लाभ होता है। उन्हे प्रमापित वस्तुये अच्छे किस्म की तथा कम मल्य पर उपलब्ध होती है। मून्य मे कमी होने के कारण जो बचत उन्हे होती है उसका समुचित उपयोग करके वे अपने रहन-सहन के स्तर को बढा सकते है। इससे उनकी क्रय-शक्ति मे भी वृद्धि होती है।

राष्ट्रीय साधनो का आर्थिक आधार पर क्षमता के साथ समुचित उपयोग विवेकीकरण द्वारा सभव हो पाता है अत इससे राष्ट्र को लाभ होता है। इससे समाज को अनेक प्रकार से लाभ पहुँचता है। उत्पादन की किस्म सुधर जाती है, माल सस्ता होता है, प्रतिस्पर्द्धा समाप्त होती है, निरर्थक तथा हानिप्रद व्यय कम होता है, धन-जन माल की बरबादी कम होती है अत इससे समूचे राष्ट्र को लाभ होता है। दूसरी ओर तकनीकी तथा आर्थिक विकास के हेतु व्यय मे वृद्धि होती है जो कि उचित ही है।

विवेकीकरण एवं प्रबन्ध. नियोक्ताओ अथवा मालिको को प्राय विवेकीकरण से होने वाले लाभो पर सन्देह होता है। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि वे इसका उचित अर्थ नही समझते या उसका उचित उपयोग नही करते। सक्षेप मे, उन्हें इससे निम्नलिखित भय है·

(१) उनका कथन है कि विवेकीकरण के लिये बहुत बडी मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता होती है और उस पर पर्याप्त प्रतिफल मिलने की कोई सुरक्षा नही होती। यह हो सकता है कि व्यापारिक परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो जाँय और उन्हें इससे हानि उठानी पड़े। यह सही है कि विवेकीकरण द्वारा व्यापारिक उच्चावचन पूर्ण रूप से समाप्त नही हो सकता है।

(२) उनको यह भय है कि विवेकीकरण करने के पश्चात ऐसा न हो कि उन उद्योगो का सरकार राष्ट्रीयकरण कर ले।

(३) इसके विरोध मे वे यह भी तर्क देते है कि विवेकीकरण करने के लिये वित्त का अभाव है। उनके स्वय के पास जो संचय है वह इसके लिये अपर्याप्त है।

(४) विवेकीकरण से होने वाले लाभ का पर्याप्त भाग वे श्रमिको को देने के लिये तैयार नही है। लाभ के विभाजन के हेतु अनुपात को निश्चित करने मे सदैव सघर्ष होता है। वैसे श्रमिक भी उत्पादकता के बढने पर लाभ के अधिक भाग की माँग करते हैं।

(५) वे इसका विरोध इसलिये भी करते है कि वे वर्तमान परिस्थिति मे कोई भी परिवर्तन नही लाना चाहते।

(६) तकनीक तथा सगठन मे सुधार करने के लिये शोध पर भी व्यय नही करना चाहते और उसके लिए कष्ट नही उठाना चाहते।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि उपर्युक्त तर्कों मे से अधिकाश सही नही प्रतीत होते। उद्योगपति यह नही समझते कि विवेकीकरण करने के पश्चात उनकी उपार्जन शक्ति मे प्रचुर वृद्धि होगी। उदारता के साथ लाभाश न बाँट कर लाभ के पर्याप्त भाग को वे भावी सकटो का सामना करने के लिये बचा सकते हैं। लाभ मे से पर्याप्त तथा उचित भाग के लिये श्रमिकों की माँग को ठुकरा करके वे केवल वस्तुस्थिति से बचना चाहते हैं जो उचित नही है। साथ ही, प्राय अनार्थिक इकाइयों को उन्होने चालू रखा तथा कार्य करने की स्थिति मे विशेष सुधार लाने का प्रयत्न नही किया। उन्हे यह प्रयत्न करना चाहिये कि प्लाण्ट तथा मशीनरी को ठीक दशा मे रखा जाय तथा श्रमिकों को भी मनोनुकूल रखा जाय।

साथ ही, प्रबन्धको को चाहिए कि वे विनियोक्ताओ तथा श्रमिको के मस्तिष्क मे विश्वास की भावना को अधिकाधिक जागृत करें। बिना इसके औद्योगिक उपक्रमो के विवेकीकरण के विषय मे बात करना व्यर्थ ही है। यह विश्वास तभी जागृत हो सकेगा जब कि प्रबन्धक क्षमतावान तथा ईमानदार हों। जब तक प्रबन्धको की सच्चरित्रता तथा कार्य-क्षमता मे वृद्धि नही होगी तब तक श्रमिकों की कार्य क्षमता तथा उत्पादकता मे भी वृद्धि नही हो सकती। प्रबन्धको के परिवार तथा उनके उत्तराधिकारियो के हाथ मे ही प्रबन्ध नही सीमित रहना चाहिये अपितु प्रबन्ध एव प्रशासन निपुण, दक्ष तथा विशेषज्ञ के हाथ मे होना चाहिए जो कि वैज्ञानिक प्रबन्ध कर सकते हो। श्रमिक सघों द्वारा प्रबन्ध के विवेकीकरण की माग व्यर्थ ही नही है। विगत वर्षों मे उनका व्यवहार ऐसा पाया गया है जो इस बात की आवश्यकता पर बल देता है। शीघ्र अधिकाधिक लाभ कमाने की भावना से ओत-प्रोत प्रबन्धकगण को इस विषय पर समुचित विचार करना चाहिए।

श्रमिकों का दृष्टिकोण. श्रमिकों का विवेकीकरण के सम्बन्ध मे दृष्टिकोण निम्नलिखित भय पर आधारित है· (१) बेरोजगारी, (२) अधिक कार्यभार तथा थकान, (३) विवेकीकरण से होने वाले लाभ का अनुचित वितरण। प्राप्त सभी साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि विवेकीकरण होने से कुल रोजगार मे कमी आती है तथा अकुशल श्रमिको को हटा कर कुशल श्रमिक रखे जाते हैं। विवेकीकरण द्वारा रोजगारी इस लिये कम होती है कि जितनी अनार्थिक इकाइयाँ होती हैं वे बन्द कर दी जाती हैं, उत्पादन का कार्य कुछ सक्षम आर्थिक इकाइयों को ही हस्तान्तरित कर दिया जाता है, उत्पादन तथा माँग को नियमित किया जाता है तथा मशीन का उपयोग आरंभ करने से जितने कर्मचारी बेकार हो जाते हैं उन्हें हटा

दिया जाता है। यद्यपि दीर्घकाल मे विवेकीकरण से पूर्ण रोजगारी मे वृद्धि हो सकती है और स्थिरता आ सकती है, परन्तु इस तथ्य को सभी मानने को तैयार है कि अल्प-काल मे इसके कारण होने वाली बेरोजगारी एक कठिन समस्या उपस्थित करती है।

विवेकीकरण से बेरोजगारी बढेगी अथवा हटाये हुए श्रमिको को फिर से नियुक्त किया जा सकेगा, यह इस बात पर निर्भर है कि किस समय विवेकीकरण किया गया। यदि विवेकीकरण का कार्यक्रम ऐसे समय मे आरभ किया जाता है जब कि मूल्य मे तथा माँग मे वृद्धि हो रही हो तब हटाये हुए श्रमिको को फिर से नियुक्त करने मे कोई विशेष कठिनाई न होगी। परन्तु यदि इसे गिरती हुए माँग तथा मूल्य के समय कार्यान्वित किया जाता है तो उससे बेरोजगारी के होने की अधिक सभावना है क्योकि ऐसे समय मे व्यापारिक उपक्रम नवीन विनियोग करके उत्पादन करने के लिये तैयार न होगे और उसका परिणाम यह होगा कि हटाये गये श्रमिक बेकार ही रह जायँगे। परन्तु सामान्यतया विवेकीकरण के द्वारा लागत मे कमी आती है जिससे उपभोक्ताओ की माँग मे वृद्धि होती है, लाभ बढता है, तथा नये-नये क्षेत्रों मे नवीन विनियोग के लिये अवसर बढता हैं। उत्पादन की लागत कम होने से मूल्य मे कमी आती है जिससे वर्तमान माँग मे ही वृद्धि नही होती अपितु उससे नवीन माँगे भी उत्पन्न होती है और इस प्रकार उस से औद्योगिक उत्पादन का बाजार और भी विस्तृत हो जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि अधिक उत्पादन होता है, लाभ बढता है, और फिर अधिक रोजगार भी बढता है। साथ ही, लागत एव मूल्य मे कमी होने से उपभोक्ता भी कम व्यय करके अधिक वस्तु क्रय कर पाता है। इस प्रकार उद्योगपतियो तथा उपभोक्ताओ दोनो को ही बचत होती है। यह बचत उत्पादक उपक्रमों मे विनियोजित कर दी जाती है और इससे रोजगार के बढने की क्षमता और अधिक हो जाती है। इस प्रकार से यद्यपि अल्प-काल मे बेरोजगारी बढ सकती है तथापि दीर्घकाल मे रोजगार बढ़ सकता है। विवेकीकरण से उत्पन्न होने वाली बेरोजगारी की इस अस्थायी समस्या को रोजगार के दफ्तर का उचित सगठन करके, प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था करके, बेरोजगार बीमा अपना करके, बेरोजगारी की स्थिति मे कुछ आनुतोषिक (gratuity) की सुविधा प्रदान करके दूर किया जा सकता है।

जहाँ तक विवेकीकरण से उत्पन्न होने वाली अधिक कार्यभार तथा थकान आदि की समस्या है इसका निवारण औद्योगिक इजीनियर, मनोवैज्ञानिक, तथा शरीर-वैज्ञानिक द्वारा मिलकर किया जाना चाहिए। यदि कार्य करने की दशाओ में समुचित सुधार कर दिया जाय, थकान आदि दूर करने के लिये उचित शोध की

व्यवस्था हो, पर्यवेक्षण तथा प्रबन्ध का पुनर्संगठन कर दिया जाय, तथा निश्चित अन्तराल पर पर्याप्त अवकाश की व्यवस्था कर दी जाय तो कार्यभार बढने से होने वाली थकान तथा परेशानियाँ स्वत. कम हो जायेंगी। श्रमिको द्वारा विवेकीकरण का विरोध अधिकाशतया इसीलिये किया जाता है कि इसे पूर्णरूपेण तथा वैज्ञानिक ढग से कार्यान्वित नही किया जाता है।

श्रमिक विवेकीकरण का विरोध इसलिये भी करते है कि उनके कार्यभार मे जो वृद्धि होती है उसकी अपेक्षाकृत उन्हे लाभ का जो आनुपातिक भाग मिलता है वह बहुत कम होता है। वास्तव मे, विवेकीकरण से होने वाले लाभ का उचित विभाजन होना आवश्यक है। मजदूरी मे की जाने वाली कटौती के विरुद्ध कुछ सुरक्षा की जानी चाहिये। श्रमिको के चुनाव, उनकी उपयुक्त स्थान पर नियुक्ति, निदेशन तथा प्रशिक्षण, कार्य एव अवकाश, मजदूरी के भुगतान करने की पद्धति आदि पर विशेष ध्यान दिया जाना भी आवश्यक है। यह देखना चाहिए कि उनके हितो की सुरक्षा होती रहे और कार्य करने की दशाये तथा रहने की व्यवस्थाये ऐसी हो जिससे कि श्रमिको के व्यक्तित्व का समुचित विकास हो सके।

उद्योग के विवेकीकरण की समस्या पर श्रमिको एव श्रम सघो का विचार उग्र ही रहा है। कम्युनिस्टो के नेतृत्व मे चल रही ऑल इडिया ट्रेड यूनियन काग्रेस ने १९५४ मे विवेकीकरण का विरोध तेजी के साथ किया। हिन्द मजदूर सभा ने हाल मे ही १९५४ मे हुए 'दिल्ली के समझौते' मे अपना समर्थन वापस ले लिया। हिन्द मजदूर सभा का कहना है कि विवेकीकरण को केवल सगठन सम्बन्धी प्रणालियो मे उन्नति, प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के दोषो को सुधारने तथा अनार्थिक औद्योगिक इकाइयो के समेकन तक ही सीमित रखना चाहिए। इडियन नेशनल ट्रेड यूनियन काग्रेस की सामान्य परिषद ने मई १९५४ मे एक प्रस्ताव पारित किया जिसके अन्तर्गत सरकार से यह प्रार्थना की कि स्वचालित मशीनो के प्रयोग पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। परन्तु १९५५ मे जब इसने योजना आयोग को एक विज्ञप्ति प्रस्तुत की थी तब इसका दृष्टिकोण उतना उग्र न था। वैसे इस विषय पर इस सघ के सदस्य भी पर्याप्त विरोध करते है।

यदि श्रम-सघ सक्रिय रूप से या अन्यथा विवेकीकरण का विरोध इस कारण से करते हैं कि इससे श्रमिको की छटनी होगी और वे बेरोजगार हो जाँयगे तो उससे देश को भी विषम परिस्थिति का सामना करना पडेगा। या तो आधुनिक तकनीक का प्रयोग करके देश मे प्रतिस्पर्द्धात्मक लागत पर उत्पादन की व्यवस्था करके उपभोक्ताओ की सेवा की जाय तथा निर्यात को अधिकाधिक बढाने का प्रयत्न किया जाय, या इसके विपरीत अधिक लागत पर अनार्थिक उत्पादन किया

जाय जिससे उपभोक्ताओं को कष्ट होगा, तथा विदेशी बाजार को भी खो दिया जाय क्योंकि छटनी के डर से आधुनिकीकरण नही किया जायगा और इस प्रकार देश को बरबादी से न बचाया जा सकेगा। श्रमिकों को इन दोनो विकल्पो से एक को चुनना होगा और उन्हे बाद वाला विकल्प नही चुनना चाहिए यदि उन्हे विवेकीकरण से होने वाले लाभ का उचित भाग प्राप्त हो जाता है।

इडियन इस्टीट्यूट ऑव पर्सनल मैनेजमेण्ट के ७ वे अखिल भारतीय सम्मेलन मे विवेकीकरण पर तथा उत्पादन क्षमता एव औद्योगिक सम्बन्धो पर इस के प्रभाव पर विचार-विमर्श किया गया। उसमे विवेकीकरण से पड़ने वाले विपरीत प्रभावों को दूर करने के विषय मे सुझाव दिया गया। इस सम्मेलन मे लोगो का सामान्य मत यह था कि आधुनिक मशीनो का प्रयोग करके विवेकीकरण आरभ करने से पूर्व उद्योग विशेष मे विद्यमान परिस्थितियो की विस्तृत जाँच तथा प्रारभिक आयोजन करना अति आवश्यक है। साथ ही, यह भी आवश्यक समझा गया कि इसकी योजना को उचित भागो मे बॉट दिया जाना चाहिए तथा कर्मचारियो एव उनके सगठन से पहिले से ही परामर्श कर लेना चाहिए जिससे योजना को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिये उनका पर्याप्त सहयोग मिल सके। यह भी कहा गया कि यह लाभप्रद होगा कि सम्पूर्ण योजना पर एक समझौता हो जाय और उसमे किसी भी सन्देह को दूर करने के लिये अथवा समझौते का स्पष्टीकरण करने के लिये ऐच्छिक विवाचन सम्बन्धी एक उपवाक्य की व्यवस्था होनी चाहिए। जहाँ समझा जाय, उनके प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की जानी चाहिए। उसमे इस बात पर भी जोर दिया गया कि उद्योगपतियो, उपभोक्ताओ तथा कर्मचारियों के मध्य लाभ के वितरण पर भी पर्याप्त विचार किया जाना चाहिए। साथ ही, विवेकीकरण के कार्यक्रम को इस ढग से कार्यान्वित किया जाना चाहिए कि बेरोजगारी कम से कम हो और जहाँ छँटनी आवश्यक हो वहाँ यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि उन बेकार श्रमिकों को सरकार तथा अन्य मालिको के सहयोग से नौकरी दिलाई जाय।

अध्याय २५

औद्योगिक उत्पादकता

उत्पादन, अनेक घटको, जैसे श्रम, पूंजी, भूमि तथा सगठन, के सम्मिलित निवेशो (inputs) द्वारा प्राप्त होता है। उत्पादन तथा निवेश के किसी एक घटक के मध्य अनुपात को ही उत्पादकता के नाम से जाना जाता है। कुछ लोग सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के निष्पादन के माप के रूप मे भी उत्पादकता को मानते हैं। कुछ लोग उत्पादकता का विचार किसी एक इकाई, उद्योग अथवा प्लान्ट के सदर्भ मे ही करते है। उत्पादन तथा श्रम के मध्य सम्बन्धो की ओर लोगो का ध्यान अधिकाश रहने के कारण, प्राय उत्पादकता शब्द का प्रयोग उत्पादन तथा श्रम के निवेश के अनुपात के रूप मे ही किया जाता है। प्राय: इसका माप प्रति व्यक्ति उत्पादन, अथवा प्रति व्यक्ति-घण्टा उत्पादन अथवा श्रम-समय की इकाई के रूप मे किया जाता है। "इस परिभाषा की लोकप्रियता, निस्सन्देह, श्रम बचत मे व्यापक रुचि के कारण है क्योकि इस बचत का प्रभाव लागत, मूल्य, लाभ, कार्य, मजदूरी, तथा राष्ट्र की सैनिक सुरक्षा तथा रहन-सहन के स्तर पर भी पडता है।"

'श्रम' उत्पादन के साधनो मे से केवल एक ही साधन है। अत: यदि उत्पादकता को श्रम के आधार पर ही मापा जाय तो उसका परिणाम सही नहीं होगा और उत्पादकता को सही अर्थों मे नही समझा जा सकेगा। उत्पादकता के अनुपात को निश्चित करने के लिए सभी साधनो या निवेशो को ध्यान मे रखना होगा। विस्तृत अर्थों मे उत्पादकता का आशय उपलब्ध वस्तुओ और सेवाओ का देश के सम्पूर्ण संभाव्य साधनो के अनुपात से है। इस प्रकार, विस्तृत एवं सर्वाधिक आधारभूत अर्थों मे, उत्पादकता के बढाने की समस्या का तात्पर्य मनुष्य, मशीन, द्रव्य, शक्ति, तथा भूमि आदि के रूप मे उपलब्ध साधनो का सम्पूर्ण, उचित एवं सक्षम उपयोग करना है। उत्पादकता बढ़ाने का आशय यह भी है कि किसी प्रकार की तथा किसी भी क्षेत्र में हो रही बरबादी को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसका ध्येय मानसिक दृष्टिकोण मे परिवर्तन लाना है तथा इसके अन्तर्गत यह सतत प्रयास करना है कि किसी भी काम को करने के लिए अथवा किसी वस्तु का

विनिर्माण करने के लिए अथवा कोई भी सेवा प्रदान करने के लिए अधिक अच्छा, सस्ता, शीघ्र, आसान तथा सुरक्षित मार्ग ढूँढा जाय। इसका उद्देश्य प्रसाधनो का अधिकतम उपयोग करना है जिससे कि सभवत न्यूनतम लागत पर वाछित वस्तुएँ अथवा सेवाये उपभोक्ताओ को प्राप्त हो सके।

उत्पादकता विश्लेषण की महत्ता. उत्पादकता चूंकि साख्यिकीय प्रमाप है अत आर्थिक विश्लेषण के लिए यह अधिक महत्वपूर्ण साधन है। हाल के वर्षो मे उत्पादकता निर्देशाको पर निर्भरता बढती जा रही है क्योकि इससे देश के आर्थिक तथा औद्योगिक सगठन मे हो रहे परिवर्तनो की वैज्ञानिक सूचना मिल जाती है। इसे देश के आर्थिक एव औद्योगिक 'बैरोमीटर' के रूप मे माना जाता है जिससे आर्थिक परिवर्तनों को नापा जा सकता है और भावी परिस्थितियो का पूर्वानुमान लगाया जाता है। इससे सरकार को अपनी नीति का निर्माण करने मे सहायता मिलती है। साथ ही व्यापारिक गृहो को तथा श्रम सघो को मूल्य, रोजगार, मजदूरी, काम के घण्टे आदि के सम्बन्ध मे नीति बनाने मे सहायता मिलती है। "सामान्य आयोजन के दृष्टिकोण से, ये आँकडे अत्यन्त महत्वपूर्ण होते है क्योकि उनसे (अ) एक ही उद्योग के अन्तर्गत उपक्रमो मे तुलना, (ब) अन्य देशो के तुलनात्मक उद्योगो से तुलना, तथा (स) उस सीमा के अनुमान का, जहाँ तक सम्पूर्ण उद्योग मे उन्नति हुई हो, अवसर प्राप्त होता है।"

राष्ट्रीय स्तर पर उत्पादकता सम्बन्धी अध्ययन से किसी उद्योग को सरक्षण प्रदान करने की सीमा का पता लगाने मे, कर तथा प्रशुल्क सम्बन्धी उचित नीतियो के निर्माण मे, तथा सामाजिक बीमा तथा श्रम कल्याण योजनाओ को लागू करने मे सहायता मिलती है। वे टैक्नालॉजिकल परिवर्तनो का उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा पर होने वाले परिवर्तनो का मूल्याकन करने मे, आर्थिक प्रवृत्तियो का विश्लेषण करने तथा उनका पूर्वानुमान लगाने मे, तथा प्राकृतिक, वित्तीय एव मानवीय साधनों का विभाजन करने मे सहायक होते है जिससे कि राष्ट्रीय कल्याण अधिकतम हो सके।

विभागीय तथा कार्य के स्तर पर, उत्पादकता निर्देशांक को विवेकीकरण तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध की विभिन्न योजनाओ की प्रभावपूर्णतया का मूल्यांकन करने मे प्रयोग मे लाया जाता है। इसके माध्यम से फैक्टरी के प्रबन्धक इस बात का पता लगा सकते है कि श्रम-बचत उपायो तथा नवीन मजदूरी प्रणाली को अपनाने से श्रम की अथवा अन्य निवेशो की उत्पादकता मे वृद्धि या कमी हुई है। इस प्रकार प्रबन्धको द्वारा नीति-निर्माण मे तथा निर्णय लेने में इनका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

उत्पादकता के सम्बन्ध मे भ्रान्ति. श्रमिकगण प्राय उत्पादकता के नाम से घृणा करते है क्योकि वे यह समझते है कि इसका तात्पर्य अधिक कार्य-भार से, अधिक प्रयास तथा मेहनत से, तथा मिल-मालिको को अधिक लाभ से है। परन्तु यदि उत्पादकता की विधियो को विवेकपूर्ण ढग से कार्यान्वित किया जाय तो यह आवश्यक नही है कि उनका उपर्युक्त परिणाम ही हो। श्रमिको के मस्तिष्क मे इस सम्बन्ध मे बहुत बडी गलत धारणा है और उसे दूर करना अति आवश्यक है। वास्तव मे, उत्पादकता तकनीक को सुचारु रूप से अपनाया जाय तो उसका परिणाम यह होगा कि श्रमिको को थकान कम होगी, कार्य करने के वातावरण मे सुधार होगा तथा कार्य का सरलीकरण होगा ।

प्राय. यह तर्क दिया जाता है कि उत्पादकता बढाने की विधियों को अपनाने से श्रम की छटनी होती है और बेरोजगारी बढती है। परन्तु ऐसा कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नही है जिससे यह ज्ञात हो कि जिन देशो मे उत्पादकता तेजी के साथ बढी हो वहाँ बेरोजगारी भी सबसे अधिक हो। फिर भी, आर्थिक उन्नति से रोज-गार के अवसर मे परिवर्तन आता है और समय-समय पर किसी विशेष प्रकार के श्रमिक किसी कार्य अथवा स्थल विशेष के लिए बेकार हो जाते है।

यह भी भ्रान्ति लोगो के मन मे है कि उत्पादकता आदोलन से केवल प्रबन्धकों को ही लाभ होता है। परन्तु उत्पादकता के सभी समर्थको का यह कहना है कि उत्पादकता विधियो को अपनाने से पूर्व प्रबन्धको एव श्रमिको के प्रतिनिधियो के मध्य समझौता होना आवश्यक है। प्रबन्धको को आवश्यक वातावरण सृजन करने के लिए स्वय प्रयास करना चाहिए। उन्हे नवीन विचारो के प्रति जागरूक तथा उन्हे अपनाने के लिए तत्पर रहना चाहिए। श्रमिको का विश्वास बढा कर उनका सहयोग प्राप्त कर, वे इस आन्दोलन को सफल बना सकते हैं।

उत्पादकता एवं उत्पादन. उत्पादकता एव उत्पादन मे अन्तर है और दोनों को एक ही समझना भ्रामक है। उनका अर्थ एव विचार भिन्न-भिन्न है। किसी भी औद्योगिक इकाई मे उत्पादन को अधिक श्रमिक लगाकर, अधिक मशीन लगाकर तथा अधिक वस्तुओ का प्रयोग करके लागत पर बिना ध्यान दिये बढाया जा सकता है। परन्तु उत्पादन मे वृद्धि होने से यह आवश्यक नही है कि उत्पादकता मे भी वृद्धि हुई हो यद्यपि उत्पादकता मे वृद्धि होने से उत्पादन मे वृद्धि होनी है। उदाहरण के लिए, किसी भी इकाई मे १० श्रमिक कार्य करते हैं और वैसी ही दूसरी इकाई मे १५ श्रमिक कार्य करते हैं परन्तु १० श्रमिक उतना ही उत्पादन करते हैं जितना कि १५ श्रमिक कर रहे हैं। इस प्रकार दोनो

ही इकाइयो का उत्पादन तो समान है परन्तु पहली इकाई की उत्पादकता दूसरी की अपेक्षा अधिक है। इस प्रकार उत्पादन स्वय रहन-सहन के स्तर को नही बढाता है। उसके साथ ही वास्तविक आय मे वृद्धि होनी चाहिए जो कि उत्पादकता मे वृद्धि होने पर ही सभव है।

उत्पादकता के साधन. औद्योगिक उत्पादकता के निम्नलिखित साधन है ·

(१) वैज्ञानिक प्रबन्ध, तकनीक तथा व्यवहार;

(२) कार्य, समय तथा गति अध्ययन जिनसे वैज्ञानिक ढग से अच्छे और तेजी से काम करने के साधन का पता लग सके तथा कार्य-सचालन मे सुधार हो सके,

(३) मानवीय सम्बन्ध, औद्योगिक सम्बन्धो के आधुनिक विचारो सहित,

(४) मजदूरी तथा बोनस प्रोत्साहन, सामूहिक सौदेबाजी, प्रबन्धक एव श्रमिको के मध्य परामर्श, श्रमिको का प्रशिक्षण तथा श्रम कल्याण,

(५) सरलीकरण, प्रमापीकरण तथा विशिष्टीकरण,

(६) नियत्रण तकनीक, उत्पादन तथा आयोजन नियत्रण, लागत नियत्रण, तथा किस्म नियत्रण सहित,

(७) प्लाण्ट के खाका मे सुधार करना, कार्य की दशाओ मे तथा पदार्थों के प्रयोग मे सुधार करना, तथा

(८) व्यक्तियों का चुनाव तथा प्रशिक्षण।

औद्योगिक उत्पादकता को प्रभावित करने वाले घटक

औद्योगिक उत्पादकता को प्रभावित करने वाले घटक अनेक, जटिल तथा अन्तर्बद्ध है। किसी भी औद्योगिक उपक्रम की उत्पादकता पर किस व्यक्तिगत घटक का प्रभाव पडा है इसका पता लगाना अत्यन्त कठिन है। ये घटक, वैसे, निम्न-लिखित हैं. टैक्नालाजिकल, वित्तीय, प्राकृतिक, सस्थागत, प्रबन्धकीय तथा सरकारी नीतियाँ।

टैक्नालाजिकल. यद्यपि यह पता लगाना कठिन है कि टैक्निकल परिवर्तन तथा उत्पादकता मे किस मात्रा तक सम्बन्ध पाया जाता है, तथापि इसके पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध हैं कि टैक्नालाजिकल उन्नति होने पर औद्योगिक उत्पादकता मे तेजी के साथ वृद्धि होती है। उत्पादकता मे दीर्घकालीन सुधार विज्ञान तथा टैक्नालाजी में उन्नति तथा उस का उत्पादन मे प्रयोग पर ही निर्भर होता है। औद्यो-

गिक उत्पादकता पर सबसे अधिक प्रभाव शक्ति का मशीन मे प्रयोग, प्लाण्ट तथा मशीन का सक्षम उपयोग, कार्य तथा उत्पादन का विशिष्टीकरण तथा उत्पादन सम्बन्धी प्रक्रियाओ के समन्वय का पडा है।

अल्प-विकसित देशो की औद्योगिक इकाइयो द्वारा जो उत्पादन-विधियाँ अपनाई जाती है वे समुन्नत नही होती और अधिक समय तथा प्रयास की आवश्यकता उनमे होती है। मशीनो को उपयोगी बनाये रखने की भी समुचित व्यवस्था नही होती। प्राय मूल्यवान मशीने बेकार पडी रहती है क्योंकि न तो उनके लिये कच्चा माल मिल पाता है और न ही उनकी आवश्यक मरम्मत हो पाती है। आपरेटर का उचित प्रशिक्षण न होने के कारण मशीन नष्ट होती रहती है। अधिकांश फैक्टरी मे कार्य करने की दशाये ठीक नही होती, प्रकाश की उचित व्यवस्था न होने के कारण तथा उचित स्थान न होने के कारण उत्पादकता पर प्रभाव पडता है।

वित्तीय. किसी भी औद्योगिक इकाई में नवीन प्रयोग करने के लिये, टैक्निकल सुधार करने के लिये, तथा नई खोज करने के लिये अत्यधिक मात्रा मे वित्तीय प्रसाधनो की आवश्यकता होती है। टैक्निकल तथा आर्थिक शोध करने के लिये श्रमिको को आवश्यक सुख-सुविधाये प्रदान करने के लिये, कच्चा माल तथा निर्मित माल को रखने के लिये, भवन तथा उपकरणो का आधुनिकीकरण करने के लिये तथा प्लाण्ट एव मशीन को ठीक अवस्था में बनाये रखने के लिये अधिक मात्रा मे धन की आवश्यकता होती है। उत्पादकता आन्दोलन वहाँ अधिक सफल हुआ है जहाँ कि पूँजी अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में उपलब्ध है। अल्प-विकसित देशो मे तो पूँजी कम ही है और औद्योगिक विनियोग के लिये उसमे से भी बहुत कम उपलब्ध हो पाती है। साथ ही, यह भी महत्वपूर्ण है कि कुछ उद्यमी आगे आयें और नवीन विधियो, प्रक्रियाओ तथा तकनीक को अपनाने के लिये अपना कदम बढायें। ऐसे देशों में धनवान व्यक्ति थोड़े से होते हैं और वे भी व्यापार तथा उपभोग में ही अधिक व्यय करते हैं।

प्राकृतिक. प्राकृतिक घटको के अन्तर्गत भौतिक, भौगोलिक तथा जलवायु सम्बन्धी विभिन्नताये आती हैं जिनका औद्योगिक उपक्रमो की उत्पादकता पर अत्यधिक प्रभाव पडता है। इनकी सापेक्ष महत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि उद्योग की प्रकृति क्या है तथा किस सीमा तक इन भौतिक दशाओ को नियन्त्रित किया जा सकता है। खान से सम्बन्धित उद्योगो पर विशेष रूप से भूगर्भ सम्बन्धी एव भौतिक दशाओ का प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिये, कोयले की खान की गहराई, क्षेत्र की स्थलाकृति, उपलब्ध कोयले की किस्म, कोयले की परतों की

मोटाई आदि कोयला उद्योग की उत्पादकता को प्रभावित करती है। परन्तु उन उद्योगो पर जो कि "शुद्ध" तथा "सर्वथा-उपलब्ध" (ubiquitous) पदार्थों का उपयोग करते है, भौगोलिक तथा भौतिक दशाओ का अधिक प्रभाव नही पडता है। उनकी अपेक्षाकृत "स्थानीकृत" पदार्थ का उपयोग करने वाले उद्योगों पर इनका प्रभाव पडता है। अन्त मे, जलवायु सम्बन्धी अन्तर का औद्योगिक कार्य-क्षमता तथा उत्पादकता पर अधिक प्रभाव पडता है। भूमध्य रेखीय तथा कटि-बन्धीय जलवायु मे श्रमिको की शारीरिक शक्ति तथा क्षमता अपेक्षाकृत कम होती है।

सामाजिक प्राय सामाजिक सरचना तथा दृष्टिकोण इतने उपयुक्त नही होते कि उनमे आधुनिक औद्योगिक समाज की रचना हो सके अथवा औद्योगिक प्रणाली का सुचारु रूप से सचालन हो सके। शहरो मे स्थित उद्योगो मे भूमिहीन किसान तथा नगर मे रहने वाले बेकार व्यक्ति श्रमिक के रूप मे आकर्षित होते है परन्तु वे अपने आप को औद्योगिक अनुशासन मे तथा नियमित कार्य-विधि मे आसानी से नही ढाल पाते। उद्योगो मे श्रमिक के रूप मे कार्य करके उन्हे अधिक कठिना-इयों का सामना करना पडता है। साथ ही, अल्प-विकसित देशों मे मिल-मालिको का दृष्टिकोण भी अनुकूल नही होता। प्राय वे जाति, धर्म, वर्ग के परम्परावादी तथ्यो से प्रभावित होते है। इस प्रकार श्रमिको के प्रति उनका दृष्टिकोण दूसरा ही रहता है और वे उनकी स्वतत्रता को, अथवा स्वतन्त्र दृष्टिकोण को सहन नही कर पाते। इस प्रकार, विनियोक्ताओ, श्रमिको, मालिको तथा उपभो-क्ताओ का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा व्यवहार, नवीन वस्तुओ तथा खोजो को स्वीकृत करने के प्रति उनकी उदासीनता, वे मूल्य जो कि उनके जीवन-दर्शन को प्रभावित करते है, सभी औद्योगिक उत्पादकता को प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते है।

प्रबन्धकीय. यह ठीक ही कहा गया है कि औद्योगिक विकास के इतिहास मे प्रबद्ध, उद्यमी तथा दूरदर्शी प्रबन्धको की जितनी आवश्यकता आज है पहले कभी न थी। अब तो परिस्थिति यह है कि औद्योगिक इकाई की उन्नति अथवा अवनति प्रबन्धकों की कुशलता पर निर्भर है। प्रबन्धको मे सगठन करने की क्षमता, कल्पना-शक्ति, निर्णय-शक्ति, जोखिम उठाने की तत्परता का होना अति आवश्यक है। उच्च पदाधिकारियो का व्यवहार अपने सहायक अधिकारियो के प्रति और सहायक अधिकारियों का श्रमिकों के प्रति अच्छा नही पाया जाता। इसका प्रभाव भी औद्योगिक उत्पादकता पर पडता है। साथ ही, यह सोचना गलत है कि तकनीकी विशेषज्ञ प्रबन्ध-विशेषज्ञ भी होता है। उत्पादन की टैक्नालॉजी से प्रबन्ध का क्षेत्र बिल्कुल भिन्न है।

सरकारी नीतियाँ. सरकार की कर सम्बन्धी, सरक्षण सम्बन्धी, वित्तीय तथा प्रशासकीय नीतियो का भी पर्याप्त प्रभाव औद्योगिक उत्पादकता पर पडता है। आधुनिकतम उपकरणो तथा मशीनों का उपयोग बढाने के लिये कर सम्बन्धी छूटे दी जा सकती है। दूसरी ओर, अत्यधिक सरक्षण प्रदान करने की नीति के कारण एकाधिकारी प्रवृत्तियाँ बढ सकती है तथा अनार्थिक इकाइयाँ को चलते रहने का प्रोत्साहन मिल सकता है। दोनो ही दशाओ मे उत्पादकता पर विपरीत प्रभाव पडता है। बडे औद्योगिक सयोजन पर प्रतिबन्ध लगा कर सरकार प्रतिस्पर्द्धात्मक इकाइयो को अपनी दशा सुधारने के लिये तथा उत्पादक कार्यक्षमता को बढाने के लिये प्रोत्साहित कर सकती है। सरकार अपनी वित्तीय तथा प्रशासनिक नीतियो द्वारा विनियोग, बचत, तथा एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे पूँजी के प्रवाह के लिये समुचित दशाये उत्पन्न कर सकती है।

भारत मे उत्पादकता आन्दोलन

भारतीय अर्थव्यवस्था मे उत्पादकता की वृद्धि होना अति आवश्यक है क्योंकि वर्तमान प्रतिस्पर्द्धापूर्ण विश्व अर्थव्यवस्था मे, भारतीय उद्योगों का तकनीक तथा विधियो की दृष्टिकोण से पीछे रहना देश के लिये घातक सिद्ध होगा। बाजार का विस्तार देश मे नही अपितु विदेशो मे भी करना हैं। गह तभी सभव हो सकेगा जब कि उत्पादकता में वृद्धि हो जिससे कि लागत में कमी आती है और परिणाम-स्वरूप मूल्य मे भी कमी आती है।

भारतवर्ष औद्योगिक दृष्टिकोण से अल्प-विकसित है जिसके कारण उसे पूँजीगत उपकरणो तथा अन्य आवश्यकताओं के लिये विदेशो पर निर्भर रहना पडता हैं। नवीन औद्योगिक विनियोग के लिये उपलब्ध पूँजी की मात्रा तथा पूँजीनिर्माण की दर कम है जिससे उद्योग की क्षमता मे वृद्धि नही हो पाती और परिणामस्वरूप विदेशों पर निर्भरता कम नही हो पाती। अत नवीन तकनीक तथा उत्पादन-विधियों को अपना कर विद्यमान प्लाण्ट की क्षमता को बढाना ही है। साथ ही, उपलब्ध प्रसाघनो का अधिकतम उपयोग भी करना होगा जिससे नवीन क्रय तथा नवीन निर्माण को न्यूनतम रखा जा सके।

उत्पादकता मे वृद्धि होने से सभी प्रकार के उपकरणो का उत्पादन तेजी के साथ बढेगा और इस प्रकार रहन-सहन के स्तर मे वृद्धि होने की आधारशिला रखी जा सकेगी। इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का एक मिशन दिल्ली परिवहन सेवाओं के वर्कशाप मे सुधार करने के लिये भारत आया। उसने उसमे उत्पादकता के बढाने के लिये प्रयास किया और

निष्कर्ष यह निकला कि "उत्पादकता मे सुधार होने से बसो के ओवरहाल के समय मे पर्याप्त कमी आई जिससे कि बिना अतिरिक्त गाडियो का क्रय किये हुए सेवा मे आने वाली बसो की सख्या मे ५० प्रतिशत से वृद्धि हो सकेगी।" यह एक ऐसा उदाहरण है जो यह बताता है कि बिना नवीन विनियोग किये हुए ही वर्तमान प्रसाधनो का समुचित उपयोग करके ही सेवाओ को बढाया जा सकता है।

भारतवर्ष मे, प्रति इकाई उच्चतर उत्पादकता तथा अधिकतम कुल उत्पादन के मध्य उचित सयोजन होना चाहिए। यदि केवल कुल उत्पादन अधिक है और श्रमिकों तथा मशीन की उत्पादकता अधिक नही है तो रहन-सहन के स्तर के ऊँचे होने की आशा नही की जा सकती। दूसरी ओर, कम उत्पादन पर ही उच्चतर उत्पादकता प्राप्त करने का प्रयास किया जाय तो जनसमुदाय बेरोजगारी के जोखिम का सामना आसानी से कर सकेगी। अत भारतवर्ष मे लक्ष्य उच्चतर उत्पादकता प्राप्त करने का होना चाहिए जिससे कि उत्पादन का स्तर बिना वर्तमान रोजगार की हानि के ऊँचा हो और मूल्य स्तर नीचा हो।

नवम्बर १९५७ मे उत्पादकता पर विचारगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए केन्द्रीय उद्योग मत्री ने इस बात पर जोर दिया कि "उत्पादन की प्रति इकाई पर श्रमिक द्वारा व्यय की जाने वाली शक्ति को घटा करके, उसके द्वारा उतनी ही या उससे कम शक्ति का व्यय करके अधिक उत्पादन किया जा सकता है जिसका परिणाम उसे अधिक मजदूरी के रूप मे प्राप्त होगा। उत्पादकता मे वृद्धि होने से नवीन प्लाण्ट मे तथा उत्पादनों में विनियोग करने के लिये अधिक पूँजी प्राप्त हो जाती है जिससे रोजगार का विस्तार होता है।" इस प्रकार उत्पादकता मे वृद्धि होने से अतिरिक्त इकाइयो की स्थापना तथा विस्तार होता है, अतिरिक्त सेवाओ के लिये माँग का सृजन होता है तथा रोजगार का विस्तार होता है क्योकि अतिरिक्त कार्य में वृद्धि होती है। अन्य देशो के प्रयोगो से लाभ उठा कर भारतवर्ष मे उत्पादकता का आन्दोलन तेजी से बढाना चाहिए जिससे आर्थिक विकास तेजी से हो सके।

भारतीय उत्पादकता शिष्टमण्डल. अक्टूबर-नवम्बर १९५६ में एक भारतीय उत्पादकता शिष्टमण्डल जापान गया और उसने अपनी रिपोर्ट मार्च १९५७ मे प्रस्तुत की। इसकी अध्यक्षता डा० विक्रम ए० साराभाई ने की थी। इसे जापान उत्पादकता केन्द्र के संघटन, संगठन, कार्यक्रम, तथा कार्य सचालन विधि के विषय मे अध्ययन करना था। इसका अध्ययन करके शिष्टमण्डल को भारत मे वैसी ही सस्था की स्थापना के लिये विस्तृत सिफारिश करनी थी। इसे विशेष रूप से वृहत्-स्तरीय उद्योगो का, जैसे लोहा एवं इस्पात, इजीनियरिंग, रसायन तथा वस्त्र, अध्ययन करना

था। इस शिष्टमण्डल ने जापान मे अपनायी गयी उत्पादकता प्रणालियों का अत्यन्त उपयोगी अध्ययन किया।

इस शिष्टमण्डल द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट मे इस बात पर बल दिया गया कि द्वितीय योजना मे औद्योगिक उत्पादन के लिये जो लक्ष्य रखा गया है उस सदर्भ मे उत्पादकता मे वृद्धि बहुत महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है। इससे श्रमिक अच्छे किस्म का अधिक माल उत्पादित करने के लिये प्रेरित होगे। इसने इस ओर ध्यान आकर्षित किया कि उत्पादकता मे वृद्धि को विवेकीकरण तथा अतिरिक्त श्रमिको की छटनी से सम्बद्ध किया गया है जो उचित नही है। जब तक यह भ्रान्ति समाप्त नही होती तब तक उत्पादकता में वृद्धि लाने के लिये कोई भी प्रयास सफल नही हो सकता है। तेजी से विकास कर रही अर्थव्यवस्था के लिये उत्पादकता में वृद्धि को राष्ट्रीय नीति मे उचित स्थान प्राप्त होना चाहिए जिससे बिना बेरोजगारी बढाये राष्ट्रीय आय तथा रहन-सहन के स्तर मे वृद्धि हो सके। इसके माध्यम से अच्छे किस्म की अधिक वस्तुओ का उत्पादन किया जा सकता है और उसके लिये न तो अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता होगी और न ही वैदेशिक विनिमय के प्रयोग की ही आवश्यकता होगी।

शिष्टमण्डल ने इस बात की सिफारिश की कि भारतवर्ष में जापान उत्पादकता केन्द्र की ही तरह राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद की स्थापना करके उत्पादकता मे वृद्धि लाने के लिये प्रभावपूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन चलाना अति आवश्यक है और उसके लिये यह अवसर अति उपयुक्त है। राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद के निम्नलिखित कार्य होने चाहिए: (१) उचित प्रचार करके तथा देश मे ही और विदेश मे टीम भेजकर अथवा उसका आदान-प्रदान करके उत्पादकता को बढ़ाने के लिये उचित वातावरण का सृजन करना; (२) राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय स्रोतों से वित्तीय सहायता प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना, तथा (३) विशेषज्ञो की तकनीकी सहायता प्रदान करना जिसकी आवश्यकता इसकी भावना जागृत होने पर पडेगी। इस परिषद मे मालिक, श्रमिक, सरकार, टैक्नीशियन, विद्वान, शोधकर्ता, तथा व्यावसायिक सलाहकार का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। देश के विभिन्न औद्योगिक क्षेत्रो मे स्थानीय उत्पादकता परिषद की स्थापना के लिये माँग का सृजन करना इस परिषद का एक प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। साथ ही, स्थानीय उत्पादकता परिषदों की स्थापना राष्ट्रीय परिषद के मॉडल की तरह ही होना चाहिए।

उत्पादकता पर विचार-गोष्ठी. विशिष्टमण्डल की सिफारिशों को कार्यान्वित करने का प्रथम प्रमुख प्रयास नवम्बर १९५७ मे किया गया जब कि केन्द्रीय वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्रालय के तत्वावधान मे उत्पादकता पर एक विचार-गोष्ठ

बुलाई गई। इसमे राष्ट्रीय उत्पादकता आन्दोलन के कार्यक्रम को सिद्धान्तत स्वीकार कर लिया गया। इसके लिये विचार-गोष्ठी मे निम्नलिखित प्रमुख सिद्धान्तो को अपनाने के लिये जोर दिया गया: (१) उद्देश्य उन्नत तकनीक का प्रयोग करके उत्पादन को बढाना तथा उसके किस्म मे उन्नति करना होना चाहिए। तकनीक ऐसी होनी चाहिए जिसका लक्ष्य उपलब्ध साधनो का उचित तथा क्षमतापूर्ण उपयोग हो सके। इसका उद्देश्य श्रमिको के कल्याण तथा काम करने की दशाओ मे उन्नति करना भी होना चाहिए। इस आन्दोलन का तात्पर्य काम बढाकर तथा काम की गति को बढा कर श्रमिको के भार को नही बढाना है। (२) उत्पादन को बढाना जो कि उद्योग के विकास को प्रोत्साहित करके रोजगार को बढाने मे सहायक हो सके। (३) उत्पादकता मे वृद्धि से होने वाले लाभ का पूँजी, श्रम तथा उपभोक्ताओ के मध्य न्याययुक्त वितरण हो। (४) उद्योग के क्षेत्र मे उत्पादकता आन्दोलन निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र के बडे, छोटे तथा हल्के उद्योगो तक फैलाया जाय। (५) प्रत्येक उद्योग मे तथा उपक्रम मे सम्मिलित परामर्श, प्रबन्ध मे श्रमिको के भाग तथा प्रबन्ध एव श्रमिकों के मध्य उचित सहयोग को प्रोत्साहित करके उत्पादकता को बढाने के लिये उचित वातावरण का सृजन किया जाना अति आवश्यक है।

अध्याय २६

सूती वस्त्र उद्योग

सूती वस्त्र उद्योग भारतवर्ष का सबसे बडा सगठित उद्योग है। विश्व के ५५ प्रमुख वस्त्र उत्पादको मे से सयुक्त राज्य अमेरिका तथा चीन के बाद भारतवर्ष का तीसरा नम्बर आता है, सूती वस्त्र मे विदेशी व्यापार के सम्बन्ध मे इसे विश्व मे द्वितीय स्थान प्राप्त है, कुल तकुओ की सख्या की दृष्टि से तीसरा स्थान प्राप्त है, तथा स्थापित कुल कर्घो की दृष्टि से चौथा स्थान प्राप्त है। देश की अर्थ-व्यवस्था मे इस उद्योग की महत्ता इस तथ्य से ज्ञात होती है कि मिल क्षेत्र मे इस उद्योग मे लगभग १७५ करोड रुपये पूँजी लगी हुई है और उद्योग की कुल सम्पत्ति का मूल्य ६०० करोड़ रुपये से भी अधिक है। यह लगभग ६ लाख श्रमिको को प्रत्यक्ष रूप से रोजगार प्रदान करता है। लगभग ८० करोड रुपये के मूल्य का सूती वस्त्र प्रतिवर्ष निर्यात किया जाता है जो कि कुल विनियोग का लगभग ७ प्रतिशत है। विश्व मे सूती वस्त्र के विदेशी व्यापार मे जापान के बाद भारतवर्ष का ही स्थान है।

यह उद्योग अधिकाशतया निजी क्षेत्र मे ही है। यद्यपि देश के प्रत्येक राज्य मे सूती वस्त्र के कारखाने है तथापि देश के कुल ६४० कारखानो मे से महाराष्ट्र, गुजरात, मद्रास, तथा पश्चिमी बगाल मे ७० प्रतिशत से भी अधिक कारखाने हैं। महाराष्ट्र तथा गुजरात मे अत्यधिक केन्द्रीयकरण है। वहाँ २२१ कारखाने है तथा सम्पूर्ण उद्योग के कुल तकुओ का ५० प्रतिशत तथा कुल कर्घो का ७० प्रतिशत यही है। मद्रास मे लगभग २०० कारखाने हैं (जिनमे से अधिकाश कताई के कारखाने हैं) जो कि कुल तकुओ का २५ प्रतिशत है।

१९५१ तथा १९६८ के मध्य सूती वस्त्र उद्योग का विकास तालिका १ मे ज्ञात हो सकता है।

योजनाओ के अन्तर्गत विकास प्रथम योजना काल के लिये, योजना आयोग ने ७४५० लाख किलोग्राम सूत तथा मिल क्षेत्र मे ४२,३०० लाख मीटर वस्त्र के उत्पादन का लक्ष्य रखा था। उत्पादन लक्ष्य से अधिक रहा और सूत का उत्पादन ७६०० लाख किलोग्राम और वस्त्र का उत्पादन ४७,७५० लाख मीटर रहा।

तालिका १

सूती कारखाना उद्योग का विकास

वर्ष	कारखानो की सख्या	तकुओ की सख्या (हजार मे)	करघों की सख्या, स्वचालित करघों सहित (हजार मे)
१९५१	३७८	१०,९९९	१९५
१९५६	४१२	१२,०५१	२०३
१९६०	४७९	१३,५५०	२००
१९६५	५४३	१५,४३३	२०६
१९६८	६३५	१७,०८०	२०८

द्वितीय योजना के लिये ५०,००० लाख मीटर वस्त्र के उत्पादन का लक्ष्य रखा गया था और ८,८७० लाख किलोग्राम सूत का उत्पादन पर्याप्त समझा गया था। ये लक्ष्य पूरे नही हुए क्योकि द्वितीय योजना के अन्त मे वास्तविक उत्पादन वस्त्र का ४७,००० लाख मीटर तथा सूत का ८,००० लाख किलोग्राम रहा। तृतीय योजना मे वस्त्र तथा सूत के उत्पादन का लक्ष्य क्रमशः ५२,२०० लाख मीटर तथा १०,२०० लाख किलोग्राम रखा गया। तृतीय योजना मे वस्त्र का वास्तविक उत्पादन द्वितीय योजना काल से भी कम रहा और वह लगभग ४५,४५० लाख मीटर रहा।

वस्त्रोत्पादन के स्वरूप के सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देनें योग्य है कि हाल के वर्षों मे उम्दा किस्म के कपडो के उत्पादन में वृद्धि घटिया तथा मध्यम किस्म की अपेक्षाकृत अधिक नही रही। इसका कारण सरकारी नियत्रण का होना तथा ऊँचें किस्म के कपास का न होना है।

हाल के वर्षों मे सूती वस्त्र उद्योग के सामने अनेक कठिनाइयाँ आती रही हैं। १९६५ मे पाकिस्तान द्वारा आक्रमण के पश्चात ही इसे मन्दी का सामना करना पडा और परिणामस्वरूप बिना बिका स्टाक एकत्रित होता रहा, मिल बन्द होने लगीं और श्रमिको की छँटनी भी होने लगी। १९६६ मे कपास-दुर्भिक्ष के कारण उद्योगों को कठिन संकट का सामना करना पडा। श्रमिकों की कार्यक्षमता मे तो कोई वृद्धि न हुई परन्तु मजदूरी-लागत मे वृद्धि हो गई और इससे स्थिति और गंभीर हो गई। वस्त्र की बिक्री में मदी आ गई। १९६७ में सूखा पड़ने के कारण ग्रामीण क्षेत्रो में इसकी माँग में कमी आ गई। रहन-सहन की लागत मे वृद्धि

ोने के कारण नगरो मे भी वही हालत हो गई। १९६९ मे परिस्थिति मे कुछ ुधार हुआ और बिक्री मे वृद्धि होने की आशा भी बढी।

समस्याये

कमजोर वस्त्र के कारखाने (sick textile mills) बन्द होने वाली मिलो की ख्या १९६७ मे ४५ से बढकर सितम्वर १९६८ तक ८० हो गई। ऐसा निम्नलिखित ारणो से हुआ · उत्पादन की अधिक लागत, सश्लिष्ट (synthetic) पदार्थ के स्त्रो तथा चोरी (smuggled) के सूत तथा वस्त्रो से प्रतिस्पर्द्धा, आधुनिकीकरण ी धीमी गति, कुछ राज्य सरकारो तथा श्रम सघ कार्यकर्ताओ का हतोत्साहित करने ाला दृष्टिकोण, वित्त की कमी, प्रबन्धको द्वारा कुप्रबन्ध तथा अनुचित व्यवहार ादि।

१९६३ तथा १९६८ के मध्य औसतन कपास का मूल्य ३१ प्रतिशत से, मजदूरी ५७ प्रतिशत से, कोयला तथा ईंधन ४१ प्रतिशत से बढा जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन की कुल लागत मे ३७ प्रतिशत से वृद्धि हुई। उत्पादन कर भी १९६३-६४ मे ९१ करोड रुपये से बढकर १९६८-६९ मे ११७ करोड रुपये हो गया। मूल्य मे इस प्रकार वृद्धि होने के कारण उपभोक्ताओ ने वस्त्र पर कम व्यय करना आरभ कर दिया है।

कपास की कमी इस उद्योग के सामने दूसरी समस्या कपास की अनियमित तथा अपर्याप्त पूर्ति रही है। यद्यपि गत वर्षो मे देश मे कपास के उत्पादन मे वृद्धि हुई है, तथापि माँग की अपेक्षाकृत वृद्धि की दर कम रही है। परिणामस्वरूप, प्रतिवर्ष बहुत बडी मात्रा मे कपास का विदेशो से आयात करना पड़ता है। कपास की प्रति एकड़ उपज मे वृद्धि नही हुई है। भारतीय कपास का प्रति-एकड औसत उत्पादन ५० किलोग्राम है जब कि इण्डियन कॉटन मिल्स फेडरेशन द्वारा सचालित प्रायोजनाओ मे इसकी उपज प्रति एकड २०० किलोग्राम से भी अधिक रही है। वैसे इसके उत्पादन के क्षेत्रफल मे पर्याप्त वृद्धि हुई है।

संश्लिष्ट पदार्थ के वस्त्रों से स्पर्द्धा. सश्लिष्ट पदार्थ के बने वस्त्रो तथा सूती वस्त्रों मे प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती ही जा रही है क्योकि वे अधिक टिकाऊ हैं और उन मे इस्त्री करने की आवश्यकता नही होती। शहर तथा गाँव के नवयुवक उसका अधिकाधिक प्रयोग करने लगे हैं। इसकी उपलब्धता मे १०० प्रतिशत से वृद्धि हुई है क्योकि १९५८ मे ० ९२ मीटर से बढकर १९६८ मे १.८३ मीटर हो गयी। चतुर्थ योजना के लिये (१९६९-७४) इण्डियन कॉटन मिल्स फेडरेशन का अनुमान है कि सूती वस्त्र का प्रति व्यक्ति उपभोग १४ मीटर ही रहेगा। इस अनुमान को

१९६८ मे योजना आयोग द्वारा नियुक्त वस्त्र के कार्यकारिणी दल ने भी स्वीकार किया है। इस प्रकार सूती मिलो का भविष्य टेरीकॉट जैसे वस्त्र के उत्पादन पर ही निर्भर है।

वित्तीय स्थिति इकनामिक टाइम्स मे २६ मई, १९६९ को ११३ सूती वस्त्र की कम्पनियो का अध्ययन प्रकाशित हुआ था। उसमे यह इगित किया गया था कि जब कि उत्पादन के कुल मूल्य मे वृद्धि १२ १ प्रतिशत से हुई, बिक्री मे वृद्धि ९ १ प्रतिशत ही रही जिसके परिणामस्वरूप सूती वस्त्रो का स्टाक बहुत बडी मात्रा मे एकत्रित हो गया। १९६७-६८ के अन्त तक इन मिलो का स्टाक १०० करोड रुपये तक बढ गया। ११३ कम्पनियो मे से ३५ कम्पनियो को हानि उठानी पड़ी जब कि १९६६-६७ मे केवल २० कम्पनियो को ही हानि हुई थी। कर से पूर्व सयुक्त लाभ घट कर २८ करोड रुपये से १९६७-६८ मे १९ करोड रुपये ही रह गया और शुद्ध लाभ १५ करोड रुपये से घट कर ९ करोड रुपये हो गया। सचति एव आधिक्य मे वृद्धि बहुत कम रही और कम्पनियो को वित्त के लिये मुख्य रूप से बाहरी साधनो पर विशेष रूप से बैक द्वारा साख पर ही निर्भर रहना पडा। मिलों का लाभ कम होने के कारण उनके लिये अश पूँजी को निर्गमित करके पूँजी प्राप्त करना कठिन हो गया। अहमदाबाद और बम्बई की कुछ मिलो को आर्थिक सकट का सामना करना पडा क्योकि जनता द्वारा जो उन्हें निक्षेप प्राप्त था उसे लोगो ने वापस ले लिया।

वैदेशिक विनिमय का उपार्जन. हाल के वर्षो मे सूती वस्त्र उद्योग वैदेशिक विनिमय का उपार्जन करने के स्थान पर उस पर स्वयं एक बोझ बनता रहा है। इसके द्वारा वैदेशिक विनिमय के उपार्जन के सम्बन्ध मे इसके द्वारा रसायन पदार्थ, कपास एव मशीन आदि के आयात पर भी ध्यान देना होगा। इस उद्योग का निर्यात गत वर्षो मे घटता जा रहा है। प्रथम योजना मे, औसत रूप से, वस्त्र एव सूत का वार्षिक निर्यात ६७ करोड रुपये का रहा था। द्वितीय योजना मे यह वार्षिक औसत घट कर ६२ करोड और तृतीय योजना मे ५५ करोड रुपये रह गया। इसके कारण देश के कुल निर्यात मे उसका भाग प्रथम योजना मे ११ प्रतिशत से घट कर द्वितीय योजना मे १० प्रतिशत तथा तृतीय योजना मे ७ ५ प्रतिशत हो गया। १९६६-६७ में यह प्रतिशत घट कर ६ ५ हो गया। १९६७-६८ मे थोडी सी वृद्धि हुई और यह ६ ६ प्रतिशत हो गया। जून १९६६ मे रुपये के अवमूल्यन के बाद सूती वस्त्र के निर्यात मे कोई सन्तोषजनक वृद्धि नही हुई। १९६८ मे भी, जो समुत्थान का वर्ष था, सूती वस्त्र का निर्यात १९६५ के स्तर का भी नही हुआ।

दूसरी ओर, सूत का निर्यात १६६५ के स्तर से अधिक हुआ। जापान से अत्यधिक प्रतिस्पर्द्धा होने के कारण भारत द्वारा निर्यात पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा।

विवेकीकरण

इस उद्योग को विवेकीकरण की अत्यधिक आवश्यकता है। इस सम्बन्ध मे सक्रिय प्रयास न किये जाने के कारण ही इसकी उत्पादकता बढने के स्थान पर कम होती गई है। इस उद्योग का भविष्य बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर है कि किस तत्परता के साथ विवेकीकरण के कार्यक्रम को कार्यान्वित किया जाता है। विवेकीकरण की आवश्यकता इसलिए तीव्र है कि (१) विश्व वस्त्र व्यापार मे प्रतिस्पर्द्धा तेजी के साथ बढती जा रही है। जापान, हाँगकाँग, इगलैण्ड, पश्चिमी तथा पूर्वी योरोप के देशो से प्रतिस्पर्द्धा दिन-प्रति-दिन बढती जा रही है। इसलिए अपने देश के मिलो की उत्पादकता, कार्यक्षमता मे वृद्धि, उत्पादन लागत मे कमी तथा उत्पादन की किस्म मे उन्नति लाना अति आवश्यक है जो कि विवेकीकरण करने के पश्चात ही सभव है। (२) पुरानी एव अप्रचलित मशीनो के होने के कारण उत्पादन लागत हमारे देश मे अत्यधिक है। (३) वैदेशिक विनिमय के उपार्जन करने के लिए निर्यात के स्तर को विवेकीकरण के माध्यम से बढाना है। (४) देश में ही वस्त्र का उपभोग तेजी से बढ सकना है यदि अच्छी किस्म का वस्त्र कम मूल्य पर उपभोक्ताओ को उपलब्ध हो सके। मूल्य मे वृद्धि होने के कारण ही युद्धोत्तर काल मे देश की जनता पहले से कम वस्त्र का उपभोग करने लगी है। युद्ध से पूर्व प्रति व्यक्ति वस्त्र का उपभोग १६ गज था और अब औसतन १३-१४ गज ही है। ऊँचे मूल्य तथा कम उपभोग की समस्या का हल विवेकीकरण के माध्यम से ही किया जा सकता है। (५) भारतीय सूती वस्त्र मिल मे श्रमिको की उत्पादकता बहुत कम है। जापान मे एक व्यक्ति १,६००-२,००० तकुओं को देख लेता है, १,५००-२,१०० तकुओ को सयुक्त राज्य अमेरिका मे, इगलैण्ड में ८०० और भारतवर्ष मे ३८० (औसत) तक की ही देखभाल कर सकता है। (६) विवेकीकरण के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने मे देरी होने के कारण अनेक मिलें अनार्थिक हैं और अनेक मिलो को प्रतिवर्ष बन्द करना पडता है।

सूती वस्त्र उद्योग मे विवेकीकरण की समस्या की गभीरता पर अनेक समितियो ने अपना विचार प्रकट किया है।

योजना आयोग ने १६५१-५६ के लिये १५० क्षमताहीन इकाइयो का विश्लेषण किया और बतलाया कि २५ इकाइयाँ बन्द हो चुकी थी और ३५

हानि पर चल रही थी। शेष ६० इकाइयाँ सीमान्त क्षमता के स्तर पर ही या उससे थोडे अधिक पर कार्य कर रही थी। द्वितीय योजना मे औद्योगिक विकास मे इसीलिए विवेकीकरण को प्राथमिकताओ मे तीसरा स्थान प्रदान किया गया था।

सूती वस्त्र जाँच (जोशी) समिति, १९५८ ने इस पर विस्तृत जाँच की और अपनी रिपोर्ट दी। समिति ने उद्योग की कठिनाइयो के बारे मे जाँच करते हुए उन विभिन्न कारणो को बताया जिनके कारण यह परिस्थिति आई। इसने अप्रचलित मशीनो के प्रतिस्थापन, विवेकीकरण, आधुनिकीकरण, क्षमताहीन प्रबन्ध को सुधारने तथा श्रमिको की उत्पादकता मे उन्नति लाने की आवश्यकता के बारे मे बताया। समिति ने यह विचार व्यक्त किया कि प्रत्येक इकाई मे उत्पादन का विशिष्टीकरण करने से उसकी किस्म मे वृद्धि हो सकती है और साथ ही उत्पादन की लागत मे भी कमी आयेगी।

दूसरे, समिति का विचार था कि बाजार सम्बन्धी आँकडो की तथा उस क्षेत्र मे शोध की अति आवश्यकता है। इस कमी को दूर करने के लिए सरकार तथा उद्योग को मिल-जुलकर काम करना चाहिए।

तीसरे, समिति का विचार था कि यह अत्यन्त उपयुक्त समय था जबकि प्रामाणिक लागत प्रणाली का प्रयोग उद्योग मे आरभ कर दिया जाय जिससे कि विभिन्न क्षेत्रो एव केन्द्रो की इकाइयो की सापेक्ष क्षमता का पता लग सके। इस सम्बन्ध मे टैक्सटाइल कमिश्नर के अन्तर्गत कोई उचित सगठन होना चाहिए जो कि लागत विश्लेषण की प्रणाली के विषय मे उद्योग को परामर्श दे सके।

चौथे, मिलों के बन्द होने के सम्बन्ध मे विचार करते हुए समिति ने सुझाव दिया कि उन मिलो का समापन कर दिया जाय जिनमे अप्रचलित मशीने हो और उसी स्थान या क्षेत्र मे नई मिलों की स्थापना के लिए लाइसेंस दिया जाय। कुप्रबन्ध जिन मिलो मे हो रहा हो उनमे उचित अनुसन्धान किया जाय और उसे दूर करने के लिए आवश्यक कार्यवाही की जाय। सम्मिलन के द्वारा अनार्थिक इकाइयो को आर्थिक बनाने का प्रयास किया जाय। इस सम्बन्ध मे बराबर सर्वेक्षण भी किया जाना चाहिए।

पाँचवे, समिति का विचार था कि १५ वें भारतीय श्रम सम्मेलन मे निर्धारित शर्तों को ध्यान मे रखकर, विवेकीकरण उन केन्द्रो मे शीघ्रता से नही करना चाहिए जहाँ अतिरिक्त श्रमिको की संख्या अधिक हो। सम्पूर्ण उद्योग के लिए विवेकीकरण उप-समिति की स्थापना का इसने सुझाव दिया जो कि समय-समय पर विवेकीकरण से सम्बन्धित नीतियो एव सिद्धान्तो पर विचार कर सके। क्षेत्रीय स्तर पर उप-समितियो के गठन की भी इसने सिफारिश की जो कि अपने-अपने क्षेत्र मे विवेकीकरण की व्यक्तिगत योजना पर विचार कर सके।

अन्त मे, समिति ने यह सिफारिश की कि जहाँ प्रबन्धक इस पर विचार करने के लिए तैयार न हो, वहाँ ऐसी मिलो के प्रबन्ध को ले लेना आवश्यक होगा। सरकार के द्वारा लियें गये ऐसे मिलो के प्रबन्ध के हेतु, समिति नें एक स्वायत्त निगम की स्थापना करने का सुझाव दिया जो कि सरकार से स्वतन्त्र रह कर अपना कार्य कर सके। इस उद्योग के कार्य सचालन से सम्बन्धित सभी मामलों पर टैक्सटाइल कमिश्नर को परामर्श देनें के लिए एक सलाहकार समिति के नियुक्त करने की सिफारिश की।

जोशी समिति की सिफारिशो के आधार पर नवम्बर १९५८ मे भारत सरकार ने निम्नलिखित निर्णयो की घोषणा की (१) टैक्सटाइल कमिश्नर विभिन्न प्रकार के वस्त्रो के उत्पादन की सामान्य प्रवृत्ति की देखभाल करता रहेगा और ऐसे निदेश देगा जिससे कि उत्पादन मे असन्तुलन न हो सके। स्टाक तथा मूल्य के सम्बन्ध मे आँकडो के एकत्र करने का कार्य भार भी उसे सौंपा गया। (२) सर्वेक्षण सगठन को सुदृढ किया जाय जो कि सीमान्त एव उप-सीमान्त इकाइयो का नियमित रूप से अध्ययन एव सर्वेक्षण कर सके। (३) विवेकीकरण के सम्बन्ध मे समिति के इस विचार को स्वीकृत कर लिया गया कि इसे उसी प्रकार से किया जाय जैसा कि १५ वे भारतीय श्रम सम्मेलन मे सुझाव दिया गया था। (४) आधुनिकीकरण के सम्बन्ध मे प्रत्येक मामले पर वस्त्र उद्योग तथा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के हितो को ध्यान मे रखकर विचार किया जाय। स्वचालित कर्घों को लगाने के लिए देश मे आवश्यक वातावरण का सृजन किया जाय। (५) सलाहकार समिति की स्थापना का सुझाव स्वीकृत कर लिया गया। (६) सरकार ने विवेकीकरण उप-समिति की स्थापना का प्रस्ताव भी मान लिया। (७) स्वायत्त निगम की स्थापना के सुझाव को भी स्वीकृत कर लिया। (८) सूती वस्त्र सलाहकार मण्डल की स्थापना की गई जिसका अध्यक्ष वाणिज्य एव उद्योग मन्त्री होगा।

अप्रैल १९५९ मे सूती वस्त्र सलाहकार समिति ने एक तदर्थ दल नियुक्त किया। उस दल ने निम्नलिखित चार सिफारिशे की (अ) सभी मिलो मे मशीन के उचित अनुरक्षण की अत्यधिक आवश्यकता है। वित्त मे कमी और मशीन के पुर्जो के न मिलने के कारण ही प्रमुख रूप से उचित अनुरक्षण नही हो पाता। उच्च स्तर पर अनुरक्षण के लिए एक लघु समिति होनी चाहिए तथा पाँच या छः क्षेत्रीय स्तर पर सस्थायें होनी चाहिए जिनके सदस्य मुख्य रूप से टैक्नीशियन होनें चाहिए। (ब) आधुनिकीकरण के सम्बन्ध मे, प्रत्येक इकाई को आधुनिकीकरण के पहलुओ पर विचार करने के लिये स्वतन्त्रता

होनी चाहिए। (स) विवेकीकरण समिति को आवश्यक प्रमापो को निश्चित करना चाहिए तथा यथावश्यक उनको कार्यान्वित करने के लिए सहायता प्रदान करनी चाहिए। (द) विवेकीकरण तथा अनुरक्षण समिति को अहमदाबाद, बम्बई तथा कोयम्बटूर स्थित टैक्स्टाइल रिसर्च एसोसियेशन की सहायता अवश्य प्राप्त करनी चाहिए।

सूती वस्त्र उद्योग के लिये केन्द्रीय मजदूरी मन्डल ने भी इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया था कि विवेकीकरण को शीघ्रता के साथ कार्यान्वित किया जाना चाहिए और सरकार को सक्रिय रूप से सहयोग देना चाहिए। सरकार ने इसकी सिफारिशो को मार्च १९६० मे स्वीकृत कर लिया था।

सूती वस्त्र उद्योग के लिये कार्यकारिणी दल, १९६१ राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम ने अगस्त १९५९ मे इस दल की नियुक्ति श्री जोशी की अध्यक्षता मे की। इस दल ने विवेकीकरण से सम्बन्धित अनेक पहलुओ का अध्ययन किया, विशेषरूप से इसके लिये आवश्यक वित्त तथा वैदेशिक विनिमय के बारे मे पता लगाया। अप्रैल १९६१ मे सरकार ने इसकी प्रमुख सिफारिशो को स्वीकृत कर लिया। प्रमुख सिफारिशे निम्नलिखित है:

(१) इस दल के द्वारा निर्धारित आधुनिकीकरण का एक स्तर था जो कि मुख्य रूप से न्यूनतम स्तर के पास ही था। यदि मिल उद्योग के सगठित क्षेत्र का फिर से नवीकरण किया जाय तो लगभग ८०० करोड रुपये की लागत बैठेगी जिसे एक आवश्यक न्यूनतम लागत के रूप मे ही लेना चाहिए। क्योकि इतना वित्त उपलब्ध नही हो सकता अत इस दल ने आधुनिकीकरण की न्यूनतम लागत १८० करोड रुपये निर्धारित की।

(२) इस दल ने अनुमान लगाया कि आधुनिकीकरण तथा प्रतिस्थापन के लिये तृतीय योजना मे लगभग ६० करोड रुपये की मशीन का आयात करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त २३ करोड रुपये की लागत के पुर्जो की आवश्यकता होगी। इस दल को आशा थी कि लगभग ७५ प्रतिशत आवश्यक मशीनें अपने ही देश के निर्माताओ से प्राप्त हो सकेगी।

(३) दल ने यह गणना की कि १८० करोड रुपये मे से उद्योग अधिक से अधिक ८० करोड रुपये ही अपने साधनों से एकत्र कर सकता है। शेप धन का प्रबन्ध राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम, औद्योगिक वित्त निगम तथा ऐसी ही सस्थाओ को करना होगा और उन्हे उदार ऋण नीति अपनानी होगी।

(४) विदेशो से वित्त प्राप्त करने के मामले पर भी इस दल ने विचार किया। इसने सुझाव दिया कि एक लघु समिति बनाई जाय जिसमे उद्योग एव सरकार के प्रतिनिधि हो जो कि विभिन्न देशो से वित्त प्राप्त करने की सभावनाओ के विषय मे विचार कर अनुमान लगा सके।

(५) दल ने बन्द मिलो के सम्बन्ध मे सिफारिश की कि विधि मे आवश्यक सशोधन किया जाना चाहिए जिससे कि उन मिलो को अनिवार्य रूप से समाप्त किया जा सके जिनकी मशीन एव सयत्र बेकार एव अप्रचलित हो चुकी हो। इसके लिये कुछ प्रोत्साहन भी दिया जा सकता है। एक कोष बनाया जाय जिसमे से १० रुपये प्रति तकुए तथा ४०० रुपये प्रति कर्घे की दर से ऐसी इकाइयो को क्षतिपूर्ति के रूप मे दिया जा सके। इस राशि को प्राप्त करने के लिये कुछ लाइसेस शुल्क या विस्तार के लिये नये लाइसेस पर प्रीमियम लगाना चाहिए।

(६) दल ने एक वस्त्र मिल स्थायी सलाहकार समिति की स्थापना की सिफारिश की जिसे सरकार ने स्वीकृत कर लिया। इस समिति को मिल बन्द होने का कारण, कम क्षमता वाली इकाइयो की हानियो एवं असतोषजनक कार्य आदि का परीक्षण करना होगा।

(७) दल की इस सिफारिश को भी सरकार ने मान लिया कि पॉच नई इकाइयो की स्थापना २५,००० तकुओं एव ५०० कर्घों सहित (प्रत्येक मे) की जाय जिसमे सब आधुनिकतम मशीने हो और जो दोषरहित अच्छे किस्म का उत्पादन कर सके।

(८) इस दल ने अनुमान लगाया कि अगले पाँच वर्षों मे आधुनिकीकरण एव प्रतिस्थापन के कारण लगभग १५ प्रतिशत श्रमिक बेकार हो जायँगे। यदि यह प्रतिशत २० भी हो जाय तो उनको रोजगार प्रदान करने की समस्या अत्यन्त कठिन नही है क्योकि लगभग ३ प्रतिशत श्रमिक तो प्रतिवर्ष केवल मृत्यु, बुढापे आदि के कारण बेकार हो जाते है। दल ने यह बताया कि वह समय आ गया था जब कि और श्रमिको को नियुक्त करना बन्द कर देना चाहिए।

भारत सरकार ने इस दल के द्वारा सुझाई आधुनिकीकरण एव विवेकीकरण की योजना को स्वीकृत कर लिया और तृतीय योजना के लिये १७० करोड़ रुपये की लागत का अनुमान किया जिसमे कि सूती वस्त्र उद्योग मे आवश्यक आधुनिकीकरण, प्रतिस्थापन तथा विभिन्नीकरण तेजी से हो सके।

कठिनाइयों का विश्लेषण (१) सूती वस्त्र उद्योग का विवेकीकरण करने के लिये सरकार की नीति सुदृढ नही रही है। यह नीति राजनीतिक तथा

सैद्धान्तिक विचारो से अधिक प्रभावित है न कि आर्थिक विचारो से। एक ओर तो सरकार श्रमिको के नेताओ को प्रसन्न रखती रही है और दूसरी ओर हाथ-कर्घा के जुलाहो एव चर्खा कातने वालो को भी प्रसन्न रखती रही है। मजदूरी मे वृद्धि होने के कारण, विशेष रूप से केन्द्रीय मजदूरी मण्डल की सिफारिशो को स्वीकृत करने के पश्चात् से, उत्पादन लागत मे तेजी से वृद्धि हुई है। साथ ही कुछ प्रकार के वस्त्रो के उत्पादन पर नियन्त्रण भी लगा हुआ है। इस अवधि मे अनेक समितियो, परिषदो तथा कार्यकारिणी दलो की स्थापना की गई परन्तु उन सबसे कोई विशेष लाभ नही हुआ। सरकार की नीति वास्तव मे सुदृढ नही है।

(२) उद्योग के राष्ट्रीयकरण का विरोध इसलिये भी किया जाता रहा है कि इसके कारण नई प्रक्रियाओ को अपनाने पर बेरोजगार बढेगा। परन्तु यदि इस बात पर ध्यान रखा जाय कि अनेक मिल अनार्थिक होने के कारण बन्द होती रही है, तो इस पर विशेष विचार करने की आवश्यकता बढ जाती है। इस परिस्थिति मे चुनाव रोजगार एव बेरोजगार मे नही करना है अपितु 'रोजगार' एव 'रोजगार के समाप्त होने' मे करना है। विवेकीकरण को तो कार्यान्वित किया जाना चाहिए यद्यपि इससे अस्थायी बेरोजगारी भी फैले। साथ ही उन उपायो को भी अपनाया जाना चाहिए जिनसे बेरोजगार श्रमिको को नौकरी प्रदान की जा सके।

(३) स्वचालित कर्घो को लगाने की अनुमति कुछ कडी शर्तो के अन्तर्गत ही दी जा रही है। उदाहरण के लिये, शर्त यह है कि उनसे उत्पादित सभी वस्त्र को निर्यात करना होगा। देश के ही उपभोक्ताओ को इनसे प्राप्त लाभ से क्यो वचित रखा जाय? साथ ही, यदि विश्व बाजार की दशाये अनुकूल न हों तो इस योजना के अन्तर्गत उत्पादित वस्त्रो का क्या होगा? वैसे भी अन्य देशो की अपेक्षाकृत स्वचालित कर्घों का प्रतिशत हमारे देश मे बहुत कम है।

(४) उपकरणो का आधुनिकीकरण आयात लाइसेंस तथा वैदेशिक विनिमय के प्राप्त होने पर निर्भर है। वास्तव मे आधुनिकीकरण आयात की गई मशीनो से तो सम्भव नही है। इस कार्य के लिये वैदेशिक विनिमय उपलब्ध कराने के लिये कुछ ठोस प्रयत्न किए जाने चाहिए।

(५) इस उद्योग के आधुनिकीकरण के लिये ४००-५०० करोड़ रुपये की आवश्यकता है। केवल बम्बई की मिलो को १५० करोड रुपये की आवश्यकता है। अधिकाश मिलों के पास आन्तरिक संचय या साधन इसके लिये नही हैं।

मार्च ३१, १९६२ तक राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम द्वारा १६·५७ करोड रुपया जो स्वीकृत किया गया था वह बहुत कम है। सहायता की इस न्यून दर के कारण का पता अवश्य लगाना चाहिए और उन उपायो को अपनाना चाहिए जिनसे उद्योग को पर्याप्त वित्त उपलब्ध हो सके।

(६) अनेक मिलो मे कुप्रबन्ध भी पाया गया है जिसके कारण कुछ मिलो की स्थिति सोचनीय हुई और कुछ को बन्द करना पडा। जून १९५९ मे, वाणिज्य एव उद्योग के केन्द्रीय मत्री ने यह विचार व्यक्त किया था कि कुछ सूती वस्त्र उद्योग के मामलो की जॉच करने पर यह ज्ञात हुआ कि उनमे से कुछ का प्रबन्ध यदि सुधार दिया जाय तो उनका सचालन आवश्यक क्षमता के साथ किया जा सकता है। सरकार को ऐसी मिलो के प्रबन्ध को ले लेने का पर्याप्त अधिकार प्राप्त है। ऐसी दशाओ मे कार्यवाही करने मे देरी करने से स्थिति और गभीर हो सकती है।

आधुनिकीकरण. सूती वस्त्र की मिलो का तेजी के साथ आधुनिकीकरण तथा प्रतिस्थापन की आवश्यकता पर अनेक समितियो ने समय-समय पर बल दिया है। जोशी समिति (१९५८) ने इस बात पर जोर दिया था कि अधिकाश मशीनें ४० वर्ष पुरानी थी और उनकी उपयोगिना समाप्त हो चुकी थी। जब कि जापान मे मशीन का औसत जीवन-काल कताई के लिये १७ वर्ष तथा बुनाई के लिये १५ वर्ष माना जाता है। स्वचालित कर्घो का अनुपात भी भारत मे अति न्यून है। हमारे देश मे अनुपात १० प्रतिशत है जब कि सयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा मे १०० प्रतिशत, पश्चिमी जर्मनी मे ७३ प्रतिशत, पाकिस्तान मे ६३ प्रतिशत तथा रूस मे ५८ प्रतिशत है।

भारतवर्ष मे गत दस वर्षों मे कुल कर्घों की सख्या मे वृद्धि नही हुई है और मुख्य रूप से सरकारी नीति के कारण यह २ लाख के आस-पास ही हैं। तृतीय योजना मे २५,००० स्वचालित कर्घों के लगाने का प्रस्ताव रखा गया था जब कि वास्तव में केवल ४,००० ही लगाये जा सके। १९६३ मे मिलो को अपनी कताई की क्षमता का ७ ५ प्रतिशत तक तथा बुनाई की क्षमता का १० प्रतिशत तक ही विस्तार करने की अनुमति दी गई थी। कताई की मिलो को अपनी क्षमता को बढाने का तथा प्रत्येक को १०० कर्घों को लगाने की छूट दी गई। परन्तु प्रगति कोई सतोषजनक न रही। समय-समय पर आधुनिकीकरण की लागत का अनुमान लगाया जाता रहा है। दिसम्बर १९६८ मे, योजना आयोग द्वारा नियुक्त वस्त्र पर कार्य-कारिणी दल का अनुमान था कि इसके लिये २५० से ३०० करोड तक के मूल्य की मशीनों की आवश्यकता होगी। इस दल का अनुमान था कि इसमें से

लगभग ५० प्रतिशत उद्योगो को दीर्घ-कालीन ऋण के रूप मे उदारपूर्ण शर्तों पर दिया जाना चाहिए। इसने यह भी सुझाव दिया था कि उद्योग को कुछ प्राथमिकता दी जानी जाहिए और विकास छूट ३५ प्रतिशत की दर से दी जानी चाहिए। १९६९-७० के केन्द्रीय बजट मे इसकी व्यवस्था की गई थी।

मशीनों की उपलब्धता. इस उद्योग की आवश्यकता यह भी है कि आधुनिकतम सूती वस्त्र मशीन विनिर्माण करने वाले उद्योग का समुचित विकास किया जाय। इस दिशा मे प्रयास १९३९-४० से ही प्रारभ किया गया था। द्वितीय महायुद्ध से इस उद्योग को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। परन्तु युद्ध के समाप्त होते ही जापान तथा इगलैंड से वस्त्र की मशीनो का आयात किया गया। इससे देश के इस उद्योग का शिशुकाल मे ही विकास रुक गया। १९५५ मे सरकार ने इस सम्बन्ध मे गभीरता पूर्वक विचार किया और इसकी सहायता करना आरभ किया। इसे पर्याप्त सरक्षण भी प्रदान किया। १९६६ मे वस्त्र-मशीनरी के मिलो की सख्या बढ कर ४७ हो गई और उसमे से २७ ने उत्पादन भी आरभ कर दिया था। परन्तु हाल के वर्षों मे इस उद्योग को अपने उत्पादन के लिये मन्दी का सामना करना पड रहा है।

भविष्य

चतुर्थ योजना मे सूती वस्त्र भारतीय सूती वस्त्र फेडरेशन ने चतुर्थ योजना काल के लिये सूती वस्त्र की माँग का अनुमान ९५,००० लाख मीटर लगाया है। जनसख्या को ६० करोड मानते हुए तथा प्रति व्यक्ति उपभोग १४·३ मीटर मानते हुए तथा ८,५०० लाख मीटर निर्यात के लिये व्यवस्था करने के पश्चात् इस पूर्ण उत्पादन को मिल क्षेत्र तथा विकेन्द्रित क्षेत्र मे ६ ५ के अनुपात मे बाँटा गया। इस प्रकार मिल क्षेत्र का भाग ५२,००० लाख मीटर तथा विकेन्द्रित क्षेत्र का भाग ४३,००० लाख मीटर होगा। मिल क्षेत्र मे उत्पादन का अनुकूलतम स्तर वर्तमान क्षमता के आधार पर ११,००० लाख किलोग्राम सूत तथा ४८,००० लाख मीटर वस्त्र है। १९६३-६४ के लिये निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति के लिये अतिरिक्त क्षमता का अनुमान ३,८०,००० तकुओ का तथा १८,००० कर्घो का लगाया गया है। जहाँ तक विकेन्द्रिन क्षेत्र का सम्बन्ध है, ३२,००० लाख मीटर वस्त्र के वर्तमान उत्पादन के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि ४२,००० अतिरिक्त कर्घों की आवश्यकता होगी।

विकेन्द्रित क्षेत्र सूती वस्त्र उद्योग के विकेन्द्रित क्षेत्र के अन्तर्गत शक्ति-चालित कर्घे, हथकर्घे तथा खादी आते है। खादी को छोड़कर अन्य विकेन्द्रित

क्षेत्र को सूत मिल क्षेत्र ही प्रदान करता है। इनकी रोजगार प्रदान करने की क्षमता अधिक होने के कारण सरकार इनको सक्रिय रूप से प्रोत्साहन देती रही है। अपने जीवन-यापन के लिये इस क्षेत्र पर १०० लाख से अधिक व्यक्ति निर्भर हैं। १६५१ तथा १९६१ के मध्य मिल क्षेत्र मे वस्त्र का उत्पादन ३७,००० लाख मीटर से बढ कर ४७,००० लाख मीटर ही हुआ जबकि इस क्षेत्र मे १०,००० लाख मीटर से बढ कर २४,००० लाख मीटर हो गया। तृतीय योजना के अन्त तक इस क्षेत्र का उत्पादन बढ कर ३१,००० लाख मीटर हो गया था जो कि कुल उत्पादन का ४० प्रतिशत था। १६७०-७१ तक इस क्षेत्र मे वस्त्र का उत्पादन बढ कर ४६,००० लाख मीटर हो जाने की आशा है। इस क्षेत्र मे अधिकाश उत्पादन हथकर्घों से ही होता है जिनकी सख्या १९५३-१६६६ मे ७ लाख से बढ कर ३० लाख हो गई। हथकर्घे उद्योग मे लगभग ७५ लाख जुलाहो को रोजगार प्राप्त है। शक्ति-चालित कर्घों के बारे मे पर्याप्त ऑकडे उपलब्ध नही हैं परन्तु गैर-सरकारी सूत्रो के अनुसार देश मे १ लाख शक्तिचालित कर्घे है। खादी उद्योग की प्रगति भी धीरे-धीरे हो रही है। इसकी प्रगति खादी एव ग्राम उद्योग आयोग की स्थापना के बाद से विशेष उल्लेखनीय रही है। खादी का उत्पादन १६५३-५४ मे १०० लाख वर्ग मीटर से बढ कर १६६२-६३ मे ७५० लाख वर्ग मीटर हो गया। खादी क्षेत्र मे रोजगारप्राप्त व्यक्तियो की सख्या १६५३-५४ मे ४ लाख से बढकर १६६२-६३ मे १८ लाख हो गई। वैसे खादी मे रोजगार अशकालिक है और आय भी अपेक्षाकृत कम ही होती है।

राष्ट्रीय वस्त्र निगम भारत सरकार ने १६६८ मे राष्ट्रीय वस्त्र निगम की स्थापना की। इसका प्रमुख उद्देश्य केन्द्रीय सरकार द्वारा ली गई मिलों का सचालन करना है, सूती मिलों की स्थापना करके उनका सचालन करना है, तथा वस्त्र व्यवसाय करने वाली कम्पनी के साथ साझेदारी करना है, वैसे यह निगम कमजोर तथा बन्द हो गई मिलों की समस्याओ का समुचित समाधान सुचारु रूप से नही कर सकता है क्योंकि इसके पास सीमित वित्त तथा प्रबन्ध की व्यवस्था है।

शोध एव विकास. वस्त्र उद्योग मे टैक्नालॉजिकल शोध का पर्याप्त विकास हो चुका है। सूती वस्त्र कोष से वित्तीय सहायता प्रदान करने के कारण ही ऐसा सभव हो सका है। तीन शोध एसोसियेशन—अहमदाबाद वस्त्र उद्योग शोध एसो-सियेशन (ATIRA), बम्बई वस्त्र शोध एसोसियेशन (BTRA) तथा दक्षिण भारतीय शोध एसोसियेशन (SITRA)—को १ करोड रुपये से अधिक का अनुदान दिया गया।

भारतवर्ष मे सूती वस्त्र उद्योग के श्रमिको की उत्पादकता अपेक्षाकृत कम है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्नत देशों के समान उद्योगों के पास मशीने एव उपकरण नही है अत उनके वहाँ की उत्पादकता का स्तर प्राप्त करना आसान नही है, फिर भी वर्तमान स्थिति मे भी उत्पादकता को बढाया जा सकता है।

जनसख्या तथा प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि होने के साथ ही वर्ष-प्रति-वर्ष सश्लिष्ट पदार्थ से बने वस्त्र की माँग मे वृद्धि तो होगी ही। गत दस वर्षो मे ऐसे वस्त्र का उपभोग दुगना हो गया। इस समय आवश्यकता इस बात की है कि उद्योग इस दिशा मे उचित एव आवश्यक समजन करने का प्रयत्न करे।

निर्यात के सम्बन्ध मे भी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। मिलो को अपने उत्पादन का उचित प्रतिशत, या १० प्रतिशत, निर्यात के लिये निकाल देना चाहिए तथा स्टाक कम करने के लिये अल्प-कालीन उपाय के रूप मे ही निर्यात करने की प्रथा को समाप्त कर इसे स्थायी कार्यक्रम मे उचित स्थान प्रदान करना चाहिए। इसके लिये वस्त्र की किस्म मे उन्नति करने का तथा लागत कम करने कर प्रयास करना चाहिए।

इस समय यह अत्यधिक आवश्यक है कि मजदूरी एव्र मँहगाई भत्ता को वर्तमान स्तर पर ही रोक दिया जाय तथा इनमे कोई भी वृद्धि इस शर्त पर की जानी चाहिए कि उतनी ही उत्पादकता मे वृद्धि हो।

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् से, इस उद्योग पर विभिन्न प्रकार का नियन्त्रण लगाया जाता रहा है। पहले मूल्य नियत्रण था फिर उत्पादन कर मे वृद्धि की गई। मशीन तथा सयत्र के आधुनिकीकरण पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया। आधुनिक मशीनो का आयात करना भी वैदेशिक विनिमय के अभाव में कठिन ही रहा है। इस प्रकार प्राकृतिक कारणों की अपेक्षाकृत इन कारणो से भी उद्योग के सामने समय-समय पर कठिनाइयाँ आती रही है।

१९६० के पश्चात् इस उद्योग के सामने कठिनाइयाँ ही आती रही है। राजनीतिक तथा आर्थिक दोनो ही प्रकार के दुर्भाग्य का सामना करना पडा है। चीन के द्वारा १९६२ मे और फिर पाकिस्तान के द्वारा १९६५ मे आक्रमण के कारण मुद्रास्फीति आई तथा कर का भार बढता ही गया। फिर अवमूल्यन एव सूखा पडने के कारण और भी कठिनाइयाँ आई। आर्थिक पश्चायन (recession) के कारण इस उद्योग को अत्यधिक सकट का सामना करना पड़ा।

तीव्रता के साथ बदलते हुए टैक्नालॉजी के कारण तथा आधुनिकीकरण न कर पाने की अयोग्यता के कारण विश्व-बाजार में अपने देश का उद्योग प्रतिस्पर्द्धा का

सामना नही कर पा रहा है। १९५१ तथा १९६६ के मध्य ५०० करोड़ रुपया व्यय करने के उपरान्त भी अभी उद्योग का आधुनिकीकरण नही हो पाया है। अनेक इकाइयो मे अभी भी पुराने ढग की टैक्नालॉजी का प्रयोग हो रहा है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि अगले ८ से १० वर्ष मे १,००० करोड रुपये की आवश्यकता आधुनिकीकरण के लिये होगी। उद्योग स्वय इतने अधिक धन की व्यवस्था नही कर सकता है। वित्तीय सस्थाये ही इस दिशा मे कुछ कर सकती हैं। इसका भविष्य तभी उज्जवल होगा जब यह आधुनिकतम मशीनो से उच्च टैक्नालाजी का प्रयोग कर न्यूनतम लागत पर उत्पादन करे और बदलती हुई माँग के अनुरूप आवश्यक समंजन करे।

अध्याय २७

जूट उद्योग

भारतीय अर्थव्यवस्था मे जूट उद्योग का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रमुख कारण यह है कि देश की सभी वस्तुओ के निर्यात के द्वारा जितना वैदेशिक विनिमय प्राप्त होता है उसका २० प्रतिशत केवल इसी उद्योग से ही प्राप्त होता है। सूती वस्त्र उद्योग के पश्चात् यह भारत का सबसे अधिक सगठित उद्योग है। लगभग २.३ लाख श्रमिको को इससे प्रत्यक्ष रूप से रोजगार प्राप्त होता है जो कि देश के सम्पूर्ण फैक्टरी श्रमिक का लगभग ६ प्रतिशत है। साथ ही, लगभग ३० लाख कृषक परिवार को अपनी आय का अधिकाश भाग जूट की खेती से प्राप्त होता है और अनेक व्यक्ति कच्चे जूट तथा जूट से निर्मित वस्तुओ के व्यापार मे लगे हुए है।

इस उद्योग की कुल स्थापित क्षमता १ जनवरी, १९६६ को (जब तक के ऑकडे उपलब्ध है) लगभग ७५,००० कर्घो की थी जो कि विश्व मे स्थापित सम्पूर्ण कर्घों का ५८ प्रतिशत था। विश्व मे जूट की वस्तुओ का कुल उपभोग ३० लाख टन से अधिक है उसमे भारत का योगदान ४० प्रतिशत से भी अधिक है, जब कि पाकिस्तान तथा पश्चिमी यूरोप के देशो का, प्रत्येक का, योगदान लगभग १२ प्रतिशत तथा इगलैंड का ५ प्रतिशत है तथा शेष अन्य छोटे देशो से प्राप्त होता है। यह उद्योग भारतवर्ष मे अधिकाशतया पश्चिमी बगाल मे ही केन्द्रित है और इतने वर्षो के उपरान्त भी इस के स्थानीयकरण मे विशेष परिवर्तन नही हुआ है। इसके उत्पादन तथा वितरण पर भारत सरकार का कोई भी नियत्रण नही है और सरकार अपने निर्णयो को भारतीय जूट मिल एसोसियेशन के द्वारा ही कार्यान्वित कराती है। यह एसोसियेशन देश के जूट उद्योग के प्रमुख प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करता है। यह जूट की वस्तुओ की माँग का अनुमान लगाता है, उत्पादन को मॉग के अनुरूप समायोजित करता है तथा जूट के उपयोगों पर शोध करता है।

१९४७ मे देश के विभाजन से पूर्व, भारतीय जूट उद्योग को विश्व जूट व्यापार में एकाधिकार प्राप्त था। अच्छे किस्म के कच्चे जूट के तथा सस्ते श्रमिको के उपलब्ध होने के कारण इसे विशेष सुविधा प्राप्त थी। परन्तु विभाजन के उपरान्त मे परिस्थिति बदल सी गई। जब कि अधिकाश जूट की मिले भारतवर्ष मे ही

रह गई, कच्चे जूट का, विशेष रूप से अच्छी किस्म की जूट का उत्पादन करने वाला अधिकाश क्षेत्र पूर्वी पाकिस्तान मे चला गया। परिणामस्वरूप, कच्चे जूट के अभाव का प्रभाव मिलो पर अत्यधिक पडा और उद्योग अपनी पूर्ण क्षमता का उपयोग करने मे असमर्थ रहा।

प्रथम योजना मे, कच्चे माल के अभाव की समस्या को दूर करने के लिये और क्षमता का पूर्ण उपयोग करने के लिये एक कार्यक्रम तैयार किया गया। बल विशेष रूप से विद्यमान क्षमता, जो कि १२ लाख टन पर स्थिर रही, के पूर्ण उपयोग पर दिया गया। यद्यपि इस दिशा मे किया गया प्रयास बहुत बडी सीमा तक सफल रहा तथापि पूर्ण क्षमता का उपयोग न हो सका। १९५६-६१ के लिये तैयार की गई योजना मे भी क्षमता के पूर्ण उपयोग पर ही बल दिया गया। इस अवधि मे एक उल्लेखनीय बात यह रही कि इस उद्योग के कताई भाग का सफलता के साथ सम्पूर्ण रूप से आधुनिकीकरण हो गया। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत कुछ अनार्थिक इकाइयो को बन्द कर दिया गया और इस प्रकार १९६२ मे कुल मिलो की सख्या घट कर १०९ हो गई जिसमे कुल कर्घे लगभग ७३,००० थे।

तृतीय योजना के अन्तर्गत जूट उद्योग की प्रगति तेजी के साथ हुई। इस योजना के अन्त तक इसके उत्पादन का लक्ष्य १३ लाख टन रखा गया था जो १९६३ मे ही पूरा हो गया जब कि इसका उत्पादन लक्ष्य से लगभग २४,००० टन अधिक रहा। १९६४ मे, यद्यपि इसका उत्पादन घट गया, तथापि इसके निर्यात से प्राप्त वैदेशिक विनिमय अधिक रहा। १९६५ मे उत्पादन १३४ लाख टन था तथा वैदेशिक विनिमय के रूप मे आय १८० करोड रुपये से भी अधिक थी। १९६६ मे, उत्पादन ११ लाख टन रहा जो कि गत चार वर्षों मे सब से कम रहा और वैदेशिक विनिमय के रूप मे प्राप्त आय भी १९६५ की अपेक्षाकृत कम रही। तृतीय योजना मे एक उल्लेखनीय विकास यह हुआ कि कालीन के निर्माण मे भी इसका उपयोग होने लगा और इस प्रकार इसका उपयोग इस दिशा मे भी बढ गया।

१९६०-६१ से १९६८-६९ तक क्षमता के उपयोग मे जो वृद्धि हुई तथा उत्पादन की जो प्रवृत्ति रही वह निम्नलिखित तालिका से ज्ञात होगा।

चतुर्थ योजना में यह आशा की जाती है कि विद्यमान क्षमता के स्तर पर इसका उत्पादन होता रहेगा जो कि १५ लाख टन है। यद्यपि उद्योग का विकास विगत वर्षों मे हुआ है तथापि केवल परम्परागत वस्तुओ का ही उत्पादन होता रहा है। नवीनतम वस्तुओ का उत्पादन कम मात्रा मे ही हो रहा है।

कच्चा जूट. विभाजन से पूर्व कच्चे जूट का उत्पादन माँग के अनुरूप पर्याप्त मात्रा मे होता था। परतु उसके उपरान्त कच्चा जूट उत्पादन करने वाले

अखिल भारतीय जूट की वस्तुओ का उत्पादन

(हजार टन मे)

वर्ष	स्थापित क्षमता	जूट की वस्तुओ का उत्पादन
१९६०-६१	१,२००	१,०७१
१९६१-६२	१,२००	१,०५०
१९६२-६३	१,२००	१,१७५
१९६३-६४	१,२००	१,१९०
१९६५-६६	१,२००	१,३०२
१९६८-६९ (अनुमानित)	१,५००	१,३००
१९७३-७४ (लक्ष्य)	—	१,५००

क्षेत्र का ७५ प्रतिशत पाकिस्तान के पास चला गया । अत कच्चे जूट के उत्पादन की वृद्धि के लिये प्रयास किये गये । ये प्रयास सफल रहे यह इस बात से सिद्ध होता है कि कच्चे जूट का आयात १९५०-५१ मे २६ लाख गाँठो से घट कर १९५५-५६ मे १५ लाख गाँठे तथा १९६०-६१ मे ४ लाख गाँठे ही रह गया। तृतीय योजना मे इस दिशा मे और प्रगति हुई और १९६३-६४ मे इसका आयात १ लाख गाँठे ही रहा। १९६४-६५ से कच्चे माल का अभाव तेजी के साथ बढा क्योकि जूट के वस्तुओ की माँग मे पर्याप्त वृद्धि हो गई और आयात की मात्रा बढ कर ६ लाख गाँठे हो गई। १९६५-६६ और १९६६-६७ मे स्थिति गभीर हो गई क्योकि फसल अच्छी न रही और आवश्यकता के अनुरूप ८० लाख गाँठो की कमी रही। परिणामस्वरूप, इन प्रत्येक दो वर्षो मे आयात बढ कर १५ लाख गाँठे हो गया।

१९५०-५१ से जूट के उत्पादन मे जो पर्याप्त वृद्धि हुई वह मुख्यतया जूट का उत्पादन करने वाले क्षेत्र के विस्तार के कारण ही हुई। वर्ष-प्रति-वर्ष इस क्षेत्र मे परिवर्तन होता रहा । यह परिवर्तन जूट तथा धान के उत्पादन मे सापेक्ष लाभ के परिवर्तन के कारण हुआ । यह मूल्य द्वारा प्रोत्साहन ही था जिस के कारण जूट के उत्पादन का क्षेत्र २० लाख एकड से भी बढ़ गया। मेस्टा, जिसका प्रयोग मिलो के द्वारा जूट मे मिलाने के लिये किया जाता है, का उत्पादन भी गत वर्षों मे पर्याप्त मात्रा मे बढा है परन्तु उस मे भी उच्चावचन होता रहा । विगत वर्षों मे, प्रति एकड उत्पादन के स्वरूप मे विशेष परिवर्तन नही पाया गया। कच्चे रेशे के रूप मे

प्रति एकड़ औसत लगभग २·८ गाँठों के आस-पास ही रहा है। मेस्टा का प्रति एकड़ उत्पादन और भी कम रहा है। दूसरी ओर, पाकिस्तान मे जूट का औसत उत्पादन प्रति एकड़ ३ से ४ एकड़ ही रहा है। साथ ही, भारत मे अधिकाशतया निम्न श्रेणी के मोटे रेशे का ही उत्पादन किया जाता है जो कि कताई के लिये अधिक उपयुक्त नही है।

जूट के उत्पादन करने के क्षेत्र की अब सीमा आ चुकी है और अब इस क्षेत्र का और विस्तार नही किया जा सकता है। अधिक से अधिक जूट उत्पादन के लिये ९ लाख हेक्टेयर तथा मेस्टा के उत्पादन के लिये ३ लाख हेक्टेयर उपलब्ध हो सकता है। परन्तु यह १२ लाख हेक्टेयर ९० लाख गाँठ जूट तथा मेस्टा के उत्पादन के लिये बहुत अपर्याप्त है। १९७३-७४ तक जूट से निर्मित वस्तु के उत्पादन का लक्ष्य १५ लाख टन रखा गया है और उसके उत्पादन के लिये कम से कम ९० लाख टन कच्चा जूट तथा मेस्टा चाहिए। अत इस समस्या का निदान यही है कि इसकी गहन खेती की जाय जिससे कि प्रति एकड़ उपज बढ़ सके। साथ ही, उपयुक्त मात्रा मे खाद, उत्तम बीज, समय पर और पर्याप्त निराई, तथा वैज्ञानिक रसायनो का प्रयोग आदि करके भी उपज को बढाया जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि अनेक प्रदर्शनकारी खेतो मे, जहाँ जूट तथा मेस्टा की गहन खेती का प्रयोग नियोजित ढग से किया गया प्रति एकड उपज बढ़ कर ४ से ५ गाँठे हो गई जबकि अखिल भारतीय औसत केवल २ ७ गाँठे ही है। हाल के वर्षो मे, जूट तथा मेस्टा की गहन खेती के लिये भारतीय जूट मिल एसोसियेशन द्वारा प्रदर्शन किया जा रहा है। जूट कृषि शोध सस्था ने भी इस सम्बन्ध में खोज कर खाद, बीज बोने के समय तथा फसल काटने आदि के सम्बन्ध मे कुछ सिफारिशें की हैं। इसने कुछ उन्नत बीजो का भी विकास किया है।

कच्चे जूट की समस्याओ के अन्तर्गत, कच्चे जूट के मूल्य की समस्या भी महत्वपूर्ण है क्योकि इसका प्रभाव निर्मित माल तथा निर्यात पर पड़ता है। सैंकिग की कुल निर्माण लागत का लगभग ७० प्रतिशत तथा हेसियन की कुल निर्माण लागत का लगभग ६५ प्रतिशत कच्चे माल की ही लागत होती है। कच्चे जूट के मूल्यो मे अत्यधिक उच्चावचन भी होता रहा है। मूल्य मे इस उतार-चढाव को न्यूनतम करने की अत्यधिक आवश्यकता है।

कच्चे जूट के उत्पादन मे पश्चिमी बगाल राज्य का बहुत बडा हाथ है। १९६७-६८ मे, जूट के अन्तर्गत कुल क्षेत्र का ५६ प्रतिशत इसी राज्य मे था। मेस्टा का उत्पादन भी अधिकाश इसी राज्य में होता है।

निर्यात. देश मे इस उद्योग के उत्पादन का ७५ प्रतिशत निर्यात कर दिया जाता है। जैसा पहिले उल्लेख किया गया है देश को प्राप्त कुल वैदेशिक विनिमय का २० प्रतिशत इसी उद्योग से प्राप्त होता है, परन्तु १९६८-६९ मे इसका भाग केवल १६ प्रतिशत था। निर्यात का मूल्य १९५०-५१ मे ११२ करोड़ रुपये से बढकर १९६६-६७ मे २३५ करोड रुपये हो गया परन्तु १९६८-६९ मे यह घट कर २१८ करोड रुपये ही रह गया। पिछले कुछ वर्षों मे निर्यात की गई जूट की वस्तुओ की प्रकृति मे कुछ परिवर्तन आया है। १९५५ के आस-पास तक भारतवर्ष अधिकाश हेसियन की अपेक्षाकृत सैकिंग का ही निर्यात करता था परन्तु पाकिस्तान मे जूट उद्योग के विकास होने पर हमारे उद्योग के दीर्घ काल से प्रतिष्ठित सैकिंग बाजार को उसने छीन लिया। १९५८ मे हेसियन की अपेक्षाकृत सैकिंग का निर्यात कम हो गया था और अब यह स्थिति स्थायी सी हो गई है। विश्व के बाजार मे सैकिंग तथा हेसियन दोनो ही महत्वपूर्ण पदार्थ है जिनकी माँग विश्व के बाजार मे अत्यधिक है और यह तथ्य कि हमारा जूट उद्योग सैकिंग बाजार को खो रहा है चिन्ताजनक है। यही नही कि इसकी बढी हुई माँग का भाग हमे प्राप्त नही हुआ है अपितु हमारा पहिले का भाग कम हो गया है और वह पाकिस्तान के पास चला गया है। हेसियन का निर्यात बढा तो है परन्तु उतना नही कि सैकिंग के निर्यात की कमी होने से जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति हो जाय।

भारतवर्ष को पाकिस्तान से अत्यधिक प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड रहा है। चूँकि पाकिस्तान मे इस उद्योग की स्थापना हाल मे हुई है अतः उसे आधुनिकतम नवीन मशीनो का, तथा सस्ते मूल्य पर उपलब्ध अच्छे किस्म के कच्चे जूट का लाभ प्राप्त है। साथ ही, खेत से फैक्टरी तक जूट को ले जाने की परिवहन लागत भी वहाँ भारत की अपेक्षाकृत कम है। इस प्रकार निर्यात के क्षेत्र मे भारत की अपेक्षाकृत पाकिस्तान को कुछ विशेष लाभ प्राप्त है।

अवमूल्यन के उपरान्त की अवधि में (जून, १९६६ के पश्चात्) जूट के निर्यात मे आशा के अनुकूल वृद्धि नही हुई है। अवमूल्यन से होने वाले लाभ को राज्य-कोष मे लाने के हेतु इस पर निर्यात-कर लगाया गया। परन्तु, उद्योग को अवमूल्यन से इस कारण विशेष लाभ नही हुआ कि सैकिंग पर ९०० रुपये प्रति टन की दर से तथा हेसियन पर ६०० रुपये प्रति टन की दर से निर्यात कर लगा दिया गया। साथ ही, देश मे सूखा की स्थिति होने के कारण उद्योग को कच्चे जूट का आयात भी करना पडा, और आयात की लागत ५७ ५ प्रतिशत से बढ गई थी। इस सम्बन्ध मे उद्योग ने कई बार सरकार से प्रत्यावेदन किया और परिणामस्वरूप जूट की वस्तुओ पर निर्यात कर को मई १९६७ मे घटा दिया गया। फिर भी

भारतीय जूट की वस्तुओ का मूल्य प्रतिस्पर्द्धात्मक न रहा और इसके स्थान पर उपयोग की जाने वाली अन्य वस्तुओ से इसे भय बढता ही गया। फरवरी १९६८ मे, जूट की वस्तुओ पर निर्यात कर को और घटा दिया गया। परन्तु ये कटौती भी उद्योग की आशाओ की अपेक्षाकृत कम ही रही।

प्रतिस्थापित वस्तुओ से प्रतिस्पर्द्धा. जूट की वस्तुओ के निर्यात के समक्ष प्रमुख समस्या सश्लिष्ट तथा अन्य प्रकार की पैकेजिंग तथा बड़ी मात्रा मे सामान को एक साथ ले जाने की प्रणाली (bulk-handling) से होने वाली प्रतिस्पर्द्धा है। प्रतिस्थापित वस्तुओ द्वारा पैकेजिंग से प्रतिस्पर्द्धा की समस्या नई नही है अपितु यह धीरे-धीरे अनेक वर्षों मे विकसित हुई है। अनेक प्रकार के पदार्थ जैसे सीमेण्ट, कच्ची चीनी, जानवरों के खाने की वस्तुये, खाद, अन्न आदि जिन्हे पहिले जूट के बोरे मे ले जाया जाता था अब इकट्ठा ही इधर से उधर ले जाया जाता है। इस प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करने के लिये उद्योग कुछ भी नही कर सकता है। कागज के बने थैलो से भी प्रतिस्पर्द्धा है, विशेष रूप से सयुक्त राज्य अमेरिका से। दीर्घ काल मे, सश्लिष्ट पदार्थो से होने वाली प्रतिस्पर्द्धा जूट के लिये चिन्ताजनक है।

वित्तीय प्रवृत्तियाँ. मई १९६९ मे Financial Express मे ३२ जूट कम्पनियो के सम्बन्ध मे एक अध्ययन प्रकाशित हुआ था जिसमें इस उद्योग की वित्तीय स्थिति के विषय मे कुछ सूचनाये प्राप्त हुई। इसके द्वारा १९६५-६६, १९६६-६७ तथा १९६७-६८ मे इस उद्योग की असन्तोषजनक स्थिति का ज्ञान हुआ। १९६६-६७ तथा १९६७-६८ मे, ३२ कम्पनियो मे से १८ कम्पनियाँ लाभाश की दर को पूर्ववत न रख सकी। १९६६-६७ के स्तर पर १९६७-६८ मे केवल ८ कम्पनियाँ ही लाभाश को विभाजित कर सकीं। यद्यपि ३२ कम्पनियो की सकल बिक्री १९६५-६६ मे १६१ करोड रुपये से बढ़कर १९६७-६८ मे १९१ करोड रुपये हो गई परन्तु कर से पूर्व लाभ ४ ८ करोड रुपये से घट कर १ १ करोड रुपये हो गया और १९६८-६९ मे तो यह हानि मे बदल गया। कम लाभ होने के कारण, जूट कम्पनी साधारण अशो के माध्यम से पर्याप्त धन एकत्रित न कर पाई। अतः उन्हें ऋण लेकर, विशेष रूप से बैक से, ही अपना काम चलाना पडा।

शोध एवं विकास. उद्योग मे शोध की महत्ता को भारतीय जूट मिल एसोसियेशन ने बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया था। इधर हाल मे, विशेष बल कच्चे जूट के विकास पर तथा जूट उत्पादनो के विभिन्नीकरण पर ही दिया जा रहा है। शोध कार्य उत्तम प्रकार के बीज को सुरक्षित रखने तथा विभाजित करने, खाद डालने की उचित प्रणाली, वैज्ञानिक बुनाई, रेशा निकालने की अनुकूलतम

दशायें आदि पर चल रहा है। उत्पादन का विकास करने के लिये भी कई शोध योजनाये चल रही है जिससे सूत की कताई तथा वस्त्र निर्माण मे विकास सभव हो पायेगा ।

किस्म नियंत्रण. उद्योग के समक्ष जूट की वस्तुओ की किस्म मे उन्नति लाने तथा उसे बनाये रखने की भी समस्या है। भारतीय जूट मिल एसोसियेशन के द्वारा तैयार की गई किस्म नियत्रण की योजना कार्यान्वित करने के लिये इसने निश्चित किया। कलकत्ता तथा उसके आस-पास के क्षेत्र मे जितनी जूट की मिले है उन सब को ५ क्षेत्र मे बॅंट दिया गया है और प्रत्येक क्षेत्र मे निरीक्षण के लिये स्टॉफ की नियुक्ति की गई है जो कि माल तथा उत्पादन-विधियो का प्रतिदिन निरीक्षण करता है। निर्यात (किस्म नियत्रण तथा निरीक्षण) अधिनियम १९६५ मे लागू हो जाने के पश्चात् सभी प्रकार की सैकिंग तथा हेसियन की निर्यात करने से पूर्व जाँच करना आवश्यक है और उसके लिये आवश्यक प्रमाणपत्र का होना भी आवश्यक है। वैसे तो प्रत्येक मिल मे टैक्नालॉजिकल योग्यता तथा तकनीक अलग-अलग पाई जाती है फिर भी उसके किस्म को नियत्रित करन का प्रयत्न किया जा रहा है। किस्म नियत्रण तथा उत्पादन विभाग के लिये उचित तथा योग्य व्यक्तियो का वैसे इस उद्योग मे अभाव पाया जाता है।

दूसरी समस्या वस्तुओ के नष्ट अथवा क्षय होने की है। यह बरबादी मिलो मे अलग-अलग मात्रा मे पाई जाती है और इसमे मौसमी भिन्नता भी पाई जाती है। यदि इस भिन्नता को समाप्त कर दिया जाय तो इसी से ही उद्योग को लगभग १·५ करोड रुपये प्रतिवर्ष की बचत हो सकती है।

विवेकीकरण

आवश्यकता. जूट उद्योग मे विवेकीकरण की आवश्यकता निम्नलिखित घटकों के कारण है:

(१) उद्योग में लगी हुई मशीने पुरानी तथा अप्रचलित है जिसके कारण उत्पादन अनार्थिक है तथा बिना आधुनिकीकरण के बहुत दिनों तक नही चलाया जा सकता है। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त से इसकी टैक्नालॉजी मे भी तेजी के साथ परिवर्तन हुआ है। नवीन प्रकार की मशीनो का तथा नवीन विधियो का विकास हो चुका है। अतः उनका प्रयोग अति आवश्यक है, विशेष रूप से, इसलिये कि इसके उत्पादन के अधिकांश भाग का निर्यात किया जाता है।

(२) जूट के स्थान पर अन्य वस्तुओ के प्रयोग से तथा सश्लिष्ट पदार्थ के प्रयोग से उनमे तथा जूट मे प्रतिस्पर्द्धा बढती जा रही है। इस कारण से भी उद्योग

मानवीय समस्याओ पर विचार करते हुए, आयोग ने यह व्यक्त किया कि विवेकीकरण से अस्थायी रूप से बेरोजगारी फैल सकती है परन्तु यह बुराई उद्योग तथा श्रमिक एवं कृषको को जो इस पर निर्भर है, होने वाली स्थायी हानि से अपेक्षाकृत कम है।" आयोग ने यह भी सिफारिश की कि जूट की नवीन मिलो की स्थापना के लिये लाइसेंस नही प्रदान किया जाना चाहिए और उसके स्थान पर विद्यमान क्षमता का पूर्ण प्रयोग करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

कच्चा माल. कच्चे जूट के उत्पादन के सम्बन्ध मे भारत सरकार ने यह बहुत पहले ही मान लिया था कि भारत की इस सम्बन्ध मे पाकिस्तान पर निर्भरता को समाप्त करना है। इसीलिये सरकार ने इस ओर विशेष ध्यान देने की नीति अपनाई। भारतीय केन्द्रीय जूट समिति, भारतीय जूट मिल एसोसियेशन के समर्थन सहित, भारतीय जूट की फसलों मे उन्नति लाने के उपायों पर अधिकाधिक ध्यान दे रही है। विभिन्न जूट का उत्पादन करने वाले राज्यो मे सामजस्य स्थापित करने के लिये भारत सरकार ने जूट विकास के लिये केन्द्रीय पर्यवेक्षण सस्था की स्थापना की है। इस सस्था का उत्तरदायित्व विभिन्न आवश्यक उपायों को अपना कर प्रति एकड उपज का बढाना तथा उसकी किस्म मे उन्नति लाना है।

निर्यात प्रोत्साहन समिति ने १९५७ मे प्रस्तुत की गई अपनी रिपोर्ट मे यह सुझाव दिया कि भारत सरकार को गभीरता के साथ यह विचार करना चाहिए कि जो अनेक अनार्थिक इकाइयॉ है उन्हे बन्द कर दिया जाय तथा उत्पादन आधुनिक मिलो को उपलब्ध कच्चे माल की सीमा तक ही केन्द्रित रखा जाय। साथ ही, सभी इकाइयों के सामूहिक हित के लिये लाभ को इकट्ठा कर दिया जाय। हाल मे ही, सुझाव दिये गये है कि कुछ जूट मिलो के बन्द कर देने की सभावना है जिससे कि उपलब्ध कच्चे माल की पूर्ति पर्याप्त हो सके।

उत्पादन का स्वरूप. जूट उद्योग के उत्पादन का विभिन्नीकरण करने की तथा जूट की वस्तुओं के नवीन उपयोगों का पता लगाने की आवश्यकता है। जूट मिलो को नवीन तथा विशिष्ट प्रकार की वस्तुओ के निर्माण की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए जैसा कि इगलैंड की मिले कर रही है। इसी बात को ध्यान मे रख कर भारतीय जूट मिल एसोसियेशन इस सम्बन्ध में कई प्रायोगिक प्रोजेक्ट कार्यान्वित कर रही है। हाल मे ही इस बात की खोज की जा रही है कि सयुक्त राज्य अमेरिका की सिंचाई की नहर के लिये हेसियन एस्फाल्ट की लाइनिग दी जा सकती है अथवा नही। जूट को ऊनी बनाने की दिशा मे भी प्रयास किये जा रहे हैं। इस दिशा में नवीन उपयोगो के बारे मे विचार किया जा रहा है। यह देखा

गया है कि विशेष विधि अपना कर जूट को ऊन की तरह बनाया जा सकता है और यदि इस कृत्रिम ऊन को असली ऊन के साथ मिश्रित कर दिया जाय तो उससे आश्चर्यजनक परिणाम प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार नवीन उपयोगो का पता लगा कर पैकेजिंग के क्षेत्र मे जो हानि हुई है उसकी पूर्ति की जा सकती है।

अधिक सक्षम इकाइयो द्वारा उत्पादन. जूट उद्योग के विवेकीकरण का एक प्रमुख पक्ष क्षमताहीन अनार्थिक इकाइयो को बन्द करके उत्पादन उन इकाइयो द्वारा ही सीमित रखा जाय जिनके पास आधुनिकतम मशीनें हो। इस प्रकार के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति गत दो वर्षों से पाई जा रही है और उल्लेखनीय बात यह है कि इससे उत्पादन तथा श्रमिको पर कोई प्रभाव नही पडा है। यह भारतीय जूट मिल एसोसियेशन के कार्य-समय-समझौते के अन्तर्गत सभव हो पाया है जिसके अन्तर्गत मिल के साप्ताहिक कर्घा-घण्टा आबटन को किसी दूसरी इकाई द्वारा उपयोग के लिये हस्तान्तरित किया जा सकता है। यह समझौता जूट की वस्तुओ के लिये विश्व की माँग के अनुरूप इसके उत्पादन को नियमित करता है।

वित्त. योजना आयोग ने "औद्योगिक विकास कार्यक्रम, १९५६-६१" मे ४२,००० कर्घो का (भारत मे १९५५ मे ७२,२२८ कर्घे थे) आधुनिकीकरण करने की योजना बनाई। इसकी लागत ३० करोड रुपये थी। अब तक किये गये आधुनिकीकरण के लिये वित्त की व्यवस्था उद्योग ने आन्तरिक साधनो से किया है परन्तु ऐसा अब और करना सभव न होगा। योजना आयोग ने यह आशा की थी कि राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (NIDC) आधुनिकीकरण को तेजी के साथ कार्यान्वित करने के लिये प्रचुर सहायता प्रदान करेगा। भारत सरकार द्वारा १९५९ मे नियुक्त एक तदर्थ समिति ने यह अनुमान लगाया था कि उद्योग ने इस पर १५ करोड रुपया गत दस वर्षों मे व्यय किया होगा। इसमे से १० करोड रुपये केवल कताई भाग पर ही व्यय हुआ। ३१ मार्च १९६२ तक राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम ने कताई क्षेत्र मे आधुनिकीकरण के लिये ऋण के रूप मे ७ १९ करोड रुपया दिया था। उसमे से ३ २७ करोड रुपये का भुगतान किया जा चुका था। ५ लाख रुपये की सीमा तक देशी मशीन का क्रय करने के लिये अल्प-कालीन ऋण की योजना को भी निगम ने स्वीकृत किया परन्तु यह प्रगति सन्तोषजनक नही है।

मशीन तथा उपकरण विदेशो पर, विशेष रूप से इगलैंड पर, इसके लिये निर्भरता समाप्त करने के लिये तथा आधुनिकीकरण को गति प्रदान करने के लिये भारत सरकार ने हाल मे ही तीन फर्म को जूट वस्त्र मशीन का विनिर्माण करने के लिये लाइसेंस प्रदान किया है। इनमे से एक फर्म ने तो विशेष उन्नति की तथा

शेष दो फर्म भी इस दिशा मे प्रगति कर रहे है। इस प्रकार, देश मे ही मशीन की मॉग की पूर्ति सभव हो सकेगी। वैसे भारत सरकार ने १६५६-६० मे जूट मिल मशीन के लिये २ ३ करोड रुपये वैदेशिक विनिमय के रूप मे प्रदान किया जब कि १६५८-५६ मे २ ५ करोड रुपये प्रदान किये गये थे।

श्रमिको का सहयोग. पश्चिमी बगाल सरकार द्वारा नियुक्त जूट उद्योग के विवेकीकरण के लिए तदर्थ समिति (१६५८) ने जो सिफारिशे दी वे श्रमिको के दृष्किोण से तो सन्तोषजनक है परन्तु मालिको ने उनकी आलोचना की है। समिति ने सिफारिश की कि प्रबन्धको को छटनी किये गये सभी श्रमिकों को वैकल्पिक काम देना चाहिए अन्यथा इसके बदले छटनी क्षतिपूर्ति देनी चाहिए। साथ ही, यदि वैकल्पिक काम दिया जाता है तो सभी स्थायी श्रमिको को स्थायित्व की गारण्टी देनी चाहिए तथा नि शुल्क क्वार्टर प्रदान करना चाहिए। इन शर्तो का उद्योग पर आत्यधिक भार पडेगा।

पश्चिमी बगाल सरकार ने भारतीय जूट मिल एसोसियेशन से यह कहा कि विवेकीकरण की तभी अनुमति दी जायगी जब इससे बेरोजगारी न हो। किसी भी उद्योग मे बिना सरकार से पूर्व-सलाह लिये विवेकीकरण नही किया जाना चाहिए। सरकार विवेकीकरण की किसी भी योजना को स्वीकृत नही करेगी यदि उससे एक भी श्रमिक की ऐच्छिक छटनी होती है। परन्तु पश्चिमी बगाल सरकार का यह दृप्टिकोण उचित नही है और न ही व्यावहारिक है। वर्तमान परिस्थितियो को देखते हुए यह वस्तुस्थिति से परे है। उद्योग मे हो रहे उच्चावचन को देखते हुए ऐसे दृष्टिकोण का अपनाना उपयुक्त नही है। यद्यपि विवेकीकरण से अस्थायी काल के लिये बेरोजगारी फैलती है परन्तु दीर्घकाल मे ऐसा नही होता। अपितु यदि विवेकीकरण को अपनाया नही जाता तो दीर्घकाल मे अधिक लोगो मे बेरोजगारी बढेगी।

बाजार विकास कार्यक्रम. निर्यात उद्योग होने के कारण, विश्व बाजार मे परिवर्तनशील दशाओ का इस पर अत्यधिक प्रभाव पडता है। अत इसे उपभोक्ताओ की प्रवृत्ति तथा आर्थिक गतिविधियो का सतत् अध्ययन करते रहना चाहिए। १६४६ से, यह उद्योग बाजार के विकास तथा जन सम्पर्क पर प्रतिवर्ष अधिक धन व्यय करता आ रहा है। भारत सरकार भी इस दिशा मे उदारता के साथ आर्थिक सहायता देती आई है। भारतीय जूट मिल एसोसियेशन ने इगलैड तथा सयुक्त राज्य अमेरिका मे अपना शाखा-कार्यालय खोल रखा है। साथ ही, यह महत्वपूर्ण बाजारों मे अपना शिष्ट-मण्डल भी भेजती रही है। भारत सरकार

भी व्यापार प्रतिनिधिमण्डल भेज कर इनको सहयोग देती रही है। भारत सरकार विदेश मे व्यापार आयुक्त तथा प्रतिनिधियो द्वारा प्राप्त सूचनाओ को भी इस एसोसियेशन को देती रही है।

१६५७ मे, निर्यात प्रोत्साहन समिति ने यह सुझाव दिया कि इस एसोसियेशन को अपने विक्रय प्रोत्साहन आन्दोलन को और गहन बनाना चाहिए। विदेशी प्रतिस्पर्द्धा, विशेष रूप से पाकिस्तान से, का सामना करने के लिये इसने तीन सुझाव दिये (१) हेसियन तथा सैकिग की उत्पादन लागत घटानी चाहिए, (२) जूट के विशिष्ट वस्त्र के उत्पादन को बढाना चाहिए, तथा (३) जूट वस्त्र के नवीन उपयोगो का पता लगाना चाहिए।

आधुनिकीकरण. अधिकाश मिलो ने कताई की अवस्था तक अपनी मशीनो का आधुनिकीकरण पूरा कर लिया है। कुछ मिल आधुनिकतम प्रकार के कताई के फ्रेम का प्रयोग कर रही है। बुनाई की दिशा मे, विवेकीकरण को श्रम बचत विधियो को, जैसे शटल-लोडर्स, अपना कर पूरा किया गया है। प्रति व्यक्ति उत्पादन को बढाने के लिये दोहरा कर्घा सचालन को भी धीरे-धीरे अपनाया जा रहा है। अधुनिक प्रकार के कर्घों के प्रयोग का भी विचार गभीरता के साथ किया जा रहा है। कठिनाई पूँजी की अधिक लागत तथा पुर्जो की पूर्ति की है। १६६५ के मध्य तक दो-तिहाई जूट मिलो मे कताई विभाग तक आधुनिकीकरण सम्पन्न किया जा चुका है। उसके उपरान्त बुनाई की ओर ध्यान केन्द्रित हो गया।

दिसम्बर १६६४ को समाप्त होने वाले चार वर्षों मे १४ करोड रुपये के मूल्य की मशीनें आयात की गई थी। उसके उपरान्त आयात को कम कर दिया गया क्योकि भारतवर्ष मे ही मशीन निर्माण के लिये व्यवस्था हो चुकी थी। श्रमिको पर इसका यह प्रभाव पडा है कि कुल नियुक्त श्रमिको की सख्या धीरे-धीरे घटती जा रही है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि आधुनिकीकरण के कारण हेसियन कर्घों मे १६ प्रतिशत से तथा सैकिग मे २० प्रतिशत से श्रमिको की सख्या घट गई है।

भारतीय जूट मशीन उद्योग की अब स्थिति यह है कि अब यह सभी प्रकार की मशीनो का विनिर्माण करने लगा है जिनकी आवश्यकता प्रतिस्थापन, आधुनिकीकरण तथा विस्तार के लिये होती है। बुनाई तथ पुर्जो के लिये कुछ मिलो ने अपना पर्याप्त विकास कर लिया है।

जूट मशीन पर वर्किंग ग्रुप का अनुमान था कि जूट की वस्तुओ का उत्पादन १९७०-७१ तक १७ लाख टन होगा। इस प्रकार, इस ग्रुप के अनुसार चतुर्थ योजना

काल मे ३५ करोड रुपये के मूल्य की मशीन की आवश्यकता होगी। ऐसी आशा की जाती है कि केवल थोडा सा विस्तार करके ही वर्तमान फर्में कुछ विशेष प्रकार की मशीनो को छोडकर इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है। इस ग्रुप का अनुमान था कि ७५ करोड रुपये के मूल्य की विशेष प्रकार की मशीनो का आयात १९६६-७१ की अवधि मे करना पड़ेगा।

भविष्य

जूट की वस्तुओ की माँग विश्व मे ५ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ रही है। जूट तथा सम्बन्धित रेशों की विश्व मे माँग १९७०-७१ मे लगभग ४० लाख टन होगी। हाल के वर्षो मे प्रवृत्ति यह दिखाई दे रही है कि पैकेजिंग के स्थान पर इसका उपयोग सजावट मे तथा उद्योगो मे अधिक किया जा रहा है। वैसे अल्प-विकसित देशो मे पैकेज के लिए माँग बढने की आशा है। भारतवर्ष मे ही इसकी खपत १० प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ रही है। इस प्रष्ठभूमि मे इसका भविष्य उज्जवल दिखाई दे रहा है। परन्तु स्थिति इतनी सुगम नही है। प्रतिस्पर्द्धा के बढने के कारण मूल्य मे स्थिरता तथा किस्म का प्रमाप एक कठिन समस्या है। कच्चे जूट की प्रति एकड अधिक उपज करके तथा अच्छे किस्म की जूट को उत्पन्न कर इसकी लागत को घटाया जा सकता है। बरबादी को भी कम किया जा सकता है।

भारत मे भारी उद्योग की महत्ता बढने के कारण इस उद्योग की स्थिति पहले की तरह महत्वपूर्ण नही रह गई है। फिर भी, वैदेशिक विनिमय के उपार्जन करने वाले उद्योग के रूप मे अभी भी इसकी महत्ता कम नही हुई है। भारतीय जूट उद्योग शोध ऐसोसियेशन द्वारा किये गये शोध के परिणामस्वरूप उद्योग के उत्पादनो का विभिन्नीकरण हो रहा है। नवीन तकनीक का पता लगाकर उसे अपनाया जा रहा है। अधिक प्रतिस्पर्द्धा होने के कारण लागत को कम करने के प्रति भी उद्योग का उत्साह बढता जा रहा है। इस शोध एसोसियेशन के प्रयासो के द्वारा अधिक उपज वाले तथा लम्बे रेशो वाले जूट के पौधो का विकास किया गया है। साथ ही कुछ उत्तम प्रकार के जूट वस्त्रो का विकास किया गया है जिनकी माँग फर्निशिंग पदार्थ के रूप मे विश्व भर मे होगी।

भारतीय जूट उद्योग की प्रतिस्पर्द्धात्मक स्थिति को सुदृढ करना अति आवश्यक है। १९६४ तथा १९६८ के मध्य सैकिंग तथा हेसियन का निर्यात देश से क्रमश ६० प्रतिशत तथा ३१ प्रतिशत से घट गया। जूट की वस्तुओ से प्राप्त वैदेशिक विनिमय के रूप मे कुल आय ३,४१० लाख पौंड से घटकर २,८३० लाख

पौंड रह गई। इस कमी का कारण पाकिस्तान से प्रतिस्पर्द्धा का होना है जो कि मोटे तौर पर तीन मुख्य घटको पर आधारित है कच्चे जूट का सस्ता मूल्य तथा अच्छी किस्म, बोनस वाउचर के माध्यम से निर्यात अनुदान जो कि विक्रय मूल्य के ५० प्रतिशत के बराबर है, तथा भारत मे जूट की वस्तुओ पर लगे निर्यात कर द्वारा प्राप्त उन्हे सरक्षण। इस प्रकार अपनी सरकार से प्रत्यक्ष तथा भारत सरकार से अप्रत्यक्ष सहायता पाकर, पाकिस्तान के उद्योग भारत की अपेक्षाकृत ५ से १० प्रतिशत कम मूल्य पर व्यापार कर पाने मे समर्थ है। इस प्रकार माँग मे वृद्धि के कारण जहाँ पाकिस्तान के उद्योग क्षमता का विस्तार करने पर लगे है वही भारतीय उद्योग की महत्ता घटती जा रही है।

इन सुविधाओ के कारण, विश्व मे जूट की वस्तुओ के उत्पादन मे पाकिस्तान का भाग १९५७-५८ मे ७ प्रतिशत से बढकर १९६६-६८ मे १४ प्रतिशत हो गया। इसी अवधि मे भारतवर्ष का भाग ४६ प्रतिशत से घटकर ३४ प्रतिशत ही रह गया।

यदि सरकार वास्तव में सहायता प्रदान करना चाहती है तो इसे शीघ्र ही निर्यात कर हटा देना चाहिए तथा पाकिस्तान के बोनस वाउचर्स का प्रभाव समाप्त करने के लिए निर्यात उपदान देना चाहिए और ऐसी दशाओ का सृजन करना चाहिए जिससे घरेलू बिक्री "लागत के ऊपर" आधार पर की जा सके।

१९७०-७१ के केन्द्रीय बजट मे भी जूट उद्योग को विशेष रियायते नही दी गई जैसा कि आशा की जाती थी क्योकि इसमे केवल जूट कैनवॉस, जूट वेबिंग, तथा त्रिपाल पर से निर्यात कर ५०० रुपये प्रति टन से घटा कर २०० रुपये कर दिया गया। परन्तु इस कमी से कोई विशेष लाभ नही हुआ क्योकि इन वस्तुओ का भाग कुल जूट की वस्तुओ के निर्यात मे महत्वहीन सा है। ऐसा विचार है कि यदि सरकार द्वारा कोई ठोस तथा प्रभावपूर्ण उपाय नही अपनाया जाता तो यह सभव है कि विश्व बाजार से भारतवर्ष को शीघ्र ही हटना पडेगा। पाकिस्तान मे २१,५०० कर्घे है और विस्तार का कार्यक्रम साथ-साथ कार्यान्वित किया जा रहा है। ऐसी परिस्थिति मे पाकिस्तानी मिलो द्वारा उत्पादन ३० लाख गाँठो से बढ़कर १९७४-७५ तक ५५ लाख गाँठ हो जायगा।

अध्याय २८

चीनी उद्योग

भारतवर्ष की औद्योगिक सरचना मे चीनी उद्योग को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। चीनी के विक्रय का मूल्य प्रतिवर्ष लगभग २०० करोड रुपये है तथा इस उद्योग की प्रदत्त पूँजी ३५ करोड रुपये है। इससे लगभग २ लाख व्यक्तियो को रोजगार प्राप्त होता है और मजदूरी, वेतन तथा बोनस के रूप मे यह १७ करोड रुपये प्रति वर्ष भुगतान करता है। इसके अतिरिक्त इस उद्योग से लगभग २०० लाख व्यक्तियो का—किसान तथा उसका कुटुम्ब—पालन-पोषण होता है जिन्हे यह ८० से १०० करोड रुपये गन्ना क्रय करने के लिए भुगतान करता है। उत्पादन कर के रूप मे यह सरकार को प्रतिवर्ष १२५ करोड रुपये देता है।

इस उद्योग का प्रमुख कच्चा माल गन्ना है यद्यपि अभी हाल मे चुकन्दर से भी चीनी बनाने का प्रयोग किया गया है। यूरोप तथा अमेरिका मे तो इसी से अधिकाश चीनी उत्पादित की जाती है। देश मे गन्ना उत्पादन करने वाले क्षेत्र को दो भागो मे बाँटा जा सकता है. समशीतोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र तथा उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र। समशीतोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र के अन्तर्गत मुख्य रूप से पजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, आसाम तथा पश्चिमी बगाल राज्य आते है। उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र के अन्तर्गत आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, मद्रास, मैसूर तथा केरल राज्य आते है। इन दोनो क्षेत्रो मे जलवायु तथा कृषि की दशाओ के दृष्टिकोण से अनेक विभिन्नताये पाई जाती है। इन विभिन्नताओ का प्रभाव प्रति एकड उपज तथा गन्ने की किस्म पर पडता है। उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र की अपेक्षाकृत सम-शीतोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र मे उत्पादन लगभग आधा होता है और साथ ही चीनी की मात्रा (surcose content) भी अपेक्षाकृत कम होती है। भारतवर्ष मे गन्ने के अन्तर्गत क्षेत्र का लगभग तीन-चौथाई सदैव समशीतोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र मे ही रहा है।

नियोजित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत उद्योग

गन्ने के अन्तर्गत क्षेत्र गन्ने के अन्तर्गत क्षेत्र इस बात पर निर्भर होता है कि किसान की दृष्टि मे रोकड फसल के रूप मे इसकी क्या महत्ता है तथा धान, गेहूँ

और कपास के उत्पादन की अपेक्षाकृत इससे लाभ अधिक होगा अथवा नही। प्रथम योजना काल में इसके क्षेत्र मे वृद्धि की प्रवृत्ति तो नही दिखाई दी यद्यपि वर्ष-प्रति-वर्ष उसमे विशेष उतार-चढाव आता रहा था। द्वितीय योजना काल मे वृद्धि की प्रवृत्ति थी तथा तृतीय योजना काल मे १० लाख एकड अतिरिक्त क्षेत्र मे इसका उत्पादन बढा। यह वृद्धि सिचाई, खाद, उत्तम बीज तथा गन्ने की अधिक माँग के कारण हुई। उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र मे अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि रही। १९६५-६६ मे गन्ने के अन्तर्गत ६८ ७ लाख एकड क्षेत्र था परन्तु १९६६-६७ मे यह घटकर ५६.८ लाख एकड तथा १९६७-६८ मे ५० ६ लाख एकड ही रह गया। १९६८-६९ मे यह बढकर ६० ८ लाख एकड हो गया।

गन्ने का उत्पादन. क्षेत्र की तरह, गन्ने के उत्पादन मे भी प्रथम योजना मे उतार-चढाव आया तथा द्वितीय एव तृतीय योजना मे वृद्धि की प्रवृत्ति दिखाई दी। १९५५-५६ मे उत्पादन ७३० लाख टन था जो बढकर १९६०-६१ मे १,१०० लाख टन हो गया तथा १९६५-६६ मे पुन' बढकर १,२०० लाख टन हो गया। १९६६-६७ तथा १९६७-६८ मे गन्ने के उत्पादन मे कुछ कमी आई थी परन्तु १९६८-६९ मे उसमे पुन वृद्धि हुई। १८ वर्ष की अवधि मे विकास की दर अलग-अलग राज्यो मे भिन्न-भिन्न रही। उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र मे अपेक्षाकृत विकास दर अधिक रही। उत्तर प्रदेश तथा बिहार मे तो शनै-शनै उत्पादन कम होता रहा जबकि महाराष्ट्र मे महत्वपूर्ण वृद्धि हुई।

गन्ने के सम्पूर्ण उत्पादन का चीनी के उत्पादन पर प्रभाव पडता है परन्तु गुड तथा खाडसारी के उत्पादन के लिए गन्ने की माँग भी मिल को उपलब्ध होने वाले गन्ने की मात्रा को प्रभावित करती है। अखिल भारतीय स्तर पर गन्ने के कुल उत्पादन का १/८ भाग पौदा लगाने, चूसने तथा रस पीने से लिए प्रयोग मे आ जाता है। चीनी की मिलो को लगभग एक-चौथाई ही प्राप्त हो पाता है। उत्पादन का लगभग ६० प्रतिशत गुड बनाने के लिए प्रयोग मे लाया जाता है तथा शेष से खाडसारी बनाई जाती है। गत १९ वर्ष की अवधि मे गन्ने के उत्पादन मे वृद्धि के साथ-साथ चीनी के लिए प्रयोग मे आने वाले गन्ने की मात्रा मे वृद्धि नही हुई है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि गन्ने से चीनी की उपलब्धि मिलो मे तो १०% है जब कि गुड तथा खाडसारी निर्माताओ द्वारा ४% ही है। इस प्रकार देशी पद्धति से निर्माण करने से अत्याधिक मात्रा मे अपव्यय होता है।

स्थापित क्षमता तथा चीनी का उत्पादन. १९५०-५१ मे १३९ चीनी की फैक्टरी थी जिनमे से ३ सहकारी तथा १३६ सयुक्त स्कध वाली तथा अन्य फैक्टरी

थी। पूर्ण स्थापित क्षमता लगभग १६ ७ टन प्रतिवर्ष थी जिसमे से १६ ५ लाख टन सयुक्त स्कध वाली तथा अन्य फैक्टरी के पास थी। समशीतोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र मे १०६ फैक्टरी थी जो कि कुल फैक्टरी की सख्या का तथा देश मे सम्पूर्ण चीनी के उत्पादन की क्षमता का ७८% था। १९६३-६४ तक फैक्टरी की सख्या बढ कर १९४ हो गई और उनकी स्थापित क्षमता २८ ७ लाख टन थी। सहकारी फैक्टरी की सख्या बढकर ४८ हो गई जिनमे कुल स्थापित क्षमता का २२ प्रतिशत था। उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र मे कुल क्षमता का ४० प्रतिशत था। सहकारी क्षेत्र का विकास उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र मे ही अधिक हुआ। १९६९ मे ८१ सहकारी इकाइयाँ थी परन्तु उनमे से केवल ६३ ही उत्पादन कर रही थी और कुल क्षमता के लगभग एक-तिहाई का प्रतिनिधित्व वे कर रही थी। इससे इस उद्योग मे सहकारिता की प्रगति का आभास मिलता है विशेष रूप से उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र मे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि पहले तो चीनी उद्योग का विकास समशीतोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र मे ही हुआ था परन्तु १९५२ के पश्चात् अधिकाधिक विकास उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र मे ही हुआ। साथ ही सहकारी मिलो को सरकार के द्वारा प्रोत्साहन दिये जाने के कारण उद्योग मे सहकारी क्षेत्र का भी प्रचुर विकास हुआ।

उद्योग मे उत्पादन का स्तर विभिन्न घटको पर निर्भर होता है, उनमे से प्रमुख है. (१) गन्ने के उत्पादन का स्तर, (२) मिलो को प्राप्त होने वाली गन्ने की मात्रा, (३) चीनी उद्योग की उत्पादन क्षमता; (४) गन्ने से चीनी की उपलब्धि; (५) गन्ने के पेरने की अवधि; (६) सरकार की उत्पादन, मूल्य तथा विभाजन सम्बन्धी नीतियाँ। प्रथम योजना के आरभ से चीनी के उत्पादन मे अत्यधिक उतार-चढाव हुआ है। १९५३-५४ मे १० ३ लाख टन का न्यूनतम उत्पादन हुआ था जो कि १९६५-६६ मे ३५ १ लाख टन के अधिकतम उत्पादन का एक-तिहाई ही था। १९६८-६९ मे उत्पादन लगभग १९६५-६६ के स्तर पर ही था।

विदेशी व्यापार. चीनी का आयात प्रथम योजना के अन्त से बन्द हो गया जब कि उत्पादन लगभग १९ लाख टन हुआ था। १९५७ तक उत्पादन की दिशा मे आत्म-निर्भरता ही नही प्राप्त हो गई थी अपितु निर्यात भी किया जाने लगा। चीनी का निर्यात १९५७ से ही विशेष रूप से आरभ हुआ और निर्यात का स्तर ५०,००० टन तथा ४ ७८ लाख टन के मध्य ही रहा है। १९६८-६९ मे चीनी का निर्यात १ लाख टन से कम ही हुआ जब कि १९६६ मे ४४ लाख टन तथा १९६७ मे २ १६ लाख टन हुआ था। निर्यात का स्तर चीनी की आतरिक उपलब्धता पर तथा विश्व बाजार मे अधिक या कम कोटा के प्राप्त होने की सभावनाओ पर निर्भर करता है। क्यूबा से सयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य स्वतन्त्र बाजारो

मे निर्यात बन्द होने के बाद से भारतवर्ष इन बाजारों को निर्यात बढ़ा सका है। परन्तु १९६३ से जापान ने कच्ची चीनी का उत्पादन आरम्भ किया और वहाँ से निर्यात की मात्रा मे महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। भारतवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय चीनी बाजार का निर्यात करने वाला सदस्य नही है। विश्व के निर्यात मे भारत का भाग २% से ४% तक रहा है। भारतवर्ष यदि अपने भाग को थोडे से ही प्रतिशत से बढ़ाने मे सफल हो जाय तो निर्यात की कुल मात्रा मे उससे पर्याप्त वृद्धि हो सकती है। १९६५ मे भारतीय चीनी आयोग ने सिफारिश की थी कि चीनी का वार्षिक निर्यात १९७०-७१ तक ७ ५ लाख टन तथा १९७५-७६ तक १० लाख टन होना चाहिए। इस लक्ष्य को प्राप्त करने मे तो पर्यात समय लग सकता है। भारत सरकार को समय-समय पर चीनी के निर्यात पर उपदान देना होता है और अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य तथा भारतीय मूल्य के अन्तर के कारण जो हानि होती है उसकी पूर्ति चीनी पर उत्पादन कर लगा कर की जाती है। इस प्रकार से निर्यात पर हानि की पूर्ति अन्त मे उपभोक्ताओ को ही करनी होती है।

गुड का निर्माण उन सभी राज्यो मे होता है जहाँ गन्ने का उत्पादन होता है, पर उत्तर मे अधिकाश उत्तर प्रदेश एव पजाब मे तथा दक्षिण मे आन्ध्र प्रदेश एव महाराष्ट्र मे ही केन्द्रित है। खाडसारी उद्योग मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश मे ही स्थित है, वैसे हाल मे ही पजाब, महाराष्ट्र तथा आन्ध्र प्रदेश मे भी यह फैला है। असगठित क्षेत्र मे होने के कारण, उपयुक्त आकड़े उपलब्ध नही हैं परन्तु ऐसा अनुमान है कि गुड़ का उत्पादन ६० से ६५ लाख टन तथा खाडसारी का उत्पादन लगभग ३ लाख टन है।

चीनी सम्बन्धी नीति. गत १८ वर्षों मे सरकार की चीनी सम्बन्धी नीति निम्निलिखित उद्देश्यो की प्राप्ति हेतु बनाई जाती रही है: (अ) किसानो को गन्ने का उचित मूल्य प्राप्त होना, (ब) चीनी उद्योग के विकास को नियन्त्रित करना, (स) चीनी की फैक्टरी को गन्ने की पर्याप्त पूर्ति उपलब्ध कराना, (द) उपभोक्ताओं के हित को सुरक्षित रखना तथा वैदेशिक विनिमय अजित करने के लिये निर्यात को प्रोत्साहित करना। इन उद्देश्यो की पूर्ति हेतु समय-समय पर निम्नलिखित उपाय अपनाये गये—(१) गन्ने का वह न्यूनतम मूल्य निर्धारित करना जिसका भुगतान फैक्टरी द्वारा किसानो को करना होता है; (२) क्षमता की लायसेंसिग जिससे कि वर्तमान चीनी की फैक्टरी का विस्तार तथा नवीन इकाइयो की स्थापना नियत्रित हो सके; (३) चीनी का मूल्य निर्धारित करना; (४) क्षेत्र निश्चित करना तथा चीनी का उत्पादन बढ़ाने के लिये प्रोत्साहन देना; (५) गुड तथा खाडसारी के सम्बन्ध

मे उत्पादन, मूल्य, तथा गतिविधि आदि को नियन्त्रित करना, तथा (६) चीनी का घरेलू उपभोग तथा निर्यात के लिये वितरण करना।

भारत सरकार द्वारा १९३२ मे इस उद्योग को सरक्षण प्रदान करने पर यह आशा की जाती थी कि इसका लाभ उद्योग तथा किसानो दोनो को होगा। परन्तु किसानो को कोई लाभ न हुआ। अत किसानो को उचित मूल्य दिलाने के लिए केन्द्रीय गन्ना अधिनियम १९३४ मे पारित किया गया जिसके अन्तर्गत राज्य सरकारो को गन्ने का न्यूनतम मूल्य निर्धारित करने का अधिकार प्रदान किया गया। १९५० मे भारत सरकार ने चीनी तथा गुड नियत्रण आज्ञा (१९५०) के अन्तर्गत गन्ने का न्यूनतम मूल्य निर्धारित करना आरभ कर दिया। आरभ मे यह ४ ३४ रुपया प्रति क्विटल की दर से निर्धारित किया गया। समय-समय पर इसमे आवश्यक परिवर्तन किए गए। गन्ने के न्यूनतम मूल्य को चीनी की वसूली से सम्बन्धित करने की प्रणाली अखिल भारतीय स्तर पर १९६२ मे आरभ की गई।

सामान्यतया चीनी के मूल्य को चीनी की उत्पादन लागत के आधार पर नियमित किया जाता है। उसके अतिरिक्त कुछ क्षेत्रो मे चीनी उद्योग को विशेष प्रोत्साहन दिया जाता है। चीनी का उत्पादन बढाने के लिए पेरने के मौसम को बढाने दिया जाता है और सामान्य मौसम से अधिक काल मे उत्पादित चीनी के मूल्य मे रियायत दी जाती है, चीनी के अतिरिक्त उत्पादन पर उत्पादन कर में छूट दी जाती है, अतिरिक्त गन्ने के पेरने पर उपकर मे छूट दी जाती है। दूसरी ओर १९६०-६१ मे लगाए गए प्रतिबन्ध की तरह चीनी के उत्पादन के स्तर पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है जिससे कि उस समय उत्पादन कम हो सके जब कि चीनी का अधिक स्टाक एकत्रित हो।

समस्यायें

साविधिक नियंत्रण. चीनी पर यह सर्वप्रथम १९४२ मे लगाया गया और उसे १९४७ मे हटा दिया गया। १९४९ से सरकार ने चीनी का एक्स-फैक्टरी मूल्य निर्धारित करना आरभ कर दिया। १९५३-५४ मे नियत्रण पूर्ण रूप से हटा लिया गया और अगले तीन वर्ष तक सरकार ने उसका मूल्य नही निर्धारित किया। परन्तु १९५८ मे सरकार ने वसूली करके चीनी को निश्चित मूल्य पर वितरित करना निश्चित किया। अप्रैल १९६३ से मूल्य एव वितरण पर पुनः नियंत्रण किया गया और उसके लिये देश को १६ क्षेत्र मे बाँटा गया तथा प्रत्येक क्षेत्र के लिए अलग-अलग मूल्य निर्धारित किया गया। १९६५ तक क्षेत्रो की

सख्या बढकर २२ हो गई और मूल्य ११६ रुपये से १३५ रुपये प्रति क्विटल के मध्य अलग-अलग क्षेत्रो मे रहा। यह नियत्रण १९६६-६७ तक चला परन्तु वस्तुस्थिति और बिगड ही गई। गन्ने के क्षेत्र मे १९६५-६६ की अपेक्षाकृत १६ प्रतिशत से कमी आई। दो वर्ष बराबर सूखा पडने के कारण गन्ने का कुल उत्पादन तथा प्रति एकड उपज मे विशेष कमी आ गई। परिणाम यह हुआ कि १९६५-६६ की अपेक्षाकृत कुल उपलब्ध होने वाले गन्ने की मात्रा मे २२ ५ प्रतिशत की कमी हो गई। बडे स्तर पर गुड और खाडसारी के लिये गन्ने का उपयोग होने के कारण मिलों की पूर्ति कम हो गई और १९६६-६७ मे उत्पादन घटकर २२ ६ लाख टन ही रह गया। १९६७-६८ मे गन्ने के क्षेत्र मे पुन कमी आई। १९६७-६८ मे इस समस्या को दूर करने के लिये सरकार ने आशिक नियत्रण की नीति अपनाई। इस नीति के अन्तर्गत सरकार ने फैक्टरी को सीमित स्वतन्त्रता प्रदान की और कुछ लोचपूर्ण नीति सामने रखी जिससे कि फैक्टरी भी गन्ने के लिये गुड तथा खाडसारी से प्रतिस्पर्द्धा का सामना कर सके। इसके अन्तर्गत फैक्टरी १९६७-६८ मे उत्पादन का ४० प्रतिशत तक खुले बाजार मे बेच सकती थी और शेष पर हो रही हानि को पूरा कर सकती थी। शेष ६०% सरकार ने वसूली के रूप मे ले लिया और उसे निश्चित मूल्य पर वितरित किया। इस नीति का परिणाम अच्छा ही रहा। १९६८-६९ की चीनी सम्बन्धी नीति के अन्तर्गत सरकार द्वारा वसूली के लिये चीनी के प्रतिशत को ६० से बढ़ाकर ७० कर दिया गया है।

उद्योग की वित्तीय स्थिति रिजर्व बैंक ने १९६०-६१ से १९६५-६६ तक के लिये ८२ चीनी की कम्पनियो का अध्ययन किया है। इस अवधि मे इनकी बिक्री १४४ करोड रुपये से बढकर २०५ करोड रुपये हो गई जब कि कच्चा माल, रसायन तथा मशीन उपकरण ८१ करोड रुपये से बढकर १२५ करोड रुपये हो गया और इस प्रकार लगभग ५० प्रतिशत से वृद्धि रही। सकल लाभ १४ करोड रुपये से बढकर १९ करोड रुपये हो गया। इन कम्पनियो द्वारा वितरित लाभाश मे थोडी कमी आ गई थी। फाइनेंशियल एक्सप्रेस ने भी १९६५-६६ से १९६७-६८ तक का ५९ कम्पनियो का अध्ययन किया था। इससे यह ज्ञात हुआ कि शीरा बेचकर प्राप्त आय १५८ करोड रुपये से बढकर १८७ करोड रुपये हो गई। कर से पूर्व लाभ घट कर ११ करोड रुपये से ४ करोड रुपये हो गया। ५९ मे से १८ कम्पनियो ने १९६६-६७ तथा १९६७-६८ मे साधारण अशो पर लाभाश नही दिया। केवल १६ कम्पनियो ने ही १९६६-६७ के स्तर पर

१९६७-६८ मे लाभाश बाँटा । ७ कम्पनियो ने गतवर्ष की अपेक्षाकृत अधिक लाभाश बाँटा ।

गन्ने की न्यून उपज भारतवर्ष मे योजना काल मे गन्ने की प्रति एकड उपज मे वृद्धि हुई है। इसका कारण अधिक सिंचाई की व्यवस्था, खाद का पर्याप्त उपयोग तथा चीनी की फैक्टरी द्वारा उनके नियत्रण मे जो फार्म है उनकी उचित देखभाल करना रहा है। १९५१-५२ मे प्रति एकड उपज लगभग १३ टन थी। १९६०-६१ मे बढकर यह १८ टन हो गई और १९६७-६८ मे १९ टन हो गई । परन्तु अब भी इसमे उन्नति करने की अत्यधिक सभावनाये है। महाराष्ट्र मे कुछ स्थानो पर ३० से ४० टन प्रति एकड तक उपज रही है। दूसरे, फैक्टरी की पिराई की अवधि बहुत अल्प रहती रही है क्योकि यह भारतवर्ष भर मे अक्टूबर-नवम्बर मे आरभ होती है और मार्च-अप्रैल मे समाप्त हो जाती है। वर्ष की शेष अवधि के लिये फैक्टरी बिल्कुल बेकार रहती है। इससे उपरिव्यय लागत मे वृद्धि होती है। इस अवधि को बढाने का प्रयत्न करना चाहिए । इसका एक उपाय हो सकता है कि चुकन्दर के माध्यम से चीनी तैयार की जाय। विश्व के चीनी उत्पादन का ४५ प्रतिशत चुकन्दर से ही किया जाता है। यूरोप मे तो अधिकाशतया चुकन्दर को ग्रीष्म कालीन फसल के रूप मे उत्पादित किया जाता है । चुकन्दर से चीनी बनाने का प्रथम प्रयोग राष्ट्रीय चीनी सस्था (यमुनानगर) मे १९६५-६६ मे, भोगपुर मे १९६६-६७ मे तथा गगानगर मे १९६७-६८ मे किया गया था । गगानगर मे प्रयोग सफल रहा था। फैक्टरी मे चुकन्दर से चीनी तब बनाई जा सकती है जब कि गन्ने से चीनी बनाने की अवधि समाप्त हो जाय। राष्ट्रीय चीनी सस्था के अनुसार चुकन्दर से बनी चीनी का भविष्य उज्जवल है ।

जनसख्या तथा आय मे वृद्धि होने के साथ-साथ चीनी की माँग मे तो अवश्य ही वृद्धि होगी। चीनी जाँच समिति ने यह अनुमान लगाया था कि १९७०-७१ मे देश मे ही उपभोग के लिये चीनी की आवश्यकता ३७.६ लाख टन होगी तथा १९७५-७६ मे यह ५३ ५ लाख टन होगी। चतुर्थ योजना (१९७३-७४) का लक्ष्य लगभग ४७ लाख टन रखा गया है। १९७३-७४ के अन्त तक वैसे इस उद्योग को ५० लाख टन तक चीनी की क्षमता बढाने का लक्ष्य रखना होगा।

उपोत्पाद (by-product) का प्रयोग चीनी का निर्माण करने के पश्चात् शीरा उपोत्पाद के रूप मे बच रहता है। इसका उपयोग अल्कोहल बनाने मे किया जाता है। १९५० मे देश मे १४ डिस्टिलरी थी जो शक्ति

अल्कोहल का निर्माण प्रति वर्ष ६५ लाख गैलन की स्थापित क्षमता के साथ कर रही थी। परन्तु अल्कोहल का अधिकतम उत्पादन केवल ३१ लाख गैलन प्रतिवर्ष ही है। यह कमी शीरे की तथा कोयले की अपर्याप्त तथा अनियमित पूर्ति के कारण तथा अल्कोहल के स्टाक का वितरण शीघ्र न हो पाने के कारण रही। परिणाम यह रहता है कि अधिकाश डिस्टिलरी प्रतिवर्ष १५० से २२० दिन तक ही चालू रह पाती है और इसके कारण उत्पादन लागत अधिक हो जाती है। उत्पादन के कम होने का दूसरा कारण डिस्टिलरी तथा चीनी की फैक्टरी मे शीरे की पर्याप्त व्यवस्था का न होना है। साथ ही शीरे की किस्म भी अच्छी नही होती। डिस्टिलरी की सख्या १९५६ मे ४३ से बढकर १९६१ मे ५३ हो गई तथा १९६८-६९ मे ६७ हो गई। इसमे से ४३ तो चीनी की फैक्टरी के साथ ही सम्बद्ध हैं और शेष २४ स्वतन्त्र इकाइयो के रूप मे कार्य कर रही हैं। उत्तर प्रदेश मे सबसे अधिक डिस्टिलरी हैं, उसके बाद महाराष्ट्र तथा आन्ध्र प्रदेश का नम्बर आता है।

उत्तर प्रदेश मे चीनी उद्योग की स्थिति अच्छी नही है क्योकि राज्य मे वर्तमान ७१ फैक्टरी मे से अधिकाश की पुनर्स्थापना करना आवश्यक है। इस तथ्य पर भारत सरकार द्वारा नियुक्त सेन चीनी जाँच आयोग तथा गुँडू राव समिति ने कुछ वर्ष पहले ही बल दिया था। राज्य सरकार द्वारा १९६३ मे नियुक्त उच्चाधिकार वाली चीनी सलाहकार समिति ने भी ऐसी ही सिफारिश की थी और यह सुझाव दिया था कि ५ करोड रुपये से एक कोष बनाया जाय जिससे अनार्थिक इकाइयो को पुनर्स्थापना तथा आधुनिकीकरण के लिए सहायता प्रदान की जाय। उत्तर प्रदेश के चीनी उद्योग को एक समय देश के इस उद्योग मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। १९५५-५६ तक यहाँ की फैक्टरी द्वारा देश की कुल चीनी उत्पादन का ५३% भाग उत्पादन किया जाता था परन्तु १९६५-६६ तक यह घट कर ३९% ही रह गया। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने पर ही इसे धक्का लगा था परन्तु गन्ना तथा सस्ता श्रमिक उपलब्ध होने के कारण यह प्रगति करता रहा। बाद मे, केन्द्रीय सरकार की लायसेंसिग नीति मे परिवर्तन होने के साथ तथा मशीन की लागत मे अत्यधिक वृद्धि होने के कारण उद्योग को कठिनाइयो का सामना करना पडा और यह आधुनिकीकरण के लिये आवश्यक प्रयास न कर सका। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि ७१ फैक्टरी मे से कम से कम ३३ फैक्टरी की गन्ना पेरने की क्षमता १,२५० टन प्रतिदिन है जब कि ७,५०० टन प्रतिदिन क्षमता वाली इकाई का आकार ही आर्थिक माना जाता है। इस प्रकार उद्योग पुनर्स्थापना तथा आधुनिकीकरण के लिये वित्तीय सहायता की माँग करता रहा हैं परन्तु केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा कुछ भी नही किया गया है। १९६९ मे राज्य सरकार

द्वारा दूसरी उच्चाधिकार वाली साविधिक चीनी परिषद की स्थापना की गई है जिसे राज्य मे चीनी उद्योग की प्रगति से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करना है। इस उद्योग के समक्ष दूसरी प्रमुख समस्या गन्ने की पर्याप्त उपलब्धि की है। सामान्य कृषि वर्ष मे कुल गन्ने के उत्पादन का ४५% गुड तथा खाडसारी के उत्पादन मे लग जाता है, ३०% से ३५% तक फैक्टरी को प्राप्त होता है और शेष को बीज के लिये रख लिया जाता है। फैक्टरी को गन्ना बेचने के लिये सहकारी सघ महत्वपूर्ण योगदान देते है और वे राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों ही प्रकार के दबाव डाल कर केन्द्र सरकार द्वारा निर्धारित साविधिक मूल्य से भी अधिक मूल्य की माँग करते है।

भविष्य

देश भर मे १९६८-६९ मे चीनी के उत्पादन का अनुमान ३६ लाख टन लगाया गया है। इस अत्यधिक उत्पादन के कारण स्वतन्त्र बाजार मे चीनी के मूल्य मे कमी आती रही है। इससे उद्योग की चिन्ता बढने लगी। नियन्त्रण को पूर्ण रूप से हटा लेने की माँग की गई परन्तु भारतीय चीनी मिल एसोसियेशन नियन्त्रण को पूर्ण रूप से हटा देने के पक्ष मे नही है क्योकि इससे मूल्य मे और कमी आ सकती है और उद्योग को, विशेष रूप से उत्तर के उद्योग को, पर्याप्त हानि उठानी पडेगी। अत नियन्त्रण को धीरे-धीरे हटाने की माँग है। एक सुझाव रखा गया कि सरकार आधे उत्पादन को लेकर बफर स्टाक तैयार करे। दूसरा सुझाव निर्यात का कोटा बढाने का है। अन्तर्राष्ट्रीय चीनी परिषद द्वारा दिये गये २ ५ लाख टन प्रति वर्ष के कोटा के स्थान पर भारतवर्ष ने केवल १ लाख टन ही निर्यात किया। यह सुझाव दिया गया कि भारतवर्ष ५ लाख टन के कोटा की माँग करे। १९६८-६९ में १ लाख टन का निर्यात करने पर उद्योग को ११ करोड रुपये की हानि उठानी पडी क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य अति न्यून हैं।

चीनी उद्योग पर से लायसेंस हटा देने की भी माँग की गई, विशेष रूप से महाराष्ट्र से जहाँ कि इस उद्योग मे सहकारिता आन्दोलन विशेष सफल रहा। लायसेंस हटाने पर यह आशा है कि उन क्षेत्रों मे ऐसी फैक्टरी की स्थापना हो सकेगी जो कि आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक उपयुक्त हों। इससे उपभोक्ताओ को भी लाभ होगा।

१९६८-६९ मे चीनी के उत्पादन बढने पर और अधिक शीरा उपलब्ध होने पर भी अल्कोहल का अभाव रहा। चीनी उद्योग का कथन है कि शीरे के मूल्य पर जो नियन्त्रण है और ६७ पैसे प्रति क्विटल की दर से जो इसका मूल्य है वह

अनार्थिक है। शीरे की कमी होने के कारण १९६६-६७ तथा १९६७-६८ मे उद्योग ने अधिक से अधिक मूल्य प्राप्त करने की कोशिश की । सेन जॉच समिति का विचार था कि मूल्य मे वृद्धि की जानी चाहिए । इस स्थिति की ओर टैरिफ आयोग का भी ध्यान आकर्षित किया गया।

चीनी की दिशा मे स्थिरता लाने के लिये सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन गन्ने के उत्पादन को बढाना तथा अधिकाधिक उत्पादकता प्राप्त करना है। उत्तर एवं दक्षिण मे अन्तर केवल जलवायु सम्बन्धी दशाओ मे अन्तर होने के कारण ही नही है। उत्तरी राज्यो मे, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा पंजाब, मे आवश्यकता इस बात की है कि किसानो को उचित निर्देशन दिया जाय। यदि चतुर्थ योजना मे ४७ लाख टन चीनी का उत्पादन करने का लक्ष्य पूरा करना है तो यह आवश्यक है कि सरकार की सहायता से फैक्टरी स्वय अपने-अपने क्षेत्रों मे गन्ने के विकास का प्रयास करे।

हाल ही मे, सरकार ने चतुर्थ योजना के लिये चीनी की क्षमता तथा उत्पादन दोनो के ही लक्ष्यो मे सशोधन किया है, यथा १९७३–७४ तक ४८ ५ लाख टन। बर्तमान लायसेस प्राप्त वार्षिक क्षमता जो ४४ ६ लाख टन है उसे घटा कर ४० लाख टन कर दिया गया है। लक्ष्य तथा इस क्षमता के अन्तर को दूर करने के लिये ८ ६५ लाख टन की क्षमता के लिये नवीन लायसेस देने का विचार किया गया है। सरकार नई इकाइयो की स्थापना को प्राथमिकता दे रही है। यह चीनी के लिये विकास परिषद की सिफारिशो के विरुद्ध है क्योंकि इस का कहना था कि नवीन इकाइयो की स्थापना के स्थान पर विद्यमान इकाइयों का ही विस्तार किया जाना चाहिए क्योकि उस दशा म लागत ५०% कम होगी। चतुर्थ योजना मे निर्यात के लिये ५ लाख टन चीनी की व्यवस्था है। किन्तु भारत सरकार केवल २·५ लाख टन का ही कोटा प्राप्त करने मे समर्थ हो पाई है। वैसे सभी निर्यात का कुल कोटा मिला कर ३ ५ लाख टन था। सरकार को १९६८-६९ मे ३.५ लाख टन का निर्यात करने के लिये आवश्यक प्रयत्न करना चाहिए था। इससे आवश्यक वैदेशिक विनिमय भी उपलब्ध हो जाता। भविष्य मे सरकार को चाहिये कि वह सम्पूर्ण कोटा के बराबर चीनी का निर्यात करने का प्रयत्न करें।

चतुर्थ योजना मे जब कि ४८.५ लाख टन चीनी के उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया गया है और उसे उपलब्ध करने के लिये उद्योग के विस्तार की बात की जा रही है, राजनीतिक नेताओ द्वारा इसके राष्ट्रीयकरण की बात उठाने का विपरीत प्रभाव ही पड़ा है। यह अति आवश्यक है कि सरकार इस संबंध मे उचित नीति का प्रतिपादन करे जिससे कि आवश्यक विनियोग हो सके।

१९६८-६९ के अन्त मे रिकार्ड उत्पादन होने के कारण तथा वसूली १२ ५ प्रतिशत होने के कारण देश मे पर्याप्त चीनी उपलब्ध है। १९६९-७० के लिये भी यही आशा की जाती है कि उत्पादन अधिक ही होगा। उद्योग को उपलब्ध फसल का लाभ उठाने के लिये तथा अधिकतम उत्पादन बढाने के लिये सहायतार्थ निम्न-लिखित कार्यवाहियो का किया जाना आवश्यक है: (अ) चीनी की अन्तर्राज्य गतिविधियो के सम्बन्ध मे जो वर्तमान प्रतिबन्ध है उसमे छूट दी जानी चाहिए तथा अनियन्त्रित चीनी के विक्रेताओ की लाइसेसिग की प्रथा भी समाप्त कर देनी चाहिए। इससे चीनी की आन्तरिक बिक्री को सहायता मिलेगी। (ब) सरकार को ३ ५ लाख टन के पूर्ण कोटा का निर्यात करने का प्रबन्ध करना चाहिए। (स) अधिक उत्पादन के लिये आवश्यक वित्त बैंक के माध्यम से दिलाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए तथा अनियन्त्रित चीनी पर बैंक सीमा को वर्तमान २५ प्रतिशत से घटा कर १० प्रतिशत कर देना चाहिए। (द) स्वतन्त्र बिक्री बटन आज्ञा की वैध अवधि को वर्तमान ३० दिन से बढा कर ४५ दिन कर देना चाहिए क्योंकि अधिक पूर्ति होने के कारण चीनी के अभाव की सभावना नही है। (इ) सरकार को ८ से १० लाख टन चीनी का बफर स्टॉक बनाने की योजना को भी कार्यान्वित करना चाहिए। इन उपायो को अपनाने से मुख्यतया उत्पादन मे वृद्धि की प्रवृत्ति जारी रहेगी।

अध्याय २६

कागज उद्योग

शिक्षा के लिये तथा सामाजिक एव औद्योगिक उन्नति के लिये कागज एक महत्वपूर्ण साधन है। आधुनिक सभ्यता मे यह एक विशेष आवश्यकता है। वास्तव मे, कागज का प्रति-व्यक्ति उपभोग किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास तथा सभ्यता की प्रगति का सूचक है। भारतवर्ष इस क्षेत्र मे अभी बहुत पीछे है। यहाँ पर कागज की प्रति व्यक्ति वार्षिक खपत का अनुमान ३ पौड है जब कि सयुक्त राज्य अमेरिका मे ५२० पौड, कनाडा मे ३१० पौड तथा अनेक यूरोप के देशो मे १५०-२०० पौंड है।

सार्वजनिक क्षेत्र मे कागज का केवल एक कारखाना नेपा नगर मे हैं जो पहले निजी कम्पनी के रूप मे था, शेष सभी पेपर मिल्स निजी क्षेत्र मे है। ५७ कागज की मिलो मे से, केवल १० मिलो की ही उत्पादन क्षमता ३०,००० टन प्रति वर्ष से अधिक है। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित मिलो का नाम उल्लेखनीय है: टीटाघर पेपर मिल्स (पश्चिमी बगाल), रोहतास इण्डस्ट्रीज (बिहार), ओरियण्ट पेपर मिल्स (उडीसा और मध्य प्रदेश), श्री गोपाल मिल्स (हरियाना), बलारपुर पेपर एण्ड स्ट्रा बोर्ड मिल्स (महाराष्ट्र), सीरपुर पेपर मिल्स (आन्ध्र प्रदेश), वेस्ट कोस्ट पेपर मिल्स (मैसूर)। अधिकाश मिलो का आकार आर्थिक नही है। देश मे बड़ी इकाइयो की स्थापना इस लिये नही की जा सकी कि वित्त के उपलब्ध होने मे कठिनाइयाँ रही हैं, पश्चायन की प्रवृत्ति रही है तथा न्यून उत्पादकता रही है। लाभ की दर मे कमी के कारण निम्नलिखित रहे हैं: (१) कच्चा माल, रसायनिक पदार्थ तथा अन्य आवश्यक आयात की गई वस्तुओ की लागत मे वृद्धि होने के कारण उत्पादन लागत मे वृद्धि हुई, तथा (२) मई १९६८ तक कागज का विक्रय-मूल्य नियत्रित था। १९६० मे जो विक्रय मूल्य निर्धारित किया गया वह १९६८ तक चालू रहा, केवल १९६२ मे इसमे थोडी सी वृद्धि की गई थी। मई १९६८ मे आर्थिक मत्रियो की समिति ने यह विचार प्रकट किया था कि कागज का मूल्य अलाभकारी रहा है अत. इस उद्योग मे नवीन विनियोग नही हो पाया जो कि इस उद्योग के विस्तार के लिये अति आवश्यक है।

आकार. जब कि सयुक्त राज्य अमेरिका तथा स्कैंडेनेविया के देशो मे ५०० से १,००० टन क्षमता वाली मिले सामान्य रूप से है, जापान, इगलैंड तथा अन्य यूरोप के देशो मे छोटी इकाइयाँ ही है। भारतवर्ष भी छोटी इकाइयो के पक्ष मे रहा है और योजना आयोग ने तृतीय योजना मे इस उद्योग का विस्तार छोटी इकाइयो की स्थापना को प्रोत्साहित कर के ही किया है जो कि स्थानीय कच्चे माल का उपयोग करती है। छोटी इकाइयो मे कुशल तथा योग्य टैक्नीशियन की आवश्यकता नही होती। उनकी स्थापना उपभोग के केन्द्र मे ही की जा सकती है जिससे कि यातायात की लागत कम पडती है। साथ ही, स्थानीय कच्चे माल का उपयोग भी हो जाता है। वैसे, कागज और लुग्दी का एक साथ उत्पादन करने के जो आर्थिक लाभ है उन्हे छोटी इकाइयाँ नही प्राप्त कर सकती है। उचित नीति तो यह होगी कि विभिन्न क्षेत्रो मे छोटे आकार की कागज की इकाइयो के लाभार्थ बडे पैमाने पर लुग्दी के उत्पादन की फैक्टरी की स्थापना की जाय।

योजना के अन्तर्गत विकास प्रथम योजना के आरभ मे, १७ कागज की फैक्टरी थी जिन की वार्षिक क्षमता १,३९,००० टन थी तथा उत्पादन १,३४,००० टन था। इस योजना काल मे, १४ विद्यमान फैक्टरियो का विस्तार किया गया और उद्योग की क्षमता १९५५ के अन्त तक बढ कर १,८९,००० टन हो गई। द्वितीय योजना मे, इसकी क्षमता तथा उत्पादन का लक्ष्य क्रमश ४,५७,००० टन तथा ३,५६,००० टन रखा गया। इसी अवधि मे ८ नवीन इकाइयो की स्थापना हुई। कुछ विद्यमान इकाइयो का विस्तार भी हुआ। अत १९६० मे ४,३०,००० टन क्षमता हो गई और उत्पादन बढ कर ३,६८,००० टन हो गया जो कि निर्धारित लक्ष्य से अधिक था।

तृतीय योजना मे, आत्मनिर्भरता प्राप्त करने का विचार किया गया जिसका तात्पर्य १९६५-६६ तक क्षमता को बढा कर ७,२०,००० टन करना था। उद्योग की क्षमता को ८,३३,००० टन से तृतीय योजना के अन्त तक बढाना था। इस योजना मे इस उद्योग की प्रगति सन्तोषजनक नही रही। १९६६ के अन्त मे ५७ इकाइयाँ कागज का उत्पादन कर रही थी। उनकी क्षमता तथा उत्पादन क्रमशः ६,७४,००० तथा ६,१४,००० टन था जो निर्धारित लक्ष्य से कम था।

चतुर्थ योजना मे, १९७३-७४ के अन्त तक इसकी क्षमता तथा उत्पादन का लक्ष्य क्रमश ११ लाख टन तथा ९,६०,००० टन रखा गया है। न्यूजप्रिंट की क्षमता को बढा कर १,६५,००० टन करना है। विस्तार अधिकांशतया सार्वजनिक क्षेत्र मे करना है। आशा की जाती है कि वास्तविक उत्पादन चतुर्थ योजना के अन्त तक ९,५०,००० टन से अधिक न होगा।

प्रथम तथा द्वितीय योजना काल मे क्षमता तथा उत्पादन के दृष्टिकोण से इस उद्योग की उपलब्धि सतोषजनक थी परन्तु तृतीय योजना मे ऐसा न हुआ। ऐसा नियत्रण तथा अलाभकारी मूल्य के निर्धारण के कारण हुआ। तृतीय योजना मे कागज का अभाव नही रहा क्योकि देश मे सामान्य मन्दी की स्थिति थी। परन्तु चतुर्थ योजना मे इस के अभाव की सभावना अधिक है। उद्योग के विस्तार के लिये सरकार को समुचित प्रोत्साहन देना चाहिए। उचित वित्त तथा आवश्यक वैदेशिक विनियम की व्यवस्था इस सम्बन्ध मे करना आवश्यक है जिससे उद्योग तेजी से प्रगति कर सके।

न्यूजप्रिंट. न्यूजप्रिंट का उत्पादन भारतवर्ष मे कुल आवश्यकता का २० प्रतिशत ही होता है, शेष की पूर्ति आयात द्वारा की जाती है। इसके लिये प्रति वर्ष १६० लाख डालर वैदेशिक विनिमय के रूप मे व्यय करना पड़ता है। इस समय इस का उत्पादन केवल एक ही मिल (नेपा मिल) के द्वारा ही किया जा रहा है जिस की क्षमता ३०,००० टन ही है। तृतीय योजना के अन्त तक इसका उत्पादन २६,००० टन था। तृतीय योजना मे निजी क्षेत्र मे तीन नवीन इकायो को लायसेंस इसके लिये प्रदान किया गया। उत्तर प्रदेश मे ३०,००० टन की क्षमता का, महाराष्ट्र मे ३०,००० टन क्षमता का तथा पजाब-हिमाचल प्रदेश मे ७०,००० टन क्षमता की ये तीनो इकाइयाँ स्थापित की जा रही हैं। इनमे से केवल अन्तिम इकाई ने कुछ प्रगति की है।

कच्चा माल इस उद्योग के वर्तमान उत्पादन तथा दीर्घकालीन विस्तार को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इस उद्योग के सम्मुख कच्चे माल की समस्या गभीर है। इसके लिये बॉस सबसे महत्पूर्ण कच्चा माल है। उत्पादन के लिये, कुल कच्चे माल का ८० प्रतिशत बाँस का ही उपयोग होता है। यह पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही हो पा रहा है। कुछ राज्य सरकार इन कागज की मिलों को बाँस का जगल दीर्घकालीन पट्टे के रूप में नही देना चाहती। यदि दीर्घकालीन पट्टा मिल जाता है तो मिलों को आवश्यक पूर्ति बराबर होती रहती है और साथ ही, उद्योग उसके भावी विकास तथा संरक्षण मे भी रुचि रख सकेंगे। विभिन्न राज्य द्वारा लिया जाने वाला अधिकार शुल्क भी भिन्न-भिन्न है। इन सब तथ्यो को देखते हुए उचित यही होगा कि जगल को राज्यो की सूची मे न रख कर के समवर्ती सूची मे रखा जाय।

चतुर्थ योजना में निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति के लिये २७ लाख टन अतिरिक्त कच्चे माल की आवश्यकता होगी। बाँस की पूर्ति का तो पूर्ण उपयोग हो रहा है अतः अन्य कच्चा माल जैसे खोई, मुलायम लकडी, जूट की छड़ी तथा कृषि सम्बन्धी

रद्दी माल आदि, के उपयोग करने का प्रयत्न करना चाहिए । साथ ही, बॉस के पौधो को अधिक से अधिक बोया जाना चाहिए ।

यह उचित अवसर है जब कि बॉस तथा छोटे एव लम्बे रेशे वाले पौधो को बोने के लिये दीर्घकालीन कार्यक्रम बनाया जाय। विभिन्न घटको के मध्य, जैसे वर्तमान बॉस के साधन तथा उष्ण-कटिबन्धीय कठोर लकड़ी का उचित शोषण, तेजी से बढने वाले पौधो को बोना, कोनीफर के सीमित साधनो का उचित उपयोग करना, प्रभावकारी सामजस्य स्थापित करना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु सरकार को उचित प्रयास करना चाहिए तथा साथ ही मिलों को भी आवश्यक सुविधाये प्रदान करनी चाहिए जिससे वे उपयुक्त क्षेत्रो मे आवश्यक पौधो को बो सके ।

रोजगार सम्बन्धी संरचना उद्योगो के वार्षिक सर्वेक्षण, १९६३ के अनुसार कागज उद्योग मे ४०,००० व्यक्ति लगे थे जिनमे से ३२,६०० श्रमिक थे। मार्च १९६६ मे, इस उद्योग मे ६४,००० व्यक्ति लगे थे। इन स्थायी श्रमिको के अतिरिक्त श्रमिको को ठेके पर भी रखा जाता है । कागज मिल मे कार्य कर रहे व्यक्तियो के अतिरिक्त लगभग १,००,०० व्यक्ति बॉस तथा घास आदि को निकालनें, काटने आदि मे लगे रहते है । वैसे, इस उद्योग मे उत्पादकता न्यून है। इसमे उन्नति लाने के लिये आधुनिकतम साधनो का प्रयोग करना चाहिए। औद्योगिक सम्बन्ध इस उद्योग मे सामान्यतया ठीक ही हैं।

विनियन्त्रण एवं मूल्य-नीति जुलाई १९६६ मे सरकार ने कागज तथा न्यूजप्रिंट पर से नियत्रण हटा लिया—यह निर्णय उचित ही था । परन्तु कागज की बिक्री पर साविधिक नियत्रण चालू रखा गया। उद्योग मे प्रतिफल की दर मे कमी होने के कारण, जो कि विक्रय मूल्य पर नियत्रण का परिणाम था, तृतीय योजना मे इस उद्योग की स्थिति अच्छी न थी। १९६० से इस उद्योग की लाभोत्पादकता घटती रही है जैसा कि रिजर्व बैंक के एक अध्ययन द्वारा ज्ञात होता है। इसके अनुसार, शुद्ध मूल्य के प्रतिशत के रूप मे कर के पश्चात् लाभ की दर १९५९-६० मे १२ ३ प्रतिशत से घट कर १९६६-६७ मे ६ ५ प्रतिशत ही रह गई। १९६८ तक उद्यमियो का इस उद्योग पर से विश्वास उठता जा रहा था। इसी बात को ध्यान मे रख कर सरकार ने विनियन्त्रण नीति की घोषणा की ।

उद्योग की ओर से यह तर्क दिया जाता है कि इसने उपभोक्ताओ के हित को ध्यान मे रख कर केवल ५ से १५ प्रतिशत ही मूल्य मे वृद्धि विनियन्त्रण के पश्चात् की है। अप्रैल १९६९ मे दुबारा जो मूल्य मे वृद्धि हुई है उससे मूल्य

सरचना वास्तविक स्तर पर पहुच गई है। वैसे उत्पादन का पर्याप्त भाग सरकार को देना पडता है और उस दशा मे मूल्य मे वृद्धि अपेक्षाकृत बहुत कम हुई।

निर्यात कुछ प्रकार के कागज का उत्पादन देश मे माँग की अपेक्षाकृत अधिक होता है अत. कुछ अधिशेष निर्यात के लिये बच रहता है। विगत कुछ वर्षों से भारतवर्ष से सिगरेट के कागज का निर्यात नियमित रूप से हो रहा है। कुछ साधारण प्रकार के छपाई के कागज का निर्यात भारतीय मिलो ने करना आरभ किया है। निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिये सरकार ने १९६८ के आरभ मे रोकड-उपदान को १० प्रतिशत से बढा कर १५ प्रतिशत कर दिया। १९६८-६९ मे कागज तथा कागज बोर्ड का निर्यात ५५० लाख रुपये का हुआ जो कि चतुर्थ योजना के ४७० लाख रुपये के लक्ष्य से भी अधिक था।

नवीन टैक्नालॉजी. भारत मे कागज का विकास तो हो रहा है परन्तु विश्व के अन्य देशो की तरह कागज उत्पादन के लिये आधुनिक टैक्नालॉजी का प्रयोग करने मे अभी बहुत पीछे है। अन्य देशो मे विभिन्न प्रकार के कागज का उत्पादन हो रहा है और उनकी क्षमता तथा गति भी अधिक है। अतः यह आवश्यक है कि उन मिलो को, जो कि विस्तार कर रही हो या नवीन प्लाण्ट की स्थापना कर रही हो, सभी प्रकार की सुविधाये तथा वैदेशिक विनिमय प्रदान किया जाय।

शोध. कागज उद्योग से सम्बन्धित शोध के लिये भारतवर्ष मे एक ही सस्था है जो कि फारेस्ट रिसर्च इस्टीट्यूट के नाम से देहरादून मे है। इस दिशा मे कुछ कार्य क्षेत्रीय शोध लैबोरेटरी, जोरहाट (आसाम) मे भी किया जाता है। सहारनपुर (उत्तर प्रदेश) मे जूनियर टैक्नीशियन के प्रशिक्षण के लिये एक पेपर टैक्नालॉजी स्कूल खोला गया है। इन तीनो सस्थाओ मे उपलब्ध सुविधाये पर्याप्त नही हैं। भावी विकास के लिये पेपर टैक्नालॉजी पर उच्चतर शिक्षा के लिए एक सस्था खोली जानी चाहिए। इस उद्योग ने भारतीय कागज मिल एसोसियेशन नाम की एक सस्था बना रखी है जो कि उद्योग का ७८ प्रतिशत प्रतिनिधित्व करती है। कागज तथा कच्चे माल से सम्बन्धित शोध के लिये उद्योग द्वारा केन्द्रीय शोध सस्था की स्थापना का भी एक प्रस्ताव है।

भविष्य

प्रथम दो योजना-काल मे कागज तथा कागज बोर्ड की माँग में वृद्धि क्रमश ८ तथा ११ प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है। परन्तु तृतीय योजना मे यह घट कर ७ ५ प्रतिशत प्रतिवर्ष ही रह गई। यदि ७ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से माँग मे वृद्धि को

मान लिया जाय तो चतुर्थ योजना के अन्त तक लगभग ६ लाख टन की मॉग होने का अनुमान है । ६०,००० टन तक निर्यात करने के लिये तथा देश की मॉग को पूरा करने के लिये १९७३-७४ तक इसका उत्पादन ९,६०,००० टन होना चाहिए। यदि यह मान लिया जाय कि उत्पादन क्षमता का ८५% उपयोग हो सकेगा तो लक्ष्य की पूर्ति के लिये क्षमता ११ ३ लाख टन होनी चाहिए। वैसे १९७३-७४ तक इसकी क्षमता लगभग १३ लाख टन होगी । इसके विपरीत १९६९ तक क्षमता ७,३०,००० टन थी और १९७१ तक इसमे ८०,००० टन की अतिरिक्त क्षमता और जुड चुकी होगी । अतः, चतुर्थ योजना के लक्ष्य की पूर्ति के लिये ४,८०,००० टन की अतिरिक्त क्षमता और जोडनी होगी । इसके लिये, लुग्दी कागज तथा अन्य सम्बन्धित उद्योगो के विकास परिषद के अनुसार, २०० करोड रुपये की आवश्यकता होगी। उसी प्रकार न्यूजप्रिंट के लिये १२५ करोड रुपये की आवश्यकता होगी। अत कुल ३२५ करोड रुपये की आवश्यकता होगी। यदि दत्त समिति की सिफारिशो के अनुसार बडे औद्योगिक गृहो को लाइसेस नही दिया जाता तो इस उद्योग के विकास पर उसका विपरीत प्रभाव पडेगा क्योकि आधुनिकतम टैक्नालॉजी सहित कागज मिल की स्थापना के लिये बहुत बड़ी मात्रा मे पूँजी का विनियोग करना आवश्यक है।

कागज के उत्पादन के सम्बन्ध मे चतुर्थ योजना मे निर्धारित लक्ष्यों का प्रा करना एक कठिन कार्य है। उसके लिये बहुत बडी मात्रा मे विनियोग करने की आवश्यकता है। यह तभी संभव हो सकेगा जब कि उद्योग आतरिक साधनो को बढाने का प्रयत्न करे। इस उद्योग के साधारण अशो के रूप मे अधिक पूँजी को प्राप्त करने के लिये विनियोग को आकर्षक बनाना होगा । वित्तीय सस्थाओं को इस उद्योग को वित्त प्रदान करते समय उदारपूर्ण दृष्टिकोण अपनाना होगा । साथ ही विनियन्त्रण तथा लाइसेस समाप्त करने की वर्तमान नीति को भी चालू रखना चाहिये ।

अध्याय ३०

सीमेण्ट उद्योग

सीमेट देश के प्रमुख प्रतिष्ठित उद्योगो मे से एक है। प्रत्यक्ष रूप से ६०,००० श्रमिको को रोजगार प्रदान करने के अतिरिक्त, यह कोयले की खानो मे, शक्ति के प्रजनन मे, यातायात तथा जूट वस्त्र मे रोजगार का सृजन करने मे सहायता प्रदान करता है। देश के कोषागार मे इसका योगदान वर्ष-प्रति-वर्ष बढता जा रहा है। राष्ट्रीय आय मे इसका योगदान लगभग ५० करोड रुपये है। सीमेट न केवल आर्थिक विकास मे सहायक है अपितु यह देश के आर्थिक जीवन मे भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो के विनियोग कार्यक्रम की सफलता इस उद्योग पर निर्भर है। इसीलिए प्रत्येक पचवर्षीय योजना मे इसे प्राथमिकता प्रदान की जाती रही है।

गत अर्द्ध-शताब्दी मे सीमेट उद्योग ने देश मे अपने-आप को पूर्ण रूप से प्रतिष्ठापित कर लिया है। इसमे १३० करोड रुपये की पूँजी लगी हुई है। यह सरकार को उत्पादन-कर के रूप मे ३२ करोड रुपये तथा रेलवे को परिवहन भाडे के रूप मे १४ करोड रुपये प्रति वर्ष देता है। भारत मे उत्पादित सीमेट का मूल्य लगभग ८५ करोड रुपये प्रति वर्ष है। देश मे इसका उत्पादन १९१४ मे १,००० टन से बढ़कर अब लगभग १३० लाख टन हो गया है। उत्पादित सीमेट की किस्म भी विदेशो मे उत्पादित सीमेट की अपेक्षाकृत कम अच्छी नही है। वास्तव मे यह निर्दिष्ट मान से अच्छा ही है।

सीमेट उद्योग का विकास मुख्य रूप से निजी क्षेत्र मे ही हुआ है। यह प्रकृति में पूर्णतया भारतीय ही है। देश मे सबसे बडा एकल उपक्रम एसोशियेटेड सीमेट कम्पनीज (ACC) है जिसकी स्थापित क्षमता ४६ लाख टन है जो कि १९६६ मे देश मे कुल स्थापित क्षमता का लगभग ४३ प्रतिशत था। इसके बाद डालमिया तथा साहू-जैन का नम्बर आता है जो प्रत्येक ४ इकाइयो का नियन्त्रण करते हैं। साहू-जैन के प्रबन्ध के अन्तर्गत इकाइयो की कुल क्षमता १६ लाख टन है जो कि १९६४ मे देश मे कुल क्षमता का लगभग १५ प्रतिशत था। डालमिया के अन्तर्गत ४ इकाइयो की क्षमता १४ लाख टन है। सार्वजनिक क्षेत्र मे भी सीमेट

के विनिर्माण के लिए तीन इकाइयो को स्थापित किया गया है। इनमे से एक इकाई मैसूर आयरन ऐण्ड स्टील वर्क्स द्वारा चलाई जा रही है जिसका स्वामित्व मैसूर सरकार के पास है। शेष दो मे से एक उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा चुर्क (मिर्जापूर) मे चलाई जा रही है और दूसरी जम्मू एव कश्मीर माइनिग ऐण्ड मिनरल प्रोडक्ट्स कार्पोरेशन के द्वारा चलाई जा रही है। सीमेट उद्योग का विस्तार करने के लिए, हाल मे ही, भारत सरकार ने भारतीय सीमेट निगम की स्थापना की है। इस निगम को एक ओर सार्वजनिक क्षेत्र मे नवीन इकाइयो की स्थापना का भार और दूसरी ओर निजी क्षेत्र मे विस्तार का भार सौपा गया है। चूने के पत्थर के प्रसाधनो को बढाना भी इसके उत्तरदायित्व का एक भाग है। निगम को पहले १९७०-७१ तक ५० लाख टन क्षमता की फैक्टरियो की स्थापना का भार सौंपा गया था। बाद मे इसे घटाकर २६ लाख टन कर दिया गया। दो सीमेट प्लाण्ट की—एक मध्य प्रदेश तथा दूसरा मैसूर मे—प्रत्येक २ लाख टन की क्षमता का स्थापित करने का निर्णय लिया गया था। इसने दो और फैक्टरी, एक मध्य प्रदेश और दूसरी आन्ध्र प्रदेश मे, स्थापित करने का प्रस्ताव रखा है।

सीमेट उद्योग का विकास भारतवर्ष मे १९५१ तक धीरे-धीरे हुआ। परन्तु उसके उपरान्त विकास तेजी के साथ हुआ। वृद्धि की दर तथा उत्पादन की ऊँची किस्म तो प्रशसनीय है परन्तु साथ ही उपलब्ध पूर्ति और वितरण मे क्षेत्रीय असमानता पाई जाती है। निम्नलिखित तालिका से १९५१-६८ के मध्य उद्योग के विकास के विषय मे जानकारी प्राप्त हो सकती है.

सीमेट का उत्पादन तथा स्थापित क्षमता

(हजार टन मे)

वर्ष	फैक्टरी की सख्या	स्थापित क्षमता	उत्पादन
१९५१	२४	३,६१३	३,२५२
१९५६	२७	५,७९५	५,००८
१९६१	३४	९,४७४	८,२४५
१९६६	३८	१२ ४९७	११,०५३
१९६७	४३	१२,६६३	११,३०८
१९६८	४३	१२,९०४	११,३६०

मार्च १९७० मे, केन्द्रीय सरकार ने सीमेट निगम द्वारा स्थापित किए जाने वाले ३ सीमेट प्लाट को शीघ्र आरभ करने का निर्णय लिया है। इसी से, औद्योगिक विकास मंत्रालय की १९७०-७१ की माँग मे २.११ करोड रुपये की व्यवस्था की गई है।

प्रगति. सीमेंट के उत्पादन मे चार गुनी वृद्धि हुई है। १९५०-५१ मे २७ लाख टन से बढ़कर यह तृतीय योजना के अन्त मे १०८ लाख टन हो गयी। वैसे उत्पादन के विकास की वार्षिक दर धीरे-धीरे घटती रही है। प्रथम योजना काल मे यह १३ प्रतिशत थी, द्वितीय योजना मे घट कर ११ प्रतिशत तथा तृतीय योजना मे और घटकर ६ प्रतिशत ही रह गई। विपरीत परिस्थितियो के होते हुए भी, गत बीस वर्षो मे यह उद्योग अपनी स्थापित क्षमता को तेजी के साथ बढाने मे सफल रहा है। इसकी क्षमता १९५०-५१ मे ३३ लाख टन से बढकर प्रथम योजना के अन्त तक ४९ लाख टन हो गई और द्वितीय योजना में और भी बढ कर ४२ लाख टन हो गई। साथ ही, तृतीय योजना मे २२ लाख टन से इसकी अतिरिक्त क्षमता बढी। इस प्रकार तृतीय योजना के अन्त मे, इस उद्योग की स्थापित क्षमता ११६ लाख टन हो गई थी।

जनवरी १९६६ मे इस उद्योग पर से नियत्रण हटा लेने की घोषणा हुई औग परिणामस्वरूप सीमेन्ट के उत्पादन मे और वृद्धि होने लगी। सीमेट के मूल्य मे वृद्धि होने से उद्योग के विस्तार को भी प्रोत्साहन मिला। नियत्रण हटने के केवल दो वर्ष के अन्दर ही इसकी क्षमता १० लाख टन से बढ गई और १९६९ के अन्त तक इसकी क्षमता बढकर १५० लाख टन हो गई। चतुर्थ योजना मे, सीमेट के उत्पादन का लक्ष्य १८० लाख टन रखा गया है। यह अनुमान है कि १५ वर्ष के योजना काल मे सीमेट का उत्पादन तथा उसकी क्षमता मे ९ प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि हुई है जो कि सम्पूर्ण औद्योगिक उत्पादन के विकास की दर से (६.८ प्रतिशत वार्षिक) अधिक है।

सीमेण्ट का प्रति व्यक्ति उपभोग भी, जो विकास का एक विश्वसनीय सूचक है, नियोजित विकास से प्रोत्साहित होकर बढा है। यह १९४७ मे ४४ किलोग्राम से बढ कर १९५० मे ७·४ किलोग्राम, १९६० मे १७·५ किलोग्राम, १९६८ मे २३ किलोग्राम हो गया और १९७० के अन्त तक २७ किलोग्राम हो जाने की आशा है। यह उल्लेखनीय है कि जब कि राष्ट्रीय आय मे वार्षिक वृद्धि ३ प्रतिशत की दर से तथा वार्षिक उत्पादन मे वृद्धि ७ प्रतिशत की दर से हो रही है, सीमेण्ट के लिये मॉग मे वृद्धि ८ प्रतिशत वार्षिक दर से हो रही है। फिर भी अन्य उन्नत देशों की अपेक्षाकृत यह वृद्धि कम ही है। अधिकाश उन्नत देशो मे प्रति व्यक्ति उपभोग भारत से १५ मे २० गुना है।

देश की अधिकाश जनता गाँवो में रहती है। उनकी आय का स्तर न्यून होने के कारण, वे अच्छे प्रकार के घरों की व्यवस्था कर पाने मे असमर्थ हैं। यातायात की पर्याप्त सुविधा अभी भी प्रदान करना शेष है। शहरी क्षेत्रों मे

भी गन्दी बस्तियाँ तथा चाल आदि पाये जाते है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया धीरे-धीरे गति पा रही है । हरी क्रान्ति की सफलता के साथ-साथ ग्रामीण क्षेत्रो मे परिस्थिति अवश्यमेव बदलेगी । कृषि पर तथा विशेष रूप से सिंचाई की व्यवस्था पर बल दिये जाने के कारण निर्माण कार्य को भी प्रोत्साहन प्राप्त होगा। ये सभी परिस्थितियाँ यह सूचित करती है कि देश मे सीमेण्ट की माँग मे वृद्धि होने की अत्यधिक सभावना है ।

तृतीय योजना के अन्त मे, देश मे सीमेण्ट का अत्यधिक अभाव रहा। इससे कुछ लोगो मे यह भावना उत्पन्न हुई कि यह उद्योग अपने उत्तरदायित्व को सँभालने में असमर्थ है। परन्तु बाद की प्रगति से यह विचार निराधार सिद्ध हुआ । माँग का वर्तमान स्तर, जो कि १३५ लाख टन है, तथा अगले दो वर्ष मे जो वृद्धि की आशा है उसे देखते हुए ऐसी आशा की जाती है कि नियोजित क्षमता १९७३-७४ तक सीमेण्ट की सम्पूर्ण आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकेगी ।

समस्याये

क्षेत्रीय असन्तुलन. १९६८ के अन्त मे सीमेण्ट का उत्पादन माँग की अपेक्षाकृत अधिक था । १९६९ के अन्त मे भी अधिक उत्पादन की आशा थी। परन्तु यह आधिक्य वस्तुस्थिति का आभास नही देता । वास्तव मे, उत्पादन मे क्षेत्रीय असन्तुलन अत्यधिक है । यह तथाकथित आधिक्य इस मान्यता पर आधारित है कि सीमेण्ट का आधिक्य वाले क्षेत्र से अभाव वाले क्षेत्र मे स्वतत्रता के साथ आदान-प्रदान हो रहा है। वैसे, पश्चिमी क्षेत्र मे १७७ लाख टन का तथा दक्षिणी क्षेत्र मे १२१ लाख टन का आधिक्य है और पूर्वी क्षेत्र मे २६३ हजार टन तथा उत्तरी क्षेत्र मे २३९ लाख टन का अभाव है जब कि अखिल भारतीय स्तर पर ३२३ हजार टन का आधिक्य है।

सरकारी अनुमान यह है कि चतुर्थ योजना तक की सभी विस्तार की योजनाओ को कार्यान्वित कर दिया जाय तब भी देश की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति न हो पायेगी और लगभग ३० लाख टन का अभाव रहेगा । इससे यह स्पष्ट है कि उत्पादन मे क्षेत्रीय सन्तुलन का स्थापित करना अति आवश्यक है ।

कच्चा माल. सीमेण्ट निर्माण के लिये आवश्यक कच्चा माल कैलकेरिया पदार्थ (चूने का पत्थर, कैलकेरियस रेत, तथा सामुद्रिक शेल) तथा अन्य पदार्थ (क्ले, शेल, बाक्साइड), जिप्सम, तथा कोयला या फर्नेस तेल हैं । एक टन सीमेण्ट के उत्पादन के लिये औसतन १.५ टन अच्छे चूने के पत्थर की आवश्यकता होती है । भारत मे अच्छे किस्म के चूने के पत्थर का लगभग ५०,००० लाख

टन संचय है जो कि उद्योग के लिये ७५ वर्ष के लिये पर्याप्त होगा यदि १६८० तक माँग बढकर ४०० लाख टन प्रति वर्ष हो जाय। चूने का पत्थर सौराष्ट्र क्षेत्र, मध्य प्रदेश के कुछ भागो मे तथा दक्षिण भारत के तटीय क्षेत्रो मे प्राप्त होता है। मध्य प्रदेश को छोडकर, अन्य सभी क्षेत्र कोयले की खानो से दूर हैं। इधर चूने के पत्थर को उच्च श्रेणी का बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

भारत मे कोयले की खाने बँगाल तथा बिहार क्षेत्र मे ही केन्द्रित हैं जहाँ कि चूने का पत्थर उपलब्ध नही होता। इससे फैक्टरी के उचित स्थान-निर्धारण की समस्या उपस्थित होती है। जिप्सम भी मुख्य रूप से राजस्थान मे पाया जाता है। अत इसे दूर-दूर देश के विभिन्न भागों मे स्थापित फैक्टरी तक ले जाना पडता है। भारत मे ऐसे स्थान अधिक नही है जहाँ कोयला तथा चूने का पत्थर पास-पास उपलब्ध होता हो। चूने का पत्थर तथा कोयले को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना पडता है और उसका व्यय भी पर्याप्त होता है। अत अधिकाश फैक्टरी के स्थान निर्धारण पर सीमेण्ट के वितरण की समस्या का अधिक प्रभाव पडता है। यद्यपि इस उद्योग का पर्याप्त विकेन्द्रीकरण है तथापि अभी भी क्षेत्रीय असन्तुलन है। बिहार मे सबसे अधिक फैक्टरी है और वहाँ ७, मद्रास मे ६, आन्ध्र प्रदेश मे ५, गुजरात मे ५, मैसूर मे ५, मध्य प्रदेश मे ४, राजस्थान मे ३, हरियाना मे २ तथा अन्य राज्यो मे या तो एक हैं या कोई भी नही।

नियंत्रण. १६४२ मे इस उद्योग पर नियत्रण लगाया गया था और जुलाई १६५६ से राज्य व्यापार निगम ने सीमेन्ट का वितरण अपने हाथ मे ले लिया था। १६६६ में सीमेन्ट पर से नियन्त्रण हटा लिया गया परन्तु इसका वितरण निर्माताओ द्वारा ऐच्छिक रूप से सीमेन्ट एलोकेशन ऐन्ड क्वारडिनेटिंग आरगनाइजेशन (CACO) की स्थापना करके नियत्रण किया जाने लगा। यद्यपि नियन्त्रण १ जनवरी १६६६ से हटा लिया गया तथापि सरकार ने यह निश्चित किया कि कुल उत्पादन का ५० प्रतिशत उसे सरकारी आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु उपलब्ध होना चाहिए। सरकार के लिये आरक्षित उत्पादन के अतिरिक्त CACO ने ३० प्रतिशत स्वतन्त्र बिक्री के लिये तथा २० प्रतिशत प्रत्यक्ष उपभोक्ताओ के लिये, जैसे अर्द्ध सरकारी विभाग, सगठित उद्योग तथा कृषको के लिये निश्चित किया। परन्तु उपर्युक्त व्यवस्था १ जनवरी, १६६८ से समाप्त हो गई जब सरकार ने इसके मूल्य तथा वितरण पर पुनः नियत्रण लगा दिया। सरकार ने CACO का कार्य सरकार द्वारा नियुक्त सीमेन्ट नियन्त्रक को सौप दिया। इसी बीच देश मे पश्चायन की प्रवृत्ति आ गई। परिणामस्वरूप, सरकारी काम मे कुछ कटौती करनी पडी। यद्यपि सरकार ने कुल उत्पादन का ५० प्रतिशत अपने लिये आरक्षित

कर लिया था परन्तु १९६८ मे वास्तव मे इसने केवल ३० प्रतिशत ही लिया। अत , यकायक अनेक वर्षो के अभाव के पश्चात् उद्योग को क्षमता का पूरा उपयोग न होने की स्थिति का सामना करना पडा ।

नवीन फैक्टरियो का निर्माण हो रहा है और एक या दो वर्ष मे उनके द्वारा उत्पादन् भी आरभ हो जायगा, ऐसी स्थिति मे ऐसा दृष्टिगोचर हो रहा है कि अगले कुछ वर्षों मे पूर्ति की स्थिति ठीक ही रहेगी । सरकार ने इस स्थिति को स्वीकार करके इस पर से नियन्त्रण हटाने के बारे मे विचार आरभ किया। यह प्रस्ताव रखा गया कि १ जनवरी, १९७० से सीमेण्ट के मूल्य एव वितरण पर से नियत्रण हटा लिया जायगा । परन्तु सरकार ने, हाल मे ही, अपना विचार बदल दिया और नियत्रण अभी लागू है। सरकार की यह बदलती हुई नीति उचित नही है क्योंकि इससे उद्योग मे सशय बना रहता है । सीमेन्ट नियन्त्रक द्वारा निर्गमित अभी हाल के एक अध्ययन से ज्ञात होता है कि १९७२ तक चारो क्षेत्रो मे आधिक्य की सी स्थिति रहेगी और १९७३ तथा १९७४ मे केवल दक्षिणी तथा पश्चिमी क्षेत्रो मे कुछ अभाव की स्थिति रहेगी । इस अभाव की पूर्ति के लिये अभी से ही उद्योग को योजना बना लेनी चाहिए ।

न्यून लाभ तथा मूल्य. सीमेण्ट उद्योग मे न्यून लाभ की समस्या का वितरण तथा विपणन की समस्या से घनिष्ठ सम्बन्ध है। १९६६ मे औसतन १३ रुपये प्रति टन की दर से जो वृद्धि की अनुमति दी गई थी उससे उद्योग को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला । यह इस बात से ज्ञात होता है कि अनियन्त्रण की ५ वर्ष की अवधि मे उत्पादन लगभग दूना हो कर २१० लाख टन हो गया । फिर भी, कुछ ऐसे कारण है जिनके ऊपर उद्योग का कोई नियन्त्रण नही है । ऐसा अनुमान है कि १९६६ से उत्पादन लागत मे अनेक कारणो से, जैसे रेल-भाडा मे वृद्धि, विद्युत कर, कर मँहगाई, मजदूरी परिषद की सिफारिशो आदि, २० से २१ रुपये प्रति टन की दर से वृद्धि हुई है । उद्योग की ओर से यह तर्क दिया जा रहा है कि १६ अप्रैल, १९६६ से जो १०० रुपये समरूप रिटेशन मूल्य के रूप मे स्वीकार किया गया है वह बढती हुई लागत की अपेक्षाकृत अपर्याप्त है। लाभ की मात्रा मे पर्याप्त कमी होने के कारण उद्योग की वित्तीय स्थिति पर विपरीत प्रभाव पडा है और ऋण की मात्रा बढती जा रही है। न्यून लाभ की स्थिति का सामना लाभप्रद मूल्य की स्वीकृति प्रदान करके ही किया जा सकता है । अत यथार्थपूर्ण मूल्य नीति सीमेण्ट उद्योग की प्रगति के लिये अति आवश्यक है ।

लागत-मूल्य का सम्बन्ध पक्ष मे नही है ऐसा लाभ की सीमा से ज्ञात होता है। कर तथा विस्तार के लिये सचय प्रदान करने के पश्चात् शुद्ध लाभ १९६६-६७

मे १०.६% से घट कर १९६७-६८ मे ७ ६% हो गया और १९६८-६९ मे और भी कम हो गया। पर्याप्ति लाभ न होने के कारण, विस्तार के लिये यह प्रर्याप्त सचय भी नही बना पाया है। सचय का अशधारियो द्वारा अभिदत्त मूल पूंजी से अनुपात (रिजर्व बैंक ग्राफ इडिया बुलेटिन, दिसम्बर १९६७ के अनुसार) सीमेण्ट उद्योग मे १९६५-६६ मे ०.६३ था जब अल्युमीनियम मे १ ७९, खनिज तेल मे १ ५७, लोहा एव इस्पात मे २ १८, चाय बागान मे .२, तथा सम्पूर्ण उद्योग का औसत १ ३४ था। वैसे तो सचय की मात्रा, उद्योग की आयु पर निर्भर करता है परन्तु ग्रल्युमीनियम तथा लोहा एव इस्पात उद्योग में भी, जो कि या तो सीमेण्ट के साथ के या उसके बाद के उद्योग हैं, इस उद्योग की अपेक्षाकृत सचय का अनुपात अधिक है। यह उल्लेखनीय है कि सचय की यह कमजोर स्थिति लाभाश का उदारता के साथ वितरित करने के परिणामस्वरूप नही है। वास्तव मे, सीमेण्ट उद्योग मे लाभाश की दर अन्य उद्योगो की ग्रपेक्षाकृत कम ही है। १९३७-६५ की अवधि मे शुद्ध मूल्य के प्रतिशत के रूप मे लाभाश का ग्रौसत ५ ७ तथा प्रदत्त पूंजी के प्रतिशत के रूप मे ७ ५ ही रहा है। १९६०-६१ से १९६५-६६ की अवधि मे यह ग्रौसत क्रमश ६ ९ तथा १० रहा है। अन्य उद्योगो, जैसे, अलौह धातु, विद्युत मशीन तथा उपकरण आदि, की अपेक्षाकृत यह दर कम ही है। इस उद्योग के वित्तीय इतिहास का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि इस उद्योग मे ऐसी परिस्थितियाँ नही रही है जिससे कि इसका शीघ्र तथा स्वस्थ विकास हो सकता। सीमेण्ट मे स्थायी पूंजी अत्यधिक मात्रा मे लगानी पडता है और कुल सम्पत्ति का अधिकाश भाग स्थायी सम्पत्ति के रूप मे होता है। ऐसी परिस्थिति मे उधार ली गई पूँजी पर अधिक निर्भरता उचित नही है। यह सभव है कि अगले दो या तीन वर्षो मे, जब विस्तार का कार्यक्रम कार्यान्वित हो चुका होगा, इसकी क्षमता तथा उत्पादन माँग की अपेक्षाकृत कही अधिक हो जाय और परिणामस्वरूप इस उद्योग की वित्तीय स्थिति गभीर हो सकती है।

विगत २५ वर्षों मे, उद्योग कभी भी अधिक समय तक लाभ कमाने की स्थिति मे नही रहा है। प्रारभिक अवस्था मे, बाजार की स्थिति पक्ष मे न थी अतः मूल्य को कम रखा गया और लाभ की दर कम रही। बाद के वर्षो मे बाजार की स्थिति मे सुधार हुआ परन्तु मूल्य पर नियत्रण रखा जाने लगा। योजना के आरभ होने पर, विशेष रूप से द्वितीय तथा तृतीय योजना मे, उद्योग की वित्तीय स्थिति अच्छी न रही। सरकार ने स्थिति की गभीरता को ध्यान मे रख कर १ जनवरी, १९६६ से मूल्य तथा वितरण पर से नियत्रण हटा लिया। परन्तु १९६८ मे पुनः नियन्त्रण लगा दिया गया। और अब १ जनवरी, १९७० से नियन्त्रण हटाने की जो आशा

थी वह भी समाप्त हो गई।

यातायात. इस उद्योग की दूसरी समस्या यातायात सम्बन्धी कठिनाइयों की है। केवल कच्चे माल को ही नही दूर-दूर से फैक्टरी तक लाना पड़ता है अपितु निर्मित माल को भी देश के कोने-कोने मे ले जाना पडता है। वैगन की कमी तो सदैव ही रहती है और कभी-कभी यातायात की सुविधा न मिलने के कारण फैक्टरी को अपने उत्पादन मे कटौती करनी पडती है। आगे आने वाले वर्षों मे सबसे बडी कठिनाई, जिसका सामना उद्योग को करना होगा, देश के सभी केन्द्रो मे सीमेण्ट का नियमित वितरण करने से सम्बन्धित होगी। इस समस्या को सुलझाने के लिये रेलवे को भी समुचित ध्यान देना होगा। इसे उचित प्रकार के डिब्बो की भी व्यवस्था करनी होगी। मीटर गेज पर भी अधिक सुविधा प्रदान करने की आवश्यकता है। कुछ रेल की पटरियो को दोहरा करना भी आवश्यक है जिससे एक स्थान से दूसरे स्थान तक स्वतन्त्रता के साथ पहुचा जा सके।

भविष्य

नवीन कच्चे माल की खोज. सीमेण्ट निर्माण की क्षमता का देश मे असमान वितरण का मुख्य कारण चूने के पत्थर के सचय का असमान वितरण है। उद्योग के सतुलित विकास के लिये नवीन कच्चे माल की खोज करना आवश्यक है। सीमेण्ट के निर्माण के लिये भौतिक एव रसायनिक सरचना के दृष्टिकोण से इतने प्रकार के कच्चे माल की आवश्यकता होती है कि निर्माण मे उनके प्रयोग के लिये विशिष्ट तकनीक तथा उपकरणो की आवश्यकता होती है। चूने का पत्थर ही जो कि प्रमुख कच्चा माल है कई प्रकार का मिलता है और अलग-अलग दशाओ में अलग-अलग प्रक्रियाओ का प्रयोग करना पडता है। कुछ पत्थर निम्नकोटि के होते है और उनमे सुधार करना पडता है। नवीन प्रक्रियाओं का अपनाना राष्ट्रीय दृष्टिकोण से लाभप्रद सिद्ध होगा। प्रथम, देश के खनिज साधनों का पूर्ण उपयोग संभव हो पायेगा, तथा दूसरे, चूँकि कच्चे माल का वितरण असमान है, इसलिए इससे अभाव वाले क्षेत्र मे फैक्टरी की स्थापना करने मे सहायता मिलेगी जिससे रेलवे पर भार भी कम होगा।

इस उद्योग और वैज्ञानिक एव औद्योगिक शोध परिषद के सम्मिलित प्रयासों से भारतीय सीमेण्ट शोध की स्थापना की जा चुकी है। यह सीमेण्ट के सम्बन्ध मे शोध के लिये विस्तृत योजना तैयार कर रहा है। इस दिशा मे अधिक धनराशि के व्यय किये जाने की आवश्यकता है। उत्पादन की मात्रा की दृष्टि से विश्व मे प्रथम छ देशो में भारतवर्ष को स्थान प्राप्त है, अत शोध मे भी इस देश का योगदान पर्याप्त होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध मे एक चेतावनी देना अति

आवश्यक है। देश मे ही शोध, आयात प्रतिस्थापन, नवीन खोज तथा आत्म-निर्भरता आदि के नाम पर समय-समय पर कुछ कृत्रिम या खराब सीमेण्ट बाजार मे लाया जाता है जो कि भवन-निर्माण के लिये बिल्कुल अनुपयुक्त होता है। ऐसे पदार्थों का उपयोग धन तथा जन के लिये हानिप्रद सिद्ध हो सकता है। ऐसे पदार्थ प्राय बाजार मे बिक्री के लिये तब लाये जाते हैं जब कि बाजार मे अभाव की स्थिति होती है।

यद्यपि सीमेट उद्योग लगभग ५० वर्ष पुराना है फिर भी निर्माण की तकनीक तथा उद्योग के लिए आवश्यक मशीन निर्माण के दृष्टिकोण से अभी हाल मे ही हम आत्म निर्भर हो सके। द्वितीय महायुद्ध के समय इसकी मशीन के निर्माण के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन दिया गया था परन्तु उस समय तो पुर्जों के मिलने मे भी कठिनाई होती थी। कुछ विदेशी सहयोग से और कुछ अपने ही प्रयत्नो से भारत आज इस स्थिति मे है कि यह आधुनिकतम मशीन को बनाने तथा निर्यात करने के योग्य है।

उत्पादकता में वृद्धि करना. भारतीय उद्योग एव व्यापार एसोसियेशन, बम्बई ने देश मे निजी क्षेत्र की सीमेट इकाइयो मे उत्पादकता तथा वित्तीय स्थिति का अध्ययन किया है। उससे यह ज्ञात होता है कि सीमेट उद्योग की उत्पादकता मे, जिसका माप प्रति जन-दिन उत्पादन के रूप मे किया गया, १९४९ तथा १९६४ के मध्य तीन गुनी वृद्धि हुई। परन्तु हालैंड, सयुक्त राज्य अमेरिका, जापान तथा बेल्जियम आदि देशो को देखते हुए यह वृद्धि अधिक नही है। हाल के वर्षों मे क्षमता का उपयोग ९० प्रतिशत तक होता रहा है। फिर भी उद्योग मे न्यून उत्पादकता है। योजना आयोग के विशेषज्ञो के पैनेल ने सीमेट उद्योग की धीमी प्रगति के कारणो के विषय मे परीक्षण किया और इस निष्कर्ष पर पहुचे कि लाभ की कमी तथा विस्तार के लिए पर्याप्त पूंजी की कठिनाई ही इसका प्रमुख कारण है। इसका विचार था कि सीमेंट उत्पादकों के लिए निश्चित मूल्य अपर्याप्त है। इसने यह सुझाव दिया कि उद्योग का विकास और तेजी के साथ होगा यदि सरकार की मूल्य-नीति उद्योग के लिए तेजी की स्थिति उत्पन्न कर सके।

आयात एवं निर्यात. विदेशो से सीमेट का व्यापार नाम-मात्र को हो रहा है यद्यपि यह आशा है कि निकट भविष्य मे इसमे वद्धि होगी। १९६० के आस-पास से ही सीमेंट का आयात बन्द हो गया है। भारतवर्ष ने द्वितीय महायुद्ध काल में सीमेट का निर्यात करना आरम्भ किया था परन्तु घरेलू माँग में वृद्धि होने के कारण निर्यात बन्द कर देना पड़ा। यद्यपि १९६६ के पूर्व निर्यात के लिए कुछ प्रयत्न किए गए थे परन्तु सीमेट का निर्यात पर्याप्त मात्रा में कर पाना

सभव नही हो पाया है। गत तीन वर्षो मे आन्तरिक मॉग कम होने के कारण उसका लाभ उठाकर, १९६८-६९ मे लगभग ३ लाख टन सीमेट का निर्यात किया गया और ३ २५ करोड रुपये वैदेशिक विनिमय के रूप मे अर्जित किया गया। ऐसा विचार है कि ५ लाख टन प्रतिवर्ष की दर से निर्यात आसानी से किया जा सकता है और इससे आन्तरिक पूर्ति पर विशेष प्रभाव नही पडेगा। वैसे भी यह आवश्यक है कि इसके लिए विदेशी बाजार की खोज परिस्थितियो को ध्यान मे रख कर सतत करते रहना चाहिए जिससे कि निर्यात बाजार मे, विशेष रूप से पश्चिमी एशियाई देशो तथा लका मे, हम अपना स्थान बनाये रखे। सीमेट का निर्यात राज्य व्यापार निगम के माध्यम से किया जाता है। निर्यात करने वाली इकाइयो को प्रोत्साहित करना चाहिए और आवश्यकतानुसार आन्तरिक बिक्री पर कर लगा कर भारतीय सीमेट की निर्यात के क्षेत्र मे प्रतिस्पर्द्धात्मक स्थिति बनाये रखनी चाहिए।

सीमेट के मूल्य तथा वितरण को चालू रखने या न रखने के अपने लाभ हो सकते है परन्तु जिस ढग से नियत्रण हटाने के निर्णय को निश्चित तिथि से एक सप्ताह पूर्व ही रद्द कर दिया गया वह उचित नही प्रतीत होता। इसका अभिप्राय यह है कि अर्थशास्त्र के स्थान पर राजनीति का प्रभुत्व अधिक है। जहॉ तक दक्षिण के निर्माताओ का प्रश्न है, उस क्षेत्र मे ५५ लाख टन उत्पादन हुआ था जिसमे से ४७ लाख टन की खपत उसी क्षेत्र मे हो गई। इस १० लाख टन के आधिक्य की खपत महाराष्ट्र मे भेजकर की जा सकती है जहॉ इतनी ही मात्रा का अभाव है। भाडा सग्रह को समाप्त कर देने पर दक्षिण के उपभोक्ताओ को १० रुपये प्रति टन का लाभ हुआ। साथ ही, नियत्रण हटा देने के पश्चात मूल्य मे वृद्धि होने के भय की सभावना का पता सरकार द्वारा पहले ही लगाया जा सकता था जब कि अप्रैल १९६९ मे सब नियत्रण हटाए गये थे। ८ माह तक इस निर्णय के सभी परिणामो के विषय मे अध्ययन करने के लिए पर्याप्त समय उपलब्ध था। वैसे भी, केवल नियत्रण के हटा देने से ही उत्तर मे फैक्टरियो की स्थापना का कार्य आरभ नही हो जायेगा जिससे कि वहॉ का अभाव समाप्त हो जाय। उद्योग की स्थापना या तो कच्चे माल की उपलब्धि के कारण या बाजार की समीपता के कारण हो सकती है। वैसे विचार यही है कि कच्चे माल उपलब्ध होने वाले स्थान के समीप फैक्टरी को स्थापित करना बाजार की समीपता की अपेक्षाकृत अधिक लाभप्रद है। इस सम्बन्ध मे विशेषज्ञो द्वारा अध्ययन किया जाना अति आवश्यक है जिससे कि सही स्थिति का पता लग सके और यह ज्ञात हो सके कि उपर्युक्त विचार सही है या नही।

कोयला उद्योग

कोयला उद्योग द्वारा प्रतिवर्ष ७५० लाख टन कोयला उत्पादित किया जाता है जिसका मूल्य १०० करोड रुपये है। यह प्रतिदिन ४ लाख व्यक्तियो को रोजगार प्रदान करता है। कोयले का उत्पादन करने वाले प्रमुख क्षेत्र बिहार, पश्चिमी बगाल, उडीसा, मध्य प्रदेश तथा आन्ध्र प्रदेश राज्य मे हैं। ७८ प्रतिशत से अधिक कोयला निचले गोडवाना पर्वत से निकाला जाता है। इसके अतिरिक्त आसाम, मद्रास तथा राजस्थान मे तृतीय युग (tertiary age) की कोयले की खाने है। इनके द्वारा कुल उत्पादन का २ प्रतिशत ही प्राप्त होता है।

प्रथम योजना मे ३७०,००० लाख टन कोयले के सचय का अनुमान लगाया गया था परन्तु बाद मे इसमे परिवर्तन हुआ है और तृतीत योजना मे इसका अनुमान ५००,००० लाख टन लगाया गया। कोककर कोयला (coking coal) का जो कि विभिन्न उद्देश्यो के लिए उपयोगी है, सचय हमारे देश मे सीमित है। धातुकर्मक कोयला सरक्षण समिति का अनुमान है कि कोयले का सचय उन क्षेत्रो मे जहाँ कोयले का खान से निकाला जा रहा है लगभग २०,००० लाख टन है और उन क्षेत्रो मे जहाँ अभी यह कार्य आरभ नही हुआ है ७,७४०लाख टन है।

उद्योग का १९५१ से १९६८ तक का विकास का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि १९५१ मे ३५० लाख टन कोयला निकाला गया था परन्तु १९६८ मे यह बढकर ७४० लाख टन हो गया। इस १८ वर्ष की अवधि मे प्रेषण ३०० लाख टन से लेकर ६६० टन तक हुआ। सबसे ज्यादा खपत रेलवे द्वारा होती है जिसे कुल प्रेषण का एक-चौथाई अथवा १६० लाख टन प्राप्त हुआ। दूसरा महत्वपूर्ण उपभोक्ता लोहा एव इस्पात उद्योग है जिसमे १९६८ मे लगभग ११० लाख टन कोयले की खपत हुई। अन्य महत्वपूर्ण उपभोक्ता विद्युत पूर्ति कम्पनी (८० लाख टन), ईंटो के निर्माता (३० लाख टन) तथा सीमेट फैक्टरी (३० लाख टन) हैं।

निजी क्षेत्र में उद्योग प्रथम योजना के अन्त तक, अधिकाश उत्पादन निजी क्षेत्र की कोयले की खानो द्वारा किया जाता था। निजी क्षेत्र मे इसका

उत्पादन ३४० लाख टन था जब कि सार्वजनिक क्षेत्र मे केवल ४६ लाख टन था। १९५५ मे यह निश्चित किया गया कि द्वितीय योजना मे जितने अतिरिक्त कोयले के उत्पादन की आवश्यकता है उसके अधिकाश सभव भाग का सार्वजनिक क्षेत्र मे ही उत्पादन होना चाहिए। २२० लाख टन के अतिरिक्त उत्पादन मे से १०० लाख टन का उत्पादन निजी क्षेत्र मे होना था और शेष १२० लाख टन सार्वजनिक क्षेत्र मे होना था। तृतीय योजना मे कोयले के उत्पादन का लक्ष्य ९८६ लाख टन रखा गया जो कि द्वितीय योजना की अपेक्षाकृत ३७६ लाख टन अधिक था। निजी क्षेत्र को वर्तमान उत्पादन के अतिरिक्त १७० लाख टन का और उत्पादन करना था। इसके लिये ६० करोड रुपये की पूँजी लगानी थी जिसमे से २८ करोड रुपया वैदेशिक विनिमय के रूप मे चाहिए था। चतुर्थ योजना का लक्ष्य ९३५ लाख टन है जिसमे से २९५ लाख टन कोककर कोयला तथा शेष ६४० लाख टन अन्य कोयला है। चतुर्थ योजना मे निजी क्षेत्र से वर्तमान उत्पादन बनाए रखने की आशा है और इसे अतिरिक्त उत्पादन अधिक नही करना है। लगभग सभी कोयले का आन्तरिक उत्पादन सार्वजनिक क्षेत्र मे ही किया जाना है।

सार्वजनिक क्षेत्र का कार्यक्रम १९५५ मे, राष्ट्रीय कोयला विकास निगम (NCDC) की स्थापना की गई जिसे विद्यमान सरकारी कोयले की खानो का और पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत स्थापित नवीन कोयले की खानो का नियत्रण करना था। १९५५-५६ मे इसके नियत्रण मे ११ कोयले की खाने थी जिनका उत्पादन १९५५-५६ मे ३० लाख टन था परन्तु ११ मे से ७ कोयले की खाने हानि पर चल रही थीं। आन्ध्र प्रदेश सरकार के नियत्रण मे चल रही सिगरेनी कोयले की खान को लेकर सार्वजनिक क्षेत्र का कुल उत्पादन ४६ लाख टन था। द्वितीय योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र का उत्तरदायित्व बढा दिया गया क्योकि १९६०-६१ तक इसे १२० लाख टन का अतिरिक्त उत्पादन करना था जिसमे से ३० लाख टन बोकारो तथा सिंगरेनी से तथा ४० लाख टन कोरबा कोयले की खानो का विकास करके प्राप्त करना था; शेष ५० लाख टन के बारे मे कुछ भी निश्चित नही किया था। इसके लिए ६० करोड रुपये की पूँजी की आवश्यकता थी परन्तु इस लक्ष्य को पूरा करने के लिये कुल ४० करोड़ रुपये ही की व्यवस्था की गई।

कोयले की माँग का अनुमान तृतीय योजना के अन्त मे ९८६ लाख टन लगाया गया था और सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा ३७६ लाख टन के अतिरिक्त उत्पादन मे से २०० लाख टन उत्पादन करने का निश्चय किया गया। इसमे १०३ करोड रुपये की पूँजी लगनी थी। २०० लाख टन मे से, ३० लाख टन तो सिंगरेनी कोयले की खानो का विस्तार करके प्राप्त करना था और शेष १७० लाख टन का

उत्पादन राष्ट्रीय कोयला विकास निगम के द्वारा करना था। इस निगम के समक्ष यह कार्य अत्यन्त कठिन था क्योकि इसके लिए नवीन क्षेत्रो मे अनेक नई खानो की स्थापना करनी थी। नवीन खानो, वर्कशाप, तथा वाशरीज की स्थापना करने के लिए इगलैड, पोलैण्ड, पश्चिमी जर्मनी, फ्रास, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा रूस से टैक्निकल सहयोग का कार्यक्रम निर्धारित किया गया। चतुर्थ योजना के ६३५ लाख टन के लक्ष्य मे से सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा २८५ लाख टन का उत्पादन किया जाना है। इस उत्पादन के स्तर पर १९७३-७४ के कुल उत्पादन मे सार्वजनिक क्षेत्र का भाग ३० प्रतिशत हो जायगा जब कि १९६५-६६ मे यह केवल २० प्रतिशत ही था। राष्ट्रीय कोयला विकास निगम के लिए २९ करोड रुपये की व्यवस्था की गई है।

वर्तमान स्थिति

योजनाओ के अन्तर्गत निर्धारित लक्ष्य को पूरा करने मे निजी तथा सार्वजनिक दोनो ही क्षेत्र असफल रहे है। १९६१ के अन्त मे कोयले का उत्पादन ५६० लाख टन था जब कि लक्ष्य ६१० लाख टन का था। तृतीय योजना मे लक्ष्य तथा उपलब्धि मे और अन्तर आ गया क्योकि लक्ष्य ९८६ लाख टन था जब कि उत्पादन ७१० लाख टन ही रहा और इस प्रकार अन्तर २७६ लाख टन का रहा। उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाया गया क्योकि स्टॉक इकट्ठा होता जा रहा था। राष्ट्रीय कोयला विकास निगम के पास १९६४-६५ मे स्टॉक १० लाख टन का था और उसे १७ करोड रुपये की हानि उठानी पडी। इसने भर्ती करनी बन्द कर दी और कर्मचारियो की सख्या घटा दी। १९६५-६६ मे इसकी बिक्री बढ गई। बिक्री को बढाने तथा बनाये रखने के लिए निगम ने बड़े उपभोक्ताओ से, जैसे, राज्य विद्युत बोर्ड, राउरकेला एव भिलाई इस्पात प्लाण्ट तथा दामोदर घाटी निगम आदि, दीर्घकालीन समझौता कर लिया है।

चूंकि कोककर कोयले का सचय देश मे सीमित है अतः कोयला खान सरक्षण एव सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत १९५२ से इसके उत्पादन को नियमित किया जा रहा है। द्वितीय योजना के अन्त मे इसका वास्तविक उत्पादन १५० लाख टन था। तृतीय योजना मे, इस कोयले की आवश्यकता का अनुमान २७० लाख टन लगाया गया था। परन्तु, वास्तविक उत्पादन तृतीय योजना के अन्त तक लगभग १६० लाख टन ही हुआ। चतुर्थ योजना मे, १९७३-७४ तक कोककर कोयले की माँग का अनुमान २९५ लाख टन लगाया गया है। वर्तमान कोककर कोयले की खानो द्वारा उत्पादन के अतिरिक्त दो नवीन खानों द्वारा उत्पादन आरभ करने की आशा चतुर्थ

योजना मे की जा रही है। सार्वजनिक क्षेत्र की प्रायोजनाओ द्वारा ६० लाख टन कोककर कोयले के उत्पादन की आशा है और शेष निजी क्षेत्र से प्राप्त होने की आशा है। कोककर कोयले के सीमित सचय को सरक्षित रखना अति आवश्यक है और इसके लिये नवीन प्रयोग का किया जाना आवश्यक है जिससे कि कोककर कोयले का प्रयोग अर्द्ध-कोककर कोयले के साथ किया जा सके। इस दिशा मे प्रयोग आरभ किया जा चुका है।

विवेकीकरण

कोयला उद्योग का विवेकीकरण करना अति आवश्यक है और इसके लिये उत्पादन, वितरण तथा उपभोग के लिये उचित तथा समाकलित योजना का बनाया जाना अति आवश्यक है। इस उद्योग के विवेकीकरण के लिये शर्तरहित समर्थन मालिक, कर्मचारी, कोयले के उपभोक्ता, व्यापारी, इजीनियर तथा सरकार से प्राप्त होना अति आवश्यक है। जब सभी इसमे रुचि लेगे तभी इसकी लागत मे कमी लाई जा सकती है।

यत्रीकरण. कोयले की खानो का यत्रीकरण निम्नलिखित कारणो से आवश्यक है: (१) इससे कोयले की उगाही अधिक और तेजी के साथ सभव है, (२) प्रति व्यक्ति पारी उत्पादन मे वृद्धि होती है जिससे उपरिव्यय की लागत मे कमी आती है; (३) भूगर्भ मे स्थित सभी यातायात के उपकरणो का पूर्ण उपयोग हो पायेगा तथा श्रमिको की उत्पादकता मे वृद्धि होगी, (४) उत्पादन लागत मे कमी आयेगी, तथा (५) खनिको की शक्ति की बचत होती है जिससे उनकी उत्पादन क्षमता मे वृद्धि होती है। परन्तु यत्रीकरण करते समय पर्याप्त सावधानी रखना आवश्यक है जिससे कि श्रमिको की स्थिति पर बुरा प्रभाव न पडे।

भारतवर्ष का कोयला उद्योग पूँजीगत उपकरणो की दृष्टि से स्थिर सा है और तकनीक की दृष्टि से यह पिछडा हुआ है। जब कि पश्चिमी जर्मनी की रूर की खानो मे ८० प्रतिशत कोयला मशीनो से काटा जाता है भारतवर्ष मे यह प्रतिशत केवल २४ ही है। मशीन द्वारा कोयले के भरने का कुल कोयला निक.लने से प्रतिशत १९५३ मे १६ ६ था जब कि भारत मे ०.५ था। मशीन से कोयला काटने के प्रतिशत मे कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है, १९५३ मे यह २१ १९ प्रतिशत था और १९५८ मे बढ कर २४ २७ ही रहा। कोयले की खान की मशीनो तथा उपकरणो को निर्माण करने का एक प्लाण्ट दुर्गापुर मे विदेशी सहयोग से स्थापित किया जा रहा है।

विद्युत की व्यवस्था करना. कोयले की खानो मे विद्युत अपर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है। इस कारण से उत्पादन की हानि होती है क्योकि खान का यत्रीकरण विद्युत के उपलब्ध होने पर ही सभव है। साथ ही, इससे आधुनिक विधियो तथा तकनीक का प्रयोग सभव है, सुरक्षा की व्यवस्था बढ सकती है और परिणामस्वरूप उत्पादन मे वृद्धि हो सकती है।

प्रति व्यक्ति पारी उत्पादन को बढ़ाना. विदेशो मे उत्पादकता मे तेजी के साथ वृद्धि हुई है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे, प्रति व्यक्ति पारी उत्पादन १९३८ मे ४ ४४ से बढ कर १९५४ मे ८ १६ तथा फ्रास मे १९३८ मे ० ८३ से १९५७ मे १ १२ हो गया जब कि भारत मे १९५१ मे १ ०३ से बढकर १९५७ मे १ १४ ही हुआ। यह वृद्धि महत्वपूर्ण नही है। कोयला वर्किंग पार्टी ने इस कमी के कारण का पता लगाया तथा उसको दूर करने का सुझाव दिया है। प्रति व्यक्ति-पारी उत्पादन निम्नलिखित उपायो से बढाया जा सकता है (१) सभी भावी खानो मे उचित रोशनी, हवा की व्यवस्था तथा उचित कार्य करने की दशाये, आधुनिक यत्रीकृत विधियो का प्रयोग तथा अधिक मजदूरी की व्यवस्था होनी चाहिए, (२) वर्तमान खानो मे भी पर्याप्त हवा, रोशनी आदि की व्यवस्था होनी चाहिये तथा श्रमिको मे कर्तव्य की भावना भरनी चाहिए, (३) खान के श्रमिको के शिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए, (४) यथासभव कार्यानुसार मजदूरी प्रथा को अपनाना चाहिए, (५) उत्पादन के आधार पर बोनस दिया जाना चाहिए; (६) कोयले को काटने तथा भरने के लिये यत्रो का उपयोग होना चाहिए; (७) मशीन को योग्यता के साथ चलाने के लिये श्रमिको के प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए।

किस्म में उन्नति लाने के उपाय. ऐसा अनुमान है कि भारत की ८४३ चालू कोयले की खानो मे से केवल ७१ खानो मे ही कोयले को चालने के लिये प्लाण्ट तथा आवश्यक उपकरण हैं। अत ऐसी मशीनो का सभी खानो मे प्रयोग आवश्यक है। शोध से यह पता चला है कि कोयले को सावधानी से धो कर उसकी किस्म को बढाया जा सकता है। कोयले को धोने के लिए तथा वाशरीज की स्थापना के प्रश्न पर सरकार द्वारा नियुक्त कोल वाशरीज कमेटी १९५४ द्वारा विचार किया गया। इसकी सिफारिशो को ध्यान मे रख कर तथा कोयला परिषद की सलाह से सरकार ने निम्नलिखित निर्णय लिये . (१) सभी धातु कर्मक कोयले को धोना चाहिए, (२) निजी कोयले की खानो को वाशरीज की स्थापना की अनुमति दी जानी चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर सरकार उसकी व्यवस्था करेगी; (३) धोने की औसत लागत की पूर्ति मूल्य से परिवर्तन कर के या उपदान देकर की जानी

चाहिए । वर्तमान समय मे, निजी क्षेत्र मे केवल तीन वाशरीज हैं । राउरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर के इस्पात के कारखानो के पास भी इसकी स्थापना की जा रही है । इसके लिये द्वितीय योजना मे ६ करोड रुपये की व्यवस्था की गई थी ।

कोयले का उचित श्रेणीकरण तथा वर्गीकरण. भारतीय कोयला समिति, १९२५ की सिफारिशो के आधार पर कोयला श्रेणीकरण परिषद की स्थापना की गई थी जिसने कोयले का वर्गीकरण, मुख्य रूप से निर्यात के लिये, किया था । १९५२ मे योजना आयोग ने वैज्ञानिक वर्गीकरण के लिये सुझाव दिया । भारतीय प्रमाप सस्था की एक समिति ने कोयले का भारतीय प्रमाप सामान्य वर्गीकरण का प्रलेख प्रस्तुत किया था। ऐसे वर्गीकरण से विभिन्न प्रकार की सहायता मिलेगी । कोयले के वर्गीकरण मे रुचि दिखाने पर भी, कोयले की किस्म पर नियत्रण रखने की दिशा मे कोई ठोस प्रयास नही किया गया । कोयले का प्रेषण करने से पूर्व उसका मुख्य खान इजीनियर के सगठन की निरीक्षण शाखा द्वारा उचित निरीक्षण किया जाना आवश्यक है ।

छोटी-छोटी खानो का एकीकरण. नवम्बर १९५५ मे कोयले की खानो के एकीकरण पर एक समिति नियुक्त की गई जिसने १९५७ मे रिपोर्ट दी । इसने यह बताया कि विश्व युद्ध के समय छोटी-छोटी अनेक खाने स्थापित हो गई। प्रति माह १,००० टन से कम उत्पादन करने वाली खानो की सख्या १९१९ मे १३७ थी जो कि १९४५ मे बढकर ४२८ हो गई थी, परन्तु यह १९५५ मे घट कर ३०९ हो गई थी । इस समिति ने सिफारिश की कि उन खानो का एकीकरण कर दिया जाना चाहिए जिनका उत्पादन १०,००० टन प्रति वर्ष से कम हो और जिनका क्षेत्र १०० एकड से कम हो ।

खानो के एकीकरण का कार्य अत्यन्त कठिन है। १९५८ मे भारत सरकार ने स्वेच्छा से एकीकरण के लिये एक समिति स्थापित की । ३१ मार्च, १९६१ तक इसने केवल ३० प्रस्तावों को स्वीकृति दी । वास्तव मे ३२ खानो का एकीकरण १६ दशाओं मे हुआ जिनका उत्पादन १२ लाख टन था । ऐच्छिक एकीकरण की सफलता की आशा कम है परन्तु अभी वैधानिक रूप से अनिवार्य एकीकरण आरभ करने के लिये सरकार तैयार नही है।

प्रबन्धकों की क्षमता. आधुनिक खानो का प्रबन्ध एक जटिल कार्य है परन्तु जब तक उचित प्रबन्ध की व्यवस्था नहीं होती न तो उत्पादकता में और न ही लाभ में वृद्धि होगी । अनुभवी तथा कुशल प्रबन्धको की कमी पाई जाती हैं अत उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था करना अति आवश्यक है। अधिकांशतया, कोयले की खानों के

प्रबन्धक श्रमिको से सम्बन्धित प्रशासनिक मामलो को निपटाने मे ही लगे रहते हैं। इसके लिये श्रम अधिकारियो की नियुक्ति करनी चाहिए जिससे कि प्रबन्धको को इससे फुरसत मिल सके।

विवेकपूर्ण उपयोग भारत मे अधिकाश उपभोक्ता कोयले का आर्थिक उपयोग करना नही जानते है। उनको प्रत्येक प्रकार के कोयले का उपयोग करने का वैज्ञानिक ज्ञान नही है। इस सम्बन्ध मे ईधन शोध सस्था उन्हे उचित निदेशन दे सकती है। इसे चाहिए कि वह उपभोक्ताओ को इसके सर्वाधिक प्रभावकारी उपयोग के बारे मे बताये।

भारत मे निम्न श्रेणी के कोयले का उत्पादन अत्यधिक है, अतः यथासभव उसके उपयोग को प्रोत्साहित करना चाहिए। यह विवेकीकरण के लिये, विशेष सचय के सरक्षण के लिये तथा नवीन प्रायोजनाओ एव उपक्रमो को प्रोत्साहित करने के लिये आवश्यक है। ऐसा होने से सीमित मात्रा मे उपलब्ध कोककर कोयले को सरक्षित रखा जा सकता है।

विवेकपूर्ण वितरण. कोयला उद्योग की वितरण की वर्तमान व्यवस्था तथा यातायात सम्बन्धी कठिनाइयाँ विवेकीकरण के मार्ग मे बाधक है। यह सुझाव दिया गया है कि एक केन्द्रीय कोयला विपणन सगठन की स्थापना की जानी चाहिए जो वितरण की उचित व्यवस्था कर सके, मूल्य मे स्थिरता ला सके तथा देश के विभिन्न भागो मे पर्याप्त तथा अच्छे किस्म के कोयले को उचित मूल्यो पर पहुचाने की व्यवस्था कर सके। विवेकपूर्ण मूल्य सम्बन्धी नीति का अपनाना अति आवश्यक है। मई १९५७ मे कोयला मूल्य परिवर्द्धन समिति नियुक्त की गई थी जिसने अपनी रिपोर्ट दिसम्बर १९५८ मे दी थी। इसने पश्चिमी बगाल तथा बिहार के कोयले के मूल्य मे ५० पैसे प्रति टन की दर से वृद्धि करने की सिफारिश की।

रेलवे का योगदान कोयले को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने में अत्यधिक है परन्तु यह माँग का सामना करने मे असमर्थ है। अत. अन्तर्देशी जल यातायात तथा तटवर्ती सामुद्रिक यातायात का विकास इसके लिये करना आवश्यक है। बगाल या उडीसा के तटवर्ती क्षेत्र मे एक और बन्दरगाह स्थापित करने की सभावना पर भी विचार करना चाहिए। विदेशी बाजार के सम्बन्ध मे अधिक भार का जहाज प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, बन्दरगाहो पर इसके लिये विशेष सुविधाये प्रदान की जानी चाहिये तथा विदेशो मे व्यापार आयुक्त को विदेशी बाजार का पता लगा कर उचित सूचना प्रदान करनी चाहिए।

श्रमिकों का दृष्टिकोण. विवेकीकरण के विरुद्ध श्रमिकों के भय को तथा गलतफहमियों को दूर किया जा सकता है यदि मिल के मालिक श्रमिको की कुछ

महत्वपूर्ण माँगो को समझे और उनको पूरा करने का प्रयत्न करे । ये है (१) उनका उचित चयन तथा आरभिक प्रशिक्षण, (२) पदोन्नति की उचित सुविधा तथा उनके लिये उचित प्रोत्साहन, (३) अतिरिक्त कार्य-भार को ध्यान मे रखते हुए उचित मजदूरी का भुगतान, (४) नौकरी की सुरक्षा, (५) आवास, सामाजिक सुरक्षा, स्वास्थ्य आदि कल्याणकारी सुविधाओ को श्रमिको को सन्तोषप्रद ढग से प्रदान करना ।- यदि श्रमिको की उपर्युक्त सुविधाये प्रदान की जायें तो श्रमिक अपने आप को बदली हुई परिस्थिति के योग्य आसानी से बना सकेंगे और उस परिवर्तन का विरोध नही करेंगे । श्रमिको को इस ओर से निश्चिन्त कर देना है कि विवेकीकरण से उनकी उत्पादकता मे ही वृद्धि नही होगी अपितु उनकी आय, कार्य की दशाओ, तथा नौकरी की सुरक्षा बढेगी ।

श्रमिको के नेताओ को भी यह समझना चाहिए कि विवेकीकरण के मार्ग मे बाधक न बन कर उसमे सहयोग देना चाहिए और ऐसा करना उनके हित मे ही है। बेरोजगारी के डर से इसका विरोध नही करना चाहिए क्योकि अल्प-काल मे तो ऐसा होगा परन्तु दीर्घ-काल मे रोजगार बढने की सभावना ही अधिक होती है।

विवेकीकरण के कारण खानो से श्रमिको की छटनी की अत्यधिक सभावना नहीं है क्योकि (१) सभी कोयले की खानो का यत्रीकरण धन के अभाव मे एक साथ नही किया जा सकता है, (२) कोयले के उत्पादन का लक्ष्य बढ ही रहा है अत. श्रमिको की माँग बढने की सभावना ही अधिक है, (३) खान के मालिक नई भर्ती, जहाँ तक सभव है, नही कर रहे है, अत छटनी की समस्या के उपस्थित होने की संभावना कम ही है । वैसे भी, औद्योगिक शान्ति को बनाये रखने के लिये श्रमिको तथा मालिको को पारस्परिक सौदेबाजी पर अधिक विश्वास करना चाहिए । यह उल्लेखनीय है कि कोयले की खानो का विवेकीकरण तभी सभव है जब कि औद्योगिक सम्बन्ध की समस्या को सफलता के साथ सुलझाया जाय । सामूहिक सौदाकारी तथा सम्मिलित परामर्श परिषदों का प्रयोग अधिकाधिक किया जाना चाहिए ।

सरकार की नीति वर्तमान परिस्थिति मे कोयले के उद्योग पर जो साविधिक नियत्रण है उसे चालू रखना चाहिए । मूल्य, विभाजन, वितरण तथा सरक्षण के सम्बन्ध मे वर्तमान प्रणाली को ही अपनाये रखना उचित है । परन्तु, कोयले के किस्म पर अधिक नियत्रण रखने की आवश्यकता है । इसके लिये उचित निरीक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए ।

छोटी-छोटी कोयले की खानों का एकीकरण करने के लिए सरकार को अधि-नियम बनाना चाहिए, विशेषकर ऐसी इकाइयों के लिये जिनका एकीकरण देश के

हित मे हो। पश्चिमी बगाल तथा बिहार के स्थायी बन्दोबस्त क्षेत्र मे खनिज अधिकार का स्वामित्व निजी व्यक्तियो के पास है, परन्तु इस अधिकार को अपने पास ले लेना चाहिए यदि विवेकीकरण के कार्यक्रम को सुगमता से कार्यान्वित करना है। कोयले पर नियत्रण को प्रभावकारी बनाने के लिये व्यक्तिगत राज्य की ओर से अधिकार शुल्क की उगाही केन्द्रीय सरकार को करनी चाहिए और बाद मे प्रत्येक राज्य को उसका उचित भाग दे देना चाहिए । इससे केन्द्रीय सरकार समरूप नीति देश भर के लिये आसानी से अपना सकेगी।

राष्ट्रीयकरण यह प्राय तर्क दिया जाता है कि उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर लेने से इसके विवेकीकरण मे सहायता मिलेगी परन्तु यह दृष्टिकोण आर्थिक दृष्टि से उचित नही है। वर्तमान परिस्थितियाँ ऐसी है कि यदि सरकार इस उद्योग को अपने हाथ मे ले लेती है तो विवेकीकरण के मार्ग मे निश्चय ही बाधा आयेगी। केवल राष्ट्रीयकरण कर लेने से ही विवेकीकरण नही हो जायगा । न ही सरकार के पास क्षतिपूर्ति के लिये आवश्यक वित्तीय साधन है और न ही उद्योग का प्रबन्ध करने के लिए समुचित प्रशासनिक व्यवस्था है।

कोयला उत्पादकता दल सयुक्त राज्य अमेरिका के टेक्निकल कोआपरेशन मिशन के सहयोग से राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद द्वारा एक कोयला उत्पादक दल को विदेशो मे उद्योग की जटिल समस्याओ तथा उन्नत तकनीक का अध्ययन करने के लिये भेजा गया था । इसने सयुक्त राज्य अमेरिका, इगलैड, फ्रास तथा पश्चिमी जर्मनी का दौरा किया। इस दल की रिपोर्ट जून १९६१ मे प्रकाशित हुई । इसने निम्नलिखित सुझाव दिये

(१) दल ने छोटी खानो के एकीकरण के प्रश्न को महत्ता दी है। इसका विचार है कि फ्रास मे राष्ट्रीयकृत कोयले के उद्योग मे एकीकरण तथा पुनर्सगठन मे विशेष सफलता प्राप्त हुई है। भारतीय कोयला उद्योग मे एकीकरण का कार्य और तेजी के साथ किया जाना चाहिए ।

(२) भारतीय कोयला उद्योग के सार्वजनिक क्षेत्र मे सगठन सम्बन्धी सरचना मे आवश्यक परिवर्तन उसी प्रकार से किया जाना चाहिए जैसा कि फ्रास मे हुआ है। वहाँ एक केन्द्रीय नीति निर्माण करने वाली सस्था है, तथा क्षेत्रीय आधार पर स्वायत्त कोयले की खान की कम्पनियाँ है। ऐसा करने से यहाँ भी प्रशासनिक नियत्रण प्रभावपूर्ण हो सकेगा जिससे उत्पादकता मे वृद्धि होगी।

(३) इस दल ने सामान्य टैक्निकल सेवाओ को प्रदान करने के लिये जर्मनी की तरह एक केन्द्रीय समन्वयकारी सस्था की स्थापना करने का सुझाव दिया है।

भारतवर्ष मे ऐसे सगठन को एच्छिक आधार पर स्थापित करना होगा जो कि विभिन्न कम्पनियो को टेक्निकल मामलो पर उचित परामर्श दे सके ।

(४) दल ने यह स्वीकृत किया है कि यद्यपि यत्रीकरण आर्थिक दृष्टिकोण से उपयुक्त है, तथापि इसे भारत मे बहुत वर्षो तक शीघ्रता के साथ कार्यान्वित नही किया जा सकता है क्योकि यहाँ पर समस्या अधिक रोजगार बढाने की है। इसने वैसे यह सुझाव दिया है कि यत्रीकरण को कटाई, विस्फोटन तथा शावेलिंग तक ही सीमित रखना चाहिए ।

(५) कोयले की उत्पादकता को बढाने मे समक्ष यातायात की सुविधा अत्यन्त आवश्यक है । कोयले को खान से निकालने से लेकर उसे वैगन मे भरने तक उचित तथा आधुनिक साधनो का ही प्रयोग करना चाहिए। धरातल पर यातायात के सम्बन्ध मे दल ने यह सुझाव दिया है कि रानीगज कोयले की खान से कोयला ले जाने के लिये दुर्गापुर तथा कलकत्ता के मध्य नहर प्रणाली का गहन विकास किया जाना चाहिए ।

(६) अन्त मे, दल ने मजदूरी के भुगतान के सम्बन्ध मे जहाँ तक व्यावहारिक हो, कार्यानुसार मजदूरी देने का सुझाव दिया है। यदि श्रमिको की उत्पादकता बढ़ाने के लिये विशेष प्रोत्साहन की योजनाये चालू की जायँ तथा इगलैड, फ्रास और पश्चिमी जर्मनी की तरह कार्यानुसार मजदूरी का भुगतान किया जाय तो श्रमिकों की उत्पादकता निश्चित ही बढेगी ।

शोध भारत मे पचवर्षीय योजनाओं के आरभ होने से पूर्व कोयले को खान से निकालने तथा उसका समुचित उपयोग करने की समस्याओ पर शोध के लिये कोई भी सगठित प्रयास नही किया गया। केवल टाटा तथा बर्ड एण्ड क० जैसे व्यक्तिगत उत्पादको ने अलग-अलग अध्ययन कभी-कभी कराया था । हाल मे, ईंधन शोध सस्था ने कोक के उत्पादन तथा कार्बनाइजेशन पर कोक की भट्टी के डिजायन पर, कोयले के धोने, मिश्रित करने तथा उसमे से गधक निकालने पर शोध करना आरभ किया है । भारतीय भूविज्ञान सर्वेक्षण सस्था द्वारा तथा भारतीय खनिज ब्यूरो द्वारा अधिक खनिज सर्वेक्षण की आवश्यकता है। इन दोनो सगठनो के लिए चतुर्थ योजना मे ३५ करोड रुपये की व्यवस्था की गई है । गहन तथा विस्तृत सर्वेक्षण के द्वारा यह सभव है कि कोयले की नवीन सचय का पता लग सके ।

लोहा एवं इस्पात उद्योग

लोहा एव इस्पात उद्योग किसी भी देश की औद्योगिक सरचना का आधार है। अनेको उद्योग जो उत्पादक तथा स्थायी वस्तुओ का निर्माण करते है इस उद्योग पर निर्भर रहते है। भारत के इस्पात उद्योग ने गत दस वर्षो मे अत्यधिक तेजी के साथ विकास किया। वास्तव मे, विकास की गति रूस तथा जापान से भी तीव्र रही। विश्व मे इस प्रकार से प्रगति का कोई भी उदाहरण मिलना कठिन है। इस समय सूती वस्त्र उद्योग के पश्चात् इसे उत्पादन के दृष्टिकोण से दूसरा स्थान प्राप्त है। इसमे पूंजी तो सूती वस्त्र उद्योग से भी अधिक लगी है। प्रत्यक्ष रूप से यह ३ लाख श्रमिको को रोजगार प्रदान करता है और यह सम्पूर्ण औद्योगिक रोजगार का ८% है।

लोहा एव इस्पात उद्योग के अन्तर्गत प्रमुख निर्माता तथा री-रोलर्स (re-rollers) आते है। प्रमुख निर्माताओ मे से सार्वजनिक क्षेत्र मे हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड तथा मैसूर आयरन ऐण्ड स्टील लिमिटेड है तथा निजी क्षेत्र मे टाटा आयरन ऐण्ड स्टील कम्पनी लि० (Tisco) तथा इण्डियन आयरन ऐण्ड स्टील कम्पनी लिमिटेड है। मैसूर आयरन ऐण्ड स्टील लिमिटेड को छोडकर सभी प्रमुख निर्माता केन्द्रीय एव पूर्वी भारत मे ही स्थित हैं जिसे 'भारतवर्ष का रूर' कहा जाता है। री-रोलर्स तो देश भर मे फैले हुए है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् से लोहा एव इस्पात उद्योग का विकास हमारी औद्योगीकरण की नीति एव कार्यक्रम का प्रमुख अग रहा है। १९४८ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अन्तर्गत लोहा एव इस्पात उद्योग, विशेष रूप से नवीन उपक्रमो की स्थापना के लिये, राज्य के लिये आरक्षित उद्योग हो गया। हालाकि निजी क्षेत्र मे स्थापित इकाइयो को चालू रखा गया तथा उनका विस्तार करने की भी छूट दी गई और साथ ही उन पर केन्द्रीय सरकार द्वारा नियत्रण एव नियमन रखा गया। प्रथम योजना के अन्तर्गत इस्पात के विकास के लिये कोई भी महत्वपूर्ण प्रयास नही किया गया। प्रथम योजना मे, ३५ लाख टन पिग आयरन की वार्षिक क्षमता वाला एक नवीन लोहा एवं इस्पात सयत्र स्थापित करने की व्यवस्था

की गई तथा निर्मित इस्पात के लिये नवीन क्षमता १ लाख निर्धारित की गई। उसके अतिरिक्त मैसूर आयरन ऐण्ड स्टील वर्क्स से आशा की जाती थी कि वह ६०,००० टन अतिरिक्त इस्पात का उ पादन करेगा। निजी क्षेत्र मे विस्तार के कार्यक्रम मे निर्मित इस्पात की क्षमता १९५०-५१ मे ९ ७ लाख टन से बढा कर १९५५-५६ मे १५ ५ लाख टन करनी थी तथा इसी काल मे पिग आयरन की क्षमता १८·५ लाख टन से बढा कर २७ लाख टन करनी थी।

सार्वजनिक क्षेत्र के लिये निर्धारित प्रथम योजना का लक्ष्य पूरा हो गया। ३ ५ लाख टन पिग आयरन तथा १ लाख टन निर्मित इस्पात की नवीन क्षमता के लक्ष्य के स्थान पर केवल ३५,००० टन की निर्मित इस्पात की अतिरिक्त क्षमता ही स्थापित हो पाई। लोहा एव इस्पात की प्रायोजनाओ को कार्यान्वित करने मे देरी इसलिये हुई कि तकनीकी तथा वित्तीय सहायता के लिये विदेशो से वार्तालाप चलता रहा तथा इसके लिये बहुत बडी मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता थी। परन्तु प्रथम योजना मे यह बात महत्वपूर्ण रही कि इस्पात उद्योग मे सार्वजनिक क्षेत्र का प्रवेश हो गया था।

१९५४ मे, सार्वजनिक क्षेत्र की सबसे बड़ी इकाई हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड के बारे मे विचार किया गया और उसकी स्थापना भी की गई। लोहा एव इस्पात उद्योग के इतिहास मे इसकी स्थापना अपना अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रथम योजना काल मे, इस कम्पनी ने प्रत्येक १० लाख टन पिड क्षमता वाले इस्पात की तीन इकाइयो के लिये प्रारभिक कार्य आरभ कर दिया था। इनकी स्थापना सार्वजनिक क्षेत्र मे ही होनी थी। इस प्रकार भावी प्रगति के लिये आधार प्रस्तुत कर दिया गया था। निजी क्षेत्र मे टाटा लोहा एव इस्पात कम्पनी ने १९५१ मे ही आधुनिकीकरण एव विस्तार का कार्यक्रम आरभ करके अपनी क्षमता को १३ लाख टन पिंड प्रति वर्ष करना निश्चित किया। यह कार्यक्रम ७ वर्षों मे पूरा करना था। १९५६ मे, यह पुन निश्चित किया गया कि इस क्षमता को बढ़ा कर २० लाख टन प्रति वर्ष कर दिया जाय।

द्वितीय योजना के आरभ से, इस्पात उद्योग का तीव्रता के साथ विस्तार आरभ हुआ। १९५६ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव ने इस उद्योग को उच्च प्राथमिकता प्रदान की तथा उन तीनो नवीन इस्पात संयत्र के निर्माण का प्रावधान रखा जिनके विषय मे प्रथम योजना मे विचार किया गया था। विदेशी सहयोग से, १९६०-६१ मे हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड द्वारा इन तीनों सयत्रों का निर्माण-कार्य पूरा हो गया। इसकी पूरी लागत ६३५ करोड रुपये आई। राउरकेला सयत्र पश्चिमी जर्मनी के सहयोग से, भिलाई सयत्र रूस के सहयोग से, तथा दुर्गापुर

सयत्र इगलैड के सहयोग से पूरा हुआ। १९६० मे, मैसूर आयरन ऐण्ड स्टील वर्क्स की क्षमता को बढाकर १·३ लाख टन इनगॉट प्रति वर्ष करने का निश्चय किया गया। टाटा आयरन ऐण्ड स्टील कम्पनी तथा इण्डियन आयरन ऐण्ड स्टील कम्पनी के सयत्रो मे प्रथम योजना काल मे जो विस्तार की योजना बनाई गई थी वह भी इसी अवधि मे पूरी हुई। परिणामस्वरूप टाटा क० की क्षमता २० लाख टन पिंड प्रति वर्ष हो गई तथा इडियन आयरन ऐण्ड स्टाल क० को १० लाख टन हो गई।

तृतीय योजना मे नव-स्थापित सयत्रो की क्षमता प्राप्त करने की तथा उनके विस्तार की एव मैसूर आयरन ऐण्ड स्टील वर्क्स के विस्तार की आवश्यकता पर जोर दिया गया। १० लाख टन क्षमता वाले बोकारो सयत्र की स्थापना पर विचार आरभ हुआ। इसका विस्तार कर २० लाख टन इस्पात पिंड क्षमता प्राप्त करने की भी योजना थी। इसके अतिरिक्त, विकास के कार्यक्रम मे एक पिग आयरन प्रायोजना को भी सम्मिलित किया गया। इस्पात विकास योजना पर कुल ५२५ करोड रुपया विनियोग करने का अनुमान था।

उत्पादन. ढलवा लोहा (pig iron) का उत्पादन १९४८ तथा १९५८ के मध्य बढता ही रहा। इसका उत्पादन १९४८ मे १५ लाख टन से बढ कर १९५८ मे २१ लाख टन हो गया। अगले चार वर्ष मे (१९५९-६३) इसका उत्पादन तीन गुना बढ़ गया और १९६२-६३ मे यह ६२ लाख टन हो गया। इसका मुख्य कारण १९५९ मे सार्वजनिक क्षेत्र के तीनो संयत्रो द्वारा उत्पादन का आरंभ होना था जिनके द्वारा लगभग आधा उत्पादन हुआ था। इसके पश्चात् इसके उत्पादन मे वृद्धि घटती हुई दर पर हुई। १९६५-६६ मे उत्पादन बढ कर ७२ लाख टन हो गया परन्तु अगले दो वर्षों मे उत्पादन मे कमी आई और १९६७ तथा १९६८ मे क्रमशः ७० तथा ६९ लाख टन ही रहा। इन दो वर्षों मे इसका उत्पादन अर्थव्यवस्था मे आई मन्दी के कारण प्रभावित रहा। उत्पादन मे कमी सार्वजनिक क्षेत्र मे, दुर्गापुर तथा राउरकेला सयंत्रों मे, तथा निजी क्षेत्र मे इण्डियन आयरन ऐण्ड स्टील क० मे असन्तोषजनक कार्य होने के कारण भी रही।

इस्पात पिंड (steel ingot) के उत्पादन की प्रवृत्ति ढलवा लोहे की तरह ही रही—१९४८ तथा १९५८ के मध्य सम वृद्धि, १९५८-६३ के मध्य तेजी के साथ वृद्धि, तथा १९६२-६३ एवं १९६६-६७ के मध्य उत्पादन की दर मे कमी, तथा १९६७-६८ में थोड़ी सी कमी। इसका उत्पादन १९४८ मे १२५ लाख टन से बढ़कर १९५८ मे १८ लाख टन हो गया, १९६२-६३ मे ५४ लाख टन, १९६६-

६७ मे ६६ लाख टन तथा १९६७-६८ मे ६३ लाख टन हो गया। १९६३-६४ तथा १९६६-६७ के मध्य उत्पादन की दर मे कमी सार्वजनिक क्षेत्र मे राउरकेला तथा दुर्गापुर मे उत्पादन मे कमी तथा निजी क्षेत्र मे इण्डियन आयरन स्टील कम्पनी के उत्पादन मे कमी के कारण आई। टाटा क० द्वारा उत्पादन इस अवधि मे समान रूप से बढता रहा, वैसे सबसे उत्तम परिणाम भिलाई सयत्र से ही प्राप्त हुए।

निर्मित इस्पात (finished steel) का उत्पादन १९४८ तथा १९६५-६६ के मध्य ५ ५ गुना बढ गया। यह १९४८ मे ८ ७ लाख टन से बढकर १९६५-६६ मे ४६ लाख टन हो गया परन्तु १९६७-६८ मे घटकर ४० लाख टन ही रह गया। इसका प्रमुख कारण इजीनियरिंग तथा अन्य उद्योगो मे मन्दी तथा सार्वजनिक क्षेत्र मे दुर्गापुर तथा राउरकेला मे और निजी क्षेत्र मे इण्डियन आयरन स्टील क० मे उत्पादन की कमी होना था।

कच्चा माल. भारतवर्ष मे इस उद्योग के लिये कच्चे माल के उदगम की स्थिति अच्छी है। टन-मील के आधार पर, ढलवा लोहे के उत्पादन के लिये कच्चे माल को एकत्र करने के दृष्टिकोण से देश की स्थिति अति अनुकूल है। भारत के पास लोहे का सचय पर्याप्त है और वह भी धरातल के इतने समीप है कि उसे आसानी से निकाला जा सकता है। विश्व के अनेक देशो की अपेक्षाकृत लोहे को खान से निकालने की लागत काफी कम है। कोयला भी लोहे धातु की खानो के पास ही मिल जाता है परन्तु कोकिंग कोयले की स्थिति बहुत अच्छी नही है। समय-समय पर नियुक्त समितियो ने इस तथ्य की ओर इगित किया है कि अच्छे कोयले का सचय सीमित है परन्तु स्थिति इतनी शोचनीय नही है जितना कि दृष्टिगोचर होता है। अधिक गहन सर्वेक्षण करने के उपरान्त और अधिक सचयो को पता लगाया जा सकता है। दूसरे, उद्योग कोयले की तैयारी एव मिश्रण की नई तकनीक को अपना सकता है जिससे कोकिंग कोयले पर निर्भरता कम हो सकती है। तीसरे, लोहा एव इस्पात की टैक्नालॉजी मे परिवर्तन करके, जैसा कि विशेष रूप से न्यून शैफ्ट भट्टी का प्रयोग पूर्वी जर्मनी मे हो रहा है, अल्प कैलोरिफिक मूल्य वाले नान-कोकिंग कोयले को भी लोहे के उत्पादन के लिये प्रयोग मे लाया जा सकता है। अन्त मे, जल शक्ति तथा देश मे ही पेट्रोल का उत्पादन बढाकर कोयले को प्रतिस्थापित किया जा सकता है। निकट भविष्य मे ऐसे उपायो को अपनाना आवश्यक होगा क्योंकि उद्योग का विकास तेजी के साथ हो रहा है। इस उद्योग के लिये दूसरा कच्चा माल धातु मैंगनीज है और इस दिशा मे स्थिति सन्तोषजनक नही है क्योंकि अधिकाश मैंगनीज धातु का संचय अच्छे किस्म का

नही है। यद्यपि यह माना जाता है कि कच्चे माल के सचय की स्थिति ठीक है, तथापि यह बात पूर्ण सत्य नही है। कठिनाइयाँ शीघ्र ही समक्ष आ सकती हैं, यदि उद्योग मे विकास की गति अति तीव्र हो जाय। अत यह आवश्यक है कि शीघ्र ही इस सम्बन्ध मे उचित कार्यवाही की जाय। इस उद्योग की स्थिति बहुत कुछ कच्चे माल की स्थिति पर निर्भर है। हाल के वर्षो मे विभिन्न राज्यो मे लोहा एव इस्पात सयत्र की स्थापना के लिये आन्दोलन सा चल रहा है। यदि विभिन्नीकरण राजनीतिक दबाव के कारण होता है तो उपलब्ध प्राकृतिक लाभ की हानि निश्चय होगी।

श्रम सम्बन्धी समस्यायें इस्पात उद्योग के सामने सबसे प्रमुख समस्या तकनीकी तथा प्रशासकीय कर्मचारियो का अभाव है। देश मे इस उद्योग का विकास करने के लिये हमे बहुत कुछ विदेशो पर निर्भर रहना पडता है। यद्यपि हिन्दुस्तान स्टील लि० प्रशिक्षण का कार्यक्रम कार्यान्वित कर रही है, फिर भी आत्म-निर्भर होने मे अभी पर्याप्त समय लगेगा।

हाल के वर्षों मे, सभी प्रमुख इस्पात सयत्रो मे श्रमिको द्वारा हड़ताल, घेराव आदि भी एक प्रमुख समस्या बन गई है। ये अशान्ति या तो अन्तर्संघीय प्रतिद्वन्दिता के कारण या मजदूरी के सम्बन्ध मे ही विशेष रूप से रही है। जमशेदपुर मे तो बहुत दिनो से अन्तर्संघीय प्रतिद्वन्दिता चली आ रही है। राउरकेला मे भी श्रम-अशान्ति इतनी अधिक रही है कि १९६७ मे चौथी भट्टी को आरभ न किया जा सका और उसमे देरी हुई। श्रम-स्थिति सभी इस्पात सयत्रो मे ऐसी नही है कि वह उत्पादन-वृद्धि मे सहायक हो सके। इस सम्बन्ध मे दूसरी समस्या श्रमिको की न्यून उत्पादकता है। इस उद्योग का भविष्य बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि प्रबन्धकगण कितनी तेजी और कुशलता के साथ श्रम उत्पादकता को बढाने मे तथा श्रम-लागत को कम करने मे सफल हो पाते है। भारतवर्ष के इस्पात उद्योग मे आवश्यकता से अधिक श्रमिक लगे हुए है और इसके परिणामस्वरूप सस्ता श्रमिक होने के कारण जो लाभ मिल सकता था वह नही प्राप्त हो पा रहा है। वर्ष-प्रति-वर्ष श्रम की प्रति इकाई लागत बढती ही जा रही है। अधिक मजदूरी इस बात का द्योतक नही है कि श्रमिको की स्थिति मे उन्नति हुई है। लोहा एव इस्पात उद्योग मे मूल्य मे वृद्धि की अपेक्षाकृत मजदूरी मे धीरे-धीरे कटाव ही आता जा रहा है। उसी के साथ-साथ उत्पादकता का निर्देशाक भी धीरे-धीरे गिरता जा रहा है। निष्कर्ष यह है कि श्रम पर व्यय मे जो वृद्धि हुई है उससे न तो श्रमिको की दशा मे सुधार हुआ हैं और न ही उनकी उत्पादकता मे वृद्धि हुई है। इस उद्योग में श्रम की उत्पादकता विशेष महत्वपूर्ण है क्योकि इसमे पूंजी अत्यधिक मात्रा में लगती है।

टैक्नालॉजी हमारे यहाँ वह तकनीक नही अपनाई जाती जो कि जापान तथा पश्चिमी जर्मनी द्वारा अपनाई जाती है और जो विश्व मे सबसे उत्तम किस्म के इस्पात का निर्माण करते है। जापान को कोयला तथा लोहा दोनो का आयात करना पडता है फिर भी वह भारत की अपेक्षाकृत सस्ता और बढिया इस्पात का निर्माण करता है। ऐसा जापान के टैक्नालॉजिस्ट द्वारा निरन्तर प्रयोग करते रहने के पश्चात ही सभव हो पाया है। अतः यहाँ भी नवीन तकनीक द्वारा प्रणाली मे कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है। अन्यथा भारतीय इस्पात को विदेशो मे बेचना कठिन होगा। मशीन तथा उपकरणो की मरम्मत एव नवकरण की भी उचित व्यवस्था होनी चाहिए तथा फैक्टरी की विभिन्न प्रणालियो मे निरन्तर उन्नति करते रहने की भी आवश्यकता है।

हाल मे ही मन्दी तथा पश्चायन के कारण इस उद्योग के सम्मुख विशिष्ट समस्यायें भी आईं। बहुत समय से यह उद्योग 'विक्रेताओ के बाजार' की स्थिति मे ही अपना कार्य-सचालन करता रहा था परन्तु मन्दी आने पर इसको विशेष धक्का लगा। अभी तक तो अधिक जोर कुल उत्पादन पर ही दिया जाता था और विभिन्न श्रेणी के इस्पात का उत्पादन करने के लिये कुछ भी ध्यान नही दिया जाता था। नवीन सयत्रो की स्थापना करने से पूर्व विस्तृत बाजार सम्बन्धी शोध दीर्घ-कालीन माँग के सदर्भ मे करने का प्रयास नही किया जाता था। परिणाम यह हुआ कि विभिन्न सयत्रों की क्षमता बाजार मे माँग के अनुरूप नही स्थापित हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ प्रकार के इस्पात का तो अभाव रहा जब कि कुछ अन्य प्रकार के इस्पात की बहुलता रही। अब आवश्यकता इस बात की है कि बाजार की माँग के अनुरूप ही इस्पात के उत्पादन का कार्यक्रम तैयार किया जाय यद्यपि बडे सयत्रों मे इस प्रकार का परिवर्तन आसानी से शीघ्रता के साथ नही किया जा सकता है।

आयात. लोहा एव इस्पात आयात मे १९४९-५० तथा १९६७-६८ के मध्य तेजी के साथ वृद्धि हुई क्योकि औद्योगीकरण के लिये प्रयास भी तेजी के साथ जारी था। लोहा एव इस्पात का आयात तीन गुना बढ गया और इस प्रकार यह प्रथम योजना काल मे १६७ करोड रुपये से बढकर द्वितीय योजना काल मे ५५४ करोड रुपया का हो गया। वृद्धि की इस प्रवृत्ति को तृतीय योजना में ही रोका गया और उस काल मे आयात घटकर ४९३ करोड रुपया हो गया। १९६६-६७ मे आयात ९१ करोड़ रुपये का था परन्तु १९६७-६८ मे बढकर १०६ करोड रुपये का हो गया। सम्पूर्ण देशी इस्पात की पूर्ति मे आयात का भाग १९६०-६१ मे ३५% से घटकर १९६६-६७ मे १५% ही रह गया। इसी

अवधि मे सम्पूर्ण आयात मे लोहा एव इस्पात के आयात का भाग भी ११% से घटकर ५% से भी कम हो गया। इसका कारण यह रहा कि द्वितीय तथा तृतीय योजना मे इस उद्योग मे बहुत बडी मात्रा मे विनियोग किया गया। इस उद्योग के विस्तार करने मे जितना वैदेशिक विनिमय का उपयोग होता है, उतने ही वैदेशिक विनिमय की यह बचत भी उसके आयात को देशी उत्पादन से कम करके कर सकता है यदि स्थापित क्षमता का पूर्ण उपयोग हो सके। हाल के वर्षों मे इस्पात के अधिक आयात की प्रवृत्ति पाई गई है। इसका आयात ६० करोड रुपये प्रति वर्ष के ऊँचे स्तर पर रहा है। इसका एक कारण यह भी है कि राउरकेला तथा दुर्गापुर के इस्पात के सयत्रो का कार्य असन्तोषजनक रहा है और वह भी ऐसा श्रमिको द्वारा अशान्ति एव विद्युत के अभाव के कारण रहा। यह दुर्भाग्य ही रहा क्योकि दुर्गापुर के द्वारा उत्पादित चक्के एव धुरो की तथा राउरकेला द्वारा उत्पादित सपाट इस्पात की अच्छी माँग रही है। इसके साथ ही उत्पादन के कार्य-क्रम तथा उसकी योजनाएँ भी गलत ढग से बनाई गईं। उन वस्तुओ का उत्पादन अधिक किया गया जिनकी माँग कम थी। दूसरी ओर उस प्रकार के इस्पात का उत्पादन नही किया गया जिसकी माँग अधिक थी। राउरकेला इस्पात सयत्र इस समस्या का समाधान अपने विस्तार के कार्यक्रम के अन्तर्गत विद्युत भट्टियो को प्राथमिकता के आधार पर चालू करके कर सकता था। परन्तु उसके स्थान पर रोलिग मिल्स को चालू किया गया जिनसे उत्पादित वस्तुओ की माँग कम थी। अन्त मे, अधिक छूट उस समय दी गई जबकि विदेशो मे अति उत्पादन की स्थिति रही जिसके कारण वे आसानी से साख ही पर इस्पात को निर्यात करने के लिये तैयार हो गये।

निर्यात. मुख्यतया लोहे धातु का ही निर्यात किया जाता है और इसका निर्यात विशेषतया जापान तथा यूरोप को किया जाता है। हाल के वर्षों में इसके निर्यात मे तेजी से वृद्धि हुई। जापान को अकेले १९५५ तथा १९६५ के मध्य इसके निर्यात का दो-तिहाई निर्यात किया गया। १९६६-६७ तथा १९६७-६८ में जापान का यह भाग बढकर ८०% हो गया। निकट-भविष्य मे इसके निर्यात के और अधिक बढने की सभावनाये हैं क्योकि जापान तथा यूरोप के देशो मे इस्पात के उत्पादन के विस्तार की योजना है। लोहा एवं इस्पात के अन्य मदो का निर्यात तो अभी हाल मे ही प्रारम्भ हुआ है और उनकी उपलब्धि तो इस बात पर निर्भर है कि भविष्य में हम कितना अधिक निर्यात कर सकते हैं। सरकार अधिकाशतया उनके निर्यात पर उपदान देती है। ढलवाँ लोहे पर से उपदान हटा लिया गया क्योकि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में उसका मूल्य अधिक

है। लोहे धातु का निर्यात १९५५ मे १३ लाख टन से बढकर १९६५ मे ११२ लाख टन तथा १९६७-६८ मे १३७ लाख टन हो गया। मूल्य की दृष्टि से, १९५५ मे इसका निर्यात ५६ करोड रुपये का रहा, १९६५ मे ३९५ करोड रुपये का तथा १९६७-६८ मे ७५ करोड रुपये का रहा। लोहा एव इस्पात के अन्य मदो का निर्यात सरकार द्वारा उपदान मिलने के उपरान्त भी बहुत कम ही रहा। उनका मूल्य १९६१-६२ मे १६ करोड था जो १९६७-६८ मे बढकर ५६ करोड रुपया हो गया। इस्पात के उत्पादनो मे से नरम-इस्पात पिंड तथा रद्दी इस्पात (scraps) का ही मुख्य रूप से निर्यात होता है। नरम-इस्पात पिंड का निर्यात १९६२-६३ से बढता ही रहा है और इसके लिये सरकार को प्रर्याप्त मात्रा मे उपदान भी देना पडा है। इसका निर्यात करना इसलिये भी आवश्यक हो गया क्योकि देश मे इसकी बहुलता हो गई थी। परन्तु अनिश्चित काल तक इस स्थिति को जारी नही रखा जा सकता क्योकि नरम-इस्पात हमारे आयात का भी प्रमुख मद है। यह अधिक उचित होगा कि हम आयात को कम करे न कि उपदान दे-दे कर निर्यात बढाये। भारतीय उत्पादको मे हिन्दुस्तान स्टील लि० सबसे अधिक निर्यात करता है। इसके द्वारा निर्यात आधे से भी अधिक है। १९६४-६५ मे इसके द्वारा निर्यात केवल १४ करोड रुपये का ही था परन्तु यह १९६७-६८ मे बढकर ३१ करोड रुपये का हो गया और १९६८-६९ मे ४० करोड के निर्यात की आशा है। टाटा कम्पनी तथा इडियन आयरन कम्पनी भी इस दिशा मे प्रयास करती रही है।

सरकारी नियत्रण इस्पात के मूल्य एव वितरण मे सर्व प्रथम १९४१ मे साविधिक नियत्रण लगाया गया और यह उद्योग २० वर्ष से अधिक तक नियत्रण मे रहा। १९६२ मे आशिक नियत्रण हटा लिया गया तथा १९६४ मे लोहा एव इस्पात के विभिन्न मदो पर से, सपाट इस्पात, टिन-छड तथा बिलेट को छोडकर, नियत्रण पूर्ण रूप से हटा दिया गया। मार्च १९६४ मे एक सम्मिलित सयत्र समिति (Joint Plant Committee) बनाई गई और इसे अनियत्रित इस्पात के मूल्य-निर्धारण का तथा सभी प्रकार के इस्पात के उत्पादन की योजना तैयार करने का भार सौपा गया। इस्पात के वितरण का कार्य भी सौपा गया। धीरे-धीरे इस्पात पर से नियत्रण को हटाने की नीति अपनाई गई और मई १९६७ मे सभी प्रकार के इस्पात पर से उनके मूल्य निर्धारण तथा वितरण पर जो नियत्रण था हटा लिया गया। साथ ही सम्मिलित सयत्र समिति पर मूल्य-निर्धारण तथा विभाजन का उत्तरदायित्व रखा गया। इस समिति को यह भी देखना है कि इसके वितरण मे जो कि दोष तथा बुराइयाँ है उन्हे दूर किया जाय तथा उस

प्रकार के इस्पात को बढाया जाय जिसका आभाव है। साथ ही, इस्पात प्राथमिकता समिति (steel priority committee) को भी इस सम्मिलित समिति की प्रथमिकता के आधार पर पूर्ति सम्बन्धी निदेशन के लिये चालू रखा गया है।

मूल्य सम्बन्धी नीति. नियत्रण के काल मे, सरकार इस्पात के मूल्य का निर्धारण टैरिफ आयोग की सिफारिशो के आधार पर करती थी। १९४० से १९६४ तक इस्पात पर नियत्रण रहा और मूल्य मे वृद्धि की अनुमति विस्तृत लागत परीक्षण के पश्चात् काफी देरी से की जाती थी परन्तु सामान्यतया उसमे वृद्धि पूर्व प्रभावी हुआ करती थी। यह इस लिये सभव हो पाया क्योकि इस्पात समकरण कोष बनाया जा चुका था। इस कोष का निर्माण विक्रय मूल्य तथा उत्पादको को प्रदत्त (retention) मूल्य के अन्तर से किया जाता था और जिसका उद्देश्य आयात पर उपदान देना तथा आयात के लिये तथा देशी इस्पात के मूल्य के अन्तर का समकरण करना था। मार्च १९६४ मे इस कोष मे ७० करोड रुपये का आधिक्य था। नियत्रण हटाने के पश्चात् उसी समय इसे भारतीय समेकित कोष द्वारा ले लिया गया। १९६४ से, जब इस कोष को समाप्त किया गया और धीरे-धीरे नियत्रण समाप्त करने की नीति अपनाई गई, कम्पनियो को लागत मे वृद्धि के विरुद्ध कोई भी सरक्षण प्राप्त नही रह गया है। समय-समय पर मूल्य मे वृद्धि की अनुमति दी गई है परन्तु उससे लागत मे वृद्धि की पूर्ति नही हो पाई है क्योकि ये वृद्धि पूर्व-प्रभावी नही रही है। इस मूल्य सम्बन्धी नीति के कारण, लागत एव मूल्य के मध्य सीमा कम होती गई और लाभ भी कम होता गया। जब तक मूल्य मे वद्धि की अनुमति दी जाती है, जो कि काफी समय के बाद दी जाती है, तब तक लागत मे पर्याप्त वृद्धि हो चुकी होती है। दो निजी उत्पादको (टाटा क० तथा इण्डियन क०) के साथ-साथ हिन्दुस्तान स्टील लि० ने भी पर्याप्त मूल्य की माग आरभ कर दी है।

प्राशुल्किक नीति. उद्योग की ओर से यह तर्क दिया जाता है कि यदि सरकार तेजी के साथ इसका विकास चाहती है तो उसे इस्पात के लिये यथार्थपूर्ण प्राशुल्किक नीति अपनाना होगा। नियत्रण के दिनो मे इस्पात पर १०० रुपये से अधिक प्रति टन पर अधिकर लगाया जाता था जिसे इस्पात समकरण कोष मे क्रेडिट कर दिया जाता था। इस कोष के समाप्त हो जाने के पश्चात्, यह अधिकर उत्पादन कर के रूप मे आ गया है जो कि अब औसतन १५० रुपये प्रति टन है। ऐसा कहा जाता है कि सरकार आय का लगभग एक-चौथाई विभिन्न करो के रूप मे ले लेती है। टाटा क० से सरकार ने १९६६-६७ मे इसकी आय का २८%

ले लिया था। निजी इस्पात कम्पनियो के लिये जो कि देश के एक-तिहाई इस्पात का उत्पादन करती है, अपने ऋण दायित्वो का भुगतान करना कठिन हो जाता है (जो कि विश्व बैंक के ऋण के रूप मे अवमूल्यन के पश्चात अधिक हो गया है) यदि वे पर्याप्त उपार्जन नही करती है। इन्ही सब कारणो से स्टाक बाजार मे इस्पात के अशो की ओर लोग अधिक ध्यान नही देते है। वैसे, निजी-क्षेत्र की कम्पनियो मे सार्वजनिक क्षेत्र की अपेक्षाकृत उत्पादन-क्षमता अधिक है। हिन्दुस्तान स्टील लि० की स्थापना से लेकर ३१ मार्च, १९६८ तक कुल हानि १२० करोड रुपये रही है।

भविष्य

तृतीय योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र के सयत्रो के विस्तार के कार्यक्रमो को पूर्ण रूप से कार्यान्वित नही किया जा सका। १९६८ के अन्त तक, वैसे, यह विस्तार का कार्यक्रम पूरा किया जा सका। दूसरे बोकारो इस्पात सयत्र को तृतीय योजना के अन्त तक चालू नही किया जा सका क्योकि अमेरिका ने आश्वासित सहायता प्रदान न की। निजी क्षेत्र मे, टाटा आयरन एन्ड स्टील क० ने २० लाख पिंड टन की क्षमता लाने का प्रयास किया और १९६८ के अन्त तक वह पूरा हो सका। इन्डियन आयरन स्टील कम्पनी ने १० लाख टन से अपनी क्षमता बढाने के लिये निश्चय किया परन्तु प्रथम अवस्था का वास्तविक कार्य १९६७ मे ही आरभ किया जा सका। ततीय योजना मे लक्ष्य ३ सार्वजनिक क्षेत्र के सयत्रो का विस्तार करके (भिलाई १० लाख टन से १५ लाख टन, दुर्गापुर १० लाख टन से १६ लाख टन तथा राउरकेला १० लाख टन से १८ लाख टन) ४६ लाख टन से क्षमता बढाना था तथा एक नवीन सयत्र बोकारो मे १७ लाख टन का स्थापित करना था। निजी क्षेत्र मे, केवल इण्डियन आयरन ऐन्ड स्टील क० को अपनी क्षमता ३ लाख टन से बढाना था। परन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति मे ५ वर्ष से अधिक समय लगा। १९६८ तक क्षमता ९९ लाख पिंड टन की थी।

परन्तु वार्षिक उत्पादन कम था। उदाहरण के लिये, राउरकेला का १८ लाख टन का विस्तार का कार्यक्रम पूरा हो गया था परन्तु उच्चतर क्षमता के पूरे होने की संभावना १९६९ के अन्त तक न थी। दुर्गापुर सयंत्र तो अभी भी १० लाख टन क्षमता के स्तर के नीचे था जब कि राउरकेला का १२ लाख टन था। भिलाई का कार्य तो सन्तोषजनक चल रहा है और यह अपनी बाजार सम्बन्धी कठिनाइयों को अधिकाधिक निर्यात करके दूर कर सका है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि १९६८ में लोगो का विचार यह था

कि क्षमता का कम उपयोग किया जाय क्योकि निर्मित माल की खपत देश मे कम है। इसको लोगो ने ठीक ही समझा था कि १६६५-६६ के इस्पात विकास के कार्यक्रम को स्थगित कर दिया गया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत दुर्गापुर की क्षमता को दूने से अधिक बढा कर ३४ लाख टन करना था और राउरकेला को ७ लाख टन से विस्तार करके अपने १८ लाख की वर्तमान क्षमता को बढाना था। टाटा क० को अपनी क्षमता को दूनी करके ४० लाख टन करना था और इण्डियन आयरन एन्ड स्टील क० को ७ लाख टन और अधिक बढाना था। रूस की सहायता से बनाया जाने वाला बोकारो प्रायोजना, जिसे तृतीय योजना मे कार्यान्वित किया जाना था, चतुर्थ योजना मे कार्यान्वित किया जायगा। इस योजना की प्रगति को देखते हुए ऐसा सोचा जाता है कि इस सयत्र के द्वारा इस्पात का उत्पादन स्थगित चतुर्थ योजना के प्रथम दो वर्षों तक न हो पायेगा।

इस्पात उद्योग की प्रगति हाल के वर्षो मे रुकी हुई सी है। इसका कारण यह है कि योजना का कार्यान्वित किया जाना ही देश मे स्थगित कर दिया गया जिसके परिणामस्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र मे प्रमुख प्रायोजनाओ को स्थगित कर देना पडा तथा रेलवे विकास योजना की गति धीमी हो गई और इसी कारण इस्पात की माँग भी कम हो गई। विशेष रूप से भिलाई तथा दुर्गापुर सयत्रो द्वारा उत्पादित इस्पात की माग नही बढी। इन दोनों के पास कुल क्षमता का ४०% है और तात्कालिक माग न होने के कारण इन के पास आधिक्य एकत्रित होने लगा। प्रमुख प्रायोजनाओ के स्थगित होने का प्रभाव निजी उद्योगो के विकास पर भी पडा और उसका प्रभाव इस्पात उद्योग पर भी पडा।

१६६८ के अन्त तक, देश मे इस्पात की माँग अपेक्षाकृत न्यून थी। उस अवधि के पश्चात्, माग मे तेजी से वृद्धि हुई और सरकार विद्यमान इस्पात संयत्रो का ही विस्तार करने के लिये चिन्तित हुई। इस्पात मत्रालय द्वारा नियुक्त संचालन समिति ने यह सिफारिश की थी कि चतुर्थ योजना के अन्त तक इस्पात के उत्पादन को प्रति वर्ष १० प्रतिशत से बढाया जाना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि इस्पात की क्षमता को भावी दस वर्षों मे दूना करना होगा। इस्पात मत्रालय का विचार है कि या तो प्रति वर्ष १० लाख टन क्षमता वाला सयत्र प्रति वर्ष स्थापित किया जाना चाहिए या एक वर्ष के अन्तर पर २० लाख टन वाला सयत्र स्थापित किया जाना चाहिए।

इस्पात मंत्रालय ने जनवरी १६७० में एक नवीन योजना की घोषणा की है जिसके अन्तर्गत चतुर्थ योजना मे अनेक नवीन योजनाओ के संचालन हेतु २३३ करोड रुपये अतिरिक्त व्यय किया जायगा। इन योजनाओ के अन्तर्गत

भिलाई मे १० लाख टन अतिरिक्त क्षमता, बोकारो की द्वितीय अवस्था को चालू प्रायोजना मानना चाहे प्रथम अवस्था का कार्य पूरा हो या न हो, एक नवीन ३० लाख टन वाले सयत्र पर कार्य प्रारभ करना, इस्पात-चादर तैयार करने के लिये एक सयत्र स्थापित करना जिसका प्रयोग राउरकेला के ट्रासफार्मर मे होता है, पतले चादर की स्टेनलेस स्टील तैयार करने के लिये दुर्गापुर के अलॉय स्टील प्लान्ट मे कोल्ड रोलिग मिल की स्थापना करना आदि है। योजना आयोग ने इस मत्रालय की नवीन योजना को अशत स्वीकृत कर लिया है।

निजी क्षेत्र मे इण्डियन आयरन ऐंड स्टील कम्पनी अपनी क्षमता को १० लाख टन से बढाकर १३ लाख टन करने के लिये विश्व बैंक से बातचीत कर रही है। परन्तु इसमे सन्देह है कि सरकार उसका विस्तार करने देगी क्योकि यह औद्योगिक नीति प्रस्ताव के विरुद्ध होगा। १९६९ मे, लोहा एवं इस्पात की चतुर्थ योजना मे मॉग एव पूर्ति के सम्बन्ध मे भारत मे यू० एस, एड मिशन ने अध्ययन किया था। उससे यह ज्ञात होता है कि चतुर्थ योजना काल मे इस्पात का अभाव बना ही रहेगा। अगले पॉच वर्षों मे इस्पात पिड का सभावी उत्पादन कुल गरम धातु उत्पादन का ८० से ९० % तक उपयोग कर लेगा। आशा है कि गरम धातु का उत्पादन १९६९-७० मे ७३ ५ लाख टन से बढ कर १९७३-७४ मे १२० लाख टन हो जायगा।

अध्याय ३३

इंजीनियरिंग उद्योग

इजीनियरिंग उद्योग की प्रगति भारतवर्ष मे गत १५ वर्षो मे अत्यधिक तेजी के साथ हुई है। प्रथम योजना के आरभ मे देश मे प्रतिवर्ष केवल ४ करोड रुपये मूल्य की मशीनो का ही उत्पादन होता था और तृतीय योजना के अन्त मे यह बढ-कर ५०० करोड़ रुपये तक हो गया। इस अल्प अवधि मे यह प्रगति सार्वजनिक तथा निजी दोनो ही क्षेत्रो मे किये गये प्रयासो का परिणाम है। साथ ही इस उद्योग का विस्तार एव विभिन्नीकरण भी हुआ है। कच्चा माल, मशीन तथा उपकरणो का बराबर अभाव होते हुए भी इस उद्योग का भविष्य उज्जवल है।

इजीनियरिंग उद्योग का क्षेत्र अति विस्तृत है। अत. इसके क्षेत्र एव प्रकृति का सही-सही विवरण देना कठिन है। उनको दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—भारी इजीनियरिंग उद्योग तथा हल्का इजीनियरिंग उद्योग। भारी इंजी-नियरिंग उद्योग द्वारा मुख्यतया पूंजीगत वस्तुओ का, जैसे औद्योगिक मशीन, शक्ति चालक तथा ट्रासफार्मर, रेलवे वैगन, मशीन टूल आदि, उत्पादन किया जाता है। हल्का इजीनियरिंग उद्योग द्वारा उपभोक्ता पदार्थों का जैसे पखा, साइकिल, सीने की मशीन, मीटर तथा अन्य विविध वस्तुये ब्लेड से लेकर रेफ्रिजरेटर तक तथा कील से लेकर जहाज का निर्माण तक, उत्पादन किया जाता है। इजीनियरिंग उद्योग अशत प्रोसेसिंग तथा अशत विनिर्माणकारी उद्योग है।

नियोजित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत विकास. प्रथम योजना मे इस उद्योग के विकास पर अधिक बल नही दिया गया था। परिणामस्वरूप आवश्यक मशीन तथा उपकरणो का आयात जारी रहा। वस्त्र उद्योग के मशीन निर्माण मे कुछ प्रगति हुई थी और उसके उत्पादन का मूल्य १९४९-५० मे ४ करोड़ रुपये से बढकर १९५१-५६ मे ११ करोड रुपये हो गया। सीमेन्ट मशीनरी, जूट मशीनरी आदि के विनिर्माण साधारण रूप से आरभ हो चुके थे। विद्युत उपकरणो के क्षेत्र मे, विद्युत मोटर तथा ट्रासफार्मर के उत्पादन का मूल्य १९५०-५१ में ११ करोड़ रुपये से बढकर १९५५-५६ मे ३ २५ करोड रुपये हो गया। इसी अवधि मे रेलवे वैगन तथा डीजल इजिन का उत्पादन क्रमश: २,९०० तथा ५,५०० से बढकर १५,३०० तथा १०,४०० हो गया।

द्वितीय योजना मे भारी तथा प्रमुख उद्योगो के विकास पर विशेष बल दिया गया। परिणामस्वरूप इजीनियरिंग उद्योग को भी प्राथमिकता दी गई। इस योजना मे, यत्र तथा विद्युत इजीनियरिंग के क्षेत्र मे पर्याप्त विकास हुआ। मोटर के लिये डीजल इजिन, बाइसिकल, शक्ति चालित पम्प, तथा सिलाई की मशीन के उत्पादन मे तेजी के साथ वृद्धि हुई। विभिन्न प्रकार की औद्योगिक मशीन का उत्पादन तो बढा परन्तु जैसी आशा की जाती थी वैसी उन्नति नही हुई।

ततीय योजना में, रचनात्मक इजीनियरिंग के विकास पर ध्यान दिया गया क्योकि यह इस्पात उद्योग का प्रमुख सहायक उद्योग है। इस उद्योग के विकास के लिये निजी क्षेत्र पर अधिक भार रखा गया। साथ ही, सार्वजनिक क्षेत्र मे भी अनेक प्रायोजनायें बनाई गईं, विशेष रूप से, प्रिसीजन इन्स्ट्रूमेण्ट फैक्टरी, हिन्दुस्तान केबिल्स, हैवी प्रेशर्स ऐण्ड पम्प्स, बॉल ऐन्ड रोलर बियरिंग, तथा शल्य सम्बन्धी औजार। तृतीय योजना मे वैसे औद्योगिक प्रगति सन्तोषजनक नही थी। इसके विकास का लक्ष्य ११% प्रति वर्ष था परन्तु वास्तविक विकास की दर ७% से ८% तक ही रही। वैसे इस उद्योग के उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि हुई। १९६०-६१ की अपेक्षाकृत मशीन टूल का उत्पादन १९६५-६६ मे ४ गुना बढ़ गया तथा वस्त्र और चीनी मशीन का उत्पादन २ गुना बढ गया।

यह उल्लेखनीय है कि १९६० की अपेक्षाकृत १९६५ मे रेलवे वैगन का उत्पादन २½ गुना बढ गया, मशीन टूल का ३½ गुना, विद्युत केबिल तथा तार का लगभग २ गुना, बोल्ट, नट, स्प्रिंग आदि का लगभग २ गुना, विद्युत उपकरण का लगभग १½ गुना तथा औद्योगिक मशीनरी का १½ गुना बढा।

भारी इंजीनियरिंग उद्योग

देश के औद्योगीकरण के लिये पूँजीगत वस्तुओ का उत्पादन करना अति आवश्यक है। इसी लिये उनका उत्पादन निजी तथा सार्वजनिक दोनो ही क्षेत्रो मे किया जा रहा है। इस उद्योग के इतिहास मे रॉची मे प्लाण्ट की स्थापना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यहाँ पर भारी मशीन निर्माण का प्लाण्ट, फाउण्ड्री फोर्ज प्रायोजना, तथा भारी मशीन टूल प्लाण्ट है। भारी मशीन निर्माण प्लाण्ट रूस के सहयोग से तथा फाउण्ड्री फोर्ज प्लाण्ट जेकोस्लोवाकिया के सहयोग से स्थापित किया गया है।

भारी विद्युत उपकरणों के उत्पादन के लिये सार्वजनिक क्षेत्र मे दो प्लाण्ट है: हैवी इलेक्ट्रिकल्स (इडिया) लि०, भोपाल तथा भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स लि०। भोपाल प्लाण्ट मे शक्ति ट्रासफार्मर, स्विचगियर, औद्योगिक ट्रैक्शन मोटर, कैपासिटर तथा ट्रैक्शन गियर का निर्माण किया जाता है। भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स के

अन्तर्गत चार इकाइयाँ है—हैवी प्रेशर ब्वायलर प्लाण्ट (मद्रास), हैवी पावर इक्विपमेंट प्लाण्ट (हैदराबाद), हैवी इलेक्ट्रिकल इक्विपमेंट प्लाण्ट (हरिद्वार) तथा स्विच गियर युनिट (हैदराबाद)। प्रथम दो इकाइयो की स्थापना जेकोस्लोवाकिया के सहयोग से, हरिद्वार प्लाण्ट रूस के सहयोग से तथा स्विच गियर प्लाण्ट (हैदराबाद) की स्थापना स्वीडेन की एक फर्म के सहयोग से की गयी। निजी क्षेत्र मे भी, अनेक भारी इजीनियरिंग उद्योगो की स्थापना की गई है। ए० सी० सी०-विकर्स बैबकॉक लि० तथा उत्कल मशीनरी सीमेण्ट, कागज, चीनी, तथा अन्य उद्योगो के लिये भारी प्लाण्ट तथा उपकरणो का उत्पादन करते है। जेसप, अल्कॉक ऐशडाउन, रिचार्डसन एण्ड क्रूडास, हिन्दुस्तान मोटर्स, टाटा इजीनियरिंग एव लोकोमोटिव क०, मार्डन रीच वर्कशाप आदि सगठन भी भारत मे अनेक प्रकार की मशीनो का निर्माण कर रहे हैं।

इस उद्योग के लिये अमेरिका, इगलैड, यूरोप तथा जापान के निर्माताओं के साथ सहयोग किया गया है। भारतीय उद्योगो मे विदेशी सहयोग की सख्या १९४३ मे २६ से बढ़ कर १९६७ मे १६४ हो गई। १९५९ के बाद भारत मे कुल विदेशी सहयोग का ५०% इजीनियरिंग उद्योग मे ही किया गया और १९६४ मे तो यह ७५% था। सबसे अधिक सहयोग इगलैड से मिला और उसके बाद अमेरिका, पश्चिमी जर्मनी, जापान तथा स्विटजरलैंड का नम्बर क्रमश. आता है।

अनुपयुक्त क्षमता (idle capacity). भारी इजीनियरिंग निगम, राँची के सम्मुख एक बहुत बडी समस्या यह है कि इसके पास आर्डर नही हैं जो कि यह १९७१ मे बोकारो इस्पात प्लाण्ट को आर्डर पूरा कर चुकने के पश्चात् कार्यान्वित कर सके। परिणामस्वरूप, १९७२-७३ मे इसकी क्षमता पर्याप्त मात्रा मे अनुपयुक्त रहेगी। यह उल्लेखनीय है कि १९७१ के पश्चात् कार्य करने के लिये आर्डर अभी ही प्राप्त हो जाना चाहिए जिससे कि उसके लिये पूरा प्रबन्ध किया जा सके। राँची मे प्लाण्ट को इस आशा से बनाया गया था कि देश मे इस्पात उद्योग की क्षमता का विस्तार २० लाख टन प्रति वर्ष की दर से होगा परन्तु ऐसा नही हो रहा है। राँची के तीनो प्लाण्ट मे अधिकतम निर्धारित क्षमता १९७५-७६ अथवा १९७८-७९ मे प्राप्त हो जायेगी। भारी मशीन बिल्डिंग प्लाण्ट की क्षमता १९६९-७० मे ३२,५०० टन से बढकर १९७५-७६ में ८०,००० टन, फाउण्ड्री फोर्ज प्लाण्ट १९६७-६८ मे १७,८०० टन से १९७७-७८ मे १४३ लाख टन तथा भारी मशीन टूल प्लाण्ट १९६७-६८ मे ३७ मशीन (८५० टन) से १९७८-७९ में २७८ मशीन (१०,००० टन) हो जायगा। अत इसके सम्मुख समस्या यह है कि बढती हुई उत्पादन क्षमता के साथ आर्डर मे वृद्धि नहीं हो रही है। साथ ही, इसके

कार्य के सम्बन्ध मे एक असन्तोषजनक बात यह है कि इसमे भारी विद्युत निगम, बोकारो तथा भिलाई प्लाण्ट मे बराबर सघर्ष सा चल रहा है जो कि स्वस्थ नही है।

औद्योगिक मशीन के लिये लक्ष्य निर्धारित करना चतुर्थ योजना मे। औद्योगिक मशीन की आवश्यकताओ का अनुमान करने मे बहुत बडी कठिनाई का सामना करना पडा है। इसका प्रमुख कारण यह हैं कि विभिन्न प्रकार की माँग का पूर्वानुमान लगाना उन मशीनो तथा उपकरणो का प्रयोग करने वाले विभिन्न उद्योगों के विस्तार करने पर निर्भर करता है। इस सम्बन्ध मे मशीन उद्योग के योजना दल को कठिनाई का सामना करना पडा है। मशीनो के आयात के कारण भी यह समस्या और जटिल हो गई। इस दल ने अपना स्वय का अनुमान लगाया कि देश मे मशीन के उत्पादन के कारण चतुर्थ योजना मे मशीनो का आयात कितना कम होगा। वैसे तृतीय योजना मे भारी मशीन पर अत्यधिक विनियोग के कारण चौथी योजना मे मशीन उद्योग मे नवीन विनियोग की माँग कम होगी। चतुर्थ योजना मे इनके विकास का कार्यक्रम सामान्य औद्योगीकरण पर, मशीन का उपयोग करने वाले उद्योगो की माँग पर तथा वर्तमान अनुपयुक्त क्षमता के सही-सही अनुमान पर निर्भर है।

विनियोग की मात्रा का पता लगाने के लिये इस दल ने कुछ उद्योगो का अस्थायी सर्वेक्षण किया। जाँच-परिणाम यह निकला कि चतुर्थ योजना मे, केवल वर्तमान उद्योगो मे सभावित विस्तार को छोडकर, नवीन अतिरिक्त क्षमता की आवश्यकता नही होगी। कृषि उपकरण उद्योग के सम्बन्धमे इसका विचार था कि १२ तथा २० हार्स पावर के ट्रैक्टर का निर्माण करने के लिये अतिरिक्त क्षमता का सृजन किया जाना चाहिए। व्यापारिक मोटर-गाडियो की माँग की पूर्ति वर्तमान इकाइयों का विस्तार करके की जा सकती है। पैसेंजर कार के लिये दल का विचार था कि नीति सम्बन्धी निर्णय लिया जाना चाहिए तथा चतुर्थ योजना में पर्याप्त विनियोग किया जाना चाहिए। लोहा एव इस्पात प्लाण्ट उपकरणों के लिये, रसायनिक खाद तथा रसायन उपकरण, वस्त्र, चीनी, सीमेण्ट, कागज, चाय तथा रबड आदि उद्योग के लिये आवश्यक मशीन की माँग के सही-सही अनुमान के सम्बन्ध मे यह दल निश्चित न था। इसका कारण यह था कि इन उद्योगो के सम्बन्ध मे अभी नीति सम्बन्धी निर्णय लिया जाना है। इनमे से कुछ निर्णय चतुर्थ योजना के प्रारभिक वर्षों मे लिये जा सकते है।

मशीन टूल उद्योग

मशीन टूल उद्योग इंजीनियरिंग उद्योग का महत्वपूर्ण अग है क्योंकि यह अन्य इंजीनियरिंग उद्योग के विकास में तेजी से वृद्धि के लिये सहायक होता है। मशीन

टूल का प्रयोग अन्य मशीनों के उत्पादन के लिये किया जाता है। भारतवर्ष मे मशीन टूल का उत्पादन १९३० के लगभग आरभ हुआ। आरभ के वर्षों मे इसका उत्पादन विशेष रूप से पजाब तथा बम्बई मे केन्द्रित था। वैसे वहाँ पर सादी मशीन का उत्पादन वही पर प्रयोग के लिये किया जाता था।

द्वितीय महायुद्ध के समय इस उद्योग को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। सरकार ने भी इसकी महत्ता को स्वीकार किया। मशीन टूल का वार्षिक उत्पादन २० लाख रुपये के मूल्य का था और शेष आवश्यकता की पूर्ति लगभग २ करोड़ रुपये के मूल्य की मशीनो का वार्षिक आयात करके होती थी। १९४५ तक, कुल उत्पादन बढकर १·१२ करोड रुपये का हो गया परन्तु १९५० मे यह घटकर २९ लाख रुपये का रह गया। दूसरी ओर आयात की मात्रा वर्ष-प्रति-वर्ष बढ़ती ही गई।

योजनाओं के अन्तर्गत विकास प्रथम तीन योजनाओ के अन्तर्गत, विशेष रूप से द्वितीय तथा तृतीय पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत, मशीन टूल उद्योग का पर्याप्त विकास हुआ। इसका उत्पादन १९५० मे २९ लाख रुपये से बढकर १९६७ मे २,५५७ लाख रुपये हो गया। प्रथम योजना मे कोई विशेष कार्यक्रम इसके लिये नही बनाया गया था फिर भी इसका उत्पादन दुगना हो गया था और १९५१ में ४७ लाख रुपये से बढकर १९५६ मे १०८ लाख रुपये हो गया। इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण विकास हिन्दुस्तान मशीन टूल्स की स्थापना है जिसने १९५६ मे उत्पादन आरभ कर दिया। द्वितीय योजना के अन्त तक १५ इकाइयाँ निजी क्षेत्र मे स्थापित हो गईं जिनकी वार्षिक क्षमता २ करोड़ रुपये के मशीन-निर्माण की थी। कई इकाइयाँ छोटे पैमाने पर भी आरभ हुईं जिनकी क्षमता लगभग २ लाख रुपये की थी। द्वितीय योजना काल मे वास्तविक उत्पादन १९५६ मे १०८ लाख रुपये से बढ़कर १९६१ मे ७७१ लाख रुपये हो गया। तृतीय योजना मे मशीन टूल के उत्पादन का लक्ष्य ३० करोड़ रुपये हो गया। योजना के अन्त तक इस लक्ष्य की पूर्ति हो गई थी। इस योजना की अवधि मे, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स ने तीन और इकाइयो की स्थापना की, तथा निजी क्षेत्र मे भी अनेक इकाइयो की स्थापना हुई और उनकी सख्या १०० से भी अधिक हो गई।

व्यावहारिक आर्थिक शोध की राष्ट्रीय परिषद ने भारतीय मशीन टूल उद्योग का सर्वेक्षण १९६५ मे किया और उसने यह अनुमान लगाया कि १९७०-७१ तक इसकी माँग १३२ करोड रुपये की होगी। माँग मे कमी आने के कारण, अब यह अनुमान है कि १९७०-७१ तक कुल उत्पादन ८० करोड़ रुपये प्रति वर्ष का होगा। इसमे से ३० करोड़ रुपये का निजी क्षेत्र मे होगा तथा शेष सार्वजनिक क्षेत्र मे होगा।

मशीन निर्माण उद्योग के विकास के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के मशीन टूल्स की माँग बढती जा रही है। इसीलिये हिन्दुस्तान मशीन टूल्स अपने मशीन टूल के उत्पादन के विभिन्नीकरण के लिये वित्त की व्यवस्था कर रही है। ये कम्पनी समय-समय पर टैक्निकल सहयोग सम्बन्धी समझौते फ्रास, इगलैड, पश्चिमी जर्मनी, सयुक्त राज्य अमेरिका के फर्म तथा निर्माताओ के साथ विभिन्न प्रकार के मशीन टूल्स के निर्माण के लिये करती रही है।

देश मे इसके माँग तथा उत्पादन के मध्य अन्तर होने के कारण बहुत बडी मात्रा मे मशीन टूल्स का आयात प्रति वर्ष किया जा रहा है। १९५१ मे २ ५ करोड रुपये के आयात से बढकर १९५६ मे ८ ४ करोड रुपये का, १९६१ मे २४ २ करोड रुपये का तथा १९६७ मे ३८ करोड रुपये का आयात किया गया। हाल के वर्षों मे, वैसे आयात प्रतिस्थापन के क्षेत्र मे पर्याप्त विकास किया गया है। यह इस तथ्य से ज्ञात होता है कि कुल घरेलू पूर्ति पर घरेलू उत्पादन का प्रतिशत १९५६ मे ११ से बढकर १९६७ मे ४० हो गया। कुछ प्रकार की मशीनो के लिये तो हम आत्म-निर्भर भी हो चुके है।

निर्यात. १९६२ मे भारतीय मशीन टूल्स उद्योग ने छोटे पैमाने पर निर्यात करना आरभ किया। १९६२ मे ११ लाख रुपये के निर्यात से बढकर १९६६ मे यह १ करोड रुपये का हो गया। इस उद्योग के दीर्घ-कालीन विकास के हित मे निर्यात बाजार का विकसित करना परमावश्यक है। हाल के एक सर्वेक्षण से यह ज्ञात हुआ है कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे इसका निर्यात बाजार पर्याप्त विस्तृत है। गत दस-वर्षों मे इसका विश्व व्यापार लगभग दूना हो गया और यह १९७० मे १२०० करोड रुपये का होगा। सामान्य धारणा के विरुद्ध, अधिकाश माँग पश्चिमी योरोप, पूर्वी यूरोपीय देश, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा जैसे उन्नत देशों द्वारा की जा रही है। अत विश्व बाजार मे भारतीय मशीन टूल के निर्यात की सभावनाये पर्याप्त है।

मशीन टूल्स के कार्यकारी दल ने यह सिफारिश की है कि मशीन टूल्स के निर्यात का लक्ष्य ८·२५ करोड रुपये होना चाहिए। वैसे वर्तमान निर्यात ७० लाख रुपये का है। अत इस क्षेत्र मे अत्यधिक प्रयास किये जाने की आवश्यकता है क्योकि पश्चिमी जर्मनी, इटली तथा जापान आदि देशो से प्रतिस्पर्द्धा भी अत्यधिक है। उचित नीति तो यह होगी कि अभी कुछ प्राथमिकता प्राप्त बाजारो की ओर ही ध्यान दिया जाय।

यह प्रचार किया जाना चाहिए कि भारतवर्ष मे अच्छे किस्म के मशीन टूल्स का निर्माण होता है। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मेलो मे भाग लेकर भी प्रचार करना

चाहिए। विभिन्न देशो मे शो-रूम स्थापित किया जाना चाहिए। उन देशो से शिष्ट मण्डल बुलाना तथा वहाँ भेजना भी चाहिए। निर्यात बाजार का सर्वेक्षण करना चाहिए। विदेशों मे दिखाने के लिये फिल्मे बनाई जानी चाहिए। सरकार तथा उद्योग दोनो को ही इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

१९६७ तथा १९६८ मे पश्चायन की अथवा मन्दी की प्रवृत्ति होने के कारण इस उद्योग की प्रगति पर विशेष प्रभाव पडा। विवश होकर इसे अपने उत्पादन की कटौती करनी पडी। साथ ही, इसे सचित स्टॉक की कठिन स्थिति का सामना करना पडा। क्षमता के उपयोग को घटा कर ४५% करना पडा। इस स्थिति को ध्यान मे रखते हुए इस उद्योग के विकास के सम्बन्ध मे फिर से गभीरता के साथ विचार करके योजना बनानी चाहिए।

देश मे ही डिजायन, शोध तथा नवीन तकनीक का विकास करने हेतु केन्द्रीय सरकार ने केन्द्रीय मशीन टूल्स सस्था बगलौर मे स्थापित की हैं। दूसरी उल्लेखनीय बात लगभग १,००० पजीकृत लघुस्तरीय इकाइयो का इस उद्योग मे योगदान है जो कि पजाब, महाराष्ट्र, मद्रास, गुजरात तथा अन्य केन्द्रो मे फैले हुए हैं। इनका सकल उत्पादन ३ से ४ करोड़ रुपये प्रति वर्ष है।

अन्य उद्योगो की अपेक्षाकृत, मशीन टूल उद्योग पर अपनी प्रकृति के कारण, मन्दी का प्रभाव अत्यधिक पडता है। इसका कारण यह है कि मशीन टूल का मुख्य रूप से उपयोग मशीनो के विनिर्माण मे किया जाता है और इस पर मन्दी का प्रभाव सर्वप्रथम पड़ता है। हाल मे ही १९६७ तथा १९६८ के पश्चायन का प्रभाव इस उद्योग पर अत्यधिक पडा। इस उद्योग का बाजार तभी विस्तृत होगा जबकि इजीनियरिंग उद्योग का विस्तार हो। १९६६ से ही इस उद्योग को माँग में कमी की स्थिति का सामना करना पड़ रहा है, परिणामस्वरूप मशीन टूल की माँग भी कम हो गई। ऐसा अनुमान है कि १९६८ के अन्त मे इस उद्योग के पास ५ से ६ करोड़ रुपये का स्टॉक था। ऐसा विचार है कि १९७० के मध्य से इस स्थिति में कुछ सुधार होगा और माँग मे वृद्धि होगी।

इंजीनियरिंग उद्योग की समस्यायें

असन्तुलन. देश के इजीनियरिंग उद्योग मे जो असन्तुलन है उसका ज्ञान हाल के पश्चायन के समय विशेष रूप से हुआ। भारत में औद्योगिक विकास पूँजीगत वस्तुओ के क्षेत्र मे विनियोग तथा उसके विस्तार पर मुख्य रूप से निर्भर है और इस उद्योग के उत्पादन की माँग भी सरकार द्वारा व्यय तथा क्रय पर विशेष रूप से निर्भर है। अत जब कभी सरकार के साधनो मे कमी आती है और वह

अपने व्यय मे कटौती करती है तो भारी इजीनियरिंग उद्योग पर उसका अत्यधिक प्रभाव पडता है। परिणाम यह होता है कि घरेलू मॉग मे कटौती होती है, क्षमता अनुपयुक्त रह जाती है, निर्यात पर बल अधिक दिया जाने लगता है, तथा विवश होकर विभिन्नीकरण की ओर ध्यान देना पडता है। इस स्थिति के लिए सरकार की नियत्रण की प्रणाली, जिसका प्रयोग औद्योगिक विकास के लिए किया जा रहा है, ही उत्तरदायी है।

घरेलू उद्योग को सुरक्षित तथा सरक्षित बाजार उपलब्ध था जिसमे प्रतिस्पर्द्धा का सामना नही करना पडता था। दूसरे, उद्योग की स्थिति सतोषजनक थी क्योकि बिना लागत या किस्म पर ध्यान दिए हुए यह अपने उत्पादनो को बेचने मे समर्थ था। तीसरे, सरकार की योजना तथा लक्ष्य पर निर्भरता अत्यधिक थी और यह स्वतन्त्र रूप से स्वय विपणन सम्वन्धी शोध की ओर ध्यान नही दे रही थी।

पश्चायन से इसे कुछ अनुभव हुआ है और वास्तव मे यह वरदान के रूप मे आया। इससे निम्नलिखित लाभ हुए. प्रथम, घरेलू बाजार मे प्रतिस्पर्द्धा के प्रति दृष्टिकोण बदल रहा है। दूसरे, लागत और किस्म के प्रति उद्योग विशेष सतर्क हो गया है और अपनी उपलब्धियो के प्रति अब पूर्ण सन्तुष्टि नही रह गई है। तीसरे, भारत के इजीनियरिंग उद्योग की सरचना पर समुचित विचार करने की आवश्यकता बढ गई है।

इस उद्योग मे कई छोटी-छोटी इकाइयाँ उत्पादन मे लगी हुई है जिनकी स्थिति आर्थिक तथा प्रतिस्पर्द्धात्मक दृष्टिकोण से अच्छी नही है। अत इसकी सरचना मे आवश्ययक परिवर्तन करके इन्हे आर्थिक तथा प्रतिस्पर्द्धात्मक बनाना होगा। इसका तात्पर्य यह नही है कि इस उद्योग में छोटी इकाइयो का स्थान नही है। वास्तव मे बडी इकाइयो को छोटी इकाइयो को अपनी सहायक अथवा पूरक के रूप मे प्रोत्साहित करना चाहिए। लोगो का मत है कि इजीनियरिंग उद्योग की समस्याओ का समाधान विभिन्नीकरण के द्वारा हो सकता है परन्तु विभिन्नीकरण लाना आसान नही है। इजीनियरिंग उद्योग मे विशेष रूप के विभिन्नीकरण करना कठिन है।

निर्यात तथा आयात प्रतिस्थापन. भारतीय इजीनियरिंग उद्योग द्वारा सफलता के साथ इसके विभिन्न उत्पादनों का निर्यात किया जा सकता था। भारी तथा हल्के सभी उत्पादनो का, जैसे, रेलवे वैगन, रेलवे कोच, भारी क्रेन, व्यापारिक मोटर गाड़ी, डीजल इजिन, मशीन टूल्स, सीने की मशीन तथा पखा आदि का निर्यात किया जा सकता है। सरकार ने १९५५ मे इसके निर्यात-प्रोत्साहन के लिए इजीनियरिंग निर्यात प्रोत्साहन परिषद की स्थापना की। इस परिषद के सदस्य

आरभ मे ४० थे और अब इनकी सख्या बढकर १६०० से भी अधिक हो गई है। विपणन सम्बन्धी शोध, प्रचार आदि के क्षेत्र मे इसने पर्याप्त विकास किया है। कुल इजीनियरिंग निर्यात (इस्पात सहित) १९५६-५७ मे ३.५ करोड रुपये थे जो कि १९६७-६८ मे बढकर ४१ ५ करोड रुपये हो गये। रुपये के अवमूल्यन तथा पश्चायन के कारण निर्यात की ओर अब अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। वैसे इजीनियरिंग वस्तुओ का निर्यात करने मे निम्नलिखित कठिनाइयाँ हैं:

(१) कच्चे माल के मूल्य मे निरतर वृद्धि होने के कारण उत्पादन-लागत मे वृद्धि होती रही है, जिससे विश्व बाजार मे कठिनाई होती है।

(२) कुछ वर्षो तक एशिया तथा अफ्रीका के अल्प-विकसित देशो में भारतीय इजीनियरिंग वस्तुओ का निर्यात सभव हो पाया था परन्तु अब उन देशों मे भी औद्योगीकरण आरभ हो चुका है अत उधर भी क्षेत्र कम होता जा रहा है।

(३) भारतवर्ष को यूरोप तथा जापान आदि से प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ती है और उनके सम्मुख हम ठहर नही पाते हैं।

(४) भारतीय इजीनियरिंग उद्योग विभिन्नीकरण की दशा मे सफल नही हो पाया है । विश्व बाजार तो परिवर्तनशील है, अत निर्यात करने वाली वस्तुओ की सूची मे नवीन डिजाइन तथा क्षमता की वस्तुओ को समय-समय पर जोड़ा जाना चाहिए।

भारतीय इजीनियरिंग वस्तुओ का निर्यात कुल वार्षिक उत्पादन का ३ से ४% ही है और विश्व व्यापार मे तो इसका भाग अति न्यून है। निर्यात बढाने के लिए किस्म मे उन्नति करनी होगी तथा मूल्य को भी प्रतिस्पर्द्धात्मक बनाना होगा। निर्यात बढाने का एक दूसरा ढग अल्प-विकसित देशो के साथ सम्मिलित सहयोग करना है। निर्यात मे दूसरा महत्वपूर्ण बाधक इजीनियरिंग वस्तुओ की अधिक आन्तरिक माँग भी है। १९६७-६८ मे हमारे निर्यात २१.८ करोड रुपये के थे जब कि आयात ५०० करोड रुपये के थी। इससे यह ज्ञात होता है कि आयात-प्रतिस्थापन के लिए क्षेत्र बहुत बडा है। आयात मे निरन्तर वृद्धि होती रही है। १९६०-६१ मे ३३३ करोड़ रुपये से बढकर १९६६-६७ मे ५३६ करोड रुपये हो गया था, वैसे १९६७-६८ मे यह घटकर ४९६ करोड रुपये का हो गया। मशीन के आयात मे से विद्युत मशीनो सहित औद्योगिक मशीनो का ही अधिक आयात होता है। आयात का प्रतिस्थापन करना आवश्यक है विशेष रूप से इसलिए कि इस पर बहुत बडी मात्रा में वैदेशिक विनिमय का उपयोग करना पडता है। इस दिशा मे अनुकूल प्रगति तभी हो सकती है जब कि शोध तथा विकास के कार्यक्रमों

को कार्यान्वित करने की ओर विशेष ध्यान दिया जाय तथा टैक्नालाजिकल स्थिति मे उन्नति हो।

भविष्य

ऐसी आशा की जाती है कि कृषि-क्रान्ति होने के साथ ग्रामीण क्षेत्रो मे क्रय-शक्ति मे वृद्धि होगी और परिणामस्वरूप इजीनियरिंग वस्तुओ की माँग अधिकाधिक बढेगी और तदनुसार इस उद्योग की प्रगति हो सकेगी। पश्चायन अथवा मन्दी की स्थिति सदैव तो रहेगी नही अत सभावना यही है कि धीरे-धीरे राष्ट्र के आर्थिक विकास की गति मे वृद्धि होते ही रहेगी। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि उद्योग मे आत्म-तुष्टि की भावना भर जाय और निर्यात तथा विभिन्नीकरण के क्षेत्र मे जो हाल मे प्रयास किए गये है उन पर ध्यान देना बन्द कर दिया जाय तथा किस्म को उन्नत करने तथा उत्पादन-लागत घटाने का प्रयास न किया जाय।

इसके सामने एक नवीन समस्या स्थापित क्षमता का पूर्ण उपयोग करना है। इस दिशा मे सबसे बडी कठिनाई कच्चे माल की, विशेष रूप से इस्पात का पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध न होना है। हिन्दुस्तान स्टील, जिसकी इस सम्बन्ध मे आलोचना हो रही है, का कहना है कि यह सही बात नही है कि यह इसकी इस्पात की माँगो को पूरा करने मे असफल रहा है। विशेष प्रकार के तथा कम उपलब्ध होने वाले इस्पात के वितरण मे विवेचनात्मक नीति अपनाई जाती है, इस तथ्य को भी इसने गलत बताया है।

१९७० के आरभ मे भारत सरकार ने इजीनियरिंग वस्तुओ का निर्यात करने वाली इकाइयो की इस्पात सम्बन्धी अल्पकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिए उपदान करके पूर्ति करने पर विचार किया है। सरकार ने इस्पात के विस्तार के प्रश्न पर भी विचार किया। अस्थायी उपाय के रूप मे, विदेशी व्यापार मत्रालय सयुक्त राज्य अमेरिका तथा जापान से ६०,००० टन इस्पात के प्राप्त करने का प्रयत्न कर रही है। अत यह सभव हो सकता है कि उन उपाय के द्वारा इजीनियरिंग वस्तुओ का ११० करोड़ रुपये के निर्यात का लक्ष्य पूरा ह जाय। इस्पात के उपलब्ध न होने के कारण बाद मे इस लक्ष्य को १०० करो रुपया कर दिया गया था। हो सकता है कि जनवरी १९७० मे इस्पात के मूल मे वृद्धि से सम्बन्धित जो घोषणा की गई है उसका प्रभाव इसके निर्यात कार्यक्र पर पड़े।

चतुर्थ योजना मे इजीनियरिंग वस्तुओ के निर्यात का लक्ष्य १६७३-७४ तक २२५ करोड रुपया रखा गया है और पाचवी योजना के अन्त तक ५०० करोड़ रुपया रखा गया है। इस सम्बन्ध मे हमे जापान, पश्चिमी जर्मनी तथा अन्य देशो से प्रतिस्पर्द्धा का सामना करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। ऐसी रिपोर्ट है कि सूती वस्त्र मिल, लोकोमोटिव तथा रसायनिक खाद प्लान्ट का सम्पूर्ण निर्यात हम करेगे। भारतीय डिजाइन इजीनियरिंग फर्म विदेशो मे प्लाण्ट की सम्पूर्ण स्थापना का कार्य-भार सँभालने का प्रयत्न कर रही है। यदि भारतीय इजीनियर सलाहकारो द्वारा तथा इन फर्मों के द्वारा विदेशो मे प्लाण्ट की स्थापना की जाती है तो मशीन सहित अन्य वस्तुओ का निर्यात सभव हो सकेगा।

भारतवर्ष को इजीनियरिंग वस्तुओ का निर्यात करने के लिए विश्व बाजार मे अपने प्रतिबिम्ब को बदलना होगा। उसे यह प्रचार करना होगा कि अब भारतवर्ष केवल कृषि सम्बन्धी वस्तुओ तथा परिपाटी से चली आ रही वस्तुओ का ही निर्यात नही करता है अपितु अब यह औद्योगिक देश है और पिन से लेकर जहाज तक का निर्माण करता है। इजीनियरिंग निर्यात प्रोत्साहन परिषद को भारतवर्ष से निर्यात की जा सकने वाली वस्तुओ का पता लगाना चाहिए तथा विदेशो मे उनकी माँग कहाँ-कहाँ है उसका पता लगाकर भारतीय निर्यातकर्ताओ को अवगत कराना चाहिए। विदेशो मे जो भारतीय शिष्ट-मण्डल जाते है अथवा जो व्यापार आयुक्त है उन्हे चाहिए कि सभी वस्तुओ का पता लगाकर उनका प्रचार विदेशों मे करे। दूसरे, इजीनियरिंग वस्तुओ का निर्यात करने के पूर्व उनके उत्पादन की प्रत्येक अवस्था पर किस्म-नियत्रण की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिए। तीसरे, तकनीकी अप्रचलन की समस्या को दूर करने के लिए उचित प्रयास किया जाना चाहिए। चौथे, एक सुदृढ निर्यात सगठन बनाने की अवश्यकता है जो कि निर्यात सम्बन्धी सभी आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके। पाँचवे, प्रतिस्पर्द्धा अधिक होने के कारण सभी देश इन वस्तुओ के आयात के लिए अधिक मात्रा मे साख की माँग करते है। अत भारत सरकार को चाहिए कि वह आयात करने वाले देशो को मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन साख की व्यवस्था करे। सरकार को चाहिए कि देश की व्यापार सम्बन्धी नीति को बनाने के सम्बन्ध मे, व्यापारिक समझौते को अन्तिम रूप देने मे, तथा देशो से दोहरा समझौता करते समय उद्योग से सहयोग प्राप्त करे। व्यापारिक शिष्ट-मण्डल जब कभी विदेशो को भेजे जायँ तो उनमे उद्योग के विभिन्न क्षेत्रों से व्यापार-विशेषज्ञो को सम्मिलित करना चाहिए जो कि सरकारी अधिकारियों को उचित परामर्श दे सके।

अध्याय ३४

रसायनिक उद्योग

इस उद्योग के अन्तर्गत अनेक प्रकार के औद्योगिक उत्पादन आते है जैसे आधारभूत रसायन, रसायनिक खाद, कृमिनाशक पदार्थ तथा औषधियाँ आदि। उन उत्पादनो का प्रयोग वस्त्र, कागज, रबर, साबुन, शीशा, कृत्रिम रेशम, पेण्ट्स तथा वार्निश आदि उद्योगो मे किया जाता है।

भारतीय उद्योगो मे रसायनिक उद्योग का वस्त्र, लोहा एव इस्पात तथा इजीनियरिंग उद्योग के पश्चात् चौथा स्थान है। राष्ट्रीय औद्योगिक पूंजी मे इसका भाग ७ २ %, कुल सकल उत्पादन मे ७ ४% तथा शुद्ध उत्पादन मे ८% है। १९५१ तथा १९६४ के मध्य रसायनिक उद्योग की पूँजी ३० करोड रुपये से बढ कर ३८२ करोड रुपये हो गई, रोजगार ३८,००० से बढ कर १,२७,००० हो गया, सकल उत्पादन का मूल्य ३७ करोड रुपये से बढ कर ४१७ करोड रुपये तथा शुद्ध उत्पादन का मूल्य १४ करोड रुपये से ११४ करोड रुपये हो गया। १९५९ तथा १९६४ के मध्य रसायनिक इकाइयो की सख्या लगभग दुगनी हो गई तथा उत्पादक पूँजी तीन-गुनी हो गई जो कि १२४ करोड रुपये से बढ़ कर ३८२ करोड़ रुपये हो गई क्योकि कुछ मशीन फैक्टरी बहुत बड़े आकार की थी। विकास की दर मे यह तीव्र वृद्धि पचवर्षीय योजनाओ मे प्रदान किये गये प्रोत्साहन के कारण हो पाई है।

यह उल्लेखनीय है कि रसायनिक उद्योग अन्य आधारभूत उद्योगो की तरह, जैसे लोहा एव इस्पात, कोयला तथा सीमेन्ट आदि, सरचनात्मक दृष्टिकोण से समरूप नही है। एक ओर तो इसके उत्पादन ऐसे है जिनका उत्पादन अधिक किया जाता है परन्तु उनका प्रति इकाई मूल्य अपेक्षाकृत बहुत कम है और दूसरी ओर थोडा सा ही उत्पादन किया जाता परन्तु जिसका प्रति इकाई मूल्य अत्यधिक है।

इस उद्योग के क्षेत्र को सही-सही बताना अत्यन्त कठिन है, वैसे इस अध्याय मे निम्नलिखित वर्गों का अध्ययन किया जा रहा है (१) अम्ल तथा क्षार आदि सहित भारी रसायन, (२) रसायनिक खाद जो कि नाइट्रोजन, फास्फोरस तथा पोटाश पर आधारित है, तथा (३) पेट्रो-रसायन।

रसायनिक उद्योग के उत्पादन का विकास इसमे विनियोजित पूंजी के विकास के बराबर ही रहा है। प्रथम दो योजनाओ मे, प्रमुख रसायनिक पदार्थों का उत्पादन, जैसे रसायनिक खाद, सोडा ऐश, कास्टिक सोडा आदि, लगभग १८.५% वार्षिक दर से हुआ। इसी अवधि मे प्रमुख रसायनिक पदार्थों के उत्पादन के मूल्य मे पाँच गुनी वृद्धि हुई और यह १०३ करोड रुपये से बढकर ५६२ करोड रुपये हो गया। तीसरी योजना मे, दूसरी योजना की अपेक्षाकृत २½ गुनी वृद्धि हुई। प्रथम योजना काल मे इसमे पूंजी का विनियोग केवल २७ करोड रुपया ही था परन्तु द्वितीय योजना मे यह बढकर ३०४ करोड रुपये हो गया तथा तृतीय योजना मे ८७७ करोड रुपये हो गया। चतुर्थ योजना मे इस उद्योग पर २,००० करोड रुपया व्यय होगा जिसमे से १,५०० करोड रुपया रसायनिक खाद के लिये है।

भारी रसायन भारी रसायन की स्पष्ट व्याख्या करना अत्यन्त कठिन है। भारी रसायन उद्योग मुख्य रूप से कच्चे माल तथा माध्यमिक पदार्थ का साधन है। इसके द्वारा उत्पादित प्रमुख अकार्बनिक रसायनिक पदार्थो का उपयोग अन्य रसायनिक पदार्थ तथा मिलती-जुलती वस्तुओ के उत्पादन मे किया जाता है। भारी रसायन के अन्तर्गत निम्नलिखित पदार्थ आते हैं (१) अम्ल—सल्फ्यूरिक अम्ल तथा लवण, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल तथा लवण, नाइट्रिक अम्ल तथा लवण सहित, (२) क्षार—सोडा ऐश, कास्टिक सोडा, सोडियम बाईकार्बोनेट, क्लोरीन, ब्लीचिग पाउडर आदि सहित, तथा (३) विविध कैल्शियम कारबाइड, सोडियम हाइड्रो सलफाइट तथा औद्योगिक गैस जैसे आक्सीजन, कार्बन डाइ आक्साइड तथा एसीटिलीन आदि सहित।

इन प्रमुख रसायनिक पदार्थो मे से यौगिक एव अनेक प्रकार के सोडा सल्फ्यूरिक अम्ल तथा उस पर आधारित यौगिक तथा अनेक प्रकार के सोडा तथा उन पर आधारित रसायनिक पदार्थ सबसे महत्वपूर्ण है। दैनिक उपयोग की अनेक वस्तुओ का उत्पादन प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इन्ही रसायनिक पदार्थों से किया जाता है। वस्त्र, कागज, शीशा, रसायनिक खाद, अल्युमूनियम, प्लास्टिक तथा विस्फोटक पदार्थ का निर्माण इन्ही प्रमुख रसायनिक पदार्थों की सहायता से किया जाता है।

सल्फ्यूरिक अम्ल यह एक महत्वपूर्ण औद्योगिक कच्चा माल जिसका उपयोग रसायनिक खाद, विस्फोटक पदार्थ, प्लास्टिक, लोहा एव इस्पात, वस्त्र, रेयन-सूत आदि का उत्पादन करने मे किया जाता है। बहुत समय तक तो सल्फ्यूरिक अम्ल को देश के औद्योगिक विकास का मापदण्ड माना जाता था। इसका उत्पादन देश के औद्योगिक विकास के निर्देशाक के रूप मे माना जाता था। इसका उत्पादन

भारतवर्ष मे १९४८ मे ८१,००० टन से बढ कर १९६१ मे ४,२२,००० टन तथा १९६७ मे ७,९२,००० टन हो गया। प्रथम योजना के अन्त मे, कुल उत्पादन १,६८,००० टन था और द्वितीय योजना के अन्त मे यह बढकर ४,२२,००० टन हो गया। तृतीय योजना मे विकास की दर धीमी हो गई और १९६६ के अन्त मे इसका उत्पादन ६,७५,००० टन ही था। प्लाण्ट की समता मे तो विस्तार हुआ और उत्पादन-लागत मे भी इधर कुछ कमी हुई है। इसके उत्पादन की दिशा मे देश आत्म-निर्भर हो चुका है और अब तो सल्फ्यूरिक अम्ल की मशीनो का निर्माण भी आरभ हो चुका है।

सल्फयूरिक अम्ल का उत्पादन करने वाले प्लाण्ट के सम्मुख एक बहुत बडी कठिनाई यह है कि इसे गधक के लिये विदेशो पर निर्भर रहना पडता है। प्रति वर्ष लगभग ३ लाख टन गधक का आयात किया जाता है और यह विदेशो पर निर्भरता चिन्ताजनक है क्योकि इसका मूल्य अधिक है और आयात करने के लिये वैदेशिक विनिमय की आवश्यकता पडती है। पाइराइट पर आधारित प्लाण्ट की स्थापना करने का प्रस्ताव इस सम्बन्ध मे है। परन्तु इस पर आधारित प्लान्ट की लागत तीन-गुनी अधिक होती है और सचालन व्यय भी अपेक्षाकृत अधिक होता है। परन्तु पाइराइट पर आधारित प्लाण्ट इसलिये आवश्यक है कि इस सम्बन्ध मे देशी तकनीक का उपयोग किया जा सकता है और साथ ही पाइराइट बिहार मे पाया जाता है। पाइराइट पाये जाने वाले क्षेत्रो का पता लगाने के लिये सार्वजनिक क्षेत्र मे एक पाइराइट्स एव रसायनिक पदार्थ विकास क० की स्थापना की गई है।

हाइड्रोक्लोरिक अम्ल. हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का प्रमुख औद्योगिक प्रयोग रसायनिक खाद के उत्पादन मे, जैसे अमोनियम क्लोराइड, डाइस्टफ तथा डाइकैल्शियम फास्फेट होता है। इसका उत्पादन १९६० मे १०,००० टन से बढ कर १९६७ मे ३३,००० टन हो गया।

नाइट्रिक अम्ल. इसका प्रयोग सोने तथा चाँदी के अपसारण मे, फोटो तक्षण मे, पीतल के अम्ल-मार्जन मे प्रत्यक्ष रूप से होता है। इसका प्रमुख उपयोग रसायनिक खाद तथा विस्फोटक पदार्थ मे होता है। इस समय, भारतीय रसायनिक खाद निगम के सिन्दरी, नगल, राउरकेला इकाइयों द्वारा तथा भारतीय एक्सप्लो-सिव लिमिटेड द्वारा इसका उत्पादन किया जाता है। इसका उत्पादन ५,००० मैट्रिक टन से बढकर १९६७ मे १४,००० मौट्रिक टन हो गया।

सोडा-राख. प्रथम सोडा-राख की फैक्टरी १९२३ मे स्थापित हुई थी परन्तु विगत १५ वर्षों मे इसका निर्माण करने वाली इकाइयो द्वारा उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। प्रथम योजना के आरभ मे इसका उत्पादन देशी माँग की एक-तिहाई

से थोडा ही अधिक था परन्तु तृतीय योजना के अन्त तक देश इसके उत्पादन के सम्बन्ध मे आत्मनिर्भर हो गया। इसकी फैक्टरी अधिकाशतया गुजरात राज्य के सौराष्ट्र क्षेत्र मे ही केन्द्रित है जो कि उपभोग के केन्द्रो से बहुत दूर है। पजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार तक, जहाँ इसकी खपत अधिक है, इसे पहुचाने के लिये परिवहन की समस्या अत्यधिक है। इस उद्योग के लिये आवश्यक कच्चे माल के उपलब्ध होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर से इसकी उत्पादन-लागत अधिक है। इसकी लागत को कम करने के लिये उत्पादन विधि मे उन्नति करना आवश्यक है। इसका उत्पादन १९५१ मे ४७,००० मैट्रिक टन से बढकर १९६० मे १,४५,००० टन तथा १९६७ मे ३,५०,००० टन हो गया।

कॉस्टिक सोडा. पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत कॉस्टिक सोडा का उत्पादन तेजी के साथ बढा है। १९५१ मे १६,००० टन से बढ़कर १९६० मे १,१८,००० टन तथा १९६७ मे २,४०,००० टन हो गया। उत्पादन मे वृद्धि होते हुए भी इसके आयात मे पर्याप्त उतार-चढाव रहा है और आयात की मात्रा मे विशेष कटौती नही हुई है। ऐसा अनुमान है कि चतुर्थ योजना के अन्त तक इस सम्बन्ध मे देश मे आत्मनिर्भरता आ जायगी। इस उद्योग के विकास के मार्ग मे अनेक बाधाये आई है, जैसे वैदेशिक विनिमय का न उपलब्ध होना, कम लागत पर विद्युत शक्ति का प्राप्त होना तथा लाभप्रद मूल्य आदि, परन्तु इसकी प्रमुख समस्या इसके उपोत्पादन, क्लोरीन, की बिक्री करना है। क्लोरीन की मॉग देश मे इसकी पूर्ति का केवल ७५% ही है।

रसायनिक खाद

तीन प्रमुख उर्वरक तत्व है (१) नाइट्रोजन, जिसकी आवश्यकता पत्तियो तथा टहनियों के आरभिक विकास के लिये होती है; (२) फास्फोरस, जो प्रारभिक विकास मे सहायक होता है तथा बाद की अवस्था मे फल तथा बीज के निर्माण मे सहायक होता है; तथा (३) पोटाश, जो कि फल तथा तरकारी मे स्टार्च तथा शक्कर के विकास के लिये सहायक होता है तथा रोगो को रोकता है।

देश मे रसायनिक खाद के उत्पादन को बढाने पर विशेष बल दिया जा रहा है। नाइट्रोजनयुक्त रसायनिक खाद का उत्पादन १९५१-५२ मे ११,००० टन से बढकर १९६७-६८ मे ३,६७,००० हो गया। इसी अवधि मे फास्फेटयुक्त रसायनिक खाद के उत्पादन मे दस-गुनी वृद्धि हुई। नाइट्रोजनयुक्त तथा फास्फेट युक्त रसायनिक खाद का बहुत बडी मात्रा मे आयात भी किया जा रहा है और इसके लिये विदेशो पर निर्भर रहना पड रहा है। जहाँ तक पोटाश का प्रश्न है इसके लिये

पूर्णतया विदेशो पर निर्भर रहना पडता है क्योंकि इसका उत्पादन देश मे नही हो रहा है। खाद की माँग मे तेजी से वृद्धि होने के कारण १९७०-७१ के लिये उपभोग का लक्ष्य नाइट्रोजनयुक्त रसायनिक खाद के लिये २० लाख टन, फास्फेटयुक्त रसायनिक खाद के लिये १० लाख टन तथा पोटाश युक्त रसायनिक खाद के लिये ७ लाख टन रखा गया है।

नाइट्रोजनयुक्त रसायनिक खाद. १९३० के आस-पास छोटे पैमाने पर इसके निर्माण के लिये फैक्टरी स्थापित की गई थी परन्तु बडे पैमाने पर प्रथम फैक्टरी अलवेय, केरल, मे स्थापित हुई जिसका नाम फर्टीलाइजर्स ऐण्ड केमिकल्स (ट्रावकोर) लि० (F)CT) है। दूसरी फैक्टरी सार्वजनिक क्षेत्र मे सिन्दरी (बिहार) मे १९५१ मे स्थापित की गई। इसका उत्पादन बढाने के लिये बराबर प्रयास किया जा रहा है। इस उद्योग का विकास द्वितीय तथा तृतीय योजना मे तेजी के साथ हुआ। इसकी वर्तमान क्षमता लगभग ७ लाख टन है जो कि ६ फैक्टरियो द्वारा किया जाता है। इनमे से ३ सार्वजनिक क्षेत्र मे है (सिन्दरी, नगल तथा फैक्ट) तथा ३ निजी क्षेत्र मे (ई० आई० डी० पैरी, बडौदा के पास गुजरात फर्टीलाइजर्स, तथा बनारस का प्लाण्ट) है। नाइट्रोजनयुक्त रसायनिक खाद उद्योग ने विस्तार का कार्यक्रम बना रखा है और आशा की जाती है कि भविष्य मे इसकी क्षमता ३३ लाख टन हो जायेगी, जो कि वर्तमान क्षमता का ५ गुना होगा। इस सम्बन्ध मे विस्तार के कार्यक्रम के अतिरिक्त कुछ नवीन प्रायोजनाये भी है। एक टाटा की प्रायोजना है जो कि मिथापूर (गुजरात) मे स्थापित होगी तथा दूसरी प्रायोजना सयुक्त राज्य अमेरिका के अटलाटिक रिचफील्ड की है जो इस देश मे एक खाद का कारखाना खोलना चाहते है। हाल मे ही गोवा मे एक प्लाण्ट स्थापित करने के लिये बिडला को लाइसेंस प्रदान किया गया है।

फास्फेटयुक्त रसायनिक खाद भारत मे फास्फेटयुक्त खाद का उत्पादन द्वितीय महायुद्ध से पूर्व ही आरभ हो गया था परन्तु उसकी मात्रा बहुत थोडी थी। प्रथम योजना काल मे भी ऐसा ही था और द्वितीय योजना के अन्त मे इसका उत्पादन ५४,००० टन था। योजना आयोग ने तृतीय योजना के लिये इसके उत्पादन का लक्ष्य ४ लाख टन रखा था परन्तु वास्तविक उत्पादन तो केवल १ लाख टन ही था। विगत कुछ वर्षों मे फास्फेटयुक्त खाद के उत्पादन की क्षमता मे पर्याप्त वृद्धि हुई है और चतुर्थ योजना मे इसे योजनारभ की अपेक्षाकृत १० गुना बढाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। वैसे, उपलब्ध क्षमता तथा वास्तविक उत्पादन मे अन्तर है और उत्पादन क्षमता का ६०% ही हो पा रहा है। रॉक फास्फेट तथा गधक जैसे कच्चे माल की कमी है और उनका आयात करना पड़ता है। अभी हाल

मे ही भारतीय भू-विज्ञान सर्वेक्षण सस्था ने घोषित किया है कि राजस्थान मे इसका एक बड़ा सग्रह है।

हाल मे यह अनुमान लगाया गया है १९६९-७० मे खाद के उपभोग की दर मे कमी आई है। भारतीय रसायनिक खाद एसोसियेशन द्वारा एकत्रित आँकडो को देखने से ज्ञात होता है कि नाइट्रोजनयुक्त खाद उपभोग १९६६-६७ मे ५०% से बढा था परन्तु अगले वर्ष यह घटकर ३९% हो गया और १९६८-६९ मे १०% ही होने का अनुमान है। फास्फेटयुक्त खाद के उपभोग की दर मे भी कमी आई है। १९६७-६८ मे ६३% की वृद्धि हुई थी परन्तु १९६८-६९ मे २९% से घट गया। ऐसा विचार है कि १९६९-७० मे भी उपभोग मे कमी आई है। चतुर्थ योजना के अन्त मे (१९७३-७४) ३२ लाख टन नाइट्रोजन तथा १५ लाख टन फास्फेट खाद के उपभोग का अनुमान है। १९७०-७१ मे १५ लाख टन नाइट्रोजन तथा ५ लाख टन फास्फेट के खाद के उपभोग का अनुमान है। इस प्रकार ३ वर्षों मे वास्तविक उपभोग मे वर्तमान स्तर की अपेक्षाकृत २ से ३ गुनी वृद्धि होनी चाहिए। यदि ऐसा होता है तो शीघ्र ही रसायनिक खाद के उत्पादन को बढाने की योजना बनाई जानी चाहिए।

फैक्टरियो की वर्तमान क्षमता २५ ८ लाख टन नाइट्रोजन की है। इसे बढा कर ३७ लाख टन करने का प्रस्ताव है। १९७८-७९ के लिये नाइट्रोजन के उपभोग का लक्ष्य ६६ लाख टन रखा गया है जो कि १९७३-७४ के लक्ष्य से दुना है। इस क्षमता को प्राप्त करने के लिये उत्पादन की योजना का बनाया जाना आवश्यक है अन्यथा आयात बढता जायगा। अभी ही १९६३-६४ और १९६७-६८ मे ४११ करोड रुपये का आयात करना पडा। इस उद्योग की दूसरी समस्या कच्चे माल की है। उनमे से सबसे सस्ता नैपथा है परन्तु इसका पूरा-पूरा उपयोग हो रहा है और अधिक नैपथा के उपलब्ध होने की सभावना नही है। भारतीय रसायनिक पदार्थ निर्माता एसोसियेशन (ICMA) इसके लिये कोयले के उपयोग का समर्थन नही करती है क्योकि इसका उपयोग करने के लिये अधिक विनियोग तथा लागत की आवश्यकता होगी। इसका तात्पर्य यह है कि रसायनिक खाद का निर्माण करने के लिये १२ लाख टन कच्चे माल का आयात हमे करना होगा।

इस एसोसियेशन का अनुमान था कि १० लाख टन नाइट्रोजन तथा फास्फेट के कार्यक्रम के लिये ३५३ करोड रुपये की पूंजी का विनियोग करना होगा जिसमे से ११७ करोड़ रुपये की आवश्यकता वैदेशिक विनिमय के रूप मे होगी। प्रतिवर्ष १२ लाख टन कच्चे माल के आयात पर वैसे १२ करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी।

नाइट्रोजनयुक्त रसायनिक खाद का उपभोग १९६१-६२ मे २,९२,००० टन से बढ कर १९६७-६८ मे १०,५०,००० टन हो गया तथा १९६८-६९ मे १५ लाख टन होने का अनुमान है। फास्फेट युक्त खाद का उपभोग १९६१-६२ मे ६४,००० टन से बढकर १९६७-६८ मे ४,३८,००० टन तथा १९६८-६९ मे ७ लाख टन (अनुमानित) हो गया।

रसायनिक खाद पर शिवरमन समिति (१९६५) ने १९७०-७१ तक देश मे खाद के उत्पादन तथा उपभोग की वृद्धि की सभावनाओ का सर्वेक्षण किया। इस समिति ने पहली बार खाद की क्षमता के आयोजन के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया। सरकार का उद्देश्य यह है कि देश रसायनिक खाद सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे आत्म-निर्भर हो। यदि १९७३-७४ तक आत्म-निर्भरता लानी है तो ३७·३ लाख टन नाइट्रोजन तथा १७ लाख टन फास्फेट का वास्तविक उत्पादन करना होगा। पोटाश पर आधारित खाद का तो आयात करना ही होगा क्योकि देश मे पोटाश उपलब्ध नही है। वैसे, ऐसा अनुमान है कि रसायनिक खाद उद्योग अपनी क्षमता का दो-तिहाई उपयोग ही कर पा रहा है। भविष्य मे उत्पादन को क्षमता के बराबर ही होना चाहिए।

एक आधुनिक नाइट्रोजनयुक्त खाद के प्लाण्ट मे प्रति वार्षिक टन नाइट्रोजन के लिये ३,००० रुपये की पूँजी का विनियोग करना पडता है और इसमे से १,००० रुपये के वैदेशिक विनिमय की आवश्यकता होती है। फास्फेट युक्त खाद के प्लाण्ट मे प्रति वार्षिक टन उत्पादन के लिये १,१०० रुपये की तथा कुल विनियोग के ३०% वैदेशिक विनिमय की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त विपणन के लिये भी भारी मात्रा मे साख की आवश्यकता होती है। ऐसा अनुमान है कि इसके विपणन के लिये १९७३-७४ तक वितरक तथा किसान के स्तर पर १,००० करोड रुपये की साख की आवश्यकता होगी। इस उद्योग मे प्रोजेक्ट के लिये वित्त प्रदान करने के लिये तथा विपणन-साख के लिये २,३०० करोड़ रुपये की पूँजी की आवश्यकता होगी। इतनी पूँजी की व्यवस्था पूर्व से ही करना आसान कार्य नही है।

रसायनिक खाद उद्योग मे अल्प-पूँजीकरण के प्रमुख कारण है : कच्चे माल को समय से प्राप्त करने मे कठिनाई (गधक तथा रॉक फास्फेट का तो पूर्णतया आयात किया जाता है), शक्ति तथा जल की पूर्ति मे बाधाये, श्रम अशान्ति, खाद के अधिक आयात हो जाने पर विपणन सम्बन्धी कठिनाइयाँ आदि। आयात का अधिकाश भाग राज्य व्यापार निगम के माध्यम से करना पडता है और उसमें प्राय देरी हो जाती है जिससे कठिनाई होती है।

इन फैक्टरियो मे जहाँ तक शक्ति तथा जल की पूर्ति का प्रश्न है, प्राथमिकता प्रदान की जानी चाहिए। इन फैक्टरियो को फैक्ट की तरह ही अपना जनित्र (generator) लगाने की अनुमति दी जानी चाहिए। साथ ही श्रम सम्बन्धो को स्वस्थ बनाये रखना भी आवश्यक है।

यह भी आलोचना की जाती है कि भारतवर्ष मे रसायनिक खाद की उत्पादन-लागत अधिक है। इसकी लागत कम करके अधिक किसानो तक खाद को पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रबन्ध की क्षमता मे वृद्धि करके लागत को कम करने मे सहायता पहुचानी चाहिए। नवीन फैक्टरी को आधुनिकतम उत्पादन तकनीक का प्रयोग करना चाहिए।

नवीन क्षमता की स्थापना करने मे, देश मे उपलब्ध सभी तकनीक तथा ज्ञान का प्रयोग करना चाहिए। मशीन के उत्पादन मे किस्म-नियत्रण तथा प्रमापीकरण की ओर भी ध्यान देना चाहिए। विशिष्ट इस्पात की प्लेट के निर्माण को प्राथमिकता प्रदान करनी चाहिए क्योकि अभी इसका आयात किया जाता है जिससे लागत बढती है। खाद निर्माण के लिये प्लाण्ट तथा मशीनरी के आयात पर सरकार कर लगाती है जिससे पूँजी लागत ३ से ५ करोड रुपये तक बढ जाती हैं। २७½% के इस आयात को समाप्त कर देना चाहिए जिससे इस उद्योग का विकास हो सके।

इस उद्योग मे पहिले तो विक्रेता का बाजार था परन्तु तेजी के साथ यह क्रेता के बाजार मे बदलता जा रहा है। इसका कारण अशत. देश मे इसके उत्पादन का बढना है और अधिकाशतया बडे पैमाने पर इसके आयात करने की सरकार की नीति है।

१९५३ और १९६३ के मध्य उद्योग की योजना मे नवीन टैक्नालॉजी का प्रयोग हुआ। निवेली, ट्राम्बे, विशाखापटनम, गुजरात, नामरूप, तथा गोरखपुर के प्लाण्ट आधुनिक टैक्नालॉजी पर आधारित थे। १९६५ के बाद इस क्षेत्र मे महत्व-पूर्ण विकास हुआ। दुर्गापुर प्लाण्ट मे सर्वप्रथम आधुनिकतम टैक्नालॉजी का प्रयोग किया गया। कोचीन, गोआ, नामरूप (विस्तार की अवस्था), बरौनी, मद्रास तथा ट्राम्बे (विस्तार की अवस्था) के प्लाण्ट भी उसके बाद आधुनिकतम तथा उच्च टैक्नालॉजी पर आधारित थे।

यदि निर्धारित लक्ष्यो की पूर्ति करनी है तो रसायनिक खाद के उपभोग को तेजी के साथ तथा स्थायी रूप से बढाना होगा। इसके लिये सरकार तथा उद्योग दोनों को ही सक्रिय रूप से प्रयास करना होगा। खाद की बिक्री अन्य प्रकार की

यद्यपि यह उद्योग भारतवर्ष में बहुत तेजी के साथ आगे बढा है तथापि इसका उपभोग अन्य देशो की अपेक्षाकृत अभी बहुत पीछे है। जब कि पश्चिमी जर्मनी मे प्लास्टिक का प्रति व्यक्ति उपभोग २६ किलो ग्राम है भारतवर्ष मे यह ०.८ किलोग्राम ही है। तृतीय योजना के अन्त मे, प्लास्टिक की क्षमता ७१,००० टन थी और वास्तविक उत्पादन ३९,००० टन ही था। उसी प्रकार सश्लिष्ट रबर का प्रति व्यक्ति उपभोग उन्नत देशो की अपेक्षाकृत अत्यन्त कम है। पेट्रो-रसायन के विभिन्न पदार्थो का उत्पादन करके आयात को प्रतिस्थापित करने को सम्भावनाये असीमित है। १९६६-६७ मे, ६७ करोड रुपये का सश्लिष्ट रसायन का आयात किया गया। साथ ही १३० करोड रुपये का सीसा, जस्ता, टिन, प्राकृतिक रेशे, रबर तथा एस्बेस्टस आदि का भी आयात किया गया। इसके अतिरिक्त ७० से ८० करोड रुपये तक का कपास तथा ऊन का भी आयात किया गया। इन सब पदार्थों का प्रतिस्थापन पेट्रो-रसायनिक पदार्थो से किया जा सकता है। भारतवर्ष मे इस आयात प्रतिस्थापन के लिये ही पेट्रो-रसायन उद्योग का विकास तेजी के साथ करना है।

भावी आयोजन के लिये जो दूसरी महत्वपूर्ण ध्यान देने योग्य बात है वह नैपथा की समस्या है जो कि इस उद्योग के लिये प्रमुख कच्चा माल है। नैपथा का उत्पादन करने वाले पेट्रोल शोधक उद्योग मे तथा नैपथा का प्रयोग करने वाले पेट्रो-रसायन उद्योग मे पर्याप्त सामजस्य नही है। परिणाम यह हुआ कि पेट्रोल शोधक उद्योग द्वारा उत्पादित नैपथा का आधिक्य हो गया और उसका निर्यात होने लगा। १९५५ के बाद मे भारतवर्ष से बराबर नैपथा का निर्यात किया जा रहा है। इसका निर्यात १९५७ मे २ लाख टन का था परन्तु १९६६ मे यह बढकर ७ लाख टन हो गया। वर्तमान स्थिति यह है कि १९७१ तक देश में नैपथा की पूर्ति माँग के अनुरूप न हो पायेगी और उसका अभाव हो जायेगा। अतः दीर्घकालीन योजना के दृष्टिकोण से नैपथा के उत्पादन तथा उपभोग की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए जिसमे कि भविष्य मे पेट्रो-रसायन उद्योग का विकास न रुके। साथ ही, टैक्नालाजी सम्बन्धी शोध करके उत्पादन-विधि में आवश्यक परिवर्तन लाने का प्रयास करना चाहिए जिससे कि इस उद्योग का विकास न रुक सके। वैसे यह उल्लेखनीय है कि पेट्रो-रसायन सम्बन्धी शोध-कार्य के लिये कोई भी राष्ट्रीय लेबोरेटरी की स्थापना अभी तक नही हुई है।

भारतीय पेट्रो-रसायन निगम की स्थापना इस उद्योग के विकास के लिये एक महत्वपूर्ण प्रयास है। साथ ही, देशी डिजायन, ज्ञान तथा इन्जीनियरो की सहायता से हिन्दुस्तान कार्बनिक रसायन की स्थापना भी इस दिशा मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वैसे भी, देश मे इस उद्योग का तेजी से विकास करने के लिये शोध

तथा विकास कार्यक्रम को सक्रियरूप से अपनाना चाहिए। अधिकाँश भारतीय कम्पनी इस दिशा मे कोई भी प्रयास नही कर रही है । रसायन उद्योग में सकल बिक्री का ३ ५% शोध तथा विकास मे प्रतिवर्ष लगाना चाहिए ।

नवीन लाइसेस सम्बन्धी उत्तरदायित्व सँभालने तथा नवीन विदेशी सहयोग समझौते की दर मे जो कमी आई है उसे रोका जाना चाहिए । दत्त समिति ने लाइसेन्स प्रदान करने पर प्रतिबन्ध लगाने की जो सिफारिश की है उससे और भी सशय बढा है। रसायन उद्योग मे बहुत बडी मात्रा में पूँजी लगती है अतः इसका विकास लघु औद्योगिक क्षेत्र पर नही छोडा जाना चाहिए। एक रसायनिक खाद के प्लाण्ट की लागत ५० से ६० करोड रुपया तथा सश्लिष्ट रेशे के प्लाण्ट की लागत २५ से ४० करोडरुपये होती है । अत यदि बडे औद्योगिक गृहो को इस क्षेत्र मे विनियोग का अवसर नहीं प्रदान किया जाता तो हो सकता है कि विकास रुक ही जाय। सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा इसका विकास किया जा सकता है परन्तु उस क्षेत्र मे भी कुशल प्रबन्धको का अभाव है। सरकार को चाहिए कि वह औद्योगिक गृहो को सभी सुविधा प्रदान कर उन्हे सामाजिक उत्तरदायित्व सँभालने का अवसर प्रदान करे जिससे कि वे विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित करने मे सहायक बन सके ।

भविष्य

देश मे रसायनिक उद्योग के विकास के लिये पर्याप्त टैक्नालॉजिकल आधार उपलब्ध है और सीमित सहायता द्वारा भी हम इसका विकास कर सकते हैं यदि भारतीय प्रसाधनो का तथा इजीनियरिंग योग्यता का हम समुचित उपयोग करने की नीति को अपना ले। विदेशो से आधुनिकतम टैक्नालॉजी तथा प्लाण्ट को क्रय करने का जो स्वभाव बन गया है उसमे परिवर्तन लाना आवश्यक है जिससे कि चतुर्थ योजना मे समुचित विकास हो सके। स्थापित क्षमता का अधिकतम उपयोग किया जाना चाहिए। नवीन प्लाण्ट की स्थापना करने के स्थान पर स्थापित प्लाण्ट का विस्तार करने मे लागत कम पडती है । साथ ही, भारत मे ही विकसित साधनो तथा उत्पादन के प्रभावीकरण का उपयोग करना चाहिए। नैपथा पर आधारित रसायनिक खाद का उत्पादन सस्ता होगा परन्तु यदि इस पर आधारित प्लाण्ट की स्थापना की जाती है तो नैपथा का आयात करना पड़ेगा । इसी प्रकार फास्फेटयुक्त खाद का उत्पादन करने के लिये आयात किये गये गधक के स्थान पर अन्य साधनो का प्रयोग किया जाना चाहिए ।

रसायन उद्योग के अन्तर्गत संश्लिष्ट रेशो का उत्पादन भी आता है । देश में कपास, ऊन तथा हेसियन जैसे प्राकृतिक रेशों का आयात प्रतिवर्ष १००

करोड रुपये तक का होता है । आयात पर इस निर्भरता को शीघ्र समाप्त करने के लिये सश्लिष्ट रेशो के उत्पादन को प्रोत्साहित करना चाहिए । १ लाख टन सश्लिष्ट रेशों का प्रतिवर्ष उत्पादन किया जाना अति आवश्यक है । इस दिशा मे भी विकास की नीति यह होनी चाहिए कि पूर्ण सश्लिष्ट रेशो का उत्पादन किया जाना चाहिए न कि अर्द्ध-सश्लिष्ट रेशो का जैसे रेयन अथवा एसीटेट सिल्क । जापानी विधि तथा साख की सहायता से नायलोन के रेशों का उत्पादन करने के लिये तथा जर्मन विधि से पोलियस्टर रेशों का उत्पादन करने के लिये प्लाण्ट की स्थापना का कार्य आरभ हो गया है । इस वर्तमान २०,००० टन की क्षमता को दूना करके ४०,००० टन करना आवश्यक है । कताई की क्षमता बढाना भी आवश्यक है अन्यथा इन पदार्थो पर अधिक मात्रा मे विनियोग व्यर्थ हो जायगा ।

रसायन उद्योग मे विधि के अप्रचलन को विधिवत दूर करना चाहिए । कार्बाइड एसिट्रिलीन से पेट्रो-इथिलीन की ओर PVC उत्पादन के लिये परिवर्तन, पोलीथिलीन, सश्लिष्ट रबर आदि के लिये अल्कोहल से पेट्रो पर आधारित परिवर्तन करना आदि इस उद्योग की प्रमुख समस्या है जिसके लिये उचित योजना का बनाना अतिआवश्यक है । सरकार की नीति योग्यता को बढाने का समर्थन करनी है जैसा कि सल्फ्यूरिक अम्ल प्लाण्ट, कास्टिक सोडा इकाई और प्लास्टिक प्लाण्ट के लिये है, फिर भी वैदेशिक विनिमय नीति तथा लाइसेंसिग की उचित नीति का अपनाना आवश्यक है जिससे कि आवश्यक परिवर्तन शीघ्र किया जा सके ।

इस सम्बन्ध मे लोचपूर्ण साख नीति को अपनाना चाहिए । यह जटिल उद्योग लघुस्तरीय उपक्रमो के लिये उपयुक्त नही है । वास्तव मे, अनेक देशों मे सरकार की सहायता से इकाइयो का सम्मिलन किया गया है । भारत मे बडे उद्योगो के विरुद्ध जो राजनीतिक प्रभाव बढ रहा है उस पर गहन विचार किया जाना आवश्यक है । ऐसा वातावरण बनाया जाना चाहिए जिससे कि सामूहिक उद्यम की भावना जागृत हो सके ।

इस उद्योग मे औद्योगिक सम्बन्धो की ओर भी विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए । बडे रसायनिक खाद के प्लाण्ट तथा तेल शोधक फैक्टरी या जटिल पेट्रो-रसायन प्लाण्ट का चौबीस घण्टे चलाया जाना आवश्यक है । साथ ही, कार्य अनुशासन तथा धन-जन की सुरक्षा की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए । अत कानून एव व्यवस्था का उचित वातावरण स्थापित किया जाना चाहिए ।